

निशीथ सूत्र

(धुक्त मूल पाठ, कठिन शब्दार्थ, भाग्यार्थ एवं विवेचन सहित)



प्रकाशक

श्री अखिल भारतीय सुधर्म जैन

संस्कृति रक्षक संघ, जोधपुर

शाखा-नेहरू गेट बाहर, ब्यावर-305901



(01462) 251216, 257699 Fax No. 250328

श्री अखिल भारतीय सुधर्म जैन संस्कृति रक्षक संघ साहित्य रत्न माला का १३१ वां रत्न

निशीथ सूत्र

(शुद्ध मूल पाठ, कठिन शब्दार्थ, भावार्थ एवं विवेचन सहित)

अनुवादक एवं विवेचक

प्रो० डॉ० छगनलाल शास्त्री
एम. ए. (प्रब), पी. एच. डी., काब्यतीर्थ, विद्यामहोदधि
डॉ० महेन्द्रकुमार रांकावत
बी. एस. सी. एम. ए., पी. एच.डी.

सम्पादक

नेमीचन्द बांठिया
पारसमल चण्डालिया

प्रकाशक

श्री अखिल भारतीय सुधर्म जैन संस्कृति रक्षक संघ, जोधपुर
शाखा-नेहरू गेट बाहर, ब्यावर-305901



(01462) 251216, 257699 Fax No. 250328

द्रव्य सहायक

उदारमना श्रीमान् सेठ जशवंतलाल भाई शाह, बम्बई प्राप्ति स्थान

१. श्री अ. भा. सुधर्म जैन संस्कृति रक्षक संघ, सिटी पुलिस, जोधपुर 2626145
२. शाखा-अ. भा. सुधर्म जैन संस्कृति रक्षक संघ, नेहरू गेट बाहर, ब्यावर 251216
३. महाराष्ट्र शाखा-माणके कंपाउंड, दूसरी मंजिल आंबेडकर पुतले के बाजू में, मनमाड
४. श्री जशवन्तभाई शाह एदुन बिल्डिंग पहली धोबी तलावलेनं पो० बा० नं० 2217, बम्बई-2
५. श्रीमान् हस्तीमल जी किशनलालजी जैन प्रीतम हाऊ० काँ० सोसा० ब्लॉक नं० १०
स्टेट बैंक के सामने, मालेगांव (नासिक) 252097
६. श्री एच. आर. डोशी जी-३६ बस्ती नारनौल अजमेरी गेट, दिल्ली-६ 23233521
७. श्री अशोकजी एस. छाजेड़, १२१ महावीर क्लॉथ मार्केट, अहमदाबाद 5461234
८. श्री सुधर्म सेवा समिति भगवान् महावीर मार्ग, बुलडाणा
९. श्री श्रुतज्ञान स्वाध्याय समिति सांगानेरी गेट, भीलवाड़ा 236108
१०. श्री सुधर्म जैन आराधना भवन २४ ग्रीन पार्क कॉलोनी साउथ तुकोगंज, इन्दौर
११. श्री विद्या प्रकाशन मन्दिर, ट्रांसपोर्ट नगर, मेरठ (उ. प्र.)
१२. श्री अमरचन्दजी छाजेड़, १०३ वाल टेक्स रोड़, चैन्नई 25357775
१३. श्री संतोषकुमार बोथरा वर्द्धमान स्वर्ण अलंकार ३६४, शांतिग सेन्टर, कोटा 2360950

मूल्य : ५०-००

द्वितीय आवृत्ति

१०००

वीर संवत् २५३३

विक्रम संवत् २०६४

मई २००७

मुद्रक - स्वास्तिक प्रिन्टर्स प्रेम भवन हाथी भाटा, अजमेर 2423295

प्रस्तावना

आगम साहित्य सर्वज्ञ सर्वदर्शी वीतराग प्रभु महावीर के उपदेशों का नवनीत है। यह आगम साहित्य विषय सामग्री की अपेक्षा जितना विशाल एवं विराट है, उससे भी कई अधिक यह अर्थ गरिमा से मंडित है। इस आगम साहित्य में दार्शनिक चिंतन के साथ द्रव्यानुयोग, चरणानुयोग, गणितानुयोग और धर्मकथानुयोग आदि सभी विषयों का बड़ी सूक्ष्मता एवं गहनता के साथ चिंतन एवं अनुशीलन किया गया है। भारतीय साहित्य जगत् में जैन आगम साहित्य ही एक ऐसी विशेषता लिए हुए है, जो व्यक्ति को उसकी योग्यता (क्षयोपशम) के अनुसार आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रवेश के लिए यथायोग्य आगम साहित्य उपलब्ध करवा सकता है। विशिष्ट क्षयोपशम वाले साधक द्रव्यानुयोग, गणितानुयोग जैसे अति गहन आगम साहित्य का अध्ययन कर नवनीत प्राप्त कर सकते हैं, तो सामान्य साधक कथानुयोग जैसे सरल एवं सरस आगम साहित्य के माध्यम से संसार से निर्वेद भाव को प्राप्त कर संवेग की ओर आगे बढ़ सकते हैं। इस प्रकार यह साहित्य मान सरोवर रूप मुक्ताओं से भरा पड़ा है। आवश्यकता है साधक द्वारा हंस बुद्धि से इसमें अवगाहन करने की। अवगाहन करने पर उसे जीवन को चमकाने वाले अनेक आध्यात्मिक मोती उपलब्ध हो सकते हैं।

जैन दर्शन में ज्ञान के साथ-साथ श्रद्धा और तदनुसार आचरण का भी अत्यधिक महत्त्व है। बिना सम्यक् आचरण के कोरे ज्ञान को सीसे की आँख की उपमा देकर इसे अनुपयोगी बतलाया गया है। इसीलिए चतुर्विध संघ (साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका) के आचार-विचार, त्याग-तप आदि की साधना आराधना के लिए भी विपुल मात्रा में आगम साहित्य का निर्माण हुआ है, जिसकी आराधना करके साधक मोक्ष के अक्षय सुखों को प्राप्त कर सकता है। साधना के दौरान विवशता-लाचारी वश कदाच स्वीकृत व्रतों में दोष भी लग सकता है, यानी उत्सर्ग मार्ग के स्थान पर कभी अपवाद मार्ग का भी सेवन साधक के द्वारा हो सकता है, तो उस अपवाद मार्ग के सेवन से लगे दोषों के परिमार्जन के लिए प्रायश्चित्त आदि के द्वारा शुद्धिकरण करने के लिए विधि-विधानों की व्यवस्था भी जैन आगम-साहित्य में की गई है, ताकि साधक अपनी साधना को शुद्ध बनाये रख सके। इस प्रकार जैन आगम साहित्य अपने आप में सभी दृष्टियों से परिपूर्ण है।

जैन आगम साहित्य के उद्गमकर्त्ता तीर्थंकर प्रभु-होते हैं, जो अपनी कठिन साधना-आराधना के बल पर चार घाती कर्मों को क्षय कर केवलज्ञान-केवलदर्शन रूपी लक्ष्मी को प्राप्त करते हैं, जिसके द्वारा वे लोक-अलोक के समस्त सूक्ष्म-स्थूल, रूपी, अरूपी सभी अजीव द्रव्यों एवं जीवों के स्वरूप को जानते एवं देखते हैं। इसका परिचय देते हुए आगमों में बतलाया गया है कि -

“द्रव्य से केवलज्ञानी लोकालोक के समस्त द्रव्यों जानते देखते हैं। क्षेत्र से समस्त क्षेत्र को, काल से भूत-भविष्य और वर्तमान तीनों काल-समस्त काल और भाव से समस्त भावों को जानते और देखते हैं।” (नदी सूत्र-भगवती सूत्र ८-२)

यह केवल ज्ञान सम्पूर्ण, प्रतिपूर्ण, अव्याहृत, आवरण रहित, अनन्त और प्रधान होता है, इससे वे सर्वज्ञ समस्त भावों के प्रत्यक्षदर्शी होते हैं। वे समस्त लोक पर्याय जानते देखते हैं। गति-आगति, स्थिति, च्यवन, उपपात, खाना-पीना, करना-कराना, प्रकट-गुप्त आदि समस्त भावों को प्रत्यक्ष जानते और देखते हैं। (आचारांग २-१५ ज्ञाता० ८)

यदि कोई शंका करे कि “जिस प्रकार हम अपनी आँखों से देख कर, कानों से सुन कर यावत् सूँघ, चख और स्पर्श करके ही जानाते हैं, बिना इन्द्रियों की सहायता के नहीं जान सकते, इसी प्रकार केवलज्ञानी भी क्या इन्द्रियों की सहायता से जानते हैं? इसका समाधान आगमों में स्पष्ट किया गया है कि केवल ज्ञानी भगवान् का ज्ञान आत्म-प्रत्यक्ष होता है (नन्दी)। वे पूर्व आदि सभी दिशाओं में सीमित और असीमित ऐसी सभी वस्तुओं को जानते और देखते हैं। उनके ज्ञान, दर्शन पर किसी प्रकार का आवरण नहीं रहता।”

“केवलज्ञानी, अधोलोक में सातों नरक पृथ्वियों को, ऊर्ध्वलोक में सिद्ध शिला तक और समस्त लोक तथा लोक में एक परमाणु से लेकर अनन्त प्रदेशी स्कन्ध तक को अर्थात् समस्त पदार्थों को जानते और देखते हैं और इसी प्रकार सम्पूर्ण अलोक को भी जानते हैं।”

(भगवती सूत्र १४-१०)

इस प्रकार पूर्णता प्राप्त होने के पश्चात् तीर्थंकर प्रभु संसार के समस्त जीवों के हित के लिए अर्थ रूप में उपदेश फरमाते हैं, जिसे विमल बुद्धि के धारी गणधर सूत्र बद्ध करते हैं। यानी मूल अर्थात्मक आगम के प्रणेता तीर्थंकर प्रभु हैं और उसे सूत्र बद्ध करने वाले गणधर भगवन्त हैं। आगम साहित्य की जो प्रामाणिकता है, उसका मूल कारण गणधरकृत होने से नहीं प्रत्युत उसके अर्थ के प्ररूपक तीर्थंकर भगवान् की वीतरागता और सर्वज्ञता है।

गणधर भगवन्त मात्र द्वादशांगी की रचना करते हैं। शेष अंग बाह्य आगमों की रचना तो स्थविर (श्रुत केवली) भगवन्तों द्वारा की जाती है। जो स्थविर (श्रुत केवली) दस पूर्व से चौदह पूर्व के ज्ञाता होते हैं, उन्हीं के द्वारा रचित आगम जैन साहित्य जगत में मान्य है। इसका कारण वे स्थविर भगवन्त (श्रुत केवली) सूत्र और अर्थ दोनों दृष्टि से अंग साहित्य में पारंगत होते हैं। आप जो भी रचना करते हैं उसमें किञ्चित् मात्र भी विरोधाभास नहीं होता। अन्तर मात्र इतना ही है कि जो कथन तीर्थंकर प्रभु करते हैं उस तत्त्व को प्रत्यक्ष रूप से जानते देखते हैं, जबकि श्रुत केवली अपने श्रुतज्ञान के आधार से उन्हीं तत्त्वों को परोक्ष रूप से जानते हैं। उनकी रचनाएं इसलिए भी प्रामाणिक है क्योंकि वे नियमतः सम्यग् दृष्टि हैं।

वर्तमान में जो आगम साहित्य उपलब्ध है। इसका समय-समय पर विभिन्न रूप से वर्गीकरण हुआ है। पूर्ववर्ती आचार्यों ने आगम तीन प्रकार के बतलाये हैं। यथा - सुत्तागम, अत्थागम और तदुभयागम, अन्य दृष्टि से आगम के तीन भेद इस प्रकार किये गये हैं - आत्मागम, अनन्तरागम और परंपरागम। इसकी व्याख्या इस प्रकार की गई है। तीर्थंकर के लिए सूत्र आत्मागम है। वही अर्थ गणधरों के लिए अनन्तरागम है। गणधरों के लिए सूत्र आत्मागम और गणधर शिष्यों के लिए सूत्र अनन्तरागम और अर्थ परम्परागम है। गणधर शिष्य के लिए और उनके पश्चात् शिष्य परंपरा के लिए अर्थ और सूत्र दोनों ही आगम परम्परागम हैं। इस वर्गीकरण में आगम का मूल स्रोत, प्रथम उपलब्धि और पारम्परिक उपलब्धि इन तीनों दृष्टियों से चिंतन किया गया है।

समवायांग और अनुयोगद्वारा सूत्र में केवल द्वादशांगी का निरूपण हुआ है। जबकि आचार्य देववाचक ने नंदी सूत्र में अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य ये दो भेद किये हैं। साथ ही अंग बाह्य के आवश्यक और आवश्यक व्यतिरिक्त कालिक और उत्कालिक के रूप आगम साहित्य का निरूपण किया है। एक अन्य वर्गीकरण विषय सामग्री (अनुयोग) के हिसाब से किया गया है- यथा द्रव्यानुयोग, चरणानुयोग, गणितानुयोग एवं धर्मकथानुयोग। सबसे अर्वाचीन वर्गीकरण जो वर्तमान में उपलब्ध है वह ग्यारह अंग, बारह उपांग, चार मूल, चार छेद और आवश्यक सूत्र।

जैन आगम साहित्य में जो चार अनुयोग हैं उन में चरणकरणानुयोग का अति गौरवपूर्ण स्थान है। चरणानुयोग का अर्थ आचार सम्बन्धी नियमावली, मर्यादा प्रभृति की व्याख्या। प्रभु ने संयमी साधक के लिए निर्दोष, सुदृढ़ संयम पालन पर विशेष बल दिया है। क्योंकि साधन

को जीवन का प्राण कहा है। सम्यक् साधना से ही साधक अपने साध्य को प्राप्त करता है। साधक के कण-कण में त्याग-तप स्वाध्याय ध्यान की सरल सरिता बहती रहनी चाहिए। किन्तु कभी संयम पालन के दौरान ज्ञात अथवा अज्ञात अवस्था में साधक के द्वारा अपने स्वीकृत व्रतों में स्खलना (दोष) हो सकती है। उस स्थिति में उन दोषों के परिमार्जन के लिए प्रायश्चित्त साहित्य (छेद सूत्रों) का निर्माण भी किया गया है, ताकि संयमी साधक अपने स्वीकृत व्रतों में लगे दोषों का प्रायश्चित्त लेकर शुद्धिकरण कर सके। छेद सूत्रों में लगे दोषों के परिमार्जन की विधि का निरूपण किया गया है। यद्यपि छेद सूत्रों में उन सभी स्थानों का निषेध किया गया है, जिनके सेवन से संयमी जीवन धूमिल होता, फिर भी अनाभोग से कभी दोष लग सकता है। अतएव प्रभु ने मानव मन की कमजोरियों को ध्यान में रखते हुए दोषों के परिमार्जन के विधि-विधानों के साहित्य का निर्माण किया है।

जैन दर्शन में साधना के लिए दो पद्धतियों का निरूपण किया गया है। एक उत्सर्ग मार्ग, दूसरा अपवाद मार्ग। उत्सर्गमार्ग यानी राजमार्ग स्वीकृत व्रतों का निरतिचार पालन करना, चरित्र और सदगुणों की अभिवृद्धि करते हुए संयम मार्ग में निरन्तर आगे बढ़ते रहना, दूसरा अपवाद मार्ग, शारीरिक अथवा मानसिक दुर्बलता के कारण असमर्थ संयमी साधक के लिए परिस्थिति उत्पन्न होने पर अपवाद मार्ग का सेवन भी किया जा सकता है। पर ज्यों ही शारीरिक और मानसिक दुर्बलता दूर हो त्यों ही उसे अपवाद मार्ग में लगे दोषों का प्रायश्चित्त ले कर शुद्धि करण कर लेना चाहिए।

उत्सर्ग मार्ग सामान्य विधि मार्ग है जिस पर संयमी साधक निरन्तर चलता है। बिना विशेष परिस्थिति के साधक को उत्सर्ग मार्ग को नहीं छोड़ना चाहिए, जो साधक बिना विशेष परिस्थिति के ही अपवाद मार्ग को अपना कर संयम में दोष लगाता है, वह प्रभु की आज्ञा का आराधक नहीं, किन्तु विराधक होता है। संयमी साधक की सजगता इसी में है कि जिस विशेष परिस्थिति के कारण उसे अपवाद का सेवन करना पड़ा, उस परिस्थिति के समाप्त होने पर अपवाद के सेवन में लगे दोष का प्रायश्चित्त लेकर पुनः उत्सर्ग मार्ग में उपस्थित हो जाय। संयमी साधक को एक बात ओर ध्यान रखनी चाहिए अपवाद-वास्तविक, अतिआवश्यक एवं संयम को बचाने के लिए होना चाहिए, न कि इन्द्रिय पोषण एवं सुखशीलियापन के लिये। अपवाद सेवन के पीछे साधक की भावना उत्सर्ग की रक्षा करने की होनी चाहिये, न कि उसे ध्वंस करने की।

वस्तुतः अपवाद का सेवन विवशता के कारण है, जिसे संयमी साधक, संयम रक्षा का और कोई रास्ता न दिखने पर अपनाता है। वह अपवाद का सेवन करते समय सतत् ध्यान रखता है कि उसके स्वीकृत व्रतों में कम से कम दोष लगे। इसलिए आगमकार महर्षि ने इस मार्ग का सेवन करने अथवा इसके सेवन की आज्ञा प्रदान करने का अधिकार विशिष्टज्ञानी बहुश्रुत साधकों को ही दी है, जो आचारांग आदि साहित्य के गहन अभ्यासी एवं छेद सूत्रों के गंभीर एवं गहन रहस्यों में पारंगत हो, जिन्हें उत्सर्ग और अपवाद मार्ग सेवन का पूर्ण परिज्ञान हो।

चार छेद सूत्रों में निशीथ सूत्र का अपना मौलिक स्थान है। व्यवहार सूत्र में स्पष्ट वर्णन है कि जो श्रमण बहुश्रुत हो, उसे कम से कम निशीथ का मूल एवं अर्थ का ज्ञाता होना आवश्यक है। निशीथ सूत्र में पारंगत श्रमण को ही आचार्य-उपाध्याय जैसे महत्त्वपूर्ण पद प्राप्त हो सकते हैं। क्योंकि वर्तमान में केवलज्ञानी, मनःपर्यायज्ञानी अवधिज्ञानी, पूर्वधारी श्रुतकेवली मौजूद नहीं है। अतः इनकी अनुपस्थिति में उन्हीं द्वारा निबद्ध प्रायश्चित्त विधि जो आचार प्रकल्प (निशीथ) में उद्धृत है, उसे वर्तमान में इनके पारंगत आचार्यादि को प्रायश्चित्त देने का अधिकार है।

आगमों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि निशीथ सूत्र का निर्यूहण चौदह पूर्वधर श्रुत केवली भद्रबाहुस्वामी ने प्रत्याख्यान नामक नौवें पूर्व से किया है। इस पूर्व में बीस अर्थाधिकार है। उसमें तीसरी वस्तु का नाम आचार है। उसी के आधार से निशीथ सूत्र के बीस अध्ययनों का निरूपण हुआ है।

प्रस्तुत निशीथ सूत्र में अपवाद मार्ग के सेवन करने पर संयमी साधक को कौन से दोष का किस प्रकार का प्रायश्चित्त ग्रहण करना होता है। इसकी विस्तार से चर्चा की गई है। सामान्य स्थितिर कल्पी संयमी साधकों के लिए अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार की शुद्धि आलोचना और मिच्छामि दुक्कडं अल्प प्रायश्चित्त से हो जाती है। अनाचार दोष सेवन की स्थिति निशीथादि सूत्रों में प्रायश्चित्त की व्यवस्था है। जबकि जिनकल्पी या प्रतिमाधारी आदि विशिष्ट साधकों के लिए तो अतिक्रम आदि के लिए प्रायश्चित्त की व्यवस्था है। तप प्रायश्चित्त की सूची -

१. लघुमासिक प्रायश्चित्त-जघन्य एक एकासना, उत्कृष्ट २७ उपवास है।
२. गुरुमासिक प्रायश्चित्त जघन्य एक निवी (दो एकासना), उत्कृष्ट ३० उपवास है।

३. लघुचौमासी प्रायश्चित्त जघन्य एक आयम्बिल (या एक एकासना), उत्कृष्ट १०८ उपवास है।
४. गुरुचौमासी प्रायश्चित्त जघन्य एक उपवास (चार एकासना), उत्कृष्ट १२० उपवास है।
५. उक्त दोषों के प्रायश्चित्त स्थानों का बार-बार सेवन करने पर अथवा उनका सेवन लम्बे समय तक चलता रहने पर तप-प्रायश्चित्त की सीमा बढ़ जाती है, जो कभी दीक्षाछेद तक भी बढ़ा दी जा सकती है।
६. कोई साधक बड़े दोष को गुप्त रूप में सेवन करके छिपाना चाहे और दूसरा व्यक्ति उस दोष को प्रकट कर सिद्ध करके प्रायश्चित्त दिलवावे तो उसे दीक्षाछेद का ही प्रायश्चित्त आता है।
७. दूसरे के द्वारा सिद्ध करने पर भी अत्यधिक झूठ-कपट करके विपरीत आचरण करे अथवा उल्टा चोर कोतवाल को डांटने का काम करे किन्तु मजबूर करने पर फिर सरलता स्वीकार करके प्रायश्चित्त लेने के लिए तैयार होवे तो उसे नई दीक्षा का प्रायश्चित्त दिया जाता है।
८. यदि उस दुराग्रह में ही रहे एवं सरलता स्वीकार करे ही नहीं तो उसे गच्छ से निकाल दिया जाता है।

निशीथ सूत्र के कुल बीस उद्देशक हैं। इसके पहले के उन्नीस उद्देशकों में प्रायश्चित्त का विधान इस प्रकार है -

- पहले उद्देशक में गुरुमासिक प्रायश्चित्त योग्य दोषों का प्ररूपण है।
- उद्देशक २ से ५ तक में लघुमासिक प्रायश्चित्त योग्य दोषों का प्ररूपण है।
- उद्देशक ६ से ११ तक में गुरुचौमासी प्रायश्चित्त योग्य दोषों का प्ररूपण है।
- उद्देशक १२ से १९ तक में लघुचौमासी प्रायश्चित्त योग्य दोषों का प्ररूपण है।
- बीसवें उद्देशक में प्रायश्चित्त देने की प्रक्रिया का प्रतिपादन किया गया है।

प्रथम उद्देशक - इस उद्देशक में सर्वप्रथम संयमी साधक के लिए हस्तकर्म आदि ऐसी सभी क्रियाएं करने का निषेध किया है, जिससे काम-वासना जागृत हो, जो संयमी जीवन के लिए महाघातक है। इसके अलावा कीचड़ आदि से बचने के लिए रास्ते में पत्थर

खवाना, स्थान को उच्चा करवाना, नाली आदि बनवाना। सूई, कैची, नखछेदनक, कर्णशोधनक को तेज कराना, अविधि अथवा निष्प्रयोजन इनकी याचना करना। अपने नेत्राय के पात्र-वस्त्र आदि गृहस्थ से ठीक करवाने का निषेध किया गया है। इन स्थानों का सेवन करने पर प्रायश्चित्त का विधान है।

दूसरा उद्देशक - इस उद्देशक में सर्वप्रथम पादप्रोक्षण का वर्णन किया गया है, जो रजोहरण से भिन्न, एक एक कम्बल का टुकड़ा होता जो मात्र पैर आदि पोंछने में काम में लिया जा सकता है। इसे लकड़ी की डंडी के बांध कर भी उपयोग में लिया जा सकता है। इसे अधिक से अधिक डेढ़ माह तक रखा जा सकता है। तत्पश्चात् इत्रादि सुगन्धित पदार्थों को सूंघने, कठोर भाषा बोलने, अदत्त वस्तु ग्रहण करने, शरीर को सजाने-संवारे, बहुमूल्य वस्तुओं को धारण करने, मनोज्ञ आहार को ग्रहण करने अमनोज्ञ को परठने, शय्या-संस्तारक अविधि से लेने आदि का निषेध किया गया है। इन स्थानों का उल्लंघन करने पर लघुमासिक प्रायश्चित्त बतलाया है।

तीसरा उद्देशक - इस उद्देशक में धर्मशाला, मुसाफिर खाना, आरामगृह आदि स्थानों में आहार आदि उच्चस्वर से मांगने, गृहस्वामी के मना करने पर पुनः पुनः उसके घर आहारादि के लिए जाने, सामूहिक भोज में आहारादि ग्रहण करने, पैरों को धोने, विहार करते हुए साधु को मस्तक ढंकने, बाग-बगीचे, श्मशान भूमि धूप रहित स्थान पर मल विसर्जन आदि का निषेध किया है। इनका उल्लंघन करने पर लघुमासिक प्रायश्चित्त बतलाया गया है।

चौथा उद्देशक - इस उद्देशक में राजा, नगर रक्षक, ग्राम रक्षक को वश में करने एवं उसके गुणानुवाद करने, नित्यप्रति विगयों के सेवन करने, अविधि से साध्वियों के उपाश्रय में प्रवेश करने, नवीन कलह उत्पन्न करने अथवा उपशान्त कलह को पुनः जागृत करने, ठहाका मार कर हंसना, संध्या के चतुर्थ प्रहर में उच्चार प्रश्रवण भूमि की प्रतिलेखना नहीं करना, संकीर्ण स्थान में मल मूत्र परठने, प्रायश्चित्त वहन करने वाले के साथ भिक्षा जाने आदि का निषेध किया है। इनका उल्लंघन करने पर लघुमासिक प्रायश्चित्त बतलाया है।

पाँचवाँ उद्देशक - इस उद्देशक से वृक्ष के मूल में बैठकर कायोत्सर्ग करने, खड़ा रहने, आहार करने, लघुशंका या शौच आदि करने, स्वाध्याय करने आदि का निषेध किया है। इसके अलावा अपनी चद्दरादि गृहस्थ से सिलवाने, नीम आदि के पत्तों को अचित्त पानी से

धोकर रखने, औपग्रहिक उपकरणों को यथासमय गृहस्थ को न लौटाने, औद्देशिक उद्दिष्ट शय्या का उपयोग करने इत्यादि प्रवृत्तियों का निषेध किया गया है। इनका आचरण करने पर लघुमासिक प्रायश्चित्त बतलाया है।

छट्टा उद्देशक - इस उद्देशक में कुशील सेवन की भावना से किसी स्त्री का अनुनय विनय करने, हस्तकर्म करने, पौष्टिक सरस आहार करने आदि सभी प्रवृत्तियाँ जो कुशील सेवन में सहायक होती उनका निषेध किया गया है। इन सब प्रवृत्तियों के सेवन पर गुरुचौमासी प्रायश्चित्त का विधान है।

सातवाँ उद्देशक - इस उद्देशक में भी छठे उद्देशक की भाँति कामेच्छा की भावना से प्रेरित होकर विविध प्रकार की मालाएँ, कड़े आदि बनाना, पहनना स्त्री के अंगोपांग का संचालन करना, इसके अलावा काम वासना के वशीभूत होकर पशु पक्षियों, अंगोपांग का स्पर्श करना आदि सभी प्रवृत्तियाँ संयमी जीवन नष्ट भ्रष्ट करने वाली है। अत एव इनका निषेध किया है। इन प्रवृत्तियों का सेवन करने पर गुरु चौमासी प्रायश्चित्त का विधान है।

आठवाँ उद्देशक - आगम में संयमी साधक के लिए नववाड़ सहित शुद्ध ब्रह्मचर्य महाव्रत पालने का विधान है। अतएव उस धर्मशाला, उद्यान, शून्यगृह आदि किसी भी स्थान पर एकाकी साधु को एकाकी महिला के साथ रहना, आहार स्वाध्याय आदि करना, शौच आदि साथ जाना, रात्रि में स्त्री परिषद् में अपरिमित कथा करना, साध्वियों के साथ-साथ विहार करना यानी सभी तरह से साधक को स्त्री संसर्ग से बचने का निषेध किया है। इसका कारण स्त्रियों का अधिक सम्पर्क संयम के लिए घातक है। इसके अलावा राजपिण्ड ग्रहण करने का निषेध भी किया गया है। इन स्थानों का सेवन करने पर साधु को चातुर्मासिक प्रायश्चित्त बतलाया गया है।

नौवाँ उद्देशक - इस उद्देशक में राज पिण्ड ग्रहण न करने के साथ-साथ राजा के अन्तःपुर में भी प्रवेश का निषेध किया है। क्योंकि अन्तःपुर में एक से एक बढ़ कर सुन्दर स्त्रियाँ रहती हैं। साथ ही अन्तःपुर की साज सज्जा भी मोहक होती है। अन्तःपुर में तो मात्र उनके सगे सम्बन्धी, नौकर-चाकर के अलावा अन्य का प्रवेश प्रायः निषेध होता है। साधु के अन्तःपुर में जाने पर राजा के मन में कुशंकाएँ भी हो सकती हैं। इस प्रकार अनेक कारणों से संयमी साधक के लिए अन्तःपुर में जाने का निषेध किया है। इसकी अवेहलना करने पर गुरु चौमासी प्रायश्चित्त का विधान है।

करने आदि का निषेध किया गया है। जो साधक इन प्रवृत्तियों का सेवन कर दोष लगाता है, उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

चौदहवाँ उद्देशक - इस उद्देशक में पात्र के सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा की गई है। संयमी साधक को पात्र खरीदने, उधार लेने का, परिवर्तन करने अथवा छीन कर लेने का, बिना आचार्य की आज्ञा के अन्य को अतिरिक्त पात्र देने, उपयोग में आने योग्य पात्र को न रखने और उपयोग न आने योग्य को रखने, पात्रों को आकर्षक बनाने का प्रयत्न करना इत्यादि प्रवृत्तियाँ करने का निषेध किया गया है। जो साधक इन प्रवृत्तियों को करता है, तो उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

पन्द्रहवाँ उद्देशक - इस उद्देशक में सचित्त आम आदि फलों को खाने, गृहस्थ से किसी प्रकार की सेवा लेने, सामान्य रूप से किसी भी साधु की आसातना करने, अकल्पनीय स्थानों पर लघुनीत बड़ीनीत परठने, शिथिलाचारी साधुओं से आहार-वस्त्र, पात्र आदि लेने देने का निषेध किया है। इन प्रवृत्तियों का सेवन करने पर लघुचौमासी प्रायश्चित्त बतलाया गया है।

सोलहवाँ उद्देशक - इस उद्देशक में सागारिक आदि की शय्या में प्रवेश करने, सचित्त ईख, गण्डेरी आदि खाने या चूसने, कलह करने वाले तीर्थियों से आहार-पानी ग्रहण करने, अनार्य क्षेत्र में विचरण करने, जुगुप्सित कुलों से आहार-पानी ग्रहण करने, अन्यतीर्थियों या गृहस्थों के साथ भोजन ग्रहण करने, आचार्य उपाध्याय आदि के आसन के ठोकर लगाने, प्रमाण से अधिक उपधि रखने का निषेध किया गया है। इन प्रवृत्तियों के सेवन करने पर प्रायश्चित्त का विधान है।

सत्रहवाँ उद्देशक - संयमी साधकों का जीवन कुतूहल वृत्ति रहित होता है। अतएव उन्हें कुतूहल वश त्रस जीव को बांधने-खोलने, विविध प्रकार की मालाएं, आभूषण आदि बनाने एवं रखने का निषेध किया है। इसके अलावा गृहस्थ से बंद बर्तन खुलवा कर आहार ग्रहण करने, सचित्त पृथ्वी पर रखे आहार को ग्रहण करने, तत्काल बने हुए अचित्त जल को लेने, विविध प्रकार के वाद्य यंत्रों को बजाने, नृत्य करने आदि का निषेध किया गया है। जो इन दोष युक्त स्थानों का सेवन करते हैं उन्हें लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

इस प्रकार निशीथ सूत्र के बीस अध्ययनों (उद्देशकों) में आये हुए विषयों का संक्षेप में उल्लेख किया है। गहन अध्ययन अनुप्रेक्षा के लिए सुज्ञ पाठकों को सूत्र का पारायण करना चाहिए। वैसे यह सूत्र मुख्य रूप से सर्वविरति संयमी साधक वर्ग से सम्बन्धित है। फिर भी वर्तमान परिप्रेक्ष्य में इसकी जानकारी श्रावक समाज के लिए भी आवश्यक है ताकि साधु के कल्पाकल्प की उसे जानकारी हो सके और अपने आप को लगने वाले काफी दोषों से बचा सके।

इस आगम का अनुवाद जैन दर्शन के जाने-माने विद्वान् डॉ० छगनलालजी शास्त्री काव्यतीर्थ एम.ए., पी.एच.डी. विद्यामहोदधि ने किया है। आपने अपने जीवन काल में अनेक आगमों का अनुवाद किया है। अतएव इस क्षेत्र में आपकी गहन अनुभव है। प्रस्तुत आगम के अनुवाद में भी संघ द्वारा प्रकाशित अन्य आगमों की शैली का ही अनुसरण आदरणीय शास्त्रीजी ने किया है यानी मूल पाठ, कठिन शब्दार्थ, भावार्थ एवं विवेचन आदि। आदरणीय शास्त्रीजी के अनुवाद की शैली सरलता के साथ पांडित्य एवं विद्वता लिए हुए है। जो पाठकों के इसके पठन अनुशीलन से अनुभव होगी। आदरणीय शास्त्रीजी के अनुवाद में उनके शिष्य डॉ० श्री महेन्द्रकुमारजी का भी सहयोग प्रशंसनीय रहा। आप भी संस्कृत एवं प्राकृत के अच्छे जानकार हैं। आपके सहयोग से ही शास्त्रीजी इस विशालकाय शास्त्र का अल्प समय में ही अनुवाद कर पाये। अतः संघ दोनों आगम मनीषियों का आभारी है।

इस अनुवादित आगम को परम श्रद्धेय श्रुतधर पण्डित रत्न श्री प्रकाशचन्द्रजी म. सा. की आज्ञा से पण्डित रत्न श्री लक्ष्मीमुनिजी म. सा. ने सुनने की कृपा की। सेवाभावी सुश्रावक श्री राजकुमारजी कटारिया जगदलपुर, श्री कांतिलालजी पारख कोटपाड़, श्री अभयराजजी बाफणा जैयपुर निवासी ने इसे सुनाया। पूज्य श्री जी ने आगम धारणा सम्बन्धित जहाँ भी उचित लगा संशोधन का संकेत किया। तदनुसार यथास्थान पर संशोधन किया गया। तत्पश्चात् मैंने एवं श्रीमान् पारसमलजी चण्डालिया ने पुनः सम्पादन की दृष्टि से इसका पूरी तरह अवलोकन किया। इस प्रकार प्रस्तुत आगम को प्रकाशन में देने से पूर्व सूक्ष्मता से पारायण किया गया है। बावजूद इसके हमारी अल्पज्ञता की वजह से कहीं पर भी त्रुटि रह सकती है। अतएव समाज के विद्वान् मनीषियों की सेवा में हमारा नम्र निवेदन है कि इस आगम के मूल पाठ, अर्थ, अनुवाद आदि में कहीं पर भी कोई अशुद्धि, गलती आदि दृष्टिगोचर हो तो हमें सूचित करने की कृपा करावें। हम उनके आभारी होंगे।

संघ का आगम प्रकाशन का कार्य पूर्ण हो चुका है। इस आगम प्रकाशन के कार्य में **धर्म प्राण समाज रत्न तत्त्वज्ञ श्रावक श्री जशवंतलाल भाई शाह एवं श्राविका रत्न श्रीमती मंगला बहन शाह, मुम्बई** की गहन रुचि है। आपकी भावना है कि संघ द्वारा जितने भी आगम प्रकाशित हुए हैं वे अर्द्ध मूल्य में ही बिक्री के लिए पाठकों को उपलब्ध हों। इसके लिए उन्होंने सम्पूर्ण आर्थिक सहयोग प्रदान करने की आज्ञा प्रदान की है। तदनुसार प्रस्तुत आगम पाठकों को उपलब्ध कराया जा रहा है, संघ एवं पाठक वर्ग आपके इस सहयोग के लिए आभारी हैं।

आदरणीय शाह साहब तत्त्वज्ञ एवं आगमों के अच्छे ज्ञाता हैं। आप का अधिकांश समय धर्म साधना आराधना में बीतता है। प्रसन्नता एवं गर्व तो इस बात का है कि आप स्वयं तो आगमों का पठन-पाठन करते ही हैं, पर आपके सम्पर्क में आने वाले चतुर्विध संघ के सदस्यों को भी आगम की वाचनादि देकर जिनशासन की खूब प्रभावना करते हैं। आज के इस हीयमान युग में आप जैसे तत्त्वज्ञ श्रावक रत्न का मिलना जिनशासन के लिए गौरव की बात है। आपकी धर्म सहायिका **श्रीमती मंगलाबहन शाह एवं पुत्र रत्न मयंकभाई शाह एवं श्रेयांसभाई शाह** भी आपके पद चिह्नों पर चलने वाले हैं। आप सभी को आगमों एवं थोकड़ों का गहन अभ्यास है। आपके धार्मिक जीवन को देख कर प्रमोद होता है। आप चिरायु हों एवं शासन की प्रभावना करते रहें। निशीथ सूत्र की प्रथम आवृत्ति का प्रकाशन अप्रैल २००६ में हुआ था। जो अल्प समय में ही अप्राप्य हो गई। अब इसकी द्वितीय आवृत्ति का प्रकाशन शाह परिवार, **मुम्बई** की ओर से किया जा रहा है। जैसा कि पाठक बन्धुओं को मालूम ही है कि वर्तमान में कागज एवं मुद्रण सामग्री के मूल्य में काफी वृद्धि हो चुकी है। फिर भी **श्रीमान् सेठ जशवंतलाल भाई शाह, मुम्बई** के आर्थिक सहयोग से इसका मूल्य मात्र **रु. ५०) पचास रुपया** ही रखा गया है जो कि वर्तमान परिपेक्ष्य में ज्यादा नहीं है। पाठक बन्धु इस द्वितीय आवृत्ति का अधिक से अधिक लाभ उठाएंगे।

इसी शुभ भावना के साथ!

ब्यावर (राज.)

दिनांक: २५-५-२००७

संघ सेवक

नेमीचन्द बांठिया

अ. भा. सु. जैन सं. रक्षक संघ, जोधपुर

अस्वाध्याय

निम्नलिखित बत्तीस कारण टालकर स्वाध्याय करना चाहिये।

आकाश सम्बन्धी १० अस्वाध्याय

१. बड़ा तारा टूटे तो-
२. दिशा-दाह *
३. अकाल में मेघ गर्जना हो तो-
४. अकाल में बिजली चमके तो-
५. बिजली कड़के तो-
६. शुक्ल पक्ष की १, २, ३ की रात-
७. आकाश में यक्ष का चिह्न हो-
- ८-९. काली और सफेद धूंअर-
१०. आकाश मंडल धूलि से आच्छादित हो-

काल मर्यादा

- एक प्रहर
- जब तक रहे
- दो प्रहर
- एक प्रहर
- आठ प्रहर
- प्रहर रात्रि तक
- जब तक दिखाई दे
- जब तक रहे
- जब तक रहे

औद्यारिक सम्बन्धी १० अस्वाध्याय

११-१३. हड्डी, रक्त और मांस,

ये तिर्यच के ६० हाथ के भीतर हो। मनुष्य के हो, तो १०० हाथ के भीतर हो। मनुष्य की हड्डी यदि जली या धुली न हो, तो १२ वर्ष तक।

१४. अशुचि की दुर्गंध आवे या दिखाई दे-

तब तक

१५. श्मशान भूमि-

सौ हाथ से कम दूर हो, तो।

* आकाश में किसी दिशा में नगर जलने या अग्नि की लपटें उठने जैसा दिखाई दे और प्रकाश हो तथा नीचे अंधकार हो, वह दिशा-दाह है।

१६. चन्द्र ग्रहण-

खंड ग्रहण में ८ प्रहर, पूर्ण हो
तो १२ प्रहर

(चन्द्र ग्रहण जिस रात्रि में लगा हो उस रात्रि के प्रारम्भ से ही अस्वाध्याय गिनना चाहिये।)

१७. सूर्य ग्रहण-

खंड ग्रहण में १२ प्रहर, पूर्ण हो
तो १६ प्रहर

(सूर्य ग्रहण जिस दिन में कभी भी लगे उस दिन के प्रारंभ से ही उसका अस्वाध्याय गिनना चाहिये।)

१८. राजा का अवसान होने पर,

जब तक नया राजा घोषित न
हो

१९. युद्ध स्थान के निकट

जब तक युद्ध चले

२०. उपाश्रय में पंचेन्द्रिय का शव पड़ा हो,

जब तक पड़ा रहे

(सीमा तिर्यच पंचेन्द्रिय के लिए ६० हाथ, मनुष्य के लिए १०० हाथ। उपाश्रय बड़ा होने पर इतनी सीमा के बाद उपाश्रय में भी अस्वाध्याय नहीं होता। उपाश्रय की सीमा के बाहर हो तो यदि दुर्गन्धि न आवे या दिखाई न देवे तो अस्वाध्याय नहीं होता।)

२१-२४. आषाढ़, आश्विन,

कार्तिक और चैत्र की पूर्णिमा

दिन रात

२५-२८. इन पूर्णिमाओं के बाद की प्रतिपदा-

दिन रात

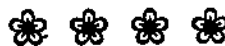
२९-३२. प्रातः, मध्याह्न, संध्या और अर्द्ध रात्रि-

इन चार सन्धिकालों में-

१-१ मुहूर्त

उपरोक्त अस्वाध्याय को टालकर स्वाध्याय करना चाहिए। खुले मुंह नहीं बोलना तथा सामायिक, पौषध में दीपक के उजाले में नहीं वांचना चाहिए।

नोट - नक्षत्र २८ होते हैं उनमें से आर्द्रा नक्षत्र से स्वाति नक्षत्र तक नौ नक्षत्र वर्षा के गिने गये हैं। इनमें होने वाली मेघ की गर्जना और बिजली का चमकना स्वाभाविक है। अतः इसका अस्वाध्याय नहीं गिना गया है।



निशीथ सूत्र

विषयानुक्रमणिका

क्र०	विषय	पृष्ठ
	पढमो उद्देशओ - प्रथम उद्देशक	१-२२
१.	अब्रह्मचर्य मूलक हस्त-कर्म का प्रायश्चित्त	१
२.	अंगादान-विषयक दुष्कर्म : प्रायश्चित्त	२
३.	सचित्त पदार्थगत गंध सूंघने का प्रायश्चित्त	५
४.	गृहस्थादि द्वारा पथादि निर्माण-विषयक प्रायश्चित्त	५
५.	सूई आदि के परिष्करण का प्रायश्चित्त	७
६.	बिना प्रयोजन सूई आदि की याचना का प्रायश्चित्त	९
७.	अविधि युक्त याचना का प्रायश्चित्त	९
८.	प्रातिहारिक वस्तु के अनिर्दिष्ट उपयोग का प्रायश्चित्त	१०
९.	अपने लिए याचित्त उपकरण अन्य को देने का प्रायश्चित्त	१२
१०.	याचित्त उपकरण अविधिपूर्वक लौटाने का प्रायश्चित्त	१३
११.	समर्थ होते हुए भी अन्य से पात्र परिष्करण आदि कराने का प्रायश्चित्त	१४
१२.	समर्थ होते हुए भी अन्य द्वारा दण्डादि को परिष्कृत कराने का प्रायश्चित्त	१५
१३.	पात्र-संधान एवं बन्धन-विषयक प्रायश्चित्त	१६
१४.	वस्त्र-संधान एवं बन्धन-विषयक प्रायश्चित्त	१८
१५.	गृहधूम को उतरवाने का प्रायश्चित्त	२०
१६.	पूतिकर्म दोषयुक्त आहारादि सेवन का प्रायश्चित्त	२१
	बीओ उद्देशओ - द्वितीय उद्देशक	२३-५३
१७.	दण्डयुक्त पादप्रोँछन बनाने आदि का प्रायश्चित्त	२३
१८.	अचित्त पदार्थ स्थित गंध को सूंघने का प्रायश्चित्त	२४
१९.	पद मार्ग आदि बनाने का प्रायश्चित्त	२५
२०.	उत्तरकरण-विषयक-प्रायश्चित्त	२५

क्र०	विषय	पृष्ठ
२१.	कर्कश वचन बोलने का प्रायश्चित्त	२६
२२.	मृषावाद का प्रायश्चित्त	२७
२३.	अदत्तादान का प्रायश्चित्त	२७
२४.	देहसज्जा का प्रायश्चित्त	२८
२५.	अखण्डित चर्म रखने का प्रायश्चित्त	२८
२६.	बहुमूल्य वस्त्र धारण करने का प्रायश्चित्त	२९
२७.	अखण्डित वस्त्र लेने-रखने का प्रायश्चित्त	३०
२८.	पात्र-निर्माण आदि का प्रायश्चित्त	३१
२९.	दण्ड आदि के निर्माण आदि का प्रायश्चित्त	३१
३०.	अन्यों द्वारा गवेषित पात्र लेने का प्रायश्चित्त	३१
३१.	नित्यप्रति, नियत अग्रपिण्ड - ग्रहण का प्रायश्चित्त	३३
३२.	दानार्थ तैयार किए गए आहार-ग्रहण का प्रायश्चित्त	३४
३३.	नित्य-प्रवास-विषयक प्रायश्चित्त	३५
३४.	पूर्व-पश्चात् प्रशंसा करने का प्रायश्चित्त	३६
३५.	भिक्षाकाल से पूर्व स्वजन-गृहप्रवेश का प्रायश्चित्त	३७
३६.	अन्यतीर्थिक आदि के साथ भिक्षाचर्या आदि हेतु गमन-विषयक प्रायश्चित्त	३८
३७.	मनोनुकूल प्रासुक जल पीने एवं मनःप्रतिकूल जल परठने का प्रायश्चित्त	४१
३८.	मनोनुकूल प्रासुक आहार सेवन एवं मनःप्रतिकूल आहार परिष्ठापन का प्रायश्चित्त	४२
३९.	अवशिष्ट आहार-परिष्ठापन-विषयक प्रायश्चित्त	४२
४०.	शय्यातर-पिण्ड लेने एवं सेवन करने का प्रायश्चित्त	४४
४१.	सागारिक की जानकारी नहीं करने का प्रायश्चित्त	४५
४२.	सागारिक की नेश्राय से आहार-ग्रहण का प्रायश्चित्त	४६
४३.	कालातिक्रान्त रूप में शय्या-संस्तारक-सेवन का प्रायश्चित्त	४७
४४.	वर्षा से भीगते हुए शय्या-संस्तारक को न हटाने का प्रायश्चित्त	४८
४५.	बिना आज्ञा शय्या-संस्तारक बाहर ले जाने का प्रायश्चित्त	४९
४६.	शय्या-संस्तारक यथाविधि प्रत्यर्पित न करने का प्रायश्चित्त	५१

क्र०	विषय	पृष्ठ
४७.	विप्रनष्ट या अपहृत शय्या-संस्तरक की गवेषणा न करने का प्रायश्चित्त	५२
४८.	स्वल्प उपधि का भी प्रतिलेखन न करने का प्रायश्चित्त	५२
	तइओ उद्देसओ - तृतीय उद्देशक	५४-८५
४९.	विधिप्रतिकूल भिक्षा-याचना का प्रायश्चित्त	५४
५०.	निषेध किए जाने पर भी पुनः भिक्षार्थ जाने का प्रायश्चित्त	५६
५१.	जीमनवार से आहार लेने का प्रायश्चित्त	५७
५२.	अभिहृत आहार ग्रहण का प्रायश्चित्त	५८
५३.	पाद - आमर्जन आदि का प्रायश्चित्त	६०
५४.	काय - आमर्जन आदि का प्रायश्चित्त	६२
५५.	व्रण के आमर्जन आदि का प्रायश्चित्त	६३
५६.	शल्य-क्रिया का प्रायश्चित्त	६५
५७.	अपानोदर - कृमि-निर्हरण-प्रायश्चित्त	६८
५८.	नखशिखाओं को काटने-संस्कारित करने का प्रायश्चित्त	६९
५९.	वस्ति आदि के बाल काटने का प्रायश्चित्त	७०
६०.	दन्त - आघर्षणादि - विषयक प्रायश्चित्त	७२
६१.	ओष्ठ-आमर्जन-प्रमार्जनादि - विषयक प्रायश्चित्त	७३
६२.	उत्तरोष्ठ-रोम-परिकर्म-प्रायश्चित्त	७४
६३.	अक्षि-रोम-कर्तन एवं अक्षि-परिकर्म-विषयक प्रायश्चित्त	७५
६४.	नेत्र-भ्रूवों एवं देह-पार्श्वों के रोम-परिकर्म संबंधी प्रायश्चित्त	७७
६५.	नेत्र-कर्ण-दन्त-नख-मलनिर्हरण-विषयक प्रायश्चित्त	७७
६६.	पसीने आदि के निवारण का प्रायश्चित्त	७८
६७.	विहार में मस्तक आवरिका का प्रायश्चित्त	७८
६८.	सन कपास आदि से वशीकरण सूत्र बनाने का प्रायश्चित्त	७९
६९.	मल-मूत्र परिष्ठापन-विषयक प्रायश्चित्त	८०
७०.	विधि विरुद्ध परिष्ठापन प्रायश्चित्त	८४

क्र०	विषय	पृष्ठ
	चउत्थो उद्देशओ - चतुर्थ उद्देशक	८६-११३
७१.	राजा आदि को वश में करने का प्रायश्चित्त	८६
७२.	राज-प्रशंसा आदि का प्रायश्चित्त	८७
७३.	राजा आदि को स्वसहयोगापेक्षी बनाने का प्रायश्चित्त	८९
७४.	अखण्डित व सचित्त (एक जीवी) अन्न-आहार का प्रायश्चित्त	९०
७५.	आचार्य द्वारा अदत्त-अनाज्ञप्त आहार-सेवन का प्रायश्चित्त	९१
७६.	अननुज्ञात रूप में विगय-सेवन का प्रायश्चित्त	९२
७७.	स्थापना कुल की जानकारी आदि प्राप्त किए बिना भिक्षार्थ प्रवेश का प्रायश्चित्त	९३
७८.	साध्वी-उपाश्रय में अविधिपूर्वक प्रवेश का प्रायश्चित्त	९४
७९.	साध्वियों के आने के मार्ग में उपकरण रखने का प्रायश्चित्त	९५
८०.	नवाभिनव कलह उत्पन्न करने का प्रायश्चित्त	९५
८१.	उपशमित पूर्वकालिक कलह को पुनः उत्पन्न करने का प्रायश्चित्त	९६
८२.	उद्धत - हास्य - प्रायश्चित्त	९७
८३.	पार्श्वस्थ आदि को संघाटक आदान-प्रदान करने का प्रायश्चित्त	९८
८४.	सचित्त संस्पृष्ट हाथ आदि से आहार लेने का प्रायश्चित्त	१०२
८५.	ग्रामरक्षक को वशंगत करने का प्रायश्चित्त	१०६
८६.	सीमारक्षक को वश में करने का प्रायश्चित्त	१०७
८७.	अरण्यरक्षक को अधीन करने का प्रायश्चित्त	१०७
८८.	परस्पर पाद-आमर्जन-प्रमार्जनादि का प्रायश्चित्त	१०९
८९.	परिष्ठापना समिति विषयक - दोष प्रायश्चित्त	११०
९०.	पारिहारिक के साथ भिक्षार्थ जाने का प्रायश्चित्त	११२
	पंचमो उद्देशओ - पंचम उद्देशक	११४-१३८
९१.	सचित्त वृक्ष मूल के सन्निकट स्थित होने आदि का प्रायश्चित्त	११४
९२.	अन्यतीर्थिक आदि से चद्दर सिलवाने का प्रायश्चित्त	११७
९३.	चद्दर के धागों को लंबा करने का प्रायश्चित्त	११७
९४.	नीम आदि के पत्ते खाने का प्रायश्चित्त	११८

क्र०	विषय	पृष्ठ
९५.	प्रातिहारिक पादप्रोँछन प्रत्यर्पणा-विषयक-प्रायश्चित्त	११९
९६.	प्रातिहारिक दण्ड आदि प्रत्यर्पण-विषयक प्रायश्चित्त	१२०
९७.	प्रातिहारिक एवं सागारिकसत्क-शय्यासंस्तारक-उपयोग विषयक प्रायश्चित्त	१२२
९८.	कपास आदि कातने का प्रायश्चित्त	१२३
९९.	सचित्त, चित्रित-विचित्रित दण्ड बनाने आदि का प्रायश्चित्त	१२४
१००.	नवस्थापित ग्राम आदि में भिक्षा ग्रहण करने का प्रायश्चित्त	१२६
१०१.	खान-निकटवर्ती नवस्थापित बस्ती में प्रवेश आदि विषयक प्रायश्चित्त	१२७
१०२.	मुखवीणिका आदि बनाने एवं बजाने का प्रायश्चित्त	१२८
१०३.	औद्देशिक आदि स्थान में प्रवेश-प्रवास विषयक प्रायश्चित्त	१३२
१०४.	संभोग प्रत्ययिक क्रिया-विषयक प्रायश्चित्त	१३४
१०५.	उपयोग योग उपधि को ध्वस्त कर परठने का प्रायश्चित्त	१३४
१०६.	रजोहरण के अनियमित प्रयोग का प्रायश्चित्त	१३५
छट्ठो उद्देशओ - षष्ठ उद्देशक		१३९-१४५
१०७.	अब्रह्म के संकल्प से किए जाने वाले कृत्यों का प्रायश्चित्त	१३९
१०८.	कामुकतावश स्व-पाद-आमर्जनादि का प्रायश्चित्त	१४४
सत्तमो उद्देशओ - सप्तम उद्देशक		१४६-१६५
१०९.	तृण आदि की माला बनाने - धारण करने आदि का प्रायश्चित्त	१४६
११०.	धातु कटकादि निर्माण आदि विषयक प्रायश्चित्त	१४७
१११.	आभूषण निर्माण आदि विषयक प्रायश्चित्त	१४९
११२.	वस्त्र निर्माण आदि का प्रायश्चित्त	१५१
११३.	नारी अंग संचालन विषयक प्रायश्चित्त	१५४
११४.	कामुकतावश परस्पर पाद-आमर्जनादि विषयक प्रायश्चित्त	१५४
११५.	सचित्त भूमि - सजीव स्थान पर बिठाने आदि का प्रायश्चित्त	१५५
११६.	अंक एवं पर्यंक पर स्त्री को बिठाने आदि का प्रायश्चित्त	१५७
११७.	धर्मशाला आदि में स्त्री को बिठाने आदि का प्रायश्चित्त	१५८
११८.	चिकित्सा विषयक प्रायश्चित्त	१५९

क्र०	विषय	पृष्ठ
११९.	पुद्गल प्रक्षेपादि विषयक प्रायश्चित्त	१६०
१२०.	पशु-पक्षी के अंगसंचालन आदि विषयक प्रायश्चित्त	१६१
१२१.	भक्त-पान-प्रतिगृहादि आदान-प्रदान-विषयक प्रायश्चित्त	१६३
१२२.	सूत्रार्थ वाचना आदान-प्रदान-विषयक प्रायश्चित्त	१६४
१२३.	किसी भी इन्द्रिय द्वारा विकारोत्पादक आकृति बनाने विषयक प्रायश्चित्त	१६५
अष्टमो उद्देशओ - अष्टम उद्देशक		१६६-१८०
१२४.	एकाकिनी नारी के साथ आवास आदि विषयक प्रायश्चित्त	१६६
१२५.	स्त्री समूह के मध्य धर्मकथा विषयक प्रायश्चित्त	१७२
१२६.	साध्वी के साथ कामासक्त व्यवहार का प्रायश्चित्त	१७३
१२७.	उपाश्रय में रात्रि में पुरुष या स्त्री संवास विषयक प्रायश्चित्त	१७५
१२८.	रात्रि में पुरुष या स्त्री-उद्दिष्ट गमनागमन का प्रायश्चित्त	१७६
१२९.	राजमहोत्सव आदि से आहार ग्रहण विषयक प्रायश्चित्त	१७७
नवमो उद्देशओ - नवम उद्देशक		१८१-२०३
१३०.	राजपिण्ड ग्रहण एवं सेवन विषयक प्रायश्चित्त	१८१
१३१.	राजा के अन्तःपुर में प्रवेश एवं भिक्षा ग्रहण विषयक प्रायश्चित्त	१८२
१३२.	राजा आदि के द्वारपाल प्रभृति हेतु निष्पादित खाद्य सामग्री से- आहार लेने का प्रायश्चित्त	१८४
१३३.	राजा के कोष्ठागारादि के विषय में जानकारी बिना भिक्षार्थ- जाने का प्रायश्चित्त	१८५
१३४.	राजवैभव आदि परिदर्शन-विषयक प्रायश्चित्त	१८७
१३५.	आखेट हेतु निर्गत राजा से आहार-ग्रहण-विषयक प्रायश्चित्त	१८८
१३६.	राजसम्मनार्थ आयोजित भोज में आहार-ग्रहण-विषयक प्रायश्चित्त	१८९
१३७.	राजा के विश्रामस्थल (छावनी) आदि में ठहरने का प्रायश्चित्त	१९०
१३८.	युद्धादि हेतु संप्रस्थित-प्रतिनिवृत्त राजा के यहाँ आहार ग्रहण- विषयक प्रायश्चित्त	१९१
१३९.	राज्याभिषेकोत्सव के अवसर पर गमनागमन का प्रायश्चित्त	१९४

क्र०	विषय	पृष्ठ
१४०.	राजधानियों में गमनागमन विषयक प्रायश्चित्त	१९४
१४१.	राज्याधिकारी कर्मचारी हेतु कृत आहार-ग्रहण-विषयक प्रायश्चित्त	१९६
	दसमो उद्देशओ - दशम उद्देशक	२०४-२३०
१४२.	आचार्य आदि के प्रति अविनय-आशातनादि का प्रायश्चित्त	२०४
१४३.	अनन्तकाय संयुक्त आहार विषयक प्रायश्चित्त	२०६
१४४.	आधाकर्म आहार आदि ग्रहण विषयक प्रायश्चित्त	२०६
१४५.	वर्तमान-भविष्य विषयक निमित्त कथन प्रायश्चित्त	२०७
१४६.	अपर-शिष्य-अपहरणादि विषयक प्रायश्चित्त	२०८
१४७.	दिशा - अपहारादि का प्रायश्चित्त	२०९
१४८.	अपरिचित भिक्षु को साथ में रखने का प्रायश्चित्त	२१०
१४९.	अनुपशान्त-कलह-कषाय युक्त भिक्षु के साथ आहारादि- संभोग विषयक प्रायश्चित्त	२११
१५०.	विपरीत प्रायश्चित्त विधान विषयक दोष	२१२
१५१.	प्रायश्चित्त योग्य भिक्षु के साथ आहारादि संभोग विषयक दोष	२१३
१५२.	सूर्योदय पूर्व - सूर्यास्तानन्तर वृत्तिलंघन - प्रायश्चित्त	२१६
१५३.	आए हुए अन्न जल सहित उद्गार को वापस निगलने का प्रायश्चित्त	२२०
१५४.	ग्लान के वैयावृत्य में प्रमाद का प्रायश्चित्त	२२२
१५५.	वर्षाकाल में विहार करने का प्रायश्चित्त	२२४
१५६.	पर्युषण विषयक प्रायश्चित्त	२२५
१५७.	पर्युषण काल में लोच न करने एवं उपवास न रखने का प्रायश्चित्त	२२७
१५८.	अन्यतीर्थिक एवं गृहस्थ को पर्युषणकल्प सुनाने का प्रायश्चित्त	२२८
१५९.	वर्षाकाल में पात्र-वस्त्र ग्रहण करने का प्रायश्चित्त	२२९
	एकदशमो उद्देशओ - एकादश उद्देशक	२३१-२५५
१६०.	निषिद्ध पात्र निर्माण-धारण-परिभोग विषयक प्रायश्चित्त	२३१
१६१.	पात्र हेतु अर्धयोजनमर्यादालंघन विषयक प्रायश्चित्त	२३४
१६२.	धर्म की निंदा करने का प्रायश्चित्त	२३५

क्र०	विषय	पृष्ठ
१६३.	अधर्म की प्रशंसा करने का प्रायश्चित्त	२३६
१६४.	अन्यतीर्थिक या गृहस्थ के पाद आमर्जनादि विषयक प्रायश्चित्त	२३६
१६५.	स्व-पर विभीतिकरण विषयक प्रायश्चित्त	२३७
१६६.	स्व-पर विस्मापन विषयक प्रायश्चित्त	२३८
१६७.	स्व-पर-विपर्यासकरण - प्रायश्चित्त	२३९
१६८.	परमत प्रशंसन विषयक प्रायश्चित्त	२४०
१६९.	विरोध युक्त राज्य में गमनागमन विषयक प्रायश्चित्त	२४१
१७०.	दिवाभोजन निंदा एवं रात्रिभोजन प्रशंसा विषयक प्रायश्चित्त	२४२
१७१.	चर्या विपरीत भोजन विषयक प्रायश्चित्त	२४२
१७२.	अनागाढ स्थिति में रात्रि में आहार रखने आदि का प्रायश्चित्त	२४३
१७३.	आहारलिप्सा से अन्यत्र रात्रिप्रवास विषयक प्रायश्चित्त	२४५
१७४.	देवादि नैवेद्य सेवन विषयक प्रायश्चित्त	२४६
१७५.	स्वेच्छाचारी की प्रशंसा एवं वन्दना का प्रायश्चित्त	२४७
१७६.	अयोग्य प्रव्रज्या विषयक प्रायश्चित्त	२४८
१७७.	अयोग्य से वैयावृत्य कराने का प्रायश्चित्त	२४९
१७८.	साधु-साध्वियों के एकत्र संवास विषयक प्रायश्चित्त	२५०
१७९.	रात में रखे पीपल आदि के सेवन का प्रायश्चित्त	२५१
१८०.	बाल मरण प्रशंसा विषयक प्रायश्चित्त	२५२
	बारसमी उद्देशक - द्वादश उद्देशओ	२५६-२८२
१८१.	त्रस-प्राणी-बंधन-विमोचन विषयक प्रायश्चित्त	२५६
१८२.	प्रत्याख्यान भंग करने का प्रायश्चित्त	२५८
१८३.	प्रत्येक काययुक्त-आहार सेवन विषयक प्रायश्चित्त	२५८
१८४.	रोमयुक्त चर्म रखने का प्रायश्चित्त	२५९
१८५.	गृहस्थ के वस्त्र से ढके पीढे पर बैठने का प्रायश्चित्त	२६०
१८६.	स्थावरकाय हिंसा विषयक प्रायश्चित्त	२६१
१८७.	सचित्त वृक्ष पर चढ़ने का प्रायश्चित्त	२६३

क्र०	विषय	पृष्ठ
१८८.	गृहस्थों के पात्र में आहार करने का प्रायश्चित्त	२६४
१८९.	गृहस्थ के वस्त्र के उपयोग का प्रायश्चित्त	२६५
१९०.	गृहस्थ के आसन-शय्यादि के उपयोग का प्रायश्चित्त	२६६
१९१.	पूर्वकर्मकृत दोषयुक्त आहार-ग्रहण-प्रायश्चित्त	२६७
१९२.	सचित्त पात्र आदि से आहार-ग्रहण-प्रायश्चित्त	२६८
१९३.	भौतिक आकर्षण-आसक्ति-विषयक प्रायश्चित्त	२६९
१९४.	आहार विषयक कालमर्यादा के उल्लंघन का प्रायश्चित्त	२७६
१९५.	मर्यादित क्षेत्र से बाहर आहार ले जाने का प्रायश्चित्त	२७७
१९६.	गृहस्थ से उपधि-वहन का प्रायश्चित्त	२८०
१९७.	महानदी पार करने का प्रायश्चित्त	२८१
तेरहमो उद्देशओ - त्रयोदश उद्देशक		२८३-३०५
१९८.	सचित्त पृथ्वी आदि पर स्थित होने का प्रायश्चित्त	२८३
१९९.	अनावृत उच्च स्थान पर खड़े रहने आदि का प्रायश्चित्त	२८५
२००.	शिल्पकलादि शिक्षण विषयक प्रायश्चित्त	२८६
२०१.	अन्यतीर्थिक आदि को कटुवचन कहने का प्रायश्चित्त	२८७
२०२.	मंत्र-तंत्र-विद्यादि विषयक प्रायश्चित्त	२८८
२०३.	मार्गादि बताने का प्रायश्चित्त	२९२
२०४.	धातु एवं निधि बताने का प्रायश्चित्त	२९३
२०५.	पात्रादि में अपना प्रतिबिम्ब देखने का प्रायश्चित्त	२९४
२०६.	वमन आदि हेतु औषधप्रयोग विषयक प्रायश्चित्त	२९६
२०७.	पार्श्वस्थ आदि की वंदना-प्रशंसा करने का प्रायश्चित्त	२९८
२०८.	धातूपिंडादि सेवन करने का प्रायश्चित्त	३०२
चउद्धसमो उद्देशओ - चतुर्दश उद्देशक		३०६-३२६
२०९.	पात्र क्रयादि विषयक प्रायश्चित्त	३०६
२१०.	गणि की आज्ञा बिना अतिरिक्त पात्र अन्य को देने का प्रायश्चित्त	३०८
२११.	अतिरिक्त पात्र देने, न देने का प्रायश्चित्त	३०९

क्र०	विषय	पृष्ठ
२१२.	अनुपयोगी पात्र रखने एवं उपयोगी पात्र न रखने का प्रायश्चित्त	३११
२१३.	पात्र-वर्ण-परिवर्तन विषयक प्रायश्चित्त	३१२
२१४.	पात्र परिकर्म (सज्जा) विषयक प्रायश्चित्त	३१३
२१५.	अकल्य स्थानों में पात्र आतापित-प्रतापित करने का प्रायश्चित्त	३१८
२१६.	त्रस काय आदि निष्कासनपूर्वक पात्र ग्रहण प्रायश्चित्त	३२१
२१७.	पात्र कोरने का प्रायश्चित्त	३२३
२१८.	मार्गादि में पात्र याचना विषयक प्रायश्चित्त	३२४
२१९.	परिषद् में आहूतकर स्वजनादि से पात्र-याचना विषयक प्रायश्चित्त	३२४
२२०.	पात्र प्राप्त करने हेतु ठहरने का प्रायश्चित्त	३२५
पण्णरसमो उद्देशओ - पंचदश उद्देशक		३२७-३४२
२२१.	भिक्षु-आशातना विषयक प्रायश्चित्त	३२७
२२२.	सचित्त आम्र सेवन विषयक प्रायश्चित्त	३२८
२२३.	अन्यतीर्थिक या गृहस्थ से पादआमर्जनादि कराने का प्रायश्चित्त	३३०
२२४.	अकल्य स्थानों में मल-मूत्रोत्सर्ग-परिष्ठापन विषयक प्रायश्चित्त	३३१
२२५.	अन्यतीर्थिक या गृहस्थ को आहार देने का प्रायश्चित्त	३३४
२२६.	पार्श्वस्थ आदि के साथ आहार के आदान-प्रदान का प्रायश्चित्त	३३५
२२७.	गृहस्थ को वस्त्र देने का प्रायश्चित्त	३३७
२२८.	पार्श्वस्थ आदि से वस्त्र लेने-देने का प्रायश्चित्त	३३७
२२९.	गवेषणा के बिना वस्त्र-ग्रहण विषयक प्रायश्चित्त	३३९
२३०.	विभूषार्थ देह-सज्जा विषयक प्रायश्चित्त	३४१
२३१.	विभूषार्थ उपधि धारण-प्रक्षालन प्रायश्चित्त	३४१
सौलसमो उद्देशओ - षोडश उद्देशक		३४३-३६४
२३२.	निषिद्ध शय्या आवास विषयक प्रायश्चित्त	३४३
२३३.	सचित्त इक्षु सेवन विषयक प्रायश्चित्त	३४४
२३४.	आरण्यक आदि से आहार ग्रहण विषयक प्रायश्चित्त	३४७
२३५.	चारित्र रत्न के संबंध में विपरीत कथन विषयक प्रायश्चित्त	३४८

क्र०	विषय	पृष्ठ
२३६.	इतरगण संक्रमण विषयक प्रायश्चित्त	३४९
२३७.	कदाग्रही भिक्षु के साथ आदान-प्रदान विषयक प्रायश्चित्त	३५०
२३८.	निषिद्ध क्षेत्रों में विहरण विषयक प्रायश्चित्त	३५२
२३९.	जुगुप्सित कुलों से आहारादि व्यवहार का प्रायश्चित्त	३५४
२४०.	पृथ्वी, शय्या एवं छींके पर आहार रखने का प्रायश्चित्त	३५७
२४१.	गृहस्थों के मध्य आहार करने का प्रायश्चित्त	३५८
२४२.	आचार्य, उपाध्याय के प्रति अविनयाचरण का प्रायश्चित्त	३५९
२४३.	मर्यादातिरिक्त उपधि विषयक प्रायश्चित्त	३६०
२४४.	विराधना-आशंकित स्थान पर परिष्ठापन विषयक प्रायश्चित्त	३६२
सत्तरसमो उद्देशओ - सप्तदश उद्देशके		३६५-३८५
२४५.	निषिद्ध कार्य कुतूहलवश करने का प्रायश्चित्त	३६५
२४६.	साधु-साध्वी द्वारा परस्पर पाद-आमर्जन विषय प्रायश्चित्त	३६९
२४७.	समान आचार युक्त निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थी का स्थान न देने का प्रायश्चित्त	३७०
२४८.	मालोपहत आहार ग्रहण विषयक प्रायश्चित्त	३७१
२४९.	कोष्ठ स्थित आहार ग्रहण विषयक प्रायश्चित्त	३७२
२५०.	उद्भिन्न-निर्भिन्न आहार ग्रहण विषयक प्रायश्चित्त	३७३
२५१.	सचित्त निक्षिप्त आहार ग्रहण विषयक प्रायश्चित्त	३७४
२५२.	शीतकृत आहार ग्रहण विषयक प्रायश्चित्त	३७५
२५३.	तत्काल धोया पानी (धोवन) लेने का प्रायश्चित्त	३७७
२५४.	स्वयं को आचार्य गुणोपेत कहने का प्रायश्चित्त	३७८
२५५.	प्रदर्शन एवं ध्वनिनिस्सरण विषयक प्रायश्चित्त	३७९
२५६.	वाद्यादि ध्वनि के आसक्तिपूर्ण श्रवण का प्रायश्चित्त	३८०
२५७.	शब्द-श्रवण-आसक्ति विषयक प्रायश्चित्त	३८२
अष्टासमो उद्देशओ - अष्टादश उद्देशक		३८६-३९५
२५८.	नौका विहार विषयक प्रायश्चित्त	३८६
२५९.	नियम विरुद्ध वस्त्र ग्रहण विषयक प्रायश्चित्त	३९४

क्र०	विषय	पृष्ठ
	एगूणवीसइमो उद्देसओ - एकोनविंश उद्देशक	3१६-४१३
२६०.	प्रपाणक ग्रहण विषयक प्रायश्चित्त	३९६
२६१.	चतुर्विध संध्याओं में स्वाध्याय संबंधी प्रायश्चित्त	३९८
२६२.	अविहित काल में कालिक श्रुत मर्यादा उल्लंघन विषयक प्रायश्चित्त	३९९
२६३.	महामहोत्सवों के प्रसंग पर स्वाध्याय विषयक प्रायश्चित्त	४००
२६४.	विहित काल में स्वाध्याय न करने का प्रायश्चित्त	४०२
२६५.	अविहित काल में स्वाध्याय का प्रायश्चित्त	४०४
२६६.	वैयक्तिक अस्वाध्याय काल में स्वाध्याय का प्रायश्चित्त	४०४
२६७.	क्रमविरुद्ध आगम वाचना देने का प्रायश्चित्त	४०५
२६८.	अपात्र को वाचना देने एवं पात्र-के न देने का प्रायश्चित्त	४०७
२६९.	वाचना प्रदान में पक्षपात का प्रायश्चित्त	४०८
२७०.	अदत्त वाचना ग्रहण संबंधी प्रायश्चित्त	४०९
२७१.	गृहस्थ से वाचना आदान-प्रदान विषयक प्रायश्चित्त	४११
२७२.	पार्श्वस्थ सह वाचना आदान-प्रदान विषयक प्रायश्चित्त	४१२
	वीसइमो उद्देसओ - विंश उद्देशक	४१४-४३२
२७३.	मायारहित एवं मायारहित दोष प्रत्यालोचक हेतु प्रायश्चित्त विधान	४१४
२७४.	प्रस्थापना में दोष प्रतिसेवन : प्रायश्चित्त आरोपण	४१९
२७५.	द्वैमासिक प्रायश्चित्त : स्थापन-आरोपण	४२२
२७६.	द्वैमासिक प्रायश्चित्त : प्रस्थापन : आरोपण : वृद्धि	४२४
२७७.	एकमासिक प्रायश्चित्त : स्थापन-आरोपण	४२५
२७८.	एक मासिक प्रायश्चित्त : प्रस्थापन : आरोपण : वृद्धि	४२६
२७९.	मासिक-द्वैमासिक प्रायश्चित्त : प्रस्थापन : आरोपण : वृद्धि	४२९



श्री अ० भा० सुधर्म जैन सं० रक्षक संघ, जोधपुर आगम बत्तीसी प्रकाशन योजना के अन्तर्गत प्रकाशित आगम

अंग सूत्र

क्रं.	नाम आगम	मूल्य
१.	आचारांग सूत्र भाग-१-२	५५-००
२.	सूयगडांग सूत्र भाग-१, २	६०-००
३.	स्थानांग सूत्र भाग-१, २	६०-००
४.	समवायांग सूत्र	२५-००
५.	भगवती सूत्र भाग १-७	३००-००
६.	ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र भाग-१, २	६०-००
७.	उपासकदशांग सूत्र	२०-००
८.	अन्तकृतदशा सूत्र	२५-००
९.	अनुत्तरोपपातिक दशा सूत्र	१५-००
१०.	प्रश्नव्याकरण सूत्र	३५-००
११.	विपाक सूत्र	३०-००

उपांग सूत्र

१.	उववाइय सूत्र	२५-००
२.	राजप्रश्नीय सूत्र	२५-००
३.	जीवाजीवाभिगम सूत्र भाग-१, २	६०-००
४.	प्रज्ञापना सूत्र भाग-१, २, ३, ४	१६०-००
५.	जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति	५०-००
६-७.	चन्द्रप्रज्ञप्ति-सूर्यप्रज्ञप्ति	२०-००
८-१२.	निरयावलिका (कल्पिका, कल्पवतंसिका, पुष्पिका, पुष्पचूलिका, वृष्णिदशा)	२०-००

मूल सूत्र

१.	दशवैकालिक सूत्र	३०-००
२.	उत्तराध्ययन सूत्र भाग-१, २	६०-००
३.	नंदी सूत्र	२५-००
४.	अनुयोगद्वार सूत्र	५०-००

छेद सूत्र

१-३.	त्रीणिछेदसुत्ताणि सूत्र (दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प, व्यवहार)	५०-००
४.	निशीथ सूत्र	५०-००
१.	आवश्यक सूत्र	३०-००

आगम बत्तीसी के अलावा संघ के प्रकाशन

क्रं.	नाम	मूल्य	क्रं.	नाम	मूल्य
१.	अंगपविद्धसुत्ताणि भाग १	१४-००	२४.	जैन सिद्धांत थोक संग्रह भाग ३	१०-००
२.	अंगपविद्धसुत्ताणि भाग २	४०-००	२५.	जैन सिद्धांत थोक संग्रह भाग ४	१०-००
३.	अंगपविद्धसुत्ताणि भाग ३	३०-००	२६.	जैन सिद्धांत थोक संग्रह संयुक्त	१५-००
४.	अंगपविद्धसुत्ताणि संयुक्त	८०-००	२७.	पन्नवणा सूत्र के थोकड़े भाग १	८-००
५.	अनंगपविद्धसुत्ताणि भाग १	३५-००	२८.	पन्नवणा सूत्र के थोकड़े भाग २	१०-००
६.	अनंगपविद्धसुत्ताणि भाग २	४०-००	२९.	पन्नवणा सूत्र के थोकड़े भाग ३	१०-००
७.	अनंगपविद्धसुत्ताणि संयुक्त	८०-००	३०-३२.	तीर्थंकर चरित्र भाग १, २, ३	१४०-००
८.	अनुत्तरोववाइय सूत्र	३-५०	३३.	मोक्ष मार्ग ग्रन्थ भाग १	३५-००
९.	आयारो	८-००	३४.	मोक्ष मार्ग ग्रन्थ भाग २	३०-००
१०.	सूर्यगडो	६-००	३५-३७.	समर्थ समाधान भाग १, २, ३	५७-००
११.	उत्तरज्जयणाणि (गुटका)	१०-००	३८.	सम्यक्त्व विमर्श	१५-००
१२.	दसवेयालिय सुत्त (गुटका)	५-००	३९.	आत्म साधना संग्रह	२०-००
१३.	णंदी सुत्त (गुटका)	अप्राप्य	४०.	आत्म शुद्धि का मूल तत्त्वत्रयी	२०-००
१४.	चउछेयसुत्ताइ	१५-००	४१.	नवतत्त्वों का स्वरूप	१३-००
१५.	आचारांग सूत्र भाग १	२५-००	४२.	अगार-धर्म	१०-००
१६.	अंतगडदसा सूत्र	१०-००	४३.	Saarth Saamaayik Sootra	अप्राप्य
१७-१९.	उत्तराध्ययनसूत्र भाग १, २, ३	४५-००	४४.	तत्त्व-पृच्छा	अप्राप्य
२०.	आवश्यक सूत्र (सार्थ)	१०-००	४५.	तेतली-पुत्र	४५-००
२१.	दशवैकालिक सूत्र	१०-००	४६.	शिविर व्याख्यान	१२-००
२२.	जैन सिद्धांत थोक संग्रह भाग १	१०-००	४७.	जैन स्वाध्याय माला	१८-००
२३.	जैन सिद्धांत थोक संग्रह भाग २	१०-००	४८.	सुधर्म स्तवन संग्रह भाग १	२२-००

क्रं.	नाम	मूल्य	क्रं.	नाम	मूल्य
४६.	सुधर्म स्तवन संग्रह भाग २	अप्राप्य	७२.	जैन सिद्धांत कोविद	३-००
४७.	सुधर्म चरित्र संग्रह	१०-००	७३.	जैन सिद्धांत प्रवीण	४-००
४८.	लौकाशाह मत समर्थन	१०-००	७४.	तीर्थकरों का लेखा	१-००
४९.	जिनागम विरुद्ध मूर्ति पूजा	१५-००	७५.	जीव-धड़ा	२-००
५०.	बड़ी साधु वंदना	१५-००	७६.	१०२ बोल का बासठिया	०-५०
५१.	तीर्थकर पद प्राप्ति के उपाय	५-००	७७.	लघुदण्डक	३-००
५२.	स्वाध्याय सुधा	७-००	७८.	महादण्डक	१-००
५३.	आनुपूर्वी	१-००	७९.	तेतीस बोल	२-००
५४.	सुखविपाक सूत्र	२-००	८०.	गुणस्थान स्वरूप	३-००
५५.	भक्तामर स्तोत्र	२-००	८१.	गति-आगति	१-००
५६.	जैन स्तुति	७-००	८२.	कर्म-प्रकृति	१-००
५७.	सिद्ध स्तुति	३-००	८३.	समिति-गुप्ति	२-००
५८.	संसार तरणिका	अप्राप्य	८४.	समकित के ६७ बोल	२-००
५९.	आलोचना पंचक	२-००	८५.	पच्चीस बोल	३-००
६०.	विनयचन्द्र चौबीसी	१-००	८६.	तव-तत्त्व	६-००
६१.	भवनाशिनी भावना	अप्राप्य	८७.	सामायिक संस्कार	४-००
६२.	स्तवन तरंगिणी	५-००	८८.	मुखवस्त्रिका सिद्धि	३-००
६३.	सामायिक सूत्र	१-००	८९.	विद्युत् संचित तेऊकाय है	३-००
६४.	सार्थ सामायिक सूत्र	३-००	९०.	धर्म का प्राण यतना	२-००
६५.	प्रतिक्रमण सूत्र	३-००	९१.	सामण्य सङ्घिधम्मो	अप्राप्य
६६.	जैन सिद्धांत परिचय	अप्राप्य	९२.	मंगल प्रभातिका	१.२५
६७.	जैन सिद्धांत प्रवेशिका	४-००	९३.	कुगुरु गुवभास स्वरूप	४-००
६८.	जैन सिद्धांत प्रथमा	४-००			

॥ णमो सिद्धाणं ॥

निशीथ सूत्र

पढमो उद्देशओ - प्रथम उद्देशक

अब्रह्मचर्य मूलक हस्त-कर्म का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू हत्थकम्मं करेइ करेत्तं वा साइज्जइ ॥ १ ॥

कठिन शब्दार्थ - जे - जो, भिक्खू - भिक्षु - साधु, हत्थकम्मं - हस्त-कर्म (हस्त मैथुन), करेइ - करता है, करेत्तं - करते हुए का, साइज्जइ - अनुमोदन करता है - अभिरुचि लेता है।

भाषार्थ - १. जो साधु (वेद-मोहोदय के परिणामस्वरूप) हस्त-कर्म करता है या हस्त-कर्म करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - यद्यपि पंचमहाव्रतधारी साधु के लिए प्रत्येक महाव्रत का महत्त्व है। उनके परिपालन में वह सदैव जागरूक रहे, यह वाञ्छित है। उनमें भी ब्रह्मचर्य का विशेष महत्त्व है, क्योंकि वेद-मोहोदय के परिणामस्वरूप कामवासना-जनित दुष्कर्म आशंकित रहते हैं। हस्त-कर्म, एक ऐसा ही कृत्य है। वह हर किसी के लिए सर्वथा परिहेय, परित्याज्य और निंदनीय है, फिर साधु की तो बात ही क्या? संयममय, पवित्र तथा उज्ज्वल जीवन के संवाहक साधु को ऐसे जघन्य - घृणास्पद कर्म से सदैव बचना चाहिए।

काम-विजय के लिए मन में सदैव ब्रह्मचर्य मूलक निर्मल, शुद्ध भाव परिणामनशील रहें, यह आवश्यक है। जो अन्तःकरण में वैसे भावों का चिन्तन, मनन करता है, वह हस्त-कर्म जैसे कुकृत्य में लग कर पतित नहीं होता।

साधु तो ऐसे कुकृत्य से सदा बचते ही रहते हैं, किन्तु कदाचन परिणामों में अपवित्रता आने से ऐसा घटित न हो जाए, इस दृष्टि से जागरूक बने रहने की प्रेरणा देने हेतु यह सूत्र

प्रस्तुत आगम के प्रारम्भ में ही दिया गया है। काम-विजयी साधु अहिंसा आदि सभी महाव्रतों का कृत, कारित, अनुमोदित रूप में सम्यक् पालन करने में सदा सन्नद्ध रहता है।

निशीथ सूत्र के प्रथम उद्देशक में हस्त-कर्म आदि कुकृत्यों के लिए गुरुमासिक प्रायश्चित्त का विधान है। प्रायश्चित्त मूलक शब्दावली का सर्वत्र अध्याहार किया गया है।

अंगादान-विषयक दुष्कर्म : प्रायश्चित्त

जे भिक्खू अंगादाणं कट्टेण वा किलिंचेण वा अंगुलियाए वा सलागाए वा संचालेइ संचालेंतं वा साइज्जइ ॥ २ ॥

जे भिक्खू अंगादाणं संवाहेज्ज वा पलिमहेज्ज वा संवाहेंतं वा पलिमहेंतं वा साइज्जइ ॥ ३ ॥

जे भिक्खू अंगादाणं तेल्लेण वा घएण वा वसाए वा णवणीएण वा अब्भंगेज्ज वा मक्खेज्ज वा भिलिंगेज्ज वा अब्भंगेंतं वा मक्खेंतं वा भिलिंगेंतं वा साइज्जइ ॥ ४ ॥

जे भिक्खू अंगादाणं कक्केण वा लोद्धेण वा पउमचुण्णेण वा प्हाणेण वा सिणाणेण वा चुण्णेहिं वा वण्णेहिं वा उव्वट्टेइ वा परिवट्टेइ वा उव्वट्टेंतं वा परिवट्टेंतं वा साइज्जइ ॥ ५ ॥

जे भिक्खू अंगादाणं सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा पधोवेज्ज वा उच्छोलेंतं वा पधोलेंतं वा साइज्जइ ॥ ६ ॥

जे भिक्खू अंगादाणं णिच्छल्लेइ णिच्छालेंतं वा साइज्जइ ॥ ७ ॥

जे भिक्खू अंगादाणं जिग्घइ जिग्घंतं वा साइज्जइ ॥ ८ ॥

कठिन शब्दार्थ - अंगादाणं - अंगादान - जननेन्द्रिय, कट्टेण - काष्ठ द्वारा, किलिंचेण- बांस आदि की सलाई से - बांस आदि के चीरे हुए टुकड़े द्वारा, अंगुलियाए - अंगुली से, सलागाए - लोहादि से निर्मित शलाका - सलाई द्वारा, संचालेइ - संचालित करता है, संचालेंतं - संचालन करते हुए का, संवाहेज्ज - संवाहन - सामान्यतः मर्दन करे, पलिमहेज्ज- विशेष रूप से मर्दन करे, तेल्लेण - तेल द्वारा, घएण - घृत - घी द्वारा, वसाए - स्निग्ध पदार्थ द्वारा, णवणीएण - नवनीत - मक्खन द्वारा, अब्भंगेज्ज - अभ्यंगन - मालिश करे,

मक्खवेज्ज - म्रक्षण - विशेष रूप से संमर्दन करे, भिलिंगेज्ज - संमर्दन करे, कक्केण - कल्क - अनेक सुगन्धित द्रव्यों द्वारा निर्मित उद्वर्तन - विशेष द्वारा, लोद्धेण - लोध्र नामक सुगन्धित पदार्थ-विशेष द्वारा, पडमचुण्णेण - पद्मचूर्ण द्वारा, णहाणेण - स्नपन द्वारा, सिणाणेण - विशेष स्नपन द्वारा, चुण्णेहिं - जौ, चन्दन आदि के चूरे से, वण्णेहिं - अबीर - गुलाल आदि के बुरादे से, उव्वट्टेइ - उद्वर्तन - उबटन करे, परिवट्टेइ - परिवर्तित करे - बार-बार करे, सीओदगवियडेण - अचित्त शीतल जल द्वारा, उसिणोदगवियडेण - अचित्त गर्म जल द्वारा, उच्छोलेज्ज - उत्क्षालित करे - सामान्य रूप से क्षालित करे या धोए, पधोवेज्ज - प्रक्षालित - विशेष रूप से धोए, णिच्छल्लेइ - जननेन्द्रिय के अग्रभाग की त्वचा को ऊपर की ओर करता है, जिग्घइ - सूंघता है।

भावार्थ - २. जो साधु अंगादान को काष्ठ, बांस आदि की सलाई, अंगुली तथा लोह आदि की सलाई से संचालित करता है या संचालित करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

३. जो साधु अंगादान का संवाहन या परिमर्दन करता है अथवा संवाहन या परिमर्दन करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

४. जो साधु अंगादान का तेल, घी, चिकने पदार्थ या मक्खन द्वारा अभ्यंगन, म्रक्षण या संमर्दन करे अथवा अभ्यंगन, म्रक्षण या संमर्दन करते हुए का अनुमोदन करे, उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

५. जो साधु अंगादान का कल्क, लोध्र, पद्मचूर्ण, स्नपन या स्नान - विशेष स्नपन करे, जौ, चन्दन आदि के चूरे से, अबीर आदि के बुरादे से उद्वर्तन - उबटन करे या परिवर्तित करे - बार-बार वैसा करे अथवा उद्वर्तित या परिवर्तित करते हुए का अनुमोदन करे, उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

६. जो साधु अंगादान का अचित्त शीतल जल से या अचित्त उष्ण जल से उत्क्षालित करे या प्रक्षालित करे अथवा उत्क्षालित प्रक्षालित करते हुए का अनुमोदन करे, उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

७. जो साधु अंगादान के अग्रभाग की त्वचा को ऊपर की ओर करता है - उलटता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

८. जो साधु अंगादान को सूंघता है या सूंघते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - इन सूत्रों में अंगादान शब्द का एक विशेष अर्थ में प्रयोग हुआ है।

“अंगानाम्, उपलक्षणेन उपांगानाम् च, आदानम् - उत्पत्तिः, उद्भवो वा” - इस व्युत्पत्ति के अनुसार अंगों तथा उपांगों की उत्पत्ति को अंगादान कहा जाता है। इस विग्रह के अनुसार यह षष्ठी तत्पुरुष समास है।

मस्तक, हृदय, उदर, पीठ, दो भुजाएँ तथा दो जंघाएँ - ये आठ अंग कहे गए हैं।

कान, नासिका, नेत्र, पिंडलियाँ, हाथ, पैर, नख, केश, मूँछ, दाढ़ी, अंगुलियाँ, हथेली, पगथली तथा इनके समीपवर्ती भाग उपांग कहे गये हैं।

अंगादान का बहुब्रीही समास के रूप में “अंगानाम् उपलक्षणेन उपांगानाम् च, उत्पत्तिः, उद्भवो वा येन भवति, तद् अंगादानम्।” अर्थात् जिससे अंगों और उपांगों की या अंगोपांगमय शरीर की उत्पत्ति होती है, उसे अंगादान कहा जाता है।

इस मैथुनी सृष्टि का आधार पुरुष और स्त्री है। उनके संसर्ग से देहोत्पत्ति होती है। इस दृष्टि से यहाँ अंगादान का आशय पुरुष की जननेन्द्रिय है।

इन सूत्रों में वेद-मोहोदय से जनित काम-विकारमय कुचेष्टाओं से बचे रहने हेतु साधुओं को सजग किया गया है। जिन कुत्सित, कामुक प्रवृत्तियों का इन सूत्रों में वर्णन हुआ है, वे अत्यन्त निन्दनीय हैं, प्रायश्चित्त योग्य हैं, यह ध्यान में रखते हुए साधु ऐसे घृणास्पद, जघन्य कुकर्म में कभी भी प्रवृत्त न हो, इन सूत्रों का यही आशय है।

जे भिक्खू अंगादाणं अण्णयरंसि अचित्तंसि सोयंसि अणुप्पवेसेत्ता सुक्कपोग्गले णिग्घाएइ णिग्घायंतं वा साइज्जइ ॥ ९ ॥

कठिन शब्दार्थ - अण्णयरंसि - अन्यतर - किसी में, अचित्तंसि - अचित्त, सोयंसि- छिद्र में, अणुप्पवेसेत्ता - अनुप्रविष्ट कर - डाल कर, सुक्कपोग्गले - वीर्य-पुद्गलों को, णिग्घाएइ - निष्क्रान्त करता है - निकालता है।

भावार्थ - ९. जो साधु किसी अचित्त छिद्र में अंगादान को अनुप्रविष्ट कर शुक्र-पुद्गलों को निष्कासित करता है, वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - इस सूत्र में जिस उद्दाम कामुक-वृत्ति-जनित कुकर्म का उल्लेख हुआ है, वह अब्रह्मचर्य-सेवन का निकृष्ट रूप है, अत्यन्त निन्दनीय और त्याज्य है। साधु ब्रह्मचर्य के तीव्रतम भाव में अपने मन को सदा लगाए रहे, जिससे इस प्रकार के नीच कर्म में उसका मन कभी जाए ही नहीं। सूत्र में आए हुए ‘अचित्त स्त्रोत’ का आशय ‘अचित्त’ स्थान समझना चाहिए।

सचित पदार्थगत गंध सूंघने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू सचित्तपइड्डियं गंधं जिग्घइ जिग्घंतं वा साइज्जइ ॥ १० ॥

भावार्थ - १०. जो साधु सचित्त प्रतिष्ठित-सचित्त पदार्थवर्ती गंध को सूंघता है या सूंघते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - साधु भौतिक आकर्षणों से सदा दूर रहे, इन्द्रियों के अनुकूल, सुखद विषयों में कभी आसक्त न हो, उसकी इन्द्रियाँ उस दिशा में प्रवृत्त न हो, संयम की विशुद्ध आराधना के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है।

इन सूत्रों में घ्राणेन्द्रिय के विषय गंध का जो उल्लेख हुआ है, वह सुगन्ध के अर्थ में है।

सुगन्ध और दुर्गन्ध के रूप में गंध के दो भेद हैं। सुगन्ध ही प्रिय होने के कारण व्यक्ति को आकृष्ट करती है।

आगम में तो यहाँ तक कहा गया है कि यदि स्वाभाविक रूप में भी सुगन्ध आ रही हो तो साधु उसमें आसक्त न हो, उसे सूंघने में जरा भी उसकी रुचि न हो, वह उसे सूंघने से सर्वथा दूर रहे ●।

जब सहज रूप में आती हुई सुगन्ध को सूंघना वर्जित है, तब इच्छापूर्वक सुगन्ध को सूंघने के लिए तो स्थान ही कहाँ है, वह तो सर्वथा निषिद्ध है।

गृहस्थादि द्वारा पथादि निर्माण-विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू पयमग्गं वा संकमं वा अवलंबणं वा अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कारेइ कारेंतं वा साइज्जइ ॥ ११ ॥

जे भिक्खू दगवीणियं अण्णउत्थिएहिं वा गारत्थिएहिं वा कारेइ कारेंतं वा साइज्जइ ॥ १२ ॥

जे भिक्खू सिक्कगं वा सिक्कगणंतं वा अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कारेइ कारेंतं वा साइज्जइ ॥ १३ ॥

जे भिक्खू सोत्तियं वा रज्जुयं वा चिलिमिलिं वा अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कारेइ कारेंतं वा साइज्जइ ॥ १४ ॥

● आचारांग सूत्र, द्वितीय श्रुतस्कन्ध, अध्ययन-१, उद्देशक-८

कठिन शब्दार्थ - पयमगं - पद-मार्ग - पैदल चलने का रास्ता, संक्रमं - संक्रम - जल एवं कीचड़ को लांघने के लिए पत्थर आदि रखकर रास्ता बनाना, अवलंबणं - अवलम्बन - सीढियाँ आदि का निर्माण, जिसके सहारे ऊपर के स्थान पर चढ़ा जा सके, पहुँचा जा सके, अण्णउत्थिएण - अन्यतीर्थिक - जैनेतर द्वारा, गारत्थिएण - गृहस्थ द्वारा, कारेइ - कराता है, दगवीणियं - उदकवीणिका - पानी निकालने की नाली, सिक्कगं - छींका, सिक्कगणंतगं - छींके का ढक्कन, सोत्तियं - सूत की, रज्जुयं - डोरी की, चिलिमिलिं - चिलिमिलिका - पर्दा या मसहरी (मच्छरदानी)।

भावाथं - ११. जो साधु किसी अन्यतीर्थिक द्वारा या गृहस्थ द्वारा पैदल चलने का मार्ग, जल या कीचड़ को लांघने हेतु पत्थर आदि रखवा कर रास्ता तथा ऊँचे स्थान पर चढ़ने और उतरने के लिए सीढियाँ आदि बनवाता है अथवा बनवाते हुए का अनुमोदन करता है तो उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

१२. जो साधु किसी अन्यतीर्थिक द्वारा या गृहस्थ द्वारा पानी को निकालने की नाली बनवाता है अथवा बनवाते हुए का अनुमोदन करता है तो उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

१३. जो साधु किसी अन्यतीर्थिक द्वारा या गृहस्थ द्वारा छींका या छींके का ढक्कन बनवाता है अथवा बनवाते हुए का अनुमोदन करता है तो उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

१४. जो साधु किसी अन्यतीर्थिक द्वारा या गृहस्थ द्वारा सूत की या डोरी की चिलिमिलिका-मसहरी या पर्दा बनवाता है अथवा बनवाते हुए का अनुमोदन करता है तो उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - श्रमण-दीक्षा स्वीकार करते हुए भिक्षु प्रतिज्ञाबद्ध होता है कि मैं आज से मन, वचन, काय द्वारा कृत, कारित, अनुमोदित पूर्वक कोई भी सावध - पापयुक्त प्रवृत्ति नहीं करूँगा।

इस प्रतिज्ञा के अनुसार वह कोई भी आरम्भ-समारम्भ मूलक कार्य नहीं करवा सकता, क्योंकि वे हिंसा आदि के कारण सावध होते हैं। सावध प्रवृत्ति में संलग्न होना दोष है, प्रायश्चित्त योग्य है।

इन सूत्रों में पथ, रास्ता, नाली आदि के निर्माण का उल्लेख हुआ है। वर्षा ऋतु में वैसी स्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, जिससे साधुओं को अपने उपाश्रय से बाहर आने-जाने में कठिनाई होती है।

भोजन आदि खाद्य पदार्थों को बिल्ली, चूहे आदि जीवों से बचाने के लिए उन्हें छींके पर लटकाने की प्रथा है।

ठहरने के स्थान आदि की अनुपयुक्तता में एवं मच्छर, डांसू आदि के उपद्रव के निवारण करने में यवनिका - पर्दा तथा मसहरी आदि की भी आवश्यकता होती है।

ये कार्य चातुर्मास आदि में आवश्यक तो होते हैं, किन्तु सावद्य कार्यों तथा आरम्भ-समारम्भ का सर्वथा त्यागी जैन साधु कह कर ये नहीं करवा सकता। क्योंकि उससे संयम में दोष आता है, वह प्रायश्चित्त का भागी होता है।

संयमी साधु के लिए आवश्यकता की पूर्ति से अधिक महत्त्व संयम के परिपालन का है। वह ऐसा कोई कार्य नहीं करता, जो संयम के विरुद्ध हो। चाहे उसे कितनी ही कठिनाइयों का, बाधाओं का सामना क्यों न करना पड़े?

सूई आदि के परिष्करण का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू सूईए उत्तरकरणं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कारेइ कारेंतं वा साइज्जइ ॥ १५ ॥

जे भिक्खू पिप्पलगस्स उत्तरकरणं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कारेइ कारेंतं वा साइज्जइ ॥ १६ ॥

जे भिक्खू णहच्छेयगस्स उत्तरकरणं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कारेइ कारेंतं वा साइज्जइ ॥ १७ ॥

जे भिक्खू कण्णसोहणगस्स उत्तरकरणं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कारेइ कारेंतं वा साइज्जइ ॥ १८ ॥

कठिन शब्दार्थ - सूईए - सूई का, उत्तरकरणं - परिष्करण या तीक्ष्णतादि संपादन - तीक्ष्ण या तेज बनाना, पिप्पलगस्स - कर्तारिका - कतरणी का, णहच्छेयगस्स - नखछेदनक-नहरनी का, कण्णसोहणगस्स - कर्णशोधनक - कानकुचरणी का।

भावार्थ - १५. जो साधु किसी अन्यतीर्थिक द्वारा या गृहस्थ द्वारा सूई का परिष्करण करवाता है - उसे तीक्ष्ण या तेज कराता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

१६. जो साधु किसी अन्यतीर्थिक द्वारा या गृहस्थ द्वारा कर्तरिका का परिष्करण कराता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

१७. जो साधु किसी अन्यतीर्थिक द्वारा या गृहस्थ द्वारा नखछेदनक का परिष्करण कराता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

१८. जो साधु किसी अन्यतीर्थिक द्वारा या गृहस्थ द्वारा कर्णशोधनक का परिष्करण कराता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - शास्त्रों में ऐसा विधान है कि साधु शरीर की अनिवार्य आवश्यकताओं एवं संयम में सहायक होने की दृष्टि से कतिपय उपकरण अपने पास रख सकता है।

जो उपकरण साधुओं के लिए सदा आवश्यक होते हैं, उन्हें औपग्रहिक उपकरण कहा जाता है। मर्यादानुगत वस्त्र, पात्र, रजोहरण एवं मुखवस्त्रिका आदि इनके अन्तर्गत हैं।

कतिपय उपकरण ऐसे हैं, जो विशेष परिस्थितिवश रखे जाते हैं, उन्हें औपग्रहिक कहा जाता है। वे दो प्रकार के हैं। कुछ ऐसे हैं, जो सदा काम में आते हैं, जैसे वृद्धावस्था में लाठी तथा नैत्र दुर्बलता में चश्मा आदि। कुछ ऐसे हैं कि कभी-कभी काम में आते हैं, उनमें उपर्युक्त सूत्रों में निरूपित सूई, कतरणी आदि शामिल हैं। विशेष प्रसंगानुसार छत्र, चर्म आदि का भी औपग्रहिक उपकरणों में उल्लेख हुआ है।

औपग्रहिक उपकरण प्रत्यर्पणीय हैं। काम में लेने हेतु साधु गृहस्थों से उन्हें लेते हैं और उपयोग करने के पश्चात् वापस उनका प्रत्यर्पण कर देते हैं - गृहस्थों को लौटा देते हैं। इसलिए वे प्रत्यर्पणीय कहे जाते हैं।

यद्यपि प्रत्यर्पणीय उपकरण काम में लेने के बाद तत्काल लौटा देने का विधान है, किन्तु फिर भी क्षेत्र काल तथा परिवर्तित दैहिक स्थिति के अनुसार, संभावित अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु, यह सोचते हुए कि कदाचन् वे अन्यत्र प्राप्त न हो सकें, साधु अति आवश्यक औपग्रहिक उपकरण साथ में रख सकता है। इन उपकरणों में दण्ड, लाठी, चश्मा आदि समझना चाहिए, किन्तु सूई, कैंची आदि धातुओं के उपकरणों को नहीं समझना चाहिए।

इन सूत्रों में सूई आदि के परिष्करण को दोषयुक्त, प्रायश्चित्त योग्य बतलाया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि साधु की इनके प्रति जरा भी आसक्ति न रहे। आसक्ति ममत्व उत्पन्न करती है। ममत्व मोह का पर्याय है, जो संयम की शुद्धता में व्यवधान करता है।

साधु अनासक्त, निःस्पृह और ममता रहित भाव से यथावस्थित उपकरणों का आवश्यकतानुरूप उपयोग करे। उसका मुख्य लक्ष्य तो आत्मोपासना एवं संयमाराधना है।

बिना प्रयोजन सूई आदि की याचना का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू अणद्धाए सूइं जायइ जायंतं वा साइज्जइ ॥ १९ ॥

जे भिक्खू अणद्धाए पिप्पलगं जायइ जायंतं वा साइज्जइ ॥ २० ॥

जे भिक्खू अणद्धाए कण्णसोहणयं जायइ जायंतं वा साइज्जइ ॥ २१ ॥

जे भिक्खू अणद्धाए णहच्छेयणयं जायइ जायंतं वा साइज्जइ ॥ २२ ॥

कठिन शब्दार्थ - अणद्धाए - बिना प्रयोजन, जायइ - याचना करता है।

भावार्थ - १९. जो साधु बिना प्रयोजन सूई की याचना करता है या याचना करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

२०. जो साधु बिना प्रयोजन कर्तरिका की याचना करता है या याचना करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

२१. जो साधु बिना प्रयोजन कर्णशोधनक की याचना करता है या याचना करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

२२. जो साधु बिना प्रयोजन नखछेदनक की याचना करता है या याचना करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - संयमानुरत साधु व्यवस्थित, अनुशासित एवं मर्यादित जीवन जीता है। वह वही कार्य करता है, जिसका प्रयोजन हो, संयम के हेतुभूत देह की अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति में उपयोगिता हो।

नीतिशास्त्र में कहा गया है - “प्रयोजनमनुद्दिश्य मंदोऽपि न प्रवर्तते।” अर्थात् प्रयोजन का उद्देश्य लिए बिना या निष्प्रयोजन रूप में मूर्ख भी किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता।

साधारण व्यक्ति के लिए भी जब ऐसी बात है तो साधु के लिए तो कहना ही क्या? उसका तो प्रत्येक कार्य सार्थकता एवं सप्रयोजनता लिए हो, यह आवश्यक है। इसलिए यहाँ बिना प्रयोजन या अनावश्यक रूप में सूई आदि की याचना करना तथा वैसा करने वाले का अनुमोदन करना दोषयुक्त प्रायश्चित्त योग्य बतलाया गया है।

अविधि युक्त याचना का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू अविहीए सूइं जायइ जायंतं वा साइज्जइ ॥ २३ ॥

जे भिक्खू अविहीए पिप्पलगं जायइ जायंतं वा साइज्जइ ॥ २४ ॥

जे भिक्खू अविहीए णहच्छेयणयं जायइ जायंतं वा साइज्जइ ॥ २५ ॥

जे भिक्खू अविहीए कण्णसोहणयं जायइ जायंतं वा साइज्जइ ॥ २६ ॥

कठिन शब्दार्थ - अविहीए - अविधि - अविवेकपूर्वक।

भावार्थ - २३. जो साधु अविधि से - अविवेकपूर्वक सूई की याचना करता या याचना करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

२४. जो साधु अविधि से कर्तरिका की याचना करता है या याचना करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

२५. जो साधु अविधि से नखछेदनक की याचना करता है या याचना करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

२६. जो साधु अविधि से कर्णशोधनक की याचना करता है या याचना करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - साधु निष्परिग्रही होता है। वह औपधिक उपकरण तो सदा अपने पास रखता है, किन्तु प्रत्यर्पणीय औपग्रहिक उपकरण गृहस्थों से याचित करके लेता है। लेने की अपनी विधि या पद्धति है। वह जाकर गृहस्थ से कहता है कि मुझे फटे-हुए वस्त्र की सिलाई आदि आवश्यक अमुक कार्य हेतु सूई आदि अमुक वस्तु की आवश्यकता है, मुझे दें। मैं उसे उपयोग में लेने के उपरान्त तत्काल वापस लौटा दूंगा, ऐसा कह कर वह गृहस्थ द्वारा दिए गए उपकरण को भलीभाँति ग्रहण करे। बड़ी सावधानी से उसे अपने पास रखे, काम में लेने के पश्चात् ज्यों का त्यों वापस लौटा दे। यह विधि या विवेकपूर्वक याचना करने का क्रम है।

गृहस्थ के हाथ से उठाना तथा गृहस्थ के द्वारा भूमि पर रखे बिना याचकवृत्ति नहीं रखते हुए याचना करना अविधि याचना कहलाती है।

साधु आवश्यकतानुरूप लिए जाने वाले औपग्रहिक उपकरणों को लेते समय इस विधि या पद्धति का अनुसरण करे। इससे दाता के मन में भी बड़ा संतोष रहता है। उसे देते हुए प्रसन्नता होती है। अपनी दी जाने वाली वस्तु के संबंध में वह निश्चिन्त रहता है।

प्रातिहारिक वस्तु के अनिर्दिष्ट उपयोग का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू पाडिहारियं सूइं जाइत्ता वत्थं सिव्विस्सामित्ति पायं सिव्वइ सिव्वंतं वा साइज्जइ ॥ २७ ॥

जे भिक्खू पाडिहारियं पिप्पलयं जाइत्ता वत्थं छिंदिस्सामित्ति पायं छिंदइ
छिंदंतं वा साइज्जइ ॥ २८ ॥

जे भिक्खू पाडिहारियं णहच्छेयणयं जाइत्ता णहं छिंदिस्सामित्ति सल्लुद्धरणं
करेइ करेंतं वा साइज्जइ ॥ २९ ॥

जे भिक्खू पाडिहारियं कण्णसोहणयं जाइत्ता कण्णमलं णीहरिस्सामित्ति
दंतमलं वा णखमलं वा णीहरेइ णीहरेंतं वा साइज्जइ ॥ ३० ॥

कठिन शब्दार्थ - पाडिहारियं - प्रातिहारिक - प्रत्यर्पणीय या वापस लौटाने योग्य,
जाइत्ता - याचित कर, वत्थं - वस्त्र, सिव्विस्सामि - सीऊंगा, पायं - पात्र - पात्र को
उठाने वाली झोली, सिव्वइ - सीता है - सिलाई करता है, छिंदिस्सामि - काटूंगा, छिंदइ-
काटता है, णहं - नख, सल्लुद्धरणं - शल्योद्धरण - कांटा निकालना, कण्णमलं - कान
का मैल - कीटी, णीहरिस्सामि - निकालूंगा, दंतमलं - दांत का मैल, णखमलं - नख
का मैल, णीहरेइ - निकालता है।

भावार्थ - २७. "वस्त्र - पछेवडी, चोलपट्ट आदि की सिलाई करूंगा" यों कहता
हुआ जो साधु प्रातिहारिक (लौटाने योग्य) सूई की याचना कर उस द्वारा पात्र - पात्र की
झोली की सिलाई करता है या सिलाई करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरुमासिक
प्रायश्चित्त आता है।

२८. "वस्त्र काटूंगा" यों कहता हुआ जो साधु प्रातिहारिक कतरणी की याचना कर
उस द्वारा पात्र की झोली को काटता है या काटते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरुमासिक
प्रायश्चित्त आता है।

२९. "नख काटूंगा" यों कहता हुआ जो साधु नखछेदनक की याचना कर उस द्वारा
कांटा निकालता है या कांटा निकालते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त
आता है।

३०. "कान का मैल निकालूंगा" यों कहता हुआ जो साधु कर्णशोधनक की याचना
कर उस द्वारा दांत का या नख का मैल निकालता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन
करता है, उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - 'प्रति' उपसर्ग और 'ह' धातु के योग से प्रतिहार शब्द बनता है।
"प्रतिहियते- प्रत्यर्प्यते इति प्रतिहारः" किसी वस्तु को वापस लौटाना प्रतिहार

कहा जाता है। प्रतिहार शब्द से तद्धित प्रक्रिया के अन्तर्गत प्रातिहारिक बनता है, जिसका अर्थ वापस लौटाये जाने योग्य वस्तु है। जैन परम्परा में यह शब्द विशेष रूप से प्रचलित है।

जैसा पहले विवेचन हुआ है, आवश्यक उपधि के अतिरिक्त साधु जो भी औपग्रहिक उपकरण आवश्यकतावश लेता है, वे प्रत्यर्पणीय या प्रातिहारिक कहे जाते हैं।

साधु की चर्या नियमानुवर्तिता युक्त होती है। वह 'यथावादी तथाकाटी' होता है, जैसा कहता है, ठीक वैसा ही करता है। जिस वस्तु को गृहस्थ से जिस कार्य के लिए लेता है, उसका ठीक उसी कार्य में उपयोग करता है। उसके अतिरिक्त अन्य कार्य में उपयोग करने से सत्य और अस्तेय-महाव्रत में दोष आता है।

देने वाले को जब यह मालूम पड़ता है कि साधु ने उस द्वारा दी गई वस्तु का अपने कथन के विपरीत अन्य कार्य में उपयोग किया है तो उसके मन में साधुवृन्द के प्रति अविश्वास उत्पन्न होता है। ऐसा होना चतुर्विध धर्मसंघ के हित में बाधक है।

यही कारण है कि उपर्युक्त सूत्रों में साधु द्वारा सूई, कतरणी, नखछेदनक एवं कर्णशोधनक की याचना करते हुए जिन कार्यों में उनके उपयोग की बात कही जाती है, उनसे भिन्न कार्यों में उनका उपयोग करने को दोषपूर्ण प्रायश्चित्त योग्य बतलाया गया है। लौटाने योग्य सूई आदि ग्रहण करने के समय किसी एक कार्य का निर्देश नहीं करके समुच्चय कार्य के लिए ग्रहण करना चाहिए।

अपने लिए याचित उपकरण अन्य को देने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू अप्पणो एक्कस्स अट्ठाए सूईं जाइत्ता अण्णमण्णस्स अणुप्पदेइ अणुप्पदेतं वा साइज्जइ ॥ ३१ ॥

जे भिक्खू अप्पणो एक्कस्स अट्ठाए पिप्पलयं जाइत्ता अण्णमण्णस्स अणुप्पदेइ अणुप्पदेतं वा साइज्जइ ॥ ३२ ॥

जे भिक्खू अप्पणो एक्कस्स अट्ठाए णहच्छेयणयं जाइत्ता अण्णमण्णस्स अणुप्पदेइ अणुप्पदेतं वा साइज्जइ ॥ ३३ ॥

जे भिक्खू अप्पणो एक्कस्स अट्ठाए कण्णसोहणयं जाइत्ता अण्णमण्णस्स अणुप्पदेइ अणुप्पदेतं वा साइज्जइ ॥ ३४ ॥

कठिन शब्दार्थ - अप्पणो - अपने, एक्कस्स - एक के, अट्टाए - प्रयोजन के लिए, अण्णमण्णस्स - अन्य को - दूसरे को, अणुप्पदेइ - अनुप्रदान करता है - देता है।

भावार्थ - ३१. जो साधु केवल अपने प्रयोजन के लिए सूई की याचना कर उसे किसी अन्य साधु को देता है या देते हुए का अनुमोदन करता है तो उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

३२. जो साधु केवल अपने प्रयोजन के लिए कतरणी की याचना कर उसे किसी अन्य साधु को देता है या देते हुए का अनुमोदन करता है तो उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

३३. जो साधु केवल अपने प्रयोजन के लिए नखछेदन की याचना कर उसे किसी अन्य साधु को देता है या देते हुए का अनुमोदन करता है तो उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

३४. जो साधु केवल अपने प्रयोजन के लिए कर्णशोधनक की याचना कर उसे किसी अन्य साधु को देता है या देते हुए का अनुमोदन करता है तो उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - जो साधु-सूई आदि कोई आवश्यक उपकरण अपने प्रयोजन के लिए याचित कर लेवे, उसे उसका अपने प्रयोजन के लिए ही उपयोग करना चाहिए, किसी दूसरे साधु को देना विधिसंगत नहीं है। ऐसा करना दोषयुक्त है, प्रायश्चित्त योग्य है। क्योंकि इससे अपने कथन का विपर्यास होता है। सत्य महाव्रत बाधित होता है।

साधु समुदाय में भिन्न-भिन्न साधुओं के भिन्न-भिन्न आवश्यक कार्य होते हैं, अतः सूई आदि ग्रहण करते समय भाषा का विवेक रखना चाहिए। अर्थात् किसी कार्य या व्यक्ति का निर्देश नहीं करना चाहिए। यदि किसी कार्य के लिए अनाभोग से निर्देश करने में आ गया हो तो उसी के अनुसार व्यवहार करना चाहिए।

याचित उपकरण अविधिपूर्वक लौटाने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू सूइं अविहीए पच्चप्पिणइ पच्चप्पिणंतं वा साइज्जइ ॥३५॥

जे भिक्खू अविहीए पिप्पलगं पच्चप्पिणइ पच्चप्पिणंतं वा साइज्जइ ॥३६॥

जे भिक्खू अविहीए णहच्छेयणयं पच्चप्पिणइ पच्चप्पिणंतं वा साइज्जइ ॥३७॥

जे भिक्खू अविहीए कण्णसोहणयं पच्चप्पिणइ पच्चप्पिणंतं वा साइज्जइ ॥३८॥

कठिन शब्दार्थ - अविहीए - अविधि से - अविवेक पूर्वक, पच्चप्पिणइ - प्रत्यर्पित करता - लौटाता है।

भावार्थ - ३५. जो साधु किसी गृहस्थ से ली हुई सूई को अविधि - अविवेकपूर्वक उसे लौटाता है या लौटाते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

३६. जो साधु किसी गृहस्थ से ली हुई कतरणी को अविधि से उसे लौटाता है या लौटाते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

३७. जो साधु किसी गृहस्थ से लिए हुए नखछेदनक को अविधि से उसे लौटाता है या लौटाते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

३८. जो साधु किसी गृहस्थ से लिए हुए कर्णशोधनक को अविधि से उसे लौटाता है या लौटाते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - दैनन्दिन प्रत्येक कार्य में जागरूक, व्यवस्थित एवं नियमित रहना साधु का कर्त्तव्य है। वैसा करने से आचार के उत्तम संस्कार सुदृढ बनते जाते हैं। संयम का निर्बाध रूप में, समीचीनतया परिपालन होता है। अत एव इन सूत्रों में सूई आदि उपकरण, जिन्हें साधु अपने प्रयोजन हेतु गृहस्थ से ले, विवेकपूर्वक उन्हें वापस लौटाए, अच्छी तरह सम्भलाए। जल्दबाजी में, अव्यवस्थित रूप में न देवे। इससे दाता के मन में साधुवृन्द के प्रति आदर और विश्वास बना रहता है। अविवेकपूर्वक वस्तु को लौटाना दोषपूर्ण है। वैसा करने वाला प्रायश्चित्त का भागी होता है। नीचे भूमि आदि पर रख कर अथवा हथेली आदि में रख कर उपकरणों को लौटाना विधि पूर्वक लौटाना कहा जाता है। आचारांग सूत्र द्वितीय श्रुतस्कन्ध के सातवें अध्ययन में इस प्रकार की विधि बताई है।

समर्थ होते हुए भी अन्य से पात्र परिष्करण आदि कराने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू लाउयपायं वा दारुपायं वा मट्टियापायं वा अण्णउत्थिएण वा मारत्थिएण वा परिघट्टावेइ वा संठवेइ वा जमावेइ वा अलमप्पणो करणयाए सुहुममवि णो कप्पइ जाणमाणे सरमाणे अण्णमण्णस्स वियरइ वियरंतं वा साइज्जइ ॥ ३९ ॥

कठिन शब्दार्थ - लाउयपायं - अलाबु पात्र - तुंबीपात्र, दारुपायं - दारुपात्र - काठ का पात्र, मट्टियापायं - मृत्तिकापात्र - मिट्टी का पात्र, परिघट्टावेइ - निर्मापित कराता है - बनवाता है, ठीक करवाता है, संठवेइ - संस्थापित कराता है - उसका मुख आदि बनवाता है, ठीक करवाता है, जमावेइ - विषम को सम कराता है, अलं - पर्याप्त, करणयाए -

करवाने के लिए, सुहृममवि - सूक्ष्म - अल्प या थोड़ा भी, कण्ड - कल्पता है, जाणमाणे-जानता हुआ, सरमाणे - (अपना सामर्थ्य) स्मरण करता हुआ, वियरइ - देता है।

भावार्थ - ३९. जो साधु तुम्बिका-पात्र, काष्ठ-पात्र या मृत्तिका-पात्र अन्यतीर्थिक द्वारा, गृहस्थ द्वारा निर्मापित, संस्थापित या विषम को सम कराता है - यों अपने लिए जरा भी कराता है वह साधु के लिए नहीं कल्पता। अपना सामर्थ्य जानता हुआ, स्मरण करता हुआ भी जो उपर्युक्त रूप में अपने पात्र निर्मापित, संस्थापित आदि कराने हेतु दूसरे को देता है, देते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - एक जैन साधु का जीवन सर्वथा स्वावलम्बी होता है। वह अपने सभी कार्य जब तक शारीरिक सामर्थ्य हो, अपने हाथ से करता है, साधु सर्वथा निष्परिगृही होता है। वह शास्त्रानुमोदित आवश्यक वस्त्र, पात्र आदि उपधि के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं रखता। वह पात्र भी धातु के नहीं रख सकता, तुम्बिका, काष्ठ या मृत्तिका के पात्र रख सकता है। इन पात्रों से संबंधित निर्माण, संस्थापन, परिष्करण, समीकरण आदि सभी कार्य वह स्वयं ही करता है। यदि वह वैसा करने में शारीरिक दृष्टि से समर्थ न हो तो शास्त्र मर्यादा के अनुसार उसमें अन्य का सहयोग ले सकता है।

इस सूत्र में स्वयं पात्र-विषयक निर्माण, संस्थापन आदि पात्र-विषयक कार्य करने में समर्थ, सक्षम होता हुआ भी साधु यदि अन्य से वैसा करवाता है, वैसा करने के लिए सौंपता है, वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है तो वह प्रायश्चित्त का भागी होता है। क्योंकि इससे साधु का स्वावलम्बितापूर्ण जीवन बाधित होता है।

‘अलमप्पणो कटणयाए.....साइज्जइ’ इस सूत्रांश का आशय यह है कि - अपने काम में आवे वैसा योग्य बनाने के लिए, विधि जानता हो तथा स्मृति में हो तो दूसरे से कराना नहीं कल्पता है। यदि गृहस्थ शस्त्र आदि नहीं देता हो तथा खुद को काटना नहीं आता हो तो कराने में बाधा नहीं समझी जाती है, अल्प परिकर्म (आधाअंगुल से कम काटना) में प्रायश्चित्त नहीं आता है। इसी प्रकार आगे के सूत्र में भी समझना चाहिए।

समर्थ होते हुए भी अन्य द्वारा दण्डादि को परिष्कृत कराने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू दंडयं वा लट्ठियं वा अवलेहणियं वा वेणुसूइयं वा अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिघट्टावेइ वा संठवेइ वा जमावेइ वा

अलमप्पणो करणयाए सुहुममवि णो कप्पइ जाणमाप्पो सरमाणे अण्णमण्णस्स
वियरइ वियरंतं वा साइज्जइ ॥ ४० ॥

कठिन शब्दार्थ - दंडयं - दण्ड - चलने में सहारे के लिए प्रयुक्त लम्बा डण्डा, लट्टियं - लाठी - यष्टिका, अवलेहणियं - अवलेहनिका - वर्षा ऋतु में पैरों में लगे कीचड़ को पौछने के लिए शलाका (बांस की खापटी) विशेष - सौंक, वेणुसूइयं - बांस की सूई।

भांवार्य - ४०. जो साधु दण्ड, लाठी, अवहेलनिका तथा बांस की सूई का अन्यतीर्थिक द्वारा, गृहस्थ द्वारा निर्माण, संस्थापन, विषम समीकरण कराता है - यों अपने लिए जरा भी कराना साधु के लिए नहीं कल्पता। अपना सामर्थ्य जानता हुआ, स्मरण करता हुआ भी जो उपर्युक्त रूप में अपने उपकरण निर्मापित, संस्थापित आदि कराने हेतु दूसरे को देता है, देते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - उपकरण के औपधिक एवं औपग्रहिक के रूप में दो भेदों का पहले यथास्थान विवेचन किया गया है। पात्र, वस्त्र आदि औपधिक उपकरण के अनतर्गत हैं, जिन्हें साधु सदैव अपने पास रखता है। दण्ड, यष्टिका आदि औपग्रहिक हैं, जिन्हें परिस्थिति जनित आवश्यकतावश रखा जाता है। वृद्धावस्था में चलने के लिए लाठी का सहारा आवश्यक होता है, इसलिए वृद्ध साधुओं के लिए लाठी रखना विहित है।

वर्षा ऋतु में जमीन पर कीचड़ बहुत फैल जाता है। साधु नंगे पैर चलते हैं, पैरों में कीचड़ चिपक जाता है, जिससे चलने में कठिनाई होती है। अतः वैसी परिस्थिति में पैरों से कीचड़ निकालने के लिए अवहेलनिका रखने का विधान है।

इन उपकरणों के परिष्करण में समर्थ होता हुआ भी साधु स्वयं वैसा न कर अन्य से वैसा कराता है अथवा वैसा कराते हुए का अनुमोदन करता है तो वह प्रायश्चित्त का भागी होता है।

पात्र-संधान एवं बन्धन-विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू पायस्स एक्कं तुंडियं तडुइ तडुंतं वा साइज्जइ ॥ ४१ ॥

जे भिक्खू पायस्स परं तिण्हं तुड्डियाणं तडुइ तडुंतं वा साइज्जइ ॥ ४२ ॥

(जे भिक्खू पायं अविहीए तडुइ तडुंतं वा साइज्जइ ॥ ४३ ॥)

जे भिक्खू पायं अविहीए बंधइ बंधंतं वा साइज्जइ ॥ ४४ ॥

जे भिक्खू पायं एगेण बंधेण बंधइ बंधंतं वा साइज्जइ ॥ ४५ ॥

जे भिक्खू पायं परं तिण्हं बंधाणं बंधइ बंधंतं वा साइज्जइ ॥ ४६ ॥

जे भिक्खू अइरेगबंधणं पायं दिवद्वाओ मासाओ परेण धरेइ धरेंतं वा साइज्जइ ॥ ४७ ॥

कठिन शब्दार्थ - पायस्स - पात्र के, तुंडियं - टूटा हुआ भाग या छिद्र, तड्डेइ - स्थगन करता है - थेगली या कारी द्वारा जोड़ता है, परं तिण्हं - तीन से अधिक, तुड्डियाणं- छिद्रों का, बंधइ - बांधता है, एगेण बंधेण - एक बंधन द्वारा, अइरेगबंधणं - तीन बंधनों से अधिक, दिवद्वाओ मासाओ - डेढ महीने से, परेण - अधिक, धरेइ - धारण करता है।

भावार्थ - ४१. जो साधु पात्र के एक छिद्र को थेगली या कारी द्वारा जोड़ता है अथवा जोड़ते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

४२. जो साधु पात्र के त्रुटित अंशों पर तीन से अधिक थेगली या कारी लगाता है अथवा थेगली लगाते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

(४३. जो साधु पात्र को अविधि से - अविवेकपूर्वक थेगली या कारी लगाता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

४४. जो साधु अविधिपूर्वक पात्र को बांधता है या बांधते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

४५. जो साधु पात्र को एक बंधन से बांधता है या बांधते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

४६. जो साधु पात्र को तीन से अधिक बंधनों से बांधता है या बांधते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

४७. जो साधु तीन बंधनों से अधिक बंधन युक्त पात्र को डेढ महीने से अधिक समय तक रखता है या रखते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - पात्र साधु के औपधिक उपकरणों में मुख्य है, क्योंकि उसका आहार-पानी आदि लाने में निरन्तर उपयोग होता है। पात्र ऐसा हो, जिसमें आहार-पानी आदि सुरक्षित रूप में लाए जा सकें। वह त्रुटित, खण्डित या छिद्रित न हो। यही कारण है कि सूत्र संख्या ४१ में एक भी थेगली लगाना दोषपूर्ण, प्रायश्चित्त योग्य कहा गया है।

साधु तो अपने औपधिक आदि उपकरण गृहस्थों से याचित कर लेता है। इसलिए उसे यथेष्ट रूप में अत्रुटित पात्र ही प्राप्त हों, यह सदा संभव नहीं होता अथवा लेने के बाद सावधानी रखते हुए भी पात्र त्रुटित, छिद्रमय हो सकता है। अतः थेगली लगाए बिना वह उपयोग में नहीं आता। वैसी स्थिति में सूत्र संख्या ४२ में तीन से अधिक थेगली लगाने का निषेध किया गया है। क्योंकि वैसा अधिक थेगली युक्त पात्र उपादेय नहीं होता। उसमें गृहीत आहार-पानी सुरक्षित नहीं रह पाते।

इससे आगे सूत्र संख्या ४३ में अविवेक पूर्वक थेगली लगाना दोषपूर्ण कहा गया है।

थेगली की तरह सूत्र संख्या ४४-४६ में पात्र के बंधन लगाने या बांधने के संबंध में वर्णन है। टूटे हुए पात्र को मोटे धागे या पतली डोरी से बांधकर उपयोग योग्य बनाया जाता है, उसे बंधन कहा जाता है। उसमें भी वही क्रम ग्राह्य है, जो थेगली के संबंध में वर्णित हुआ है।

यदि अनिवार्य आवश्यकतावश तीन से अधिक बंधनों से युक्त पात्र रखना ही पड़े तो साधु उसे डेढ महीने से अधिक नहीं रख सकता।

साधुओं की दैनन्दिन संयममूलक जीवनचर्या की पवित्रता की दृष्टि से उपर्युक्त व्यवस्थाक्रम का अनुसरण सर्वथा आवश्यक है।

वस्त्र-संधान एवं बन्धन-विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू वत्थस्स एगं पडियाणियं देइ देतं वा साइज्जइ ॥ ४८ ॥

जे भिक्खू वत्थस्स परं तिण्हं पडियाणियाणं देइ देतं वा साइज्जइ ॥ ४९ ॥

जे भिक्खू अविहीए वत्थं सिव्वइ सिव्वतं वा साइज्जइ ॥ ५० ॥

जे भिक्खू वत्थस्सेगं फालियगंठियं करेइ करेतं वा साइज्जइ ॥ ५१ ॥

जे भिक्खू वत्थस्स परं तिण्हं फालियगंठियाणं करेइ करेतं वा साइज्जइ ॥ ५२ ॥

जे भिक्खू वत्थस्स एगं फालियं गंठेइ गंठेतं वा साइज्जइ ॥ ५३ ॥

जे भिक्खू वत्थस्स परं तिण्हं फालियाणं गंठेइ, गंठेतं वा साइज्जइ ॥ ५४ ॥

जे भिक्खू वत्थं अविहीए गंठेइ गंठेतं वा साइज्जइ ॥ ५५ ॥

जे भिक्खू वत्थं अतज्जाएणं गहेइ गहंतं वा साइज्जइ ॥ ५६ ॥

जे भिक्खू अइरेगगहियं वत्थं परं दिवड्ढाओ मासो धरेइ धरेंतं वा साइज्जइ ॥ ५७ ॥

कठिन शब्दार्थ - वत्थस्स - वस्त्र के, पडियाणियं - प्रत्यनीक - थेगली या कारी, देइ - देता है - लगाता है, सिव्वइ - सीता है - टांका लगाता है, फालियगंठियं - फटे हुए कपड़े के किनारे को रफू कर गाँठ लगाना, फालियं - रफू किए बिना गाँठ लगाना, गंठेइ - ग्रथित करता है - जोड़ता है, अतज्जाएणं - अन्यजातीय, गहेइ - ग्रथित करता है - जोड़ता है, अइरेगगहियं - अतिरिक्त - अधिक जोड़ आदि से युक्त वस्त्र।

भावार्थ - ४८. जो साधु फटे हुए वस्त्र के एक थेगली या कारी लगाता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

४९. जो साधु फटे हुए वस्त्र के तीन से अधिक थेगली लगाता है या थेगली लगाते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

५०. जो साधु अविधिपूर्वक वस्त्र सीता है - टांका लगाता है या सीते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

५१. जो साधु वस्त्र के फटे हुए किनारे को रफू कर एक गाँठ लगाता है या गाँठ लगाते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

५२. जो साधु वस्त्र के फटे हुए किनारे को रफू कर तीन से अधिक गाँठें लगाता है या गाँठें लगाते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

५३. जो साधु बिना रफू किए हुए वस्त्र के फटे हुए किनारे के एक गाँठ लगाता है या गाँठ लगाते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

५४. जो साधु बिना रफू किए हुए वस्त्र के फटे हुए किनारे के तीन से अधिक गाँठें लगाता है या गाँठें लगाते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

५५. जो साधु अविधिपूर्वक फटे वस्त्र को ग्रथित करता है - जोड़ता है या जोड़ते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

५६. जो साधु फटे हुए वस्त्र को अन्य जाति के वस्त्र से ग्रथित करता है या ग्रथित करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

५७. जो साधु अतिरिक्त जोड़ आदि से युक्त वस्त्र को डेढ मास से अधिक समय तक रखता है या रखते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - उपर्युक्त सूत्रों में आए हुए “फालियं गंठियं कटेइ” और “फालियं गंठेइ” का आशय इस प्रकार समझना चाहिए।

फालियं गंठियं कटेइ - कपड़ा अधिक न फट जाय इसके लिए दी जाने वाली गांठ। ऐसे वस्त्र ग्रहण नहीं करना जिसके ऐसी गांठ देनी पड़े। नहीं मिलने या फट जाने पर तीन से ज्यादा गांठ नहीं लगाना।

फालियं गंठेइ - ऐसा फटा हुआ भी नहीं लेना जिसे गूथना पड़े। प्रयोजन से तीन स्थान पर गूथा जा सके। यहाँ सूत्र ५१-५२ में गांठ का वर्णन और ५३-५४ में धागे से गूथने का वर्णन है।

इन सूत्रों के बाद किसी-किसी प्रति में “विफालिय गांठ” के भी दो सूत्र मिलते हैं। परन्तु यह पाठ प्राचीन भाष्यादि की प्रतियों में नहीं मिलता है। एवं इसकी आवश्यकता भी नहीं है।

वस्त्र, पात्र के जीर्ण हो जाने पर नई उपधि ग्रहण करनी ही पड़ती है। पूर्व उपधि परठने योग्य होने पर ही नई उपधि ग्रहण करना शक्य है। ऐसी स्थिति में अनवस्था दोष निवारण की दृष्टि से मर्यादा रेखा आवश्यक है। यही मर्यादा रेखा डेढ महीत्रे से अधिक अतिरिक्त उपधि नहीं रखने के द्वारा बताई है।

इन सूत्रों का आशय भी पूर्वतन पात्र-विषयक सूत्रों की तरह है। साधु के मर्यादित, सुव्यवस्थित, नियमित एवं संयममय जीवन के सम्यक् निर्वाह की दृष्टि से इन सूत्रों में प्रतिपादित वस्त्र-ग्रथनादि-विषयक निर्देशों का अनुसरण अपेक्षित है।

गृहधूम को उतरवाने का प्रायश्चित्त

जे भिकखू गिहधूमं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिसाडावेइ परिसाडावेतं वा साइज्जइ ॥ ५८ ॥

कठिन शब्दार्थ - गिहधूमं - गृहधूम - रसोई घर में छत, दीवार आदि पर जमे हुए धूरं की पर्त, परिसाडावेइ - परिशाटन कराता है - उतराता है, दूर करवाता है।

भाष्यार्थ - ५८. जो साधु रसोई घर में छत या दीवार आदि पर जमे हुए धूरं की पर्त को अम्यतीर्थिक द्वारा, गृहस्थ द्वारा परिशाटित कराता है अथवा परिशाटित कराते हुए का अनुमोदन कराता है, उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - आयुर्वेद शास्त्र में रसोई घर में जमे हुए धूएँ की पर्त या बुरादे का प्रयोग दाद, खुजली आदि चर्मरोगों में उपयोगी कहा गया है।

निशीथ चूर्ण में इस संबंध में विवेचन हुआ है, तदनुसार साधु दाद, खुजली आदि के उपचार हेतु किसी गृहस्थ के यहाँ उसकी आज्ञा लेकर रसोई घर की छत आदि से निरवद्य, उपयुक्त साधन के सहारे धूएँ की पर्त को उतारे तो उसमें कोई दोष नहीं लगता।

यदि गृहस्वामी रसोई घर में जाने की आज्ञा न दे अथवा आज्ञा देने पर भी साधु यदि शारीरिक असामर्थ्यवश धूएँ की पर्त को उतारने में स्वयं अक्षम हो और वह किसी अन्यतीर्थिक द्वारा, गृहस्थ द्वारा उसे उतरवाए या उतरवाते हुए का अनुमोदन करे तो वह प्रायश्चित्त का भागी होता है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि चूर्णिकार ने दाद, खुजली आदि की चिकित्सा में धूएँ के बुरादे का किस प्रकार प्रयोग किया जाए, यह स्पष्ट नहीं किया है। इसलिए जो उसे प्रयोग में ले, उसे चाहिए कि वह इस संबंध में सुयोग्य चिकित्सक से परामर्श करे।

पूतिकर्म दोषयुक्त आहारादि सेवन का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू पूडकम्मं भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ। तं सेवमाणे आवज्जइ
मासियं परिहारद्वाणं अणुग्घाइयं ॥ ५९ ॥

॥ णिसीहउज्जयणे पढमो उद्देशो समत्तो ॥ १ ॥

कठिन शब्दार्थ - पूडकम्मं - पूतिकर्म संज्ञक दोष, भुंजइ - उपभोग करता है - प्रयोग में या काम में लेता है, सेवमाणे - सेवन करता हुआ, आवज्जइ - आपादित करता है, मासियं - मासिक (गुरुमासिक), परिहारद्वाणं - परिहार-स्थान - परिहार-तप रूप प्रायश्चित्त, अणुग्घाइयं - अनुद्घातिक।

भावार्थ - ५९. जो साधु पूतिकर्म दोषयुक्त आहार, उपधि तथा वसति का उपयोग करता है या उपयोग करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

उपर्युक्त ५९ सूत्रों में कहे गए किसी भी प्रायश्चित्त स्थान के सेवन करने वाले को अनुद्घातिक परिहार-तप रूप गुरुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

इस प्रकार निशीथाध्ययन (निशीथ सूत्र) में प्रथम उद्देशक परिसमाप्त हुआ।

विवेचन - निशीथ भाष्य में आहार, उपधि और शय्या - वसति से संबद्ध पूतिकर्म दोष तीन प्रकार का कहा गया है -

आहार पूतिकर्म - दूषित पदार्थों से संस्कारित - छोंक आदि दिया हुआ एवं दूषित उपकरण प्रयुक्त आहार पूतिकर्म दोषयुक्त होता है।

हॉग, लवण आदि से मिश्रित तथा आधाकर्मादि दोषयुक्त आहार से लिप्त चम्मच आदि से दिया जाने वाला निर्दोष आहार भी पूतिकर्म दोषयुक्त हो जाता है।

पूतिकर्म वाला आहार भी शुद्ध आहार में मिल जाए तो वह भी पूतिकर्म दोषयुक्त हो जाता है।

उपधि पूतिकर्म - गृहस्थ द्वारा आधाकर्मादि दोषयुक्त धागे से सिलाई किया हुआ निर्दोष वस्त्र भी पूतिकर्म दोषयुक्त हो जाता है।

गृहस्थ द्वारा आधाकर्मादि दोषयुक्त स्थगनक, बन्धन आदि लगाने से निर्दोष पात्र भी पूतिकर्म दोषयुक्त हो जाता है।

शय्या - वसति पूतिकर्म - निर्दोष शय्या - वसति के किसी भी भाग में आधाकर्मादि दोषयुक्त बांस, ताड़ का तना, काठ आदि लगाने से वह पूतिकर्म दोषयुक्त हो जाती है।

॥ इति निशीथ सूत्र का प्रथम उद्देशक समाप्त ॥



बीओ उद्देसओ - द्वितीय उद्देशक

दण्डयुक्त पादप्रोँछन बनाने आदि का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू दारुदंडयं पायपुंछणयं करेइ करेत्तं वा साइज्जइ ॥ १ ॥

जे भिक्खू दारुदंडयं पायपुंछणं गेण्हइ गेण्हत्तं वा साइज्जइ ॥ २ ॥

जे भिक्खू दारुदंडयं पायपुंछणं धरेइ धरेत्तं वा साइज्जइ ॥ ३ ॥

जे भिक्खू दारुदंडयं पायपुंछणं वियरइ वियरत्तं वा साइज्जइ ॥ ४ ॥

जे भिक्खू दारुदंडयं पायपुंछणं परिभाएइ परिभाएत्तं वा साइज्जइ ॥ ५ ॥

जे भिक्खू दारुदंडयं पायपुंछणं परिभुंजइ परिभुंजत्तं वा साइज्जइ ॥ ६ ॥

जे भिक्खू दारुदंडयं पायपुंछणं परं दिवड्ढाओ मासाओ धरेइ धरेत्तं वा साइज्जइ ॥ ७ ॥

जे भिक्खू दारुदंडयं पायपुंछणयं विसुयावेइ विसुयावेत्तं वा साइज्जइ ॥ ८ ॥

कठिन शब्दार्थ - दारुदंडयं - काठ का दण्ड या डण्डा, पायपुंछणयं - पादप्रोँछन - पैर को पोंछने हेतु वस्त्र-खण्ड, गेण्हइ - गृहीत करता है, धरेइ - धारण करता है, वियरइ- देता है, परिभाएइ - परिभाजित या विभाजित - अन्य को उपयोग हेतु देता है, परिभुंजइ - परिभोग - उपयोग करता है, विसुयावेइ - सुखाने हेतु धूप में रखता है।

भावार्थ - १. जो भिक्षु काष्ठ दण्ड युक्त पादप्रोँछन करता है - बनाता है या बनाते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

२. जो भिक्षु काष्ठ दण्ड युक्त पादप्रोँछन गृहीत करता है या गृहीत करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

३. जो भिक्षु काष्ठ दण्ड युक्त पादप्रोँछन धारण करता है या धारण करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

४. जो भिक्षु काष्ठ दण्ड युक्त पादप्रोँछन अन्य को वितरित करता है या वितरित करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

५. जो भिक्षु काष्ठ दण्ड युक्त पादप्रोँछन परिभाजित करता है - अन्य को उपयोग हेतु

सौंपता है या देता है अथवा सौंपते हुए या देते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

६. जो भिक्षु काष्ठ दण्ड युक्त पादप्रोँछन का परिभोग, उपभोग या उपयोग करता है अथवा परिभोग, उपभोग या उपयोग करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

७. जो भिक्षु काष्ठ दण्ड युक्त पादप्रोँछन को डेढ मास से अधिक धारण करता है या धारण करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

८. जो भिक्षु काष्ठ दण्ड युक्त पादप्रोँछन को आतप या धूप में सुखाने हेतु रखता है या रखते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - कहीं-कहीं पादप्रोँछन को रजोहरण बतला दिया गया है, किन्तु वास्तव में रजोहरण तथा पादप्रोँछन भिन्न-भिन्न हैं। रजोहरण औपधिक उपकरण है। साधु उसे उपधि के रूप में सदैव अपने साथ रखता है। उसके बिना थोड़ी दूर भी चलना निषिद्ध है, क्योंकि सूक्ष्म जीवों की हिंसा से बचने के लिए चलते समय भूमि का जहाँ अपेक्षित हो, प्रमार्जन करना आवश्यक होता है।

पादप्रोँछन का उपयोग पैरों को पौँछने के लिए होता है। वह यथापेक्षित रखा जाता है, प्रयोग में लिया जाता है।

ऐसी परम्परा है - रजोहरण का दण्ड वस्त्रावृत्त होता है तथा पादप्रोँछन के दण्ड पर कपड़ा नहीं लपेटा जाता। रजोहरण ऊन के धागे की फलियों का होता है तथा पादप्रोँछन जीर्ण या फटे हुए पुराने कम्बल के एक हाथ लम्बे-चौड़े खण्ड का होता है।

निशीथ चूर्ण में एवं प्राचीन परम्परा (धारणा) से “**पायपुँछण**” शब्द का अर्थ रजोहरण किया जाता है। “**रजोहरण या पादप्रोँछन**” दोनों अर्थों में से जो अर्थ आगमकारों को मान्य हो, वह अर्थ यहाँ पर समझना चाहिए।

सूत्रों का आशय भावार्थ से स्पष्ट है।

अचित्त पदार्थ स्थित गंध को सूँघने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू अचित्तपइड्डियं गंधं जिग्घइ वा जिग्घंतं वा साइज्जइ ॥ ९ ॥

कठिन शब्दार्थ - अचित्तपइड्डियं - अचित्त प्रतिष्ठित - अचित्त पदार्थ में स्थित।

भावार्थ - ९. जो भिक्षु अचित्त पदार्थ स्थित (चन्दन इत्रादि गत) गंध को सूंघता है या सूंघते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

पद मार्ग आदि बनाने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू पयमग्गं वा संकमं वा आलंबणं वा सयमेव करेइ करेत्तं वा साइज्जइ ॥ १० ॥

जे भिक्खू दगवीणियं सयमेव करेइ करेत्तं वा साइज्जइ ॥ ११ ॥

जे भिक्खू सिक्कगं वा सिक्कगणंतगं वा सयमेव करेइ करेत्तं वा साइज्जइ ॥ १२ ॥

जे भिक्खू सोत्तियं वा रज्जुयं वा चिलिमिलिं वा सयमेव करेइ करेत्तं वा साइज्जइ ॥ १३ ॥

कठिन शब्दार्थ - संकमं - संक्रम - कीचड़ आदि को लांघने का रास्ता, आलंबणं-आलम्बन - कीचड़ तथा गड्ढे आदि को लांघने हेतु सहारा लेने के लिए - पकड़ने के लिए मूँज या सण आदि की रस्सी, सयमेव - स्वयं, खुद।

भावार्थ - १०. जो भिक्षु पैदल चलने का रास्ता, कीचड़ आदि को लांघने का मार्ग, कीचड़, खड्डे को लांघने में सहारा लेने हेतु रस्सी आदि के आलम्बन स्वयं बनाता है या बनाते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

११. जो भिक्षु पानी निकालने की नाली स्वयं बनाता है या बनाते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

१२. जो भिक्षु छींका अथवा छींके का ढक्कन स्वयं बनाता है या बनाते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

१३. जो भिक्षु सूत अथवा डोरी से स्वयं चिलिमिलिका बनाता है या बनाते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

उत्तरकरण-विषयक-प्रायश्चित्त

जे भिक्खू सूईए उत्तरकरणं सयमेव करेइ करेत्तं वा साइज्जइ ॥ १४ ॥

जे भिक्खू पिप्पलयस्स उत्तरकरणं सयमेव करेइ करेत्तं वा साइज्जइ ॥ १५ ॥

जे भिक्खू णहच्छेयणगस्स उत्तरकरणं सयमेव करेइ करेत्तं वा साइज्जइ ॥ १६ ॥

जे भिक्खू कण्णसोहणयस्स उत्तरकरणं सयमेव करेइ करेत्तं वा साइज्जइ ॥ १७ ॥

भावार्थ - १४. जो भिक्षु सूई का उत्तरकरण स्वयं करता है - उसे तीक्ष्ण बनाता है, संवारता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

१५. जो भिक्षु कतरणी को स्वयं तेज बनाता है, उसका परिष्कार करता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

१६. जो भिक्षु नखछेदनक को स्वयं तीक्ष्ण बनाता है, उसका परिष्कार करता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

१७. जो भिक्षु कर्णशोधनक को स्वयं तीक्ष्ण बनाता है, उसका परिष्कार करता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

कर्कश वचन बोलने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू लहुसगं फरुसं वयइ वयत्तं वा साइज्जइ ॥ १८ ॥

कठिन शब्दार्थ - लहुसगं - लघुस्वक - थोड़ा भी, जरा भी, फरुसं - कठोर वचन, वयइ - बोलता है।

भावार्थ - १८. जो भिक्षु जरा भी कठोर वचन बोलता है या जरा भी कठोर वचन बोलते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - भिक्षु को ऐसी वाणी कदापि नहीं बोलनी चाहिए, जिससे सुनने वाले के मन में पीड़ा उत्पन्न हो। यदि किसी को उसकी भूल के लिए उपालम्भ भी देना हो तो कर्कश या कठोर शब्दों में नहीं देना चाहिए, स्नेहपूर्ण, मृदु शब्दों में ही वैसा करना चाहिए।

मन, वचन एवं शरीर द्वारा किसी को भी कष्ट न पहुँचाना, अन्य द्वारा वैसा न कराना तथा करते हुए का समर्थन या अनुमोदन न करना अहिंसा का पूर्ण रूप अथवा समग्र परिपालन है। साधु इसके लिए कृतप्रतिज्ञ, कृतसंकल्प होता है। इसीलिए जरा भी कठोर वचन का प्रयोग करना उसके लिए अस्वीकार्य है, दोषपूर्ण है, प्रायश्चित्त योग्य है।

मृषावाद का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू लहुसगं मुसं वयइ वयंतं वा साइज्जइ ॥ १९ ॥

कठिन शब्दार्थ - मुसं - मृषा - असत्य।

भावार्थ - १९. जो भिक्षु जरा भी असत्य बोलता है या असत्य बोलते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - बिना विचारे अयथावत् बोलना, भय या संकोच से अन्यथा भाषण करना आदि मृषावाद के अन्तर्गत है।

मन, वचन, काय रूप तीन योग तथा कृत, कारित, अनुमोदित रूप तीन करण पूर्वक सत्य को जिसने स्वीकार किया है उसे - भिक्षु को जरा भी असत्य वाणी नहीं बोलनी चाहिए। सत्य बोलते समय उसे किसी से भयभीत नहीं होना चाहिए, न संकोच ही करना चाहिए। 'त्वं सच्चं भयवं' के रूप में आगमों में सत्य को भगवान् - भगवत् स्वरूप कहा गया है।

सत्य का जरा भी उल्लंघन करना दोषपूर्ण है, प्रायश्चित्त योग्य है।

अदत्तादान का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू लहुसगं अदत्तं आइयइ आइयंतं वा साइज्जइ ॥ २० ॥

कठिन शब्दार्थ - अदत्तं - अदत्त - नहीं दिया हुआ, आइयइ - आदान - ग्रहण करता है।

भावार्थ - २०. जो भिक्षु नहीं दी हुई वस्तु को जरा भी ग्रहण करता है, लेता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - अस्तेय - अचौर्य या अदत्तादान तीसरा महाव्रत है। साधु उसका तीन योग एवं तीन करण पूर्वक पालन करता है। वह किसी के द्वारा अदत्त - नहीं दी गई वस्तु को स्वयं नहीं लेता तथा न लेते हुए का अनुमोदन ही करता है।

दशवैकालिक सूत्र में तो यहाँ तक कहा गया है - "दंतसोहणमित्तं पि, उग्गाहं सि अजाइया" - साधु दाँत को कुरेदने के लिए, स्वच्छ करने के लिए एक तिनका भी उसके स्वामी से याचित किए बिना, माँगे बिना ग्रहण नहीं करते ☆।

यद्यपि तिनका कोई बड़ी या मूल्यवान वस्तु नहीं है, बहुत ही साधारण है। किन्तु साधु

☆ दशवैकालिक सूत्र, अध्ययन-६, गाथा-१४-१५।

उसे भी स्वामी द्वारा दिए बिना नहीं लेता, क्योंकि अदत्त अथवा बिना दी हुई वस्तु चाहे कितनी ही छोटी क्यों न हो, उसे लेना दोषयुक्त है, प्रायश्चित्त योग्य है।

देहसज्जा का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू लहुसएण सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा हत्थाणि वा पायाणि वा कण्णाणि वा अच्छीणि वा दंताणि वा णहाणि वा (मुहं वा) उच्छोलेज्ज वा पधोवेज्ज वा उच्छोलेंतं वा पधोवेंतं वा साइज्जइ ॥ २१ ॥

कठिन शब्दार्थ - लहुसएण - लघुस्वक - स्वल्प, जरा भी या बूद मात्र भी, सीओदगवियडेण - अचित्त शीतल जल द्वारा, उसिणोदगवियडेण - अचित्त उष्ण जल द्वारा, हत्थाणि - हस्त - हाथ, पायाणि - पाद - पैर, कण्णाणि - कान, अच्छीणि - नैत्र, दंताणि - दाँत, णहाणि - नख, मुहं - मुँह, उच्छोलेज्ज - उत्क्षालित - प्रक्षालित करे, पधोवेज्ज - प्रधोवित करे - भलीभाँति धोए।

भावार्थ - २१. जो भिक्षु ठण्डे या गर्म अचित्त जल द्वारा हाथ, पैर, कान, नैत्र, दाँत, नख तथा मुँह को जरा भी प्रक्षालित करे या प्रधोवित करे अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करे, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - अस्तेय महाव्रत के बाद चौथा ब्रह्मचर्य महाव्रत है। ब्रह्मचर्य के आराधक साधु को शृंगार या देहसज्जा मूलक प्रवृत्तियों से सदा बचते रहना चाहिए। क्योंकि वैसा करने से मन में विकार उत्पन्न होता है। साधु के लिए शरीर तो केवल संयम का साधन है, इसलिए जब तक वह संयम का उपकारक रहे, उसकी देखरेख, सार सम्हाल करना आवश्यक है। अतः भोजनादि के पश्चात् हाथ धोना, मुँह की सफाई करना आदि तो अपेक्षित है, किन्तु शरीर को सुन्दर, स्वच्छ या आकर्षक बनाने की दृष्टि से ठण्डे या गर्म अचित्त जल से प्रक्षालित करना, स्वच्छ करना वर्जित है। क्योंकि यह शरीर की सजावट में आता है, जो साधु के लिए सर्वथा परिहेय, परित्याज्य है। अत एव दोष युक्त है, प्रायश्चित्त योग्य है।

अरवण्डित चर्म रत्तने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू कसिणाइं चम्माइं धरेइ धरेंतं वा साइज्जइ ॥ २२ ॥

कठिन शब्दार्थ - कसिणाइं - कृत्स्न - अखण्ड, चम्माइं - चर्म - खाल या चमड़ा, धरेइ - धारण करता है।

भावार्थ - २२. जो भिक्षु अखण्ड चर्म धारण करता है, रखता है या उपयोग में लेता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - किसी शारीरिक प्रयोजनवश आवश्यक होने पर साधु चर्म का उपयोग कर सकता है। इसलिए वह उसे रख सकता है, किन्तु अखण्डित या समग्र चर्म को नहीं रख सकता, क्योंकि वह परिग्रह रूप है। साधु केवल चर्मखण्ड या टुकड़े को ही काम में लेने का अधिकारी है, जो अपेक्षित मर्यादारूप होने के कारण परिग्रह में नहीं गिना जाता। अखण्ड चर्म को रखना परिग्रह की दृष्टि से दोषपूर्ण है, प्रायश्चित्त योग्य है।

बहुमूल्य वस्त्र धारण करने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू कसिणाइं वत्थाइं धरेइ धरेंतं वा साइज्जइ ॥ २३ ॥

कठिन शब्दार्थ - कसिणाइं - कृत्स्न - मूल्य सर्वस्व - बहुमूल्य।

भावार्थ - २३. जो भिक्षु शास्त्र स्वीकृत, सीमित मूल्य से अधिक कीमती वस्त्र धारण करता है या धारण करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - इस सूत्र में कक्षिण - कृत्स्न शब्द का प्रयोग बहुमूल्य या बेशकीमती वस्त्रों के लिए हुआ है। साधु अपरिग्रही होता है। अत एव उसका जीवन बहुत ही सरल एवं सादा होता है। वह जो भी वस्तु उपयोग में लेता है, वह केवल आवश्यकता पूरक होने के साथ-साथ शास्त्रानुमोदित और मर्यादित होती है।

इस सूत्र में साधु के लिए बहुमूल्य वस्त्र धारण करना परिवर्जित, निषिद्ध कहा गया है।

कृत्स्न या बहुमूल्य वस्त्र द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की दृष्टि से चार प्रकार के बतलाए गए हैं।

द्रव्य-कृत्स्न के अन्तर्गत वे वस्त्र आते हैं, जो बहुत ही बारीक, मुलायम ऊन या सूत के धागे से बुने हुए होते हैं। शास्त्रों में रत्न-कम्बल का जो प्रयोग आता है, वह ऐसी कम्बल के लिए हुआ है, जो अत्यन्त सूक्ष्म, सुकोमल ऊन या सूत के तन्तुओं से बुनी हुई होती है तथा जवाहिरात की तरह बेशकीमती होती है।

क्षेत्र-कृत्स्न में वे वस्त्र आते हैं, जो क्षेत्र विशेष में दुर्लभ होने के कारण बहुमूल्य होते हैं।

काल-कृत्स्न में उन वस्त्रों का समावेश है, जो काल विशेष में कठिनता से मिलने के कारण बहुमूल्य होते हैं।

जिनकी बनावट एवं वर्ण सुन्दर हों, जो अत्यन्त कोमल हों, सुहावने हों, वे भाव-कृत्स्न के अन्तर्गत आते हैं।

ये चारों ही प्रकार के वस्त्र साधुओं के लिए अग्राह्य हैं, परिग्रह रूप हैं।

साधु अल्प मूल्य-थोड़ी कीमत के सादे वस्त्र धारण करे, ऐसा विधान है। अल्प मूल्य की मर्यादा का सीमाकरण धर्म-संघ में द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भावानुरूप विविध रूप में किया जाता रहा है। मूलतः आशय यही है कि साधु शरीर के रक्षण तथा व्यवहार की दृष्टि से साधारण, अल्प मूल्य युक्त वस्त्रों का ही उपयोग करे। इससे अपरिग्रह महाव्रत पोषित होता है, दृढता पाता है।

अखण्डित वस्त्र लेने-रखने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू अभिण्णाइं वत्थाइं धरेइ धरेंतं वा साइज्जइ ॥ २४ ॥

कठिन शब्दार्थ - अभिण्णाइं - अभिन्न - अखण्डित।

भावार्थ - २४. जो भिक्षु अखण्डित वस्त्र धारण करता है या धारण करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - इस सूत्र में अभिन्न का प्रयोग उस वस्त्र के लिए है, जो किसी थान में से कटवाकर - फड़वाकर न लिया गया हो अर्थात् सारा ही ले लिया गया हो, क्योंकि वस्त्र सामान्यतया खण्डित या टुकड़ों के रूप में नहीं आते, वे थानों या जोड़ों आदि के रूप में आते हैं।

अपरिग्रह भावना में बाधक होने के साथ-साथ अखण्डित रूप में - थान के रूप में वस्त्र लेने से और भी कई कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती है।

साधु विहार आदि में अपने वस्त्र, पात्रादि सारा सामान स्वयं उठा कर, अपने कंधों आदि पर अपने साथ लिए चलता है। अखण्डित या थान आदि के रूप में स्वीकार किए गए वस्त्र के भारी होने से उसे लेकर चलने में कठिनाई होती है, कष्ट होता है।

बड़े वस्त्र का प्रतिलेखन करने में भी कठिनाई होती है। वस्त्र का अप्रतिलेखित रहना दोष है। वैसे वस्त्र के चुराए जाने आदि की भी आशंका बनी रहती है।

इस प्रकार सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों ही दृष्टियों से अभिन्न - बिना काटा हुआ, फाड़ा हुआ वस्त्र लेना दोषपूर्ण है, प्रायश्चित्त योग्य है।

पात्र-निर्माण आदि का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू लाउयपायं वा दारुयपायं वा मड्डियापायं वा सयमेव परिघट्टेइ वा संठवेइ वा जमावेइ वा परिघट्टेंतं वा संठवेंतं वा जमावेंतं वा साइज्जइ ॥ २५ ॥

भावार्थ - २५. जो भिक्षु तुम्बिका, काष्ठ या मृत्तिका के पात्र का स्वयं निर्माण, संस्थापन करता है, विषम को सम करता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - प्रथम उद्देशक में दूसरों से कराने का प्रायश्चित्त बताया है इस सूत्र में स्वयं परिकर्म करने का प्रायश्चित्त बताया है।

दण्ड आदि के निर्माण आदि का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू दंडगं वा लट्टियं वा अवलेहणं वा वेणुसूइयं वा सयमेव परिघट्टेइ वा संठवेइ वा जमावेइ वा परिघट्टेंतं वा संठवेंतं वा जमावेंतं वा साइज्जइ ॥ २६ ॥

भावार्थ - २६. जो भिक्षु दण्ड, लाठी, अवहेलनिका - वर्षा ऋतु में पैरों में लगे कीचड़ को पौछने के लिए शलाका विशेष या बांस की सूई का स्वयं निर्माण, संस्थापन करता है, विषम को सम करता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - दूसरों से कराने की अपेक्षा स्वयं करने में अयतना विशेष नहीं होने से यहाँ पर कम प्रायश्चित्त बताया गया है।

अन्यो द्वारा गवेषित पात्र लेने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू णियगवेसियगं पडिग्गहगं धरेइ धरेंतं वा साइज्जइ ॥ २७ ॥

जे भिक्खू परगवेसियगं पडिग्गहगं धरेइ धरेंतं वा साइज्जइ ॥ २८ ॥

जे भिक्खू वरगवेसियगं पडिग्गहगं धरेइ धरेंतं वा साइज्जइ ॥ २९ ॥

जे भिक्खू बलगवेसियगं पडिग्गहगं धरेइ धरेंतं वा साइज्जइ ॥ ३० ॥

जे भिक्खू लवगवेसियगं पडिग्गहगं धरेइ धरेंतं वा साइज्जइ ॥ ३१ ॥

कठिन शब्दार्थ - णियगवेसियगं - निजगवेषित - स्वजन - संसार पक्षीय माता, पिता, बन्धु आदि द्वारा गवेषित - अन्वेषित कर लाया हुआ, पडिग्गहगं - प्रतिग्रह - पात्र, परगवेसियगं - परगवेषित - स्वजन के अतिरिक्त अन्य द्वारा गवेषित - अन्वेषित कर लाया हुआ, वरगवेसियगं - वरगवेषित - ग्राम या नगर के प्रधान पुरुष द्वारा अन्वेषित कर लाया हुआ, बलगवेसियगं - बलगवेषित - शारीरिक बल या जनबलयुक्त पुरुष द्वारा अन्वेषित कर लाया हुआ, लवगवेसियगं - लवगवेषित - दान का फल आदि कहकर अन्वेषित कर लाया हुआ।

भावार्थ - २७. जो भिक्षु अपने संसार पक्षीय पारिवारिक जनों द्वारा अन्वेषित कर लाया हुआ पात्र धारण करता है - रखता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

२८. जो भिक्षु अपने संसारपक्षीय पारिवारिक जनों के अतिरिक्त अन्य जनों द्वारा अन्वेषित कर लाया हुआ पात्र धारण करता है या धारण करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

२९. जो भिक्षु ग्राम या नगर के मुख्य व्यक्ति द्वारा अन्वेषित कर लाया हुआ पात्र धारण करता है अथवा धारण करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

३०. जो भिक्षु शारीरिक दृष्टि से बलवान या सामाजिक दृष्टि से प्रभावशाली व्यक्ति द्वारा अन्वेषित कर लाया हुआ पात्र धारण करता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

३१. जो भिक्षु किसी के द्वारा दान का फल बताकर अन्वेषित कर लाया हुआ पात्र धारण करता है या धारण करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - जैसा पहले विवेचन हुआ है, साधु स्वावलम्बी होते हैं। वे किसी भी प्रकार से औरों के लिए भार-स्वरूप नहीं होते। अत एव वे सभी कार्य स्वयं ही करते हैं।

वस्त्र, पात्र आदि उपधि भी वे स्वयं ही शास्त्रमर्यादारूप विधिपूर्वक याचित कर स्वीकार करते हैं। दूसरों द्वारा अन्वेषित पात्र गृहीत करने में अनेक दोष आशंकित हैं।

उपर्युक्त सूत्रों में पात्र धारण करने या लेने के संबंध में जो निरूपण हुआ है, वह इसी अभिप्राय से संबद्ध है।

नित्यप्रति, नियत अग्रपिण्ड - ग्रहण का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू णित्तियं अग्रपिण्डं भुजइ भुजंतं वा साइज्जइ ॥ ३२ ॥

कठिन शब्दार्थ - णित्तियं - नैत्यिक - नित्य प्रति या नियत रूप में, अग्रपिण्ड - अग्रपिण्ड - भोजन से पूर्व बहिर्निष्काषित विशिष्ट आहारांश, भुजइ - भोगता है - खाता है।

भावार्थ - ३२. जो भिक्षु नित्यप्रति या नियत रूप में अग्रपिण्ड का भोग - सेवन करता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - इस सूत्र में आये हुए 'णित्तियं' शब्द के संस्कृत में नैत्यिक और नियत दो रूप बनते हैं। नैत्यिक शब्द तद्धित प्रक्रिया में नित्य से बनता है। जो कार्य नित्य किया जाता है, उसे नैत्यिक कहते हैं। जो कार्य निश्चित रूप में किया जाता है, उसे नियत कहा जाता है।

इस सूत्र में आया अग्रपिण्ड शब्द अग्र+पिण्ड के योग से बना है। अग्र का एक अर्थ प्रधान या विशिष्ट है, दूसरा अर्थ आगे या पहले है। गृहस्थ द्वारा भोजन करने से पूर्व देव निमित्त, साधु निमित्त, बलि निमित्त आदि के रूप में आहार का जो विशिष्ट भाग थाली से निकाल कर अलग रखा जाता है, उसे 'अग्रपिण्ड' कहा जाता है।

इन तीनों ही स्थितियों से संबद्ध आहार लेना साधु के लिए दोषपूर्ण है। किसी के यहाँ नित्यप्रति आहार के लिए जाना शास्त्रानुमोदित नहीं है, व्यावहारिक दृष्टि से भी अनुचित है, उसमें अनेक दोष आशंकित हैं। इसी प्रकार नियत रूप में कहीं आहारादि लेने जाना और प्राप्त करना दूषित है। अग्रपिण्ड लेने में भी औद्देशिक आदि अनेक दोष संभावित हैं।

दशवैकालिक सूत्र में वर्णित नियाग पिण्ड नामक अनाचार से यह सूत्र संबंधित हैं ❖।

'नियाग' शब्द नित्य पिण्ड का वाचक है। नियाग पिण्ड का एक अर्थ किसी गृहस्थ का आमन्त्रण स्वीकार कर उसके यहाँ कभी भी आहार लेने हेतु जाना, आहार प्राप्त करना किया गया है। आमन्त्रण के बिना किसी गृहस्थ के यहाँ से नित्य प्रति आहार-पानी लेना भी नियाग पिण्ड के अन्तर्गत है।

उत्तराध्ययन सूत्र के अध्ययन २० की गाथा ४७ में आए हुए 'णियागं' शब्द का अर्थ शांतिचन्द्रीय टीका में इस प्रकार किया है - 'णियागं - नित्यागं नित्य पिण्ड मित्यर्थः।' अर्थात् प्राचीन टीकाओं में भी नियाग शब्द का अर्थ 'नित्य पिण्ड' किया गया है।

❖ दशवैकालिक सूत्र. अध्ययन - ३.२

इस सूत्र में प्रयुक्त 'णितियं' शब्द के नैतिक और नियत - ये दोनों संस्कृत रूप इसी भाव के अभिव्यंजक हैं।

दानार्थ तैयार किए गए आहार-ग्रहण का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू णितियं पिंडं भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ३३ ॥

जे भिक्खू णितियं अवड्ढभागं भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ३४ ॥

जे भिक्खू णितियं भागं भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ३५ ॥

जे भिक्खू णितियं उवड्ढभागं भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ३६ ॥

कठिन शब्दार्थ - णितियं पिंडं - प्रतिदिन संपूर्णतः दान में दिया जाने वाला आहार, अवड्ढभागं - अपार्द्ध भाग - आधा हिस्सा, णितियं भागं - नित्यप्रति दान में दिया जाने वाला एक तिहाई भाग, उवड्ढभागं - नित्य प्रति दिए जाने वाले एक तिहाई भाग का आधा भाग - छट्ठा भाग।

भावार्थ - ३३. (जिन कुलों में) तैयार किया गया समग्र आहार प्रतिदिन दान में दिया जाता है, जो भिक्षु उसे लाता है, उसका भोग - सेवन करता है या सेवन करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

३४. (जिन कुलों में) तैयार किए गए आहार का आधा भाग प्रतिदिन दान में दिया जाता है, जो भिक्षु उसे लाता है, उसका सेवन करता है या सेवन करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

३५. (जिन कुलों में) तैयार किए गए आहार का तीसरा भाग प्रतिदिन दान में दिया जाता है, जो भिक्षु उसे लाता है, उसका भोग करता है या भोग करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

३६. (जिन कुलों में) तैयार किए गए आहार का छट्ठा भाग प्रतिदिन दान में दिया जाता है, जो भिक्षु उसे लाता है, उसका भोग-सेवन करता है या सेवन करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

टिप्पण - इन सूत्रों में प्रयुक्त 'णितियं पिंडं' 'अवड्ढभागं' 'णितियं भागं' तथा 'उवड्ढभागं' के रूप में जो दान में दिए जाने वाले आहार का वर्णन हुआ है, यहाँ उसका अर्थ निशीथ भाष्य की निर्मांकित गाथा के आधार पर किया गया है -

पिंडो खलु भत्तद्वो, अवहृ पिंडो तस्स जं अहं।

भागो तिभागमादि, तस्सद्धमुवहृभागो य॥ १००९॥

यहाँ पिंड शब्द का प्रयोग भोजन या आहार के अर्थ में है। उसका आधा ($\frac{1}{2}$) भाग अपार्थ कहा गया है। भाग शब्द त्रिभाग या एक तिहाई ($\frac{1}{3}$) का सूचक है। ऊपार्थ - उसके (तिहाई) भाग के आधे ($\frac{1}{6}$) भाग का द्योतक है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि प्राचीन काल में प्रायः राजकुलों तथा विशिष्ट संपन्न कुलों में नित्यप्रति सहायतापेक्षी जनों को दान देने की परंपरा थी। उनके लिए दानशालाओं में विशेष रूप से भोजन तैयार किया जाता था अथवा उन कुलों में तैयार किए गए भोजन का आधा या तिहाई या छठा भाग दान के लिए सुरक्षित या निर्दिष्ट होता था। साधु को इन चारों ही प्रकार के आहार को स्वीकार करना यहाँ दोषपूर्ण, प्रायश्चित्त योग्य कहा गया है।

ऐसे कुलों से उपर्युक्त रूप में आहार लेने से अन्तराय दोष लगता है, क्योंकि वहाँ से आहार पाने वालों को इससे विघ्न होता है, उन्हें आहार नहीं मिल पाता।

साथ ही साथ वैसा करने से पश्चात् कर्म दोष भी लगता है, क्योंकि साधु द्वारा आहार ले लिए जाने पर दानार्थियों को देने हेतु पुनः आहार तैयार किया जाता है, जिससे आरम्भजा हिंसा होती है। क्योंकि साधुओं द्वारा आहार ले लिए जाने के कारण ही पुनः आहार-विषयक आरम्भ-समारम्भ करना होता है, अन्यथा वैसा करने की कोई आवश्यकता ही नहीं होती।

इन्हीं कारणों से उपर्युक्त प्रकार का आहार अस्वीकार्य है।

नित्य-प्रवास-विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू णितियावासं वसइ वसंतं वा साइज्जइ ॥ ३७ ॥

कठिन शब्दार्थ - णितियावासं - नित्यवास - मासकल्प एवं चातुर्मास कल्प की मर्यादा का उल्लंघन कर नित्य एक ही स्थान पर प्रवास, वसइ - वास करता है - रहता है।

भावार्थ - ३७. जो साधु मासकल्प - विषयक एवं चातुर्मास कल्प-विषयक प्रवास का अतिक्रमण कर नित्य एक ही स्थान पर वास करता है, रहता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - साधु की आवास-विषयक कल्प मर्यादा के संबंध में आचारांग सूत्र में कालातिक्रान्त क्रिया और उपस्थान क्रिया संज्ञक दो दोषों का उल्लेख हुआ है ॐ।

ॐ आचारांगसूत्र, श्रुतस्कन्ध-२, अध्ययन-२, उद्देशक-२.

किसी क्षेत्र में - स्थान में मासकल्प के अनुसार एक मास अर्थात् २९ दिन रहने के पश्चात् तथा चातुर्मास कल्प के अनुसार किसी एक क्षेत्र - स्थान में आषाढ पूर्णिमा से लेकर कार्तिक पूर्णिमा तक रहने के पश्चात् भी वहाँ से विहार न करे तो साधु को 'कालातिक्रान्त क्रिया' नामक दोष लगता है, क्योंकि उसमें कल्पयोग्य काल का अतिक्रमण या उल्लंघन होता है।

एक क्षेत्र - स्थान में एक मास पर्यन्त प्रवास करने के पश्चात् दो मास अन्यत्र विहारचर्या में व्यतीत किए बिना वापस वहीं आकर रहे तथा एक क्षेत्र - स्थान में चातुर्मास करने - चार मास प्रवास करने के पश्चात् आठ मास अन्यतर विहारचर्या में व्यतीत किए बिना पुनः वहीं आकर रहे तो साधु को 'उपस्थान क्रिया' नामक दोष लगता है।

साधु को वायुवत् अप्रतिबन्ध-विहारी कहा है। जिस प्रकार वायु किसी एक स्थान पर नहीं टिकती, साधु भी निरन्तर स्थायी रूप से किसी एक स्थान पर नहीं रहता। क्योंकि एक स्थान पर रहने से लोगों के साथ परिचय बढ़ता है। परिचय बढ़ने से ममत्व और मोह उत्पन्न होता है, जिससे संयम व्याहत होता है।

साधु तो सर्वस्व त्यागी होता है। संयम के उपकरणभूत शरीर का निर्वाह करने के लिए केवल आहार, पानी, वस्त्र, पात्र आदि आवश्यक उपधि निरवद्य, निर्दोष रूप में लेने तथा रहने के लिए स्थान याचित कर (शास्त्रमर्यादानुरूप) वह जीवन निर्वाह करता है। उसकी किसी के प्रति आसक्ति या ममता नहीं होती। लोगों के साथ उसका केवल आध्यात्मिक एवं धार्मिक संबंध होता है।

साधु को स्व-पर-कल्याणपरायण कहा गया है। वह संयम की आराधना द्वारा आत्म-कल्याण करता है तथा उपदेश द्वारा जन-जन को संयम की दिशा में प्रेरित करता रहता है। उसका किसी एक स्थान से संबंध नहीं होता है। वह तो मासकल्प और चातुर्मासकल्प के अतिरिक्त सदैव विहारचर्या में ही रहता है। इसीलिए कहा गया है - "साधु तो उमता भला, बहता निर्मल जीट।" जिस प्रकार एक स्थान पर निरन्तर पड़ा रहने वाला पानी गंदा हो जाता है एवं बहता हुआ पानी निर्मल रहता है, उसी प्रकार एक स्थान पर नित्य रहने वाले साधु का संयम उज्ज्वल, निर्मल रह सके, यह कठिन है।

पूर्व-पश्चात् प्रशंसा करने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू पुरेसंथवं वा पच्छासंथवं वा करेइ करंतं वा साइज्जइ ॥ ३८ ॥

कठिन शब्दार्थ - पुरेसंथवं - पूर्वसंस्तव - दाता द्वारा दान दिए जाने से पहले उसकी प्रशंसा, पच्छासंथवं - पश्चात् संस्तव - दान देने के पश्चात् दाता की प्रशंसा।

भावार्थ - ३८. जो भिक्षु दाता द्वारा दान दिए जाने से पहले या दान दिए जाने के पश्चात् उसकी प्रशंसा करता है अथवा प्रशंसा करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - साधु का जीवन निःस्पृह और अनासक्त होता है। आहार, पात्र, वस्त्र आदि में न उसे मोह होता है, न आसक्ति ही। इसलिए वह किसी भी आकर्षण के बिना स्वाभाविक रूप में अपनी आवश्यकता के अनुसार शास्त्रमर्यादानुरूप याचित करता है।

यदि कोई साधु कहीं भिक्षा आदि हेतु किसी के घर जाए तब वहाँ दान लेने से पूर्व दाता की प्रशंसा करना, इस सूत्र में दोषपूर्ण और प्रायश्चित्त योग्य बताया गया है। क्योंकि वैसा करने में सरस, स्वादिष्ट आहार, उत्तम वस्त्र, पात्र आदि प्राप्त करने के प्रति उसके मन में रही आसक्ति या लोलुपता आशंकित है। वह सोचता है कि यदि वह दाता की दान देने से पूर्व प्रशंसा करेगा तो उसे अच्छी वस्तुएँ प्राप्त होगी। साधु के लिए ऐसा करना सर्वथा अनुचित है।

पूर्व-संस्तव का एक अन्य अभिप्राय किसी साधु द्वारा भिक्षा लेने से पूर्व उत्तम भिक्षा पाने के लोभ में अपने उच्च कुल, विद्या, आचार, तप और चमत्कारिक व्यक्तित्व की प्रशंसा किया जाना भी है। वह मन में ऐसा सोचता है कि इनसे प्रभावित होकर गृहस्थ मुझे उत्तम भिक्षा देगा। यह भी दोषपूर्ण है।

पश्चात्-संस्तव का तात्पर्य (मनोनुकूल) भिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् साधु द्वारा दाता की प्रशंसा किया जाना है। वैसा करने में-साधु के मन में यह भाव रहता है कि प्रशंसा करने से भविष्य में भी उसे उत्तम पदार्थ प्राप्त होते रहेंगे। यह दोषपूर्ण है, अत एव प्रायश्चित्त योग्य है।

भिक्षाकाल से पूर्व स्वजन-गृहप्रवेश का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू समाणे वा वसमाणे वा गामाणुगामं वा दूइज्जमाणे पुरेसंथुयाणि वा पच्छासंथुयाणि वा कुलाइं पुव्वामेव अणुपविसित्ता पच्छा भिक्ख्वायरियाए अणुपविसइ अणुपविसंतं वा साइज्जइ ॥ ३९ ॥

कठिन शब्दार्थ - समाणे - गृद्धि रहित, मर्यादा सहित स्थिरवास में स्थित, वसमाणे- अष्टमास कल्प तथा चातुर्मासकल्प में नवकल्प विहरणशील, गामाणुगामं - ग्रामानुग्राम - एक गांव से दूसरे गांव में, दूइज्जमाणे - विहार - विचरण करता हुआ, पुरेसंथुयाणि -

पूर्व-संस्तुत - गृहस्थ काल में, बाल्यावस्था में परिचय युक्त माता-पिता, बन्धु-बान्धव आदि, पच्छासंश्रुयाणि - पश्चात्-संस्तुत - युवावस्था में परिचय युक्त सास, ससुर, साले आदि, पुव्वामेव - पूर्व - भिक्षाकाल से पहले ही, अणुपविसित्ता - अनुप्रविष्ट होकर - जाकर, भिक्खवारियाए - भिक्षाचर्या हेतु, अणुपविसइ - प्रवेश करता है।

भावार्थ - ३९. स्थिरवास में विद्यमान या नवकल्पी विहारचर्या में संस्थित या ग्रामानुग्राम विचरणशील जो भिक्षु भिक्षाचर्या काल के पहले ही अपने बाल्यावस्था के परिचित, युवावस्था के परिचित कुलों में - परिवारों में जाता है, तत्पश्चात् भिक्षा हेतु उनके घरों में प्रवेश करता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - साधु जीवन शुद्धाचार विषयक मर्यादाओं से और नियमों से बंधा होता है। सभी कार्यों के लिए मर्यादायुक्त विधिक्रम और व्यवस्थाएँ निर्देशित हैं, उनका उल्लंघन करना दोष है। उससे व्रताराधना व्याहत होती है।

गृहस्थ जीवन का संपूर्णतः परित्याग कर पंचमहाव्रतमय संयमयुक्त-जीवन अपना लेने के पश्चात् साधु का न तो कोई परिवार होता है और न कोई बन्धु-बान्धव तथा इष्ट-मित्र आदि ही होते हैं। विश्वबन्धुत्व का आदर्श अपनाया हुआ वह सब प्रकार के ममत्व से मुक्त होता है। प्राणी-मात्र के प्रति उसमें समता का भाव होता है।

गृहस्थ जीवन के पूर्व परिचित पारिवारिकों या संबंधियों के कुलों में यदि कोई साधु भिक्षाकाल के पहले ही भिक्षार्थ जाता है तो वह दोषपूर्ण है, प्रायश्चित्त योग्य है। क्योंकि वैसा करने में उन पारिवारिकजनों के प्रति उसका राग प्रतीत होता है। उनके यहाँ से उसे अनुकूल पदार्थ प्राप्त होंगे, यह लिप्सा भी प्रकट होती है। राग एवं लिप्सा - आहार आदि विषयक लोलुपता साधु के लिए सर्वथा वर्जित है। ऐसा करता हुआ साधु संयम-पथ से च्युत होता जाता है, इस सूत्र का ऐसा आशय है।

अन्यतीर्थिक आदि के साथ भिक्षाचर्या आदि हेतु गमन-विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिहारिओ वा अपरिहारिएण सद्धिं गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए णिक्खमइ वा अणुपविसइ वा णिक्खमंतं वा अणुपविसंतं वा साइज्जइ ॥ ४० ॥

जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिहारिओ वा अपरिहारिएण

सद्धिं बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा णिक्खमइ वा पविसइ वा णिक्खमंतं वा पविसंतं वा साइज्जइ ॥ ४१ ॥

जे भिक्खू अण्णउत्थिण्ण वा गारत्थिण्ण वा परिहारिओ अपरिहारिण्ण सद्धिं गामाणुगामं दूइज्जइ दूइज्जंतं वा साइज्जइ ॥ ४२ ॥

कठिन शब्दार्थ - परिहारिओ - पारिहारिक - मूल गुणों एवं उत्तरगुणों का धारक अथवा परिहार-तप में निरत, **सद्धिं -** साथ, **गाहावइकुलं -** गाथापतिकुल - गृहस्थ परिवार, **पिंडवायपडियाए -** पिण्डपातप्रतिज्ञा - भिक्षा ग्रहण करने की बुद्धि या उद्देश्य से, **णिक्खमइ -** निष्क्रमण करता है - निकलता है, **बहिया -** बाहर, **वियारभूमिं -** विचारभूमि - मल-मूत्र आदि विसर्जन स्थान, **विहारभूमिं -** विहारभूमि - स्वाध्यायभूमि, **पविसइ -** प्रवेश करता है।

भावार्थ - ४०. जो भिक्षु अन्यतीर्थिक या गृहस्थ के साथ तथा पारिहारिक भिक्षु अपारिहारिक भिक्षु के साथ गृहस्थ कुल में भिक्षा लेने के उद्देश्य से जाता है, उनके घरों में प्रवेश करता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

४१. जो भिक्षु अन्यतीर्थिक या गृहस्थ के साथ तथा पारिहारिक भिक्षु अपारिहारिक भिक्षु के साथ बाहर विचारभूमि या विहारभूमि में जाता है, प्रवेश करता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

४२. जो भिक्षु अन्यतीर्थिक या गृहस्थ के साथ तथा पारिहारिक भिक्षु अपारिहारिक भिक्षु के साथ ग्रामानुग्राम विचरण करता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - यहाँ सूत्र संख्या ४० में 'गाहावइकुल' (गाथापतिकुल) का प्रयोग हुआ है। **गाहावइ -** गाथापति शब्द जैन आगमों में विशेष रूप से प्रयुक्त हुआ है। गाथा + पति इन दो शब्दों के योग से गाथापति बनता है। गाहा या गाथा का एक अर्थ घर है। इसका एक अन्य अर्थ प्रशस्ति भी है। धन, धान्य, समृद्धि, वैभव आदि के कारण बड़ी प्रशस्ति का अधिकारी होने से भी एक संपन्न, समृद्ध गृहस्थ के लिए इस शब्द का प्रयोग टीकाकारों ने माना है।

उपासकदशांगसूत्र में भगवान् महावीर स्वामी के आनन्द आदि दस प्रमुख श्रमणोपासकों का वर्णन है, जो बड़े ही वैभव-संपन्न तथा धर्म-निष्ठ थे। उन सबके नाम से पूर्व विशेषण के रूप में **गाथापति (गाहावइ)** शब्द का प्रयोग हुआ है।

प्राकृत साहित्य में गाहा (गाथा) शब्द का प्रयोग आर्या छन्द के लिए विशेष रूप से हुआ है। जिस प्रकार संस्कृत में अनुष्टुप् छन्द का बहुलतया प्रयोग पाया जाता है, उसी प्रकार प्राकृत वाङ्मय में गाहा - गाथा छन्द का विशेष रूप से प्रयोग हुआ है।

हाल की 'गाहा सतसई (गाथा सप्तशती)' में सात सौ पद्य हैं, जो गाहा या आर्या छन्द में रचित हैं। आर्या छन्द का लक्षण निर्मांकित है -

यस्याः पादे प्रथमे, द्वादशमात्रास्तथातृतीयेऽपि।

अष्टादश द्वितीये, चतुर्थके पञ्चदश सार्या ॥

जिसके पहले चरण में बारह मात्राएँ, दूसरे चरण में अठारह मात्राएँ, तीसरे चरण में बारह मात्राएँ तथा चौथे चरण में पन्द्रह मात्राएँ होती हैं, उसे आर्या या गाथा छन्द कहा जाता है।

“तीर्यते अनेन इति तीर्थम्” इस व्युत्पत्ति के अनुसार, जिसके द्वारा नदी या समुद्र को अथवा संसार-सागर को पार किया जाता है, उसे तीर्थ कहा जाता है। सभी धार्मिक परंपराओं के लोग अपने-अपने धर्म-संप्रदाय को संसार-सागर से पार करने का हेतु मानते हैं। अतः उनके लिए वह तीर्थ-स्वरूप है। “तीर्थं यस्यास्ति स तीर्थी तीर्थिको वा” जो किसी तीर्थ विशेष तथा धर्म-संप्रदाय विशेष से संबद्ध होता है, उसे तीर्थिक कहा जाता है।

इन सूत्रों में प्रयुक्त अन्यतीर्थिक शब्द जैनेतर धर्म-संप्रदाय - परिव्रजक, तापस, शाक्य, आजीवक, सांख्यान्यायी, योगी आदि के लिए आया है। प्राचीनकाल में भगवान् महावीर स्वामी के समय में तथा उसके पश्चात् प्रचलित जैनेतर धर्म-संप्रदायों के संबंध में औपपातिक सूत्र में विशेष रूप से वर्णन हुआ है, जो पठनीय है।

इन सभी संप्रदायों के अनुयायी अपने-अपने संप्रदाय या धर्मतीर्थ को कल्याण का, संसार-सागर को पार करने का हेतु मानते थे।

यहाँ प्रयुक्त अन्यतीर्थिक के साथ जो गृहस्थ शब्द का प्रयोग आया है, वह उन गृहस्थ भिक्षाजीवियों का सूचक है, जो किसी तिथि विशेष या वार विशेष के समय भिक्षा याचना करते हैं।

जैन धर्मानुयायी श्रावक-श्राविकाओं का इन सूत्रों में प्रयुक्त 'गृहस्थ' शब्द से ग्रहण नहीं हुआ है, अर्थात् साधु-साध्वियों के भिक्षा आदि में दलाली के लिए श्रावक-श्राविका साथ में जाने का इन सूत्रों से निषेध नहीं होता है।

इन सूत्रों में भिक्षु को अन्यतीर्थिक तथा गृहस्थ के साथ, पारिहारिक भिक्षु को अपारिहारिक भिक्षु के साथ भिक्षार्थ जाने, विचारभूमि तथा विहारभूमि में जाने एवं इनके साथ ग्रामानुग्राम

विचरण करने को जो प्रायश्चित्त योग्य बतलाया गया है, उसका आशय यह है कि इससे साधु के संयमाश्रित, स्वावलम्बितापूर्ण जीवन की गरिमा घटती है। 'समानशीलव्यसनेषु सख्यम्' के अनुसार सख्य, साहचर्य तथा सहगामित्व उन्हीं के साथ उत्तम एवं प्रशस्त होता है, जिनका शील, आचार अपने सदृश हो। वैसा होना ही शोभा पाता है। जीवन में सत्प्रेरणा और सदुत्साह का संचार करता है।

मनोनुकूल प्रासुक जल पीने एवं मनःप्रतिकूल जल परठने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू अण्णयरं पाणगजायं पडिगाहिता पुप्फगं पुप्फगं आइयइ कसायं कसायं परिट्टवेइ परिट्टवेतं वा साइज्जइ ॥ ४३ ॥

कठिन शब्दार्थ - अण्णयरं - अन्यतर - अनेकविध कतिपय प्रकार युक्त, पाणगजायं- पानकजात - पेयजल - प्रासुक पानी, पडिगाहिता - प्रतिगृहीत कर - ग्रहण कर, पुप्फगं - पुष्पक - उत्तम वर्ण, गन्ध, रसयुक्त स्वच्छ जल, आइयइ - पीता है, कसायं - कषाय - दूषित वर्ण, गन्ध, रसयुक्त कलुषित जल, परिट्टवेइ - परिष्ठापित करता है - परठता है।

भावार्थ - ४३. जो भिक्षु कतिपय प्रकार युक्त प्रासुक जल ग्रहण कर उसमें से मनोनुकूल- अच्छा-अच्छा, स्वच्छ जल तो पी लेता है और मनःप्रतिकूल - कलुषित-कलुषित जल परठ देता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - साधु के मन में खाद्य एवं पेय पदार्थों के प्रति जरा भी आसक्ति न रहे, केवल यही ध्यान रहे कि वे पदार्थ अचित्त, शुद्ध एवं एषणीय हों। खाने-पीने की वस्तुओं के प्रति वर्ण, गन्ध, रस आदि की मनोज्ञता के कारण यदि साधु में विशेष रुचि या आकर्षण उत्पन्न होता हो तो वह सर्वथा अनुचित है। अत एव वह साधुचर्या में स्वीकृत, निर्दोष पदार्थों को ही ग्रहण करे। स्वाद-अस्वाद का भेद करना उसके लिए सर्वथा त्याज्य है। क्योंकि स्वादिष्ट को गृहीत करना और अस्वादिष्ट की उपेक्षा करना जिह्वा-लोलुपता का सूचक है। शास्त्रों में वैसे पुरुष को रस-गूढ कहा गया है। रस-गूढता सर्वथा परिहेय है।

इस सूत्र में मनोनुकूल जल के पीने और मनःप्रतिकूल जल के परठने का जो वर्णन है, वह साधु की पेय-पदार्थ के प्रति मन में व्याप्त आसक्ति का सूचक है। उसे मनोज्ञ-अमनोज्ञ का भेद न करते हुए शुद्ध, प्रासुक, एषणीय जल के आवश्यकतानुरूप उपयोग का ही ध्यान रखना चाहिए, यही साध्वाचार है। जैसा कि ऊपर के सूत्र में सूचित हुआ है, इसके विपरीत चलना साधु के लिए सदोष है, प्रायश्चित्त है।

मनोनुकूल प्रासुक आहार सेवन एवं मनःप्रतिकूल आहार परिष्ठापन का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू अण्णयरं भोयणजायं पडिगाहत्ता सुब्धिं सुब्धिं भुंजइ दुब्धिं
दुब्धिं परिट्टवेइ परिट्टवेतं वा साइज्जइ ॥ ४४ ॥

कठिन शब्दार्थ - भोयणजायं - भोजनजात - खाद्य-स्वाद्य आदि विविध प्रकार के प्रासुक भोज्य पदार्थ, सुब्धिं - सुरभि - मनोज्ञ वर्ण, गंध, रसयुक्त भोज्य पदार्थ, दुब्धिं - दुरभि - अमनोज्ञ वर्ण, गंध, रसयुक्त भोज्य पदार्थ।

भावार्थ - ४४. जो भिक्षु कई प्रकार का प्रासुक आहार ग्रहण कर उसमें से मनोनुकूल-रुचिर-रुचिर आहार का सेवन करता है तथा अरुचिकर-अरुचिकर आहार को परठ देता है या परठते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - इस सूत्र में भिक्षा में लाए हुए अनेकविध आहार में से उत्तम वर्ण, गंध, रसयुक्त आहार का सेवन करना और कलुषित वर्ण, गंध, रसयुक्त आहार को परठना दौषयुक्त-प्रायश्चित्त योग्य बतलाया गया है। क्योंकि जो भिक्षु खान-पान में जिह्वा-लोलुपता युक्त होता है, वही ऐसा करता है। जिह्वा-लोलुपता सर्वथा परिहेय है। साधु इस संदर्भ में सदैव जागरूक रहे, भोज्य-लिप्सा से सर्वथा बचा रहे। इसीमें उसके साधुत्व का सार्थक्य है।

अवशिष्ट आहार-परिष्ठापन-विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू मणुण्णं भोयणजायं पडिगाहत्ता बहुपरियावण्णं सिया अदूरे
तत्थ साहम्मिया संभोइया समणुण्णा अपरिहारिया संता परिवसंति ते
अणापुच्छिय अणिमंतिय परिट्टवेइ परिट्टवेतं वा साइज्जइ ॥ ४५ ॥

कठिन शब्दार्थ - मणुण्णं - मनोज्ञ - मनोनुकूल, रुचिकर, बहुपरियावण्णं - बहु-पर्यापन्न - अधिक प्राप्त, सिया - हो - हो जाए, अदूरे - समीप, तत्थ - वहाँ, साहम्मिया-साधर्मिक - समान धर्माचरणशील, संभोइया - सांभोगिक - मण्डल - समूह में आहार आदि करने के कल्प से युक्त, समणुण्णा - समनोज्ञ - सविवेक विहरण समुद्यत, अपरिहारिया - अपरिहारिक - अतिचार रहित चारित्र के कारण ग्राह्य, संता - विद्यमान, परिवसंति - रहते हों, अणापुच्छिय - बिना पूछे, अणिमंतिय - आमंत्रित किए बिना।

भावार्थ - ४५. जो साधु भिक्षा में मनोनुकूल - रुचिकर आहार प्राप्त कर यदि यह अनुभव करे कि वह अधिक मात्रा में प्राप्त हो गया है तो पास में ही (दो कोस के सीमावर्ती) यदि उपाश्रय आदि में साधर्मिक, सांभोगिक, समनोज्ञ तथा अपरिहार्य - निरतिचार चारित्र के कारण माननीय साधु हों तो उन्हें पूछे बिना, आमंत्रित किए बिना अधिक आहार को परठता है या परठते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - “समानो धर्मो येषां ते साधर्मिका” इस व्युत्पत्ति के अनुसार सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र मूलक पंचमहाव्रतात्मक धर्म की आराधना में जो परस्पर समान होते हैं, उन्हें ‘साधर्मिक’ कहा जाता है।

इस सूत्र में आए हुए सांभोगिक शब्द का एक विशेष अर्थ है। व्याकरण में तद्धित प्रक्रिया के अन्तर्गत यह संभोग शब्द से बना है। जैन परंपरा में संभोग का अपना पारिभाषिक अर्थ है। जिन साधुओं को एक मंडल में बैठकर परस्पर एक साथ आहार आदि करना कल्पता है, वे समान संभोग युक्त या सांभोगिक कहे जाते हैं।

जैन आगमों में इसी अर्थ में बहुलता से इसका प्रयोग हुआ है। इससे प्रतीत होता है कि भगवान् महावीर स्वामी के समय में तथा उनके निर्वाण के बाद भी कुछ समय पर्यन्त संभोग शब्द प्रायः इसी अर्थ में प्रचलित रहा हो।

भाषा-शास्त्र के अनुसार अर्थ-विस्तार, अर्थ-संकोच, अर्थोत्कर्ष तथा अर्थापकर्ष आदि के रूप में एक ही शब्द उत्तरवर्ती काल में भिन्न-भिन्न सामाजिक मानसिकताओं के परिणामस्वरूप पूर्वापेक्षया भिन्न अर्थों का द्योतक बनता जाता है। संभोग शब्द के साथ भी संभवतः ऐसा ही घटित हुआ हो। यह शब्द अर्थपरिवर्तन की चिरन्तन प्रक्रिया में से गुजरता हुआ आज स्त्री-पुरुष के यौन संबंध के अर्थ में प्रचलित है। आश्चर्य होता है, शब्द परिवर्तन की दिशाएँ कितनी विचित्र हैं, अर्थ का कितना विपर्यास हो जाता है।

जनसाधारण वास्तविकता को समझ सकें, इसलिए ऐसे शब्दों की भलीभाँति व्याख्या की जानी चाहिए।

मनोज्ञ या रुचिकर आहार के अधिक प्राप्त हो जाने पर इस सूत्र में साधु द्वारा उसके परठने के संबंध में मार्गदर्शन दिया गया है।

उपर्युक्त सूत्र में ‘मणुष्णं’ शब्द होने से अमनोज्ञ आहारादि को अदूर में भी परठने का इतना प्रायश्चित्त नहीं आता है।

पहली बात तो यह है कि विवेकशील साधु भिक्षा लेते समय आहार की मनोज्ञताअमनोज्ञता की तरफ जरा भी ध्यान न दें। निर्दोष एषणीय आहार आवश्यकतानुरूप निःस्पृह भाव से प्राप्त करे। मनोज्ञ-अमनोज्ञ का भेद करने की मानसिकता आसक्तिमूलक है। फिर यदि वैसा अधिक आहार आ जाए, भोजन कर लेने के पश्चात् बचा रहे तो साधु का यह कर्त्तव्य है कि वह उस आहार को समीप में ही उपाश्रय आदि में स्थित साधर्मिक, सांभोगिक, सविवेक उद्यत विहारी और अतिचार रहित चारित्रसेवी मान्य साधुओं को पूछे, आहार लेने को आमंत्रित करे। आवश्यकतावश उनके ले लेने के बाद एवं आवश्यकता न हो तो उनकी स्वीकृति पूर्वक वह आहार को परटे। अर्थात् वह अधिक आहार साधर्मिक-साधुओं के उपयोग में आ जाए तो बहुत ही अच्छा हो, फिर यदि बचे तो उसे एकान्त प्रासुक भूमि में परिष्ठापित करे।

यह साधु की विवेकपूर्ण चर्या का रूप है।

शय्यातर-पिण्ड लेने एवं सेवन करने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू सागारियं पिंडं गिण्हइ गिण्हंतं वा साइज्जइ ॥ ४६ ॥

जे भिक्खू सागारियं पिंडं भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ४७ ॥

कठिन शब्दार्थ - सागारियं पिंडं - शय्यातर पिंड (आहार आदि)।

भावार्थ - ४६. जो भिक्षु शय्यातर पिंड ग्रहण करता है या ग्रहण करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

४७. जो भिक्षु शय्यातर पिंड का सेवन करता है या सेवन करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - प्राकृत और संस्कृत में अगार या आगार शब्द घर का वाचक है। “अगारेण, आगारेण वा सहितः सागारः, सागारि, सागारिको वा।” जो घर या आवास स्थान से युक्त होता है, उसका स्वामी होता है, उसे सागार सागारी या सागारिक कहा जाता है। सागारी शब्द में स्वार्थक 'क' प्रत्यय जोड़ देने पर उसके अन्त का दीर्घ ईकार, ह्रस्व इकार में परिवर्तित हो जाता है, सागारिक रूप बन जाता है।

जिस घर में, आवास स्थान में साधु ठहरा हो उसके स्वामी के लिए 'सागारिक' शब्द का इन सूत्रों में प्रयोग हुआ है। जैन परंपरा में सागारिक को 'शय्यातर' कहा जाता है।

जिस मकान में साधु ठहरा हो, उसके स्वामी के यहाँ से आहार-पानी लेना, उसका सेवन करना साधु के लिए निषिद्ध है। अनुमोदन करना भी निषिद्ध है, क्योंकि इससे गृहस्वामी पर जाने-अनजाने कुछ भार पड़ना आशंकित है। यद्यपि श्रद्धावान् गृहस्थ साधु को आहारादि देने में कदापि भार अनुभव नहीं करता। वह साधु को भिक्षा देने में अपना सौभाग्य मानता है। किन्तु फिर भी कदाचन किसी के मन में अन्यथा भाव न आ जाए, इस दृष्टि से उसके यहाँ से आहार-पानी लेने का परिवर्जन किया गया है। उसके यहाँ से आहार-पानी लेना दोषयुक्त एवं प्रायश्चित्त योग्य बतलाया गया है। इसमें जैन धर्म की आचार मर्यादा और साधुचर्या के संबंध में सूक्ष्मातिसूक्ष्म चिन्तन गर्भित है। 'विवेगे धम्ममाहिण' का आदर्श इसमें संपुटित है।

उपर्युक्त सूत्रों में शय्यातर पिण्ड का लघुमासिक प्रायश्चित्त बताया है, किन्तु ठाणांग आदि आगमों में गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त बताया है, इसका कारण प्रायश्चित्त स्थान अवस्था भेद से गुरु के लघु और लघु के गुरु हो जाते हैं, इसीलिए सूत्रों में अलग-अलग वर्णन संभव हो सकता है, परम्परा (जीत) व्यवहार शय्यातर पिण्ड को गुरु प्रायश्चित्त के रूप में मानने का है।

सागारिक की जानकारी नहीं करने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू सागारियं कुलं अजाणिय अपुच्छिय अगवेसिय पुव्वामेव पिंडवायपडियाए अणुप्पविसइ अणुप्पविसंतं वा साइज्जइ ॥ ४८ ॥

कठिन शब्दार्थ - अजाणिय - जाने बिना, अपुच्छिय - पूछे बिना, अगवेसिय - गवेषणा किए बिना, पुव्वामेव - पहले ही, पिंडवायपडियाए - पिंडपातप्रतिज्ञा - आहार-पानी लेने की बुद्धि से - विचार से।

भावार्थ - ४८. जो भिक्षु शय्यातर कुल को जाने बिना, उस संबंध में पृच्छा और गवेषणा किए बिना भिक्षा लेने की बुद्धि से तदधिकृत घर में प्रवेश करता है या प्रवेश करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - यहाँ शय्यातर के घर के संबंध में जानना, पूछना तथा गवेषणा करना इन तीन शब्दों का प्रयोग हुआ है।

'यह श्रमणोपासक - श्रावक का घर है या श्रावकेतर का है' - ऐसा निश्चय करने के अर्थ में यहाँ जाणिय - जानना शब्द आया है।

पुच्छिय - पूछने का तात्पर्य शय्यातर के संबंध में विशेष जानकारी करना, उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा, विशेषता, गरिमा आदि को जानना है।

गवेसिय - गवेषणा का तात्पर्य घर को, शय्यातर को प्रत्यक्षतः देखना, जानना या पहचानना है ताकि किसी प्रकार की भ्रान्ति उत्पन्न न हो सके।

कोई भी साधु जाने, पूछे और गवेषणा किए बिना शय्यातर के यहाँ भिक्षा लेने का विचार लिए प्रवेश न करे, ऐसी आचार मर्यादा है। यदि कोई ऐसा किए बिना ही प्रवेश करता है तो वह प्रायश्चित्त का भागी होता है।

जाने, पूछे और गवेषणा किए बिना भिक्षार्थ जाने पर अनेक अप्रत्याशित बाधाएँ आशंकित हैं।

सागारिक की नेश्राय से आहार-ग्रहण का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू सागारियणीसाए असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा ओभासिय ओभासिय जायइ जायंतं वा साइज्जइ ॥ ४९ ॥

कठिन शब्दार्थ - णीसाए - नेश्राय में, असणं - अशन - भोज्य पदार्थ, पाणं - पान - अचित्त पानी, खाइमं - खाद्य पदार्थ, साइमं - स्वाद्य पदार्थ, ओभासिय - विशिष्ट वचन रचना पूर्वक, जायइ - याचना करता है।

भावार्थ - ४९. जो भिक्षु सागारिक की नेश्राय से अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य रूप चतुर्विध आहार की याचना करता है अथवा याचना करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - 'णीसाए' का संस्कृत रूप 'निःश्रय' है। निःश्रय का अर्थ प्रश्रय या विशेष सहारा लेना है। जैसाकि पहले व्याख्यात हुआ है, साधु का जीवन सर्वथा आत्म-निर्भर होता है। वह भिक्षाचर्या आदि सभी कार्य आत्म-निर्भरता एवं स्वावलम्बितापूर्वक करता है। यथेष्ट भिक्षा-प्राप्ति आदि के भाव से सागारिक को साथ लेकर भिक्षार्थ जाना निषिद्ध है।

सागारिक एक सामाजिक व्यक्ति होता है। अन्य गृहस्थों के साथ उसके आदान-प्रदानात्मक, पारस्परिक सहयोगात्मक अनेक संबंध होते हैं। उसके प्रभाव के कारण दाता न चाहते हुए भी संकोचवश यथेष्ट भिक्षा देने को मन ही मन बाध्य होता है, यह आशंकित है।

इससे दाता पर भार पड़ता है। एक साधु का जीवन तो वायु की तरह हल्का होता है। उसका किसी पर जरा भी भार न पड़े, यह अपेक्षित है। इसी कारण सागारिक के निःश्रय में - उसे साथ में ले कर भिक्षा हेतु किसी के यहाँ जाना, आहार-पानी की याचना करना दोषयुक्त है, प्रायश्चित्त योग्य है।

कालतिक्रान्त रूप में शय्या-संस्तारक-सेवन का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू उडुबद्धियं सेज्जासंथारयं परं पज्जोसवणाओ उवाइणावेइ उवाइणावंतं वा साइज्जइ ॥ ५० ॥

जे भिक्खू वासावासियं सेज्जासंथारयं परं दसरायकप्पाओ उवाइणावेइ उवाइणावंतं वा साइज्जइ ॥ ५१ ॥

कठिन शब्दार्थ - उडुबद्धियं - ऋतु बद्ध काल-विषयक, सेज्जासंथारयं - शय्यासंस्तारक, परं - आगे - बाद में, पज्जोसवणाओ - पर्युषण पर्व से-सांवत्सरिक दिवस से, उवाइणावेइ - अतिक्रमण - उल्लंघन करता है, वासावासियं - वर्षावास - चातुर्मासिक प्रवास, दसरायकप्पाओ - दस रात्रि कल्प से।

भावार्थ - ५०. जो भिक्षु ऋतु बद्ध काल - मार्गशीर्ष से लेकर आषाढ मास पर्यन्त शेष काल (चातुर्मास के अतिरिक्त मास कल्पानुगत काल) के लिए गृहीत शय्या-संस्तारक को पर्युषण पर्व से आगे या बाद भी रखता है - यों मर्यादित काल का उल्लंघन करता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

५१. जो भिक्षु चातुर्मास के लिए गृहीत शय्या-संस्तारक को चातुर्मास समाप्त होने के बाद भी दस दिन से अधिक रखता है - यों मर्यादित समय का उल्लंघन करता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - जैन आगमों में 'शय्या' शब्द साधु द्वारा प्रवास हेतु गृहस्थ से याचित स्थान या मकान के लिए आता है और शय्या - सोने के स्थान के लिए भी उसका प्रयोग होता है। प्रवास में दैनंदिन कार्यों में सोना मुख्य है, क्योंकि उसमें कियत्काल पर्यन्त निरन्तरता रहती है। इसीलिए संभवतः शय्या शब्द रहने के स्थान या घर के अर्थ में भी प्रवृत्त हो गया। शय्या-सोने का स्थान या बिछौना शरीर प्रमाण बतलाया गया है।

“संस्तीर्यते - विस्तीर्यते इति संस्तारकम्” - जो संस्तीर्ण - विस्तीर्ण किया जाता है - फैलाया जाता है, उसे “संस्तार” कहा जाता है। संस्तार का अर्थ सोने हेतु बिछाने की चद्दर आदि है। संस्तार शब्द के आगे स्वार्थिक ‘क’ प्रत्यय लग जाने से “संस्तारक” बनता है। संस्तारक का प्रमाण ढाई हाथ बतलाया गया है।

शय्या और संस्तार के समाहार में, द्वन्द्व समास में दोनों मिलकर शय्या-संस्तारक के रूप में एक समस्त - समास युक्त पद का रूप ले लेते हैं।

इन सूत्रों में जो निर्देश हुआ है, उसका तात्पर्य यह है कि मासकल्प के अनुसार विहरणशील भिक्षु जिस क्षेत्र में प्रवास कर रहा हो और यदि वहीं चातुर्मासिक प्रवास करने का संयोग बन जाए तो उसे शय्या-संस्तारक उसके स्वामी को लौटा देने चाहिए अथवा उन्हें चातुर्मास में रखने की उससे पुनः आज्ञा प्राप्त करनी चाहिए। यदि किसी कारणवश वैसा न किया जा सके और संवत्सरी तक भी वह उन्हें न लौटा सके तथा रखने के लिए पुनः आज्ञा प्राप्त न कर सके तो यह दोषपूर्ण है, प्रायश्चित्त योग्य है।

इसी प्रकार चातुर्मासिक प्रवास के अन्तर्गत उपयोग में लेने हेतु किसी भिक्षु द्वारा शय्या-संस्तारक याचित कर रखे गए हों तथा रुग्णता आदि के कारण यदि वह चातुर्मास के पश्चात् भी विहार न कर सके तो उसे चातुर्मास के लिए याचित शय्या-संस्तारक-दस दिनों के भीतर उनके स्वामी को लौटा देने चाहिए या उन्हें रखने की उनसे पुनः आज्ञा प्राप्त करनी चाहिए। वैसा न करना दोषयुक्त है।

ये सूत्र भिक्षु के जागरूकतापूर्ण मर्यादानुवर्ती जीवन के उद्बोधक हैं। आचार-संहिता-सम्मत मर्यादाओं का उल्लंघन कभी न हो, इन सूत्रों से यह प्रेरणा प्राप्त होती है।

वर्षा से भीगते हुए शय्या-संस्तारक को न हटाने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू उडुबद्धियं वा वासावासियं वा सेज्जासंथारगं उवरिसिज्जमाणं पेहाए ण ओसारेइ ण ओसारेतं वा साइज्जइ ॥ ५२ ॥

कठिन शब्दार्थ - उवरिसिज्जमाणं - उद्वर्षमाण - वर्षा से भीगते हुए, पेहाए - प्रेक्षित कर - देखकर, ओसारेइ - अवसृत करता है - दूर करता है या हटाता है।

भावार्थ - ५२. जो भिक्षु ऋतु बद्ध काल हेतु या वर्षाकाल हेतु लिए गए शय्या

संस्तारक को वर्षा से भीगता हुआ देखकर भी दूर नहीं करता - वहाँ से नहीं हटाता अथवा नहीं हटाते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - यहाँ समास युक्त शय्या-संस्तारक पद में शय्या शब्द शयन के उपयोग में आने वाले आस्तरण या बिछौने के अर्थ में है।

प्रस्तुत सूत्र में बतलाया गया है कि मासकल्पित या चातुर्मासिक प्रवास में उपयोग हेतु याचित शय्या-संस्तारक तथा उपलक्षण से अन्य उपधि को वर्षा में भीगते हुए देखकर भी जो भिक्षु उन्हें वहाँ से नहीं हटाता, किसी सुरक्षित स्थान पर नहीं रखता, वह प्रायश्चित्त का भागी होता है, क्योंकि यह भिक्षु की अजागरूकता का सूचक है।

यद्यपि वर्षा में भिक्षु को बाहर जाना नहीं कल्पता, किन्तु शय्या-संस्तारक एवं अन्य उपधि के भीगते रहने से अप्कायादि जीवों की हिंसा आदि अनेक दोष आशंकित हैं।

व्यावहारिक दृष्टि से भी यह अनुचित है, क्योंकि भीग जाने पर उपधि आदि उपयोग में लेने योग्य नहीं रहते। जिनसे वे याचित किए गए हों, उनके मन में भी इससे अन्यथा भाव उत्पन्न होता है। भिक्षुओं के प्रति उनके मन में रही श्रद्धा व्याहत होती है। इस प्रकार लौकिक और पारलौकिक - दोनों ही दृष्टियों से यह हानिप्रद है। जागरूक भिक्षु वैसा कदापि न करे।

बिना आज्ञा शय्या-संस्तारक बाहर ले जाने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू पाडिहारियं सेज्जासंथारयं दोच्चंपि अणणुणवेत्ता बाहिं णीणेइ णीणेतं वा साइज्जइ ॥ ५३ ॥

जे भिक्खू सागारियसंतियं सेज्जासंथारयं दोच्चंपि अणणुणवेत्ता बाहिं णीणेइ णीणेतं वा साइज्जइ ॥ ५४ ॥

जे भिक्खू पाडिहारियं वा सागारियसंतियं वा सेज्जासंथारयं दोच्चंपि अणणुणवेत्ता बाहिं णीणेइ णीणेतं वा साइज्जइ ॥ ५५ ॥

कठिन शब्दार्थ - पाडिहारियं - प्रतिहारिक - दूसरी जगह से याचित कर लाए हुए, दोच्चंपि - पुनरपि - दूसरी बार भी, बाहिं - (उपाश्रय से) बाहर, णीणेइ - ले जाता है, सागारियसंतियं - गृहस्थ संबंधी - मकान मालिक के अपने घर में स्थित, उससे याचित, अणणुणवेत्ता - आज्ञा लिए बिना।

भावार्थ - ५३. जो भिक्षु प्रातिहारिक - दूसरी जगह याचित कर लाए हुए (प्रत्यर्पणीय) शय्या-संस्तारक को पुनः उसके स्वामी की आज्ञा लिए बिना उपाश्रय से बाहर, अन्यत्र ले जाता है या अन्यत्र ले जाते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

५४. जो भिक्षु शय्यातर से याचित (प्रत्यर्पणीय) शय्या-संस्तारक को उससे पुनः आज्ञा लिए बिना उपाश्रय से बाहर, अन्यत्र ले जाता है या अन्यत्र ले जाते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

५५. जो भिक्षु प्रातिहारिक या शय्यातर से याचित (प्रत्यर्पणीय) शय्या-संस्तारक को उनसे पुनः आज्ञा लिए बिना उपाश्रय से बाहर, अन्यत्र ले जाता है अथवा अन्यत्र ले जाते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - गृहस्थ से प्रवास हेतु याचित भवन, घर में पहले से रखे हुए शय्या-संस्तारक, पाट, बाजोट आदि साधु शय्यातर से याचित करके ही उपयोग में लेता है। यद्यपि वे उसी मकान में विद्यमान रहते हैं, किन्तु उपयोग में लेने के अनन्तर उन्हें वापस सम्भलता है। इसलिए वे प्रत्यर्पणीय कहे जाते हैं। यहाँ उनके लिए 'सागारियसत्तियं' (सागारिकसत्क) विशेषण का प्रयोग हुआ है, जो मकान मालिक के तत्स्वामित्व का द्योतक है।

साधु उपयोग हेतु शय्या-संस्तारक, पीठ-फलक आदि बाहर से, अन्य व्यक्ति से याचित कर लाता है। उपयोग में लेने के पश्चात् उन्हें वह वापस उनके स्वामी को लौटा देता है, इसलिए वे भी प्रत्यर्पणीय कहे जाते हैं। उनके लिए यहाँ 'पाडिहारियं' (प्रातिहारिक) शब्द का प्रयोग हुआ है।

इन दोनों ही प्रकार के शय्या, पीठ, फलक आदि उपकरणों को साधु उनके मालिकों से पुनः आज्ञा लिए बिना यदि उपाश्रय से बाहर, अन्यत्र ले जाता है तो यह दोषपूर्ण है, अनधिकारपूर्ण चेष्टा है। क्योंकि साधु वाक्संयमी होता है। वह जैसा बोलता है, कहता है, ठीक वैसा ही करता है। जिस वस्तु को जहाँ काम में लेने हेतु लिया हो, उसको वह वहीं काम में लेने का अधिकारी है। यदि अन्यत्र ले जाना हो तो यह आवश्यक है कि वह उन उपकरणों के स्वामी से पुनः पूछे, अनुज्ञा प्राप्त करे। अनुज्ञा प्राप्त किए बिना उन्हें अन्यत्र ले जाना अनुचित है, वहाँ अदत्त का दोष भी लगता है।

शय्या-संस्तारक यथाविधि प्रत्यर्पित न करने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू पाडिहारियं सेज्जासंथारयं आयाए अप्पडिहट्टु संपव्वयइ संपव्वयंतं वा साइज्जइ ॥ ५६ ॥

जे भिक्खू सागारियसंतियं सेज्जासंथारयं आयाए अविगरणं कट्टु अणप्पिणेत्ता संपव्वयइ संपव्वयंतं वा साइज्जइ ॥ ५७ ॥

कठिन शब्दार्थ - आयाए - लाकर, गृहीत कर, अप्पडिहट्टु - अप्रतिहत कर - न लौटा कर, संपव्वयइ - संप्रव्रजन - विहार, अविगरणं कट्टु - अविकृत रूप में - पूर्ववत् स्थिति में, अणप्पिणेत्ता - प्रत्यर्पित किए बिना - लौटाए बिना।

भावार्थ - ५६. जो भिक्षु प्रातिहारिक रूप में याचित कर लिए हुए शय्या-संस्तारक को न लौटाकर - लौटाए बिना ही विहार कर देता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

५७. जो भिक्षु शय्यातर से याचित कर लिए हुए शय्या-संस्तारक को अविकृतरूप में - पूर्ववत् स्थिति में लौटाए बिना ही विहार कर देता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - साधु का यह दायित्व है कि वह शय्यातर से या अन्य गृहस्थ से याचित, गृहीत शय्या, पीठ, फलक आदि उपकरणों को उन्हें वापस अविकृत रूप में - पूर्ववत् स्थिति में देने वालों को लौटाए।

अपने प्रवास काल में अपने द्वारा प्रयुक्त उपकरणों में कोई विकरण, परिवर्तन आदि किया गया हो। प्रयोजनवश बांस की पट्टियाँ, पर्दे आदि हटाए गए हों। आवश्यकता की दृष्टि से पीठ, फलक आदि में भी यत्किंचित् परिवर्तन किया गया हो तो वहाँ से विहार करने से पूर्व उन सबको पूर्ववत् व्यवस्थित कर, उनके स्वामी को सम्हलाकर ही विहार करना चाहिए। ऐसा न करने से साधु के अव्यवस्थित जीवन क्रम एवं दायित्व बोध का अभाव सूचित होता है। अपनी वस्तु अयथावत् रूप में प्राप्त होने से दाता के मन में असंतोष भी आशंकित है, साधुओं को उपकरण प्रदान करने में उत्साह कम होता है। अत एव साधु अपने उत्तरदायित्व का पूर्णरूप से वहन करता हुआ गृहस्थों से ली हुई वस्तुओं को ज्यों का त्यों सौंप कर ही विहार करे। यह साधुओं की सात्त्विक, विशुद्ध आचार-संहिता के अनुरूप है।

विप्रनष्ट या अपहत शय्या-संस्तारक की गवेषणा न करने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू पाडिहारियं वा सागारियसंतिथं वा सेज्जासंथारयं विष्णणटुं ण गवेसइ ण गवेसंतं वा साइज्जइ ॥ ५८ ॥

कठिन शब्दार्थ - विष्णणटुं - विप्रनष्ट - खोया हुआ, चोर आदि द्वारा चुराया हुआ, ण - नहीं, गवेसइ - गवेषणा - खोज करता है।

भावार्थ - ५८. जो भिक्षु किसी अन्य से गृहीत या मकान मालिक से गृहीत, खोए हुए या चोर आदि द्वारा चुराए गए शय्या-संस्तारक की गवेषणा नहीं करता है अथवा गवेषणा नहीं करने वाले का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - साधु किसी अन्य से लिए हुए या मकान मालिक से लिए हुए शय्या-संस्तारक का यद्यपि पूरा ध्यान रखता है किन्तु फिर भी यदि कदाचन वह खो जाए या कोई चोर आदि लुब्धजन उसे उठा ले जाए, चुरा ले तो साधु को चाहिए कि उसके लिए पूछताछ करे, गवेषणा करे। ऐसा न करना दायित्व बोध की कमी है, जो दोषयुक्त है। क्योंकि दाता इसे साधु की असावधानी, दायित्वहीनता और अजागरूकता समझता है। साधु के प्रति उसके मन में अश्रद्धा का भाव उत्पन्न होना आशंकित है, और भी दोषों की संभावना है।

गवेषणा करने पर खोया हुआ शय्या-संस्तारक मिल ही जाए, यह आवश्यक नहीं है। मिले या न मिले, किन्तु भलीभाँति खोज कर लेने पर साधु का दायित्व पूरा हो जाता है। दाता के मन में भी उसके प्रति विपरीत भाव उत्पन्न नहीं होता।

स्वल्प उपधि का भी प्रतिलेखन न करने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू इत्तरियंपि उवहिं ण पडिलेहेइं ण पडिलेहेंतं वा साइज्जइ। तं सेवमाणे आवज्जइ मासियं परिहारट्टाणं उग्घाइयं ॥ ५९ ॥

॥ णिसीहज्झयणे बिइओ उद्देसो समत्तो ॥ २ ॥

कठिन शब्दार्थ - इत्तरियंपि - इत्वरिक - स्वल्प भी, उवहिं - उपधि, पडिलेहेइं - प्रतिलेखन करता है, उग्घाइयं - उद्घातिक।

भावार्थ - ५९. जो भिक्षु स्वल्प उपधि का भी प्रतिलेखन नहीं करता या प्रतिलेखन नहीं करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

उपर्युक्त ५९ सूत्रों में किए गए किसी भी प्रायश्चित्त-स्थान के सेवन करने वाले को उद्घातिक परिहार-तप रूप लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

इस प्रकार निशीथ अध्ययन (निशीथ सूत्र) का द्वितीय उद्देशक परिसमाप्त हुआ।

विवेचन - उपधि शब्द 'उप' उपसर्ग और 'धा' धातु से बनता है। "उप - समीपे, धीयते - धार्यते इति उपधि" इस व्युत्पत्ति के अनुसार उपधि का अर्थ वे वस्तुएँ हैं, जिन्हें सदैव अपने पास रखा जाता है। साधु के वस्त्र, पात्र, रजोहरण आदि को उपधि कहा जाता है। ये उसके प्रतिदिन बराबर उपयोग में आते हैं।

साधु अपनी नेश्राय में स्थित उपधि का नियमतः प्रतिलेखन करता है, जिससे जीवों की विराधना की आशंका नहीं रहती।

उपधि बड़ी और छोटी दोनों ही प्रकार की होती है। छोटी वस्तुओं के प्रति सामान्यतः व्यक्ति का ध्यान कम रहता है। कभी-कभी असावधानी भी हो जाती है। साधु द्वारा कदापि ऐसा न हो, यह इस सूत्र का आशय है। अतः छोटी उपधि का भी प्रतिलेखन न करना यहाँ दोषयुक्त बतलाया गया है। वैसा करने वाला साधु प्रायश्चित्त का भागी होता है।

उपर्युक्त सूत्र में "उभओकाल" शब्द नहीं होने से सभी उपकरणों की उभयकाल प्रतिलेखना करना आवश्यक नहीं समझना चाहिए। दिवस एवं रात्रि में काम आने वाले वस्त्र, स्थण्डिल पात्र, पूंजनी, रजोहरण आदि उपकरणों की उभयकाल प्रतिलेखना करना समझना चाहिए, किन्तु जो उपकरण मात्र दिवस में ही काम में आते हो। जैसे - आहारादि के पात्र एवं उनसे सम्बन्धित वस्त्र तथा पुस्तकादि उपकरणों का प्रतिलेखन दिवस में एक बार करना समझना चाहिए। साधु के पास की कोई भी उपधि को कम से कम एक बार तो प्रतिलेखना करना आवश्यक समझना चाहिए।

॥ इति निशीथ सूत्र का द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥



तइओ उद्देसओ - तृतीय उद्देशक

विधिप्रतिकूल भिक्षा-याचना का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावइकुलेसु वा परियावसहेसु वा अण्णउत्थियं वा गारत्थियं वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा ओभासिय ओभासिय जायइ जायंतं वा साइज्जइ ॥ १ ॥

एवं अण्णउत्थियाओ वा गारत्थियाओ वा, अण्णउत्थिणी वा गारत्थिणी वा; अण्णउत्थिणीओ वा गारत्थिणीओ वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा ओभासिय ओभासिय जायइ जायंतं वा साइज्जइ ॥ २-३-४ ॥

जे भिक्खू आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावइकुलेसु वा परियावसहेसु वा कोउहल्लपडियाए पडियागयं समाणं अण्णउत्थियं वा गारत्थियं वा अण्णउत्थियाओ वा गारत्थियाओ वा, अण्णउत्थिणी वा गारत्थिणी वा, अण्णउत्थिणीओ वा गारत्थिणीओ वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा ओभासिय ओभासिय जायइ जायंतं वा साइज्जइ ॥ ५-६-७-८ ॥

जे भिक्खू आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावइकुलेसु वा परियावसहेसु वा अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा, अण्णउत्थिएहि वा गारत्थिएहि वा, अण्णउत्थिणीए वा गारत्थिणीए वा, अण्णउत्थिणीहि वा गारत्थिणीहि वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अभिहडं आहट्टु दिज्जमाणं पडिसेहेत्ता तमेव अणुवत्तिय अणुवत्तिय परिवेढिय परिवेढिय परिजविय परिजविय ओभासिय ओभासिय जायइ जायंतं वा साइज्जइ ॥ ९-१०-११-१२ ॥

कठिन शब्दार्थ - आगंतारेसु - आगन्तु - आगारों में - धर्मशालाओं में, आरामागारेसु - उद्यानगृहों में, गाहावइकुलेसु - गाथापति कुलों में - गृहस्थ परिवारों में, परियावसहेसु - आश्रमों में या तापसों के आवास-स्थानों में, अण्णउत्थियं - अन्यतीर्थिक से, गारत्थियं - गृहस्थ से, असणं पाणं खाइमं साइमं - अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, ओभासिय-ओभासिय-उच्च स्वर से संबोधित कर - जोर-जोर से बोल-बोलकर, एवं - इस प्रकार, अण्णउत्थियाओ-

अन्यतीर्थिकों से, गारत्थियाओ - गृहस्थों से, अण्णउत्थिणी - अन्यतीर्थिनी - अन्यतीर्थिक स्त्री से, गारत्थिणी - गृहस्थिनी - गृहस्थ स्त्री से, अण्णउत्थिणीओ - अन्यतीर्थिनियों - अन्यतीर्थिक स्त्रियों से, गारत्थिणीओ - गृहस्थिनियों - गृहस्थ स्त्रियों से, कोउहल्लपडियाए-कुतूहलप्रतिज्ञया - कुतूहलवश, पडियागयं - प्रत्यागत - आया हुआ, अभिहडं - अभिहत - सामने लाया हुआ, आहडु - आहत कर - गृहीत कर या लेकर, दिज्जमाणं - दीयमान - दिए जाते हुए, पडिसेहेत्ता - प्रतिषेध - निषेध करके, तमेव - उसी के, अणुवत्तिय-अणुवत्तिय - अनुवर्तित-अनुवर्तित कर - (दाता के) पीछे-पीछे जाकर, परिवेढिय-परिवेढिय-परिवेष्टित-परिवेष्टित कर - आगे, पीछे या पार्श्व - अगल-बगल में स्थित होकर, परिजविय-परिजविय - परिजल्पन-परिजल्पन कर - अनुकूल या मधुर बोल-बोल कर।

भावार्थ - १. जो भिक्षु पान्थशालाओं में (राहगीरों के ठहरने हेतु निर्मापित धर्मशालाओं में), उद्यानगृहों में, गाथापतिकुलों में या तापसों - परिव्राजकों के आश्रमों में अन्यतीर्थिक से या गृहस्थ से अशन, पान, खाद्य एवं स्वाद्य - चतुर्विध आहार की उच्च स्वर से बार-बार संबोधित कर - जोर-जोर से बोल-बोल कर याचना करता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

२-३-४. इसी प्रकार जो भिक्षु अन्यतीर्थिकों से या गृहस्थों से, अन्यतीर्थिक स्त्री से या गृहस्थ स्त्री से तथा अन्यतीर्थिक स्त्रियों से या गृहस्थ स्त्रियों से अशन, पान, खाद्य एवं स्वाद्य - चतुर्विध आहार की उच्च स्वर से बार-बार संबोधित कर - जोर-जोर से बोल-बोल कर याचना करता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

५-६-७-८. जो भिक्षु धर्मशालाओं में, उद्यानगृहों में, गाथापतिकुलों में या तापसों - परिव्राजकों के आश्रमों में कुतूहलवश आकर अन्यतीर्थिक से या गृहस्थ से, अन्यतीर्थिकों से या गृहस्थों से, अन्यतीर्थिक स्त्री से या गृहस्थ स्त्री से तथा अन्यतीर्थिक स्त्रियों से या गृहस्थ स्त्रियों से अशन, पान, खाद्य एवं स्वाद्य - चतुर्विध आहार की उच्च स्वर से बार-बार संबोधित कर - जोर-जोर से बोल-बोल कर याचना करता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

९-१०-११-१२. जो भिक्षु धर्मशालाओं में, उद्यानगृहों में, गाथापतिकुलों में या तापसों परिव्राजकों के आश्रमों में अन्यतीर्थिक से या गृहस्थ से, अन्यतीर्थिकों से या गृहस्थों से, अन्यतीर्थिक स्त्री से या गृहस्थ स्त्री से, अन्यतीर्थिक स्त्रियों से या गृहस्थ स्त्रियों से - इनमें

से किसी के द्वारा सामने लाकर दिए जा रहे अशन, पान, खाद्य एवं स्वाद्य - चतुर्विध आहार को लेने का निषेध कर, फिर वापस लौटते हुए उनके पीछे-पीछे जाकर, उनके सम्मुख, पीठ की ओर या अगल-बगल में मधुर, प्रिय वचनों द्वारा उच्च स्वर से बार-बार संबोधित कर - जोर-जोर से बोल-बोल कर याचना करता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - साधु शरीर की संयम जीवितव्य में उपयोगिता जानता हुआ उसे टिकाए रखने हेतु भिक्षा लेता है। खाद्य पदार्थों में वह लुब्ध, लोलुप या आसक्त नहीं होता, क्योंकि वह मानता है कि यह जीवन भोजन के लिए नहीं है, उत्तम, मधुर, स्वादिष्ट पदार्थों का सेवन करने के लिए नहीं है, किन्तु सात्त्विक, शुद्ध, एषणीय भोजन शरीर को बनाए रखने के लिए है, क्योंकि उसकी संयम में सहयोगिता है।

जहाँ साधु के मन में भोजन के प्रति आसक्ति हो जाती है, वहाँ वह अपनी विशुद्ध भिक्षाचर्या के प्रतिकूल कदम रखने को उतारू हो जाता है। इन सूत्रों में भिक्षा लेने के जिन प्रकारों का वर्णन है, वे आसक्तिपूर्ण हैं, दोषयुक्त हैं।

साधु तो आत्मार्थी व लाघवसम्पन्न होता है। वह अदीनवृत्ति से स्वाभाविक रूप में शुद्ध भिक्षा की याचना करता है। उच्च स्वर में बार-बार संबोधित कर, जोर-जोर से बोल-बोल कर भिक्षा की मांग करना सर्वथा अनुचित, अशोभनीय है, दीनतापूर्ण वृत्ति का सूचक है, क्योंकि ऐसा तो भिखारी करते हैं।

दैन्य के स्थान पर कुतूहलवश भी उपरोक्त रूप में भिक्षा की याचना करना दोषयुक्त है।

भिक्षा याचना के उपर्युक्त रूप भिक्षा की शुद्ध विधि के प्रतिकूल हैं, अविहित हैं, प्रायश्चित्त योग्य हैं।

यहाँ प्रयुक्त अन्यतीर्थिक शब्द जैनेतर गृहस्थों के लिए है तथा गृहस्थ शब्द स्वमतानुयायीजनों के लिए है।

निषेध किए जाने पर भी पुनः भिक्षार्थ जाने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए पविट्ठे पडियाइक्खित्ते समाणे दोच्चंपि तमेव कुलं अणुप्पविसइ अणुप्पविसंतं वा साइज्जइ ॥ १३ ॥

कठिन शब्दार्थ - पडियाइक्खित्ते - प्रत्याख्यात - निषिद्ध किए जाने पर, मनाही किए जाने पर।

भावार्थ - १३. भिक्षा लेने की बुद्धि से गाथापतिकुल में प्रविष्ट जिस भिक्षु को प्रत्याख्यात - निषिद्ध कर दिया जाए, भिक्षा देने की मनाही कर दी जाए और फिर वह यदि उसी परिवार में पुनः भिक्षार्थ अनुप्रवेश करता है, जाता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - साधु, स्वावलम्बी तथा आत्मार्थी व संयम साधना में पुरुषार्थी होते हैं। वे वहीं से भिक्षा लेते हैं, जहाँ श्रद्धापूर्वक गृहस्थ उन्हें भिक्षा दे। आहार की कठिनाई हो तो भी साधु कहीं भी भिक्षा के संबंध में अविवेकपूर्ण आचरण नहीं करते। कठिनाई को समता और धीरतापूर्वक सहना कर्म-निर्जरा का हेतु है, जो साधु जीवन का लक्ष्य है।

यदि किसी गृहस्थ द्वारा भिक्षार्थ गए हुए साधु को निषिद्ध किया जाए, भिक्षा न दी जाए, पुनः न आने का कहा जाए तो उसके यहाँ साधु को भिक्षार्थ नहीं जाना चाहिए। यदि आहारादि के लोभवश साधु उसके यहाँ पुनः जाने का दुस्साहस करे तो यह प्रायश्चित्त योग्य है, क्योंकि इसमें अनेक दोष आशंकित है।

जीमनवार से आहार लेने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू संखडिपलोयणाए असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ ॥ १४ ॥

कठिन शब्दार्थ - संखडिपलोयणाए - संखडिप्रलोकना - जीमनवार हेतु बनी भोज्य सामग्री का अवलोकन।

भावार्थ - १४. जो भिक्षु सामूहिक भोज - जीमनवार हेतु बनी भोज्य सामग्री को देखता हुआ - उसे देख-देख कर रुचि के अनुरूप याचित करता हुआ वहाँ से अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य रूप चतुर्विध आहार ग्रहण करता है या ग्रहण करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - इस सूत्र में प्रयुक्त 'संखडि' शब्द, जो जीमनवार के अर्थ में है, विद्वानों ने देशी शब्द माना है। देशी शब्द वह होता है, जिसकी कोई व्युत्पत्ति नहीं होती, जो लोक-प्रचलित होता है। जिसकी व्युत्पत्ति होती है, उसे यौगिक कहा जाता है, क्योंकि वह उपसर्ग, धातु तथा प्रत्यय आदि के योग से बनता है।

अनुसंधान या शोध की दृष्टि से विचार करने पर संखडि शब्द के संबंध में ऐसा प्रतीत होता है, यह संक्षयी या संखंडि का प्राकृत रूप है। 'सं' उपसर्ग समग्रता, बहुलता या

व्यापकता के अर्थ का द्योतक है। जहाँ जीवों का अत्यधिक क्षय अथवा विनाश हो, आरम्भ-समारम्भ हो, वे खण्डित-विखण्डित हों, वैसा प्रसंग संक्षयी या संखंडि कहा जाता है। सामूहिक भोज अथवा जीमनवार में पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय आदि जीवों की विपुल हिंसा होती है। इसलिए संभवतः सामूहिक जीमनवार के लिए संखंडि शब्द का प्रयोग होने लगा हो।

जो व्युत्पत्तिलभ्य अर्थयुक्त यौगिक शब्द किसी एक विशेष अर्थ में निश्चित हो जाते हैं, रूढ़ि प्राप्त कर लेते हैं, उन्हें योगरूढ़ कहा जाता है। इस प्रकार संखंडि शब्द योगरूढ़ प्रतीत होता है, क्योंकि आरम्भ-समारम्भ मूलक हिंसा केवल जीमनवार में ही नहीं होती, अन्यान्य प्रसंगों में भी होती है। किन्तु संखंडि शब्द जीमनवार के अर्थ में ही रूढ़ हो गया है।

लोक प्रचलन के अनुसार विवाह - विषयक सामूहिक भोजों के संदर्भ में इस शब्द का प्रयोग होता रहा है। राजस्थान के थली जनपद (बीकानेर संभाग) में जैन समाज में वाग्दान (सगाई) होने के पश्चात् विवाह से पूर्व वर को ससुराल में आमंत्रित कर जो सामूहिक भोज दिया जाता था अथवा भोज या जीमनवार का आयोजन होता था, उसे संखंडि (संखंडि) कहा जाता था। इस समय वह प्रथा प्रचलित नहीं है।

निशीथ चूर्ण में 'संखंडिपलोयणाए' की व्याख्या करते हुए कहा गया है - साधु पाकाशय में पहुँच कर, जहाँ चावल आदि अनेक पदार्थ पके हों, उन्हें देख कर मुझे अमुक दो, अमुक में से दो, इत्यादि कहते हुए जो आहार याचित करता है, वह संखंडिप्रलोकना है*।

सामूहिक भोज में भिक्षा हेतु जाना और देख-देख कर मनोनुकूल याचित कर लेना आसक्ति या लोलुपतायुक्त है, दोष है, प्रायश्चित्त योग्य है। आरम्भ-समारम्भ जनित हिंसा बहुल प्रसंग होने से और भी अनेक दोष आशंकित हैं।

अभिहत आहार ग्रहण का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुपविट्ठे समाणे परं तिघरंतराओ असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अभिहडं आहट्टु दिज्जमाणं पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ ॥ १५ ॥

* निशीथ चूर्ण - पृष्ठ - २०६

कठिन शब्दार्थ - परं - अधिक - आगे, तिघरंतराओ - तीन गृहों - भवनवर्ती तीन प्रकोष्ठ या कमरों से अधिक दूर तक, अभिहडं - अभिहत - लाए हुए, आहडु- उसमें से आहत कर - लेकर, दिज्जमाणं - दीयमान - दिए जाते हुए।

भावार्थ - १५. जो भिक्षु तीन गृहों के अन्तर से अधिक दूर - तीन गृहों को पार कर आगे लाए हुए अशनादि चतुर्विध आहार को प्रतिगृहीत करता है - स्वीकार करता है या लेता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - सामान्यतः भिक्षा लेने की विधि यह है, जिस कमरे में भोज्य पदार्थ रखे हों, उसमें खड़े होते हुए या बाहर खड़े होते हुए साधु गृहस्थ द्वारा दिए जाते आहार को ग्रहण करे।

दशवैकालिक सूत्र में भिक्षा के प्रसंग में एक विशेष उल्लेख हुआ है -

“गोचरी - भिक्षा के लिए गया हुआ साधु अतिभूमि में - गृहस्थ की मर्यादित भूमि से आगे, उसकी आज्ञा के बिना न जाए। किन्तु कुल की - गृहस्थ परिवार की भूमि-विषयक मर्यादा - सीमा को जानता हुआ, जिस कुल का जैसा आचार हो, उसके अनुरूप वहाँ तक परिमित भूमि में ही जावे*।”

दशवैकालिक सूत्र में भिक्षाचर्या के संदर्भ में जो यह प्रतिपादन हुआ है, उसका आशय यह है, विशेष कुलों, परिवारों या खानदानों में आचार-व्यवहार-विषयक विशेष मर्यादाएँ या परंपराएँ होती हैं। भिक्षार्थ समागत भिक्षु आदि उनके भवन में एक मर्यादित स्थान तक ही जा सकते हैं। मर्यादित स्थान से आगे के स्थान को सूत्र में अतिभूमि कहा गया है। साधु मर्यादित स्थान का उल्लंघन कर अतिभूमि में अनुप्रविष्ट न हो।

प्रस्तुत सूत्र में संभवतः इसी बात को ध्यान में रखते हुए स्थान-विषयक मर्यादा या सीमा का निर्धारण किया गया है। गृहस्थ द्वारा तीन गृहों - भवनवर्ती तीन कमरों तक लाकर प्रदीयमान शुद्ध, एषणीय आहार को साधु गृहीत कर सकता है। तीन गृहों, कमरों को पार कर, उनसे आगे लाकर दिए जाते आहार को ग्रहण करना वर्जित है, सदोष है, प्रायश्चित्त योग्य है।

भिक्षु साध्वाचार की मर्यादाओं का सम्यक् पालन करता हुआ गृहस्थ परिवारों की मर्यादाओं का भी उल्लंघन नहीं करता, क्योंकि वैसा होना गृहस्थों को अप्रिय, अमनोज्ञ लगता है।

* दशवैकालिक सूत्र, अध्ययन - ५.१.२४

पाद - आमर्जन आदि का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू अप्पणो पाए आमज्जेज्ज वा पमज्जेज्ज वा आमज्जंतं वा पमज्जंतं वा साइज्जइ ॥ १६ ॥

जे भिक्खू अप्पणो पाए संवाहेज्ज वा पलिमहेज्ज वा संवाहेतं वा पलिमहेतं वा साइज्जइ ॥ १७ ॥

जे भिक्खू अप्पणो पाए तेल्लेण वा घएण वा वसाए वा णवणीएण वा मक्खेज्ज वा भिलिंगेज्ज वा मक्खेतं वा भिलिंगेतं वा साइज्जइ ॥ १८ ॥

जे भिक्खू अप्पणो पाए लोद्धेण वा कक्केण वा चुण्णेण वा वण्णेण वा पउमचुण्णेण वा, उल्लोलेज्ज वा उव्वट्टेज्ज वा उल्लोलेतं वा उव्वट्टेतं वा साइज्जइ ॥ १९ ॥

जे भिक्खू अप्पणो पाए सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा पधोवेज्ज वा उच्छोलेतं वा पधोवेतं वा साइज्जइ ॥ २० ॥

जे भिक्खू अप्पणो पाए फुमेज्ज वा रएज्ज वा फुमेतं वा रएतं वा साइज्जइ ॥ २१ ॥

कठिन शब्दार्थ - अप्पणो - अपने, पाए - पाद - पैर, आमज्जेज्ज - आमर्जित करे - मैल मिटाने एवं शोभा बढ़ाने हेतु पैरों का किसी द्रव्य विशेष द्वारा एक बार मार्जन, स्वच्छीकरण करे, पमज्जेज्ज - प्रमार्जित करे - पुनः-पुनः मार्जन करे, संवाहेज्ज- संवाहन करे - एक बार पैरों को दबाए - पगचंपी करे, पलिमहेज्ज - परिमर्दित करे - बार-बार पगचंपी करे, तेल्लेण - तेल द्वारा, घएण - घृत द्वारा, वसाए - किसी चिकने पदार्थ द्वारा, णवणीएण - मक्खन द्वारा, मक्खेज्ज - प्रक्षण करे - मालिश करे, भिलिंगेज्ज - अभ्यंगन करे - बार-बार मालिश करे, लोद्धेण - लोध्र- लाल या सफेद फूलों के चूर्ण विशेष द्वारा, कक्केण - कल्क - अनेक द्रव्यों को पीसकर बनाई हुई पीठी से, चुण्णेण - पीसे हुए सुगन्धित पदार्थों के चूर्ण - बुरादे द्वारा, वण्णेण - वर्ण द्वारा - अबीर या गुलाल आदि द्वारा, पउमचुण्णेण - पद्मचूर्ण- सुगन्धित द्रव्य विशेष के बुरादे द्वारा, उल्लोलेज्ज - उल्लोलित करे - एक बार मले - मसले, उव्वट्टेज्ज - उद्धर्तित करे - बार-बार मले - मसले, उच्छोलेज्ज - उच्छोलित करे - एक बार प्रक्षालित करे, धोए, पधोवेज्ज - प्रधावित करे -

बार-बार धोए, फुमेज्ज - मुख की वायु (फूत्कार) द्वारा स्फुरित करे, रएज्ज - रंजित करे - लाक्षारस-महावर आदि से रंगे।

भावार्थ - १६. जो भिक्षु अपने पैरों का आमर्जन या प्रमार्जन करे अथवा आमर्जन, प्रमार्जन करते हुए का अनुमोदन करे, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

१७. जो भिक्षु अपने पैरों का संवाहन करे या परिमर्दन करे अथवा संवाहन या परिमर्दन करते हुए का अनुमोदन करे, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

१८. जो भिक्षु अपने पैरों की तेल, घृत, चिकने पदार्थ या मक्खन द्वारा एक बार या अनेक बार मालिश करे अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करे, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

१९. जो भिक्षु अपने पैरों पर लोध्र, कल्क, पीसे हुए एकाधिक सुगन्धित पदार्थों के चूर्ण, वर्ण या सुगन्धित द्रव्य विशेष के बुरादे को एक बार या बार-बार मले - मसले अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करे, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

२०. जो भिक्षु अपने पैरों को अचित्त शीतल जल से या अचित्त उष्ण जल से एक बार या बार-बार धोए अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करे, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

२१. जो भिक्षु अपने पैरों को मुख की वायु द्वारा फूत्कारित - स्फुरित करे या लाक्षारस-महावर आदि से रंगे अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करे, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - इन सूत्रों में पांवों के दबाने आदि कार्यों की मनाई की है, उसका आशय यह समझना कि - गृहस्थों के समान प्रतिदिन की आदत से ये कार्य नहीं करना, यथाशक्य शरीर का परिकर्म नहीं करना। यदि सहनशक्ति से अधिक हो जाएं तो विशेष परिस्थिति में संयम साधना के लक्ष्य को रखते हुए स्थविरकल्पी साधु साध्वियाँ शरीर का परिकर्म कर सकते हैं। इसी निशीथ सूत्र के १३वें उद्देशक में बताया है कि - कोई रोग आए बिना शरीर का परिकर्म करें तो प्रायश्चित्त आता है। रोगादि विशेष परिस्थिति में योग्य उपचार आदि के रूप में शरीर परिकर्म करना आगम से विहित है। जिनकल्पी साधु साध्वी तो कैसी भी परिस्थिति में किञ्चित् मात्र भी शरीर का परिकर्म नहीं करते हैं।

विभूषा की दृष्टि से शरीर का परिकर्म करने पर तो आगे के १५वें उद्देशक में लघुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त बताया है।

क्योंकि साधु के जीवन का लक्ष्य आत्मा है, शरीर नहीं। बहिरात्मभाव का त्याग कर अन्तरात्मभाव में संप्रवर्तित होता हुआ साधु अन्ततः परमात्मभाव को प्राप्त करे, यही उसके जीवन का उद्देश्य है।

जैसाकि पहले यथास्थान विवेचन हुआ है, शरीर तो केवल संयम का उपकरण या साधन होने से ही आदेय है। मात्र आदत से शरीर का परिकर्म करना भी संयम साधना में विहित नहीं है। वैसा करने वाला साधु निर्बाध रूप में महाव्रतों का पालन करने में सक्षम नहीं हो पाता। ब्रह्मचर्य महाव्रत की दृष्टि से तो ये देह परिकर्मात्मक प्रवृत्तियाँ निन्ततं गहिंत एवं निन्दित हैं। अतः ये दोषपूर्ण हैं, प्रायश्चित्त योग्य हैं।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि रुग्णता, वृद्धावस्था एवं पैरों की व्याधि आदि के कारण संवाहन, तेलमर्दन आदि अविहित नहीं हैं, औषध-प्रयोग या चिकित्सा के रूप में वैसा करना दोष रहित है। वहाँ तो शरीर को मात्र स्वस्थ एवं संयमोपयोगी रखने का अभिप्राय है।

काय - आमर्जन आदि का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू अप्पणो कायं आमज्जेज्ज वा पमज्जेज्ज वा आमज्जंतं वा पमज्जंतं वा साइज्जइ ॥ २२ ॥

जे भिक्खू अप्पणो कायं संवाहेज्ज वा पलिसहेज्ज वा संवाहेतं वा पलिसहेतं वा साइज्जइ ॥ २३ ॥

जे भिक्खू अप्पणो कायं तेल्लेण वा घएण वा वसाए वा णवणीएण वा मक्खेज्ज वा भिलिंगेज्ज वा मक्खेतं वा भिलिंगेतं वा साइज्जइ ॥ २४ ॥

जे भिक्खू अप्पणो कायं लोद्धेण वा जाव पउमचुण्णेण वा उल्लोलेज्ज वा उव्वट्टेज्ज वा उल्लोलेंतं वा उव्वट्टंतं वा साइज्जइ ॥ २५ ॥

जे भिक्खू अप्पणो कायं सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा पधोवेज्ज वा उच्छोलेंतं वा पधोवेंतं वा साइज्जइ ॥ २६ ॥

जे भिक्खू अप्पणो कायं फूमेज्ज वा रएज्ज वा फुमेंतं वा रएंतं वा साइज्जइ ॥ २७ ॥

भावार्थ - २२. जो भिक्षु अपने शरीर का आमर्जन या प्रमार्जन करे अथवा आमर्जन या प्रमार्जन करते हुए का अनुमोदन करे, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

२३. जो भिक्षु अपने शरीर का संवाहन या परिमर्दन करे अथवा संवाहन या परिमर्दन करते हुए का अनुमोदन करे, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

२४. जो भिक्षु अपने शरीर की तेल, घृत, चिकने पदार्थ या मक्खन द्वारा एक बार या अनेक बार मालिश करे अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करे, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

२५. जो भिक्षु अपने शरीर पर लोध यावत् पद्मचूर्ण - सुगन्धित द्रव्यविशेष के बुरादे को एक बार या अनेक बार मले - मसले अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करे, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

२६. जो भिक्षु अपने शरीर को अचित्त शीतल या उष्ण जल से एक बार या अनेक बार धोए अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करे, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

२७. जो भिक्षु अपने शरीर को मुख वायु - फूत्कार द्वारा स्फुरित करे या लाक्षारस-महावर आदि से रंजित करे अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करे, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - इनसे पूर्ववर्ती सूत्रों में पैरों के आमर्जन, प्रमार्जन आदि का वर्णन आया है, उसी प्रकार का यह वर्णन है। यहाँ पैरों के स्थान पर शरीर का आमर्जन, प्रमार्जन आदि करना सर्वथा निषिद्ध कहा गया है। साधु के व्यक्तित्व का सौन्दर्य तो उसके त्याग-तपोमय, अध्यात्मनिष्ठ कृतित्व में है। शरीर पर दृश्यमान बाह्य मालिन्य तो साधु के देह निरपेक्ष, आत्म-सापेक्ष, उज्ज्वल, पवित्र जीवन का द्योतक है। वह घृणास्पद नहीं है, सम्मानास्पद है।

मलधारी हेमचन्द्र नामक आगमों के एक प्रसिद्ध टीकाकार हुए हैं। वे अत्यन्त त्यागी, तपस्वी और अध्यात्मयोगी थे। उनका मलधारी विशेषण उनके सर्वथा देहनिरपेक्ष, दैहिक स्वच्छता आदि में अनभिरुचिशील, निरन्तर आत्म-रमण निरत, साधना निष्णात जीवन का प्रतीक था।

व्रण के आमर्जन आदि का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू अप्पणो कायंसि वणं आमज्जेज्ज वा पमज्जेज्ज वा आमज्जंतं वा पमज्जंतं वा साइज्जइ ॥ २८ ॥

जे भिक्खू अप्पणो कायंसि वणं संवाहेज्ज वा पलिमहेज्ज वा संवाहंतं वा पलिमहंतं वा साइज्जइ ॥ २९ ॥

जे भिक्खू अप्पणो कायंसि वणं तेल्लेण वा घएण वा वसाए वा णवणीएण वा मक्खेज्ज वा भिलिंगेज्ज वा मक्खेतं वा भिलिंगेतं वा साइज्जइ ॥ ३० ॥

जे भिक्खू अप्पणो कायंसि वणं लोद्धेण वा जाव पउमचुण्णेण वा उल्लोलेज्ज वा उव्वट्टेज्ज वा उल्लोलेंतं वा उव्वट्टेंतं वा साइज्जइ ॥ ३१ ॥

जे भिक्खू अप्पणो कायंसि वणं सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा पधोवेज्ज वा उच्छोलेंतं वा पधोवेंतं वा साइज्जइ ॥ ३२ ॥

जे भिक्खू अप्पणो कायंसि वणं फुमेज्ज वा रएज्ज वा फुमेंतं वा रएंतं वा साइज्जइ ॥ ३३ ॥

कठिन शब्दार्थ - कायंसि - शरीर पर, वणं - व्रण - घाव ।

भावार्थ - २८. जो भिक्षु अपने शरीर पर हुए घाव का आमर्जन या प्रमार्जन करे अथवा आमर्जन या प्रमार्जन करते हुए का अनुमोदन करे, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है ।

२९. जो भिक्षु अपने शरीर पर हुए घाव का संवाहन करे या परिमर्दन करे अथवा संवाहन या परिमर्दन करते हुए का अनुमोदन करे, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है ।

३०. जो भिक्षु अपने शरीर पर हुए घाव की तेल, घृत, चिकने पदार्थ या मक्खन द्वारा एक बार या अनेक बार मालिश करे अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करे, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है ।

३१. जो भिक्षु अपने शरीर पर हुए घाव पर लोध्र यावत् पद्मचूर्ण - सुगन्धित द्रव्य विशेष के बुरादे को एक बार या अनेक बार मले - मसले अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करे, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है ।

३२. जो भिक्षु अपने शरीर पर हुए घाव को अचित्त शीतल या उष्ण जल से एक बार या अनेक बार धोए अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करे, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है ।

३३. जो भिक्षु अपने शरीर पर हुए घाव को फूत्कार द्वारा स्फुटित करे या लाक्षारस-महावर आदि से रंगे अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करे, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है ।

विवेचन - शरीर औदारिक है, पांचभौतिक है । दाद, खाज, कुष्ठ आदि के कारण शरीर

पर घाव हो जाते हैं। कांटा, कील, तीखा पत्थर आदि चुभने से, चलते हुए लड़खड़ाकर या किसी वस्तु से टकराकर गिर पड़ने से, किसी जहरीले जन्तु के काटने से भी घाव हो जाता है।

यह शारीरिक पीड़ा है। साधु कर्म निर्जरा के उज्ज्वल परिणामों के साथ यदि पीड़ा को सहन करता है तो यह उसके त्याग-तितिक्षामय जीवन का सूचक है।

घाव असह्य पीड़ाजनक हो जाए, विस्तार पाने लगे तो उदासीन भाव से निरवद्य रूप में उसका उपचार करने में दोष नहीं है।

इन सूत्रों में घाव के आमर्जन, प्रमार्जन आदि के रूप में जो वर्णन आया है, वह उपेक्षामय, निःस्पृह, चिकित्सोपचार का द्योतक नहीं है। सूत्रों में वर्णित प्रक्रियाएँ साधु की देहासक्तिपूर्ण मानसिकता की सूचक है। व्रण या घाव पर विविध प्रयोग किए जाने का जो वर्णन हुआ है, साधु वैसा तभी करता है, जब एक मात्र शरीर की ओर ही या व्रण की ओर ही उसका ध्यान हो, प्रतिक्षण वही उसे सूझे (दिखे)। ऐसा होना दोषयुक्त है, प्रायश्चित्त योग्य है।

शल्य-क्रिया का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू अप्पणो कायंसि गंडं वा पलियं (पिलयं) वा अरइयं वा असियं वा भगंदलं वा अण्णयरेणं तिक्खेणं सत्थजाएणं अच्चिंदेज्ज वा विच्चिंदेज्ज वा अच्चिंदंतं वा विच्चिंदंतं वा साइज्जइ ॥ ३४ ॥

जे भिक्खू अप्पणो कायंसि गंडं वा पलियं वा अरइयं वा असियं वा भगंदलं वा अण्णयरेणं तिक्खेणं सत्थजाएणं अच्चिंदित्ता विच्चिंदित्ता पूयं वा सोणियं वा णीहरेज्ज वा विसोहेज्ज वा णीहरेतं वा विसोहेतं वा साइज्जइ ॥ ३५ ॥

जे भिक्खू अप्पणो कायंसि गंडं वा पलियं वा अरइयं वा असियं वा भगंदलं वा अण्णयरेणं तिक्खेणं सत्थजाएणं अच्चिंदित्ता विच्चिंदित्ता पूयं वा सोणियं णीहरित्ता विसोहेत्ता सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा पधोवेज्ज वा उच्छोलेतं वा पधोवेतं वा साइज्जइ ॥ ३६ ॥

जे भिक्खू अप्पणो कायंसि गंडं वा पलियं वा अरइयं वा असियं वा भगंदलं वा अण्णयरेणं तिक्खेणं सत्थजाएणं अच्चिंदित्ता विच्चिंदित्ता णीहरित्ता

विसोहेत्ता पधोइत्ता अण्णयरेणं आलेवणजाएणं आलिंपेज्ज वा विलिंपेज्ज वा आलिंपंतं वा विलिंपंतं वा साइज्जइ ॥ ३७ ॥

जे भिक्खू अप्पणो कायंसि गंडं वा पलियं वा अरइयं वा असियं वा भगंदलं वा अण्णयरेणं तिक्खेणं सत्थजाएणं अच्चिंदित्ता विच्चिंदित्ता णीहरित्ता विसोहेत्ता पधोइत्ता विलिंपित्ता तेल्लेण वा घएण वा वसाए वा णवणीएण वा अब्भंगेज्ज वा मक्खेज्ज वा अब्भंगंतं वा मक्खंतं वा साइज्जइ ॥ ३८ ॥

जे भिक्खू अप्पणो कायंसि गंडं वा पलियं वा अरइयं वा असियं वा भगंदलं वा अण्णयरेणं तिक्खेणं सत्थजाएणं अच्चिंदित्ता विच्चिंदित्ता णीहरित्ता विसोहेत्ता पधोइत्ता विलिंपित्ता मक्खेत्ता अण्णयरेणं धूवणजाएणं धूवेज्ज वा पधूवेज्ज वा धूवेंतं वा पधूवेंतं वा साइज्जइ ॥ ३९ ॥

कठिन शब्दार्थ - गंड - गंडमाला या कंठमाला, पलियं (पिलयं) - पिलक - पैरों पर हुआ फोड़ा - घाव, अरइयं - अरतिका - छोटी-छोटी फुन्सियाँ, असियं - अर्श - मस्सा या बवासीर, भगंदलं - भगन्दर, तिक्खेणं - तीक्ष्ण - तेज धार युक्त, सत्थजाएणं- शस्त्रजात से - औजार द्वारा, अच्चिंदेज्ज - आच्छिन्न करे - शल्य क्रिया करे, एक बार काटे, विच्चिंदेज्ज - विच्छिन्न करे - शल्य क्रिया द्वारा अनेक बार काटे, पूयं - पक्व, रुधिर - मवाद, सोणियं - शोणित - अपक्व रुधिर - खून, णीहरेज्ज - निर्हत करे - निकाले, विसोहेज्ज - विशोधित करे - विशेष रूप से शोधन करे - सफाई करे, आलेवणजाएणं - आलेपनजात - औषधि निर्मित लेप या मल्हम से, आलिंपेज्ज - आलेपन करे - एक बार लगाए, विलिंपेज्ज - विलेपन करे - अनेक बार लगाए, पधोइत्ता - प्रधावित कर - धोकर, विलिंपित्ता - विलेपन कर, अब्भंगेज्ज- अभ्यंगन करे - एक बार मसले, धूवणजाएणं - धूपजात - अग्नि में डाले हुए सुगन्धित पदार्थों से निष्पन्न धूप से निकलते हुए धुएँ द्वारा, धूवेज्ज - एक बार वासित करे - धूमित करे, पधूवेज्ज - अनेक बार वासित करे।

भाषार्थ - ३४. जो भिक्षु अपने शरीर में उत्पन्न गंडमाला, पैरों का फोड़ा, छोटी-छोटी फुन्सियाँ, बवासीर या भगन्दर - इनका किसी तीक्ष्ण औजार द्वारा आच्छेदन या विच्छेदन करे, एक बार या अनेक बार शल्य क्रिया करे अथवा बैसा करते हुए का अनुमोदन करे, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

३५. जो भिक्षु अपने शरीर में उत्पन्न गंडमाला, पैरों का फोड़ा, छोटी-छोटी फुन्सियाँ, बवासीर या भगन्दर - इनका किसी तीक्ष्ण औजार द्वारा आच्छेदन-विच्छेदन कर, उनसे एक बार या अनेक बार मवाद या खून निकाले, उन्हें विशोधित करे, विशेष रूप से स्वच्छ करे अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करे, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

३६. जो भिक्षु अपने शरीर में उत्पन्न गंडमाला, पैरों का फोड़ा, छोटी-छोटी फुन्सियाँ, बवासीर या भगन्दर - इनका किसी तीक्ष्ण औजार द्वारा आच्छेदन-विच्छेदन कर, उनसे मवाद या खून निकालकर, अचित्त शीतल या उष्ण जल द्वारा उन्हें एक बार या अनेक बार धोए अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करे, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

३७. जो भिक्षु अपने शरीर में उत्पन्न गंडमाला, पैरों का फोड़ा, छोटी-छोटी फुन्सियाँ, बवासीर या भगन्दर - इनका किसी तीक्ष्ण औजार द्वारा आच्छेदन-विच्छेदन कर, उनसे मवाद या खून निकाल कर, विशोधित कर, धोकर, उन पर औषधि निर्मित लेप या मल्हम एक बार या अनेक बार लगाए अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करे, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

३८. जो भिक्षु अपने शरीर में उत्पन्न गंडमाला, पैरों का फोड़ा, छोटी-छोटी फुन्सियाँ, बवासीर या भगन्दर - इनका किसी तीक्ष्ण औजार द्वारा आच्छेदन-विच्छेदन कर, उनसे मवाद या खून निकालकर, विशोधित कर, धोकर, मल्हम लगाकर, उन पर तेल, घृत, चिकने पदार्थ या मक्खन एक बार या अनेक बार मले - मसले अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करे, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

३९. जो भिक्षु अपने शरीर में उत्पन्न गंडमाला, पैरों का फोड़ा, छोटी-छोटी फुन्सियाँ, बवासीर या भगन्दर - इनका किसी तीक्ष्ण औजार द्वारा आच्छेदन-विच्छेदन कर, उनसे मवाद या खून निकालकर, विशोधित कर, धोकर, मल्हम लगाकर, तेल, घृत आदि मलकर, अग्नि में डाले हुए सुगन्धित पदार्थ - निष्पन्न धूप से निकलते हुए धुएँ द्वारा एक बार या अनेक बार वासित करे, धूमित करे अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करे, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - इन सूत्रों में गंड शब्द का प्रयोग एक विशेष ग्रन्थि या गाँठ के लिए हुआ है। आयुर्वेदशास्त्र के अनुसार गले में एक ऐसी विशेष दोष-जनित ग्रन्थि या गाँठ उत्पन्न होती है, जो ऊपर से नीचे की ओर माला की तरह बढ़ती जाती है। वे गाँठ व्रण का रूप ले लेती हैं। कण्ठ या गले में होने से उन्हें कण्ठमाला कहा जाता है।

इन सूत्रों में अनेक व्रणों का वर्णन हुआ है। जैसा पहले विवेचित किया गया है, यदि साधु कर्मनिर्जरण का उदात्त भाव लिए हुए व्रण-जनित व्याधियों को आत्म-बल के साथ सहन करे तो यह बहुत ही उत्तम है। क्योंकि कर्म क्षय ही उसके जीवन का लक्ष्य है। समस्त कर्मों का क्षय होने से ही मोक्ष प्राप्त होता है।

सभी में ऐसा आत्म-बल हो, यह संभव नहीं है। जो असह्य वेदना को अविचलित भाव से न सह सके, उसके लिए निर्दोष, निरवघ, शल्य क्रिया का चिकित्सा की दृष्टि से उपयोग किया जाना दोष नहीं माना गया है। किन्तु यदि उसका मन व्रण-जनित व्याधि पर ही टिका रहे तथा जैसाकि उपर्युक्त सूत्रों में निरूपित हुआ है, अनेक प्रकार से वह उनका प्रतिकार करे तो - वैसा करना साधुजीवनोचित नहीं है। वहाँ उसका आध्यात्मिक साधना पक्ष गौण हो जाता है। उसकी दृष्टि में शरीर और उसकी व्याधि ही उद्दिष्ट रहती है। यह आसक्तिपूर्ण, मोहाच्छन्न अवस्था है, परित्याज्य है, दोष युक्त है। वैसा करने वाला प्रायश्चित्त का भागी होता है।

यहाँ विशेष रूप से यह ज्ञातव्य है कि जिनकल्पी साधु किसी भी स्थिति में, व्रण आदि का किसी भी प्रकार का उपचार नहीं करते। क्योंकि जिनकल्प साधना का तीव्रतम रूप है, रोग, व्याधि आदि आमरणान्त कष्ट आने पर भी वे उसे समभाव से सहते हैं, उपचार या चिकित्सा द्वारा उसका जरा भी प्रतिकार नहीं करते।

स्थविरकल्पी साधुओं की आचार-मर्यादा के अनुसार यदि व्याधि, व्रण आदि की पीड़ा असह्य हो जाए तो शरीर को संयममय साधना का उपकरण मानते हुए, ज्ञान, दर्शन, चरित्र एवं तप की अभिवृद्धि, जन-जन में शुद्ध धर्म का प्रसार तथा अन्ततः समाधिपूर्ण मरण की प्राप्ति इत्यादि को उद्दिष्ट करते हुए साधु आसक्ति रहित, औदासीन्य युक्त, स्पृहा वर्जित उज्ज्वल विशुद्ध परिणामों के साथ शल्य क्रिया आदि चिकित्सोपचार करे तो वह विहित है। उसमें उसे प्रायश्चित्त नहीं आता। यदि उस चिकित्सोपचार में संयम से विपरीत कुछ भी प्रवृत्ति हुई हो उसका प्रायश्चित्त तो आता है।

अपानोदर - कृमि-निर्हरण-प्रायश्चित्त

जे भिक्खू अप्पणो पालुकिमियं वा कुच्छिकिमियं वा अंगुलीए णिवेसिय

णिवेसिय णहिरइ णहिरंतं वा साइज्जइ ॥ ४० ॥

कठिन शब्दार्थ - पालुकिमियं - पायुकृमिक - अपान द्वार के कृमि, कुच्छिकिमियं- कुक्षिकृमिक - कुक्षि - उदर द्वार के कृमि, अंगुलीए - अंगुली द्वारा, णिवेसिय - निविष्ट कर - डालकर।

भावार्थ - ४०. जो भिक्षु अपने अपानद्वार की या उदर की कृमियों को अंगुली डाल-डालकर निकालता है अथवा निकालते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - भोजन के अपाचन, अजीर्ण इत्यादि के कारण अपान - मल स्थान में, कुक्षि - उदर में छोटे-छोटे कृमिक उत्पन्न हो जाते हैं। वे कुक्षि के नीचे के भाग और अपान द्वार के समीप एकत्रित रहते हैं तथा भीतर ही भीतर काटते हैं, जिससे बड़ी पीड़ा होती है। मल के साथ उनमें से अनेक सहज रूप में बाहर निकलते रहते हैं एवं कुछ ही देर में मर जाते हैं।

यदि कोई साधु अपानद्वार में अंगुली डाल-डालकर उन्हें निकालता है तो उन जीवों की विराधना होती है। अपने को चाहे कितनी ही पीड़ा हो, साधु जीवों की विराधना न करे। वैसा करने से प्राणातिपात-विरमण महाव्रत दूषित होता है। इसीलिए वैसा करना यहाँ प्रायश्चित्त योग्य बतलाया गया है।

नखशिखाओं को काटने-संस्कारित करने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू अप्पणो दीहाओ महसिहाओ कप्पेज्ज वा संठवेज्ज वा कप्पेतं वा संठवेतं वा साइज्जइ ॥ ४१ ॥

कठिन शब्दार्थ - दीहाओ - दीर्घ-बढ़े हुए, णहसिहाओ - नखशिखाएँ - नखों के आगे के भाग, कप्पेज्ज - काटे, संठवेज्ज - संस्कारित करे - सुधारे।

भावार्थ - ४१. जो भिक्षु अपने नखों के किनारों को काटे या संस्कारित करे- सुधारे अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करे, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - इस सूत्र में साधु द्वारा अपने नखों के अग्रभाग को काटा जाना, संस्कारित किया जाना प्रायश्चित्त योग्य बतलाया गया है, इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है -

नख ज्यादा बढ़ जाएं तो उनमें-मैल जमा हो जाता है, आहार के समय वह खाद्य पदार्थों के साथ पेट में चला जाता है तथा हानि पहुँचाता है। नखों के तीक्ष्ण अग्रभाग, शरीर

को खुजलाने आदि के समय शरीर में चुभ जाते हैं, पतला वस्त्र भी उनमें फंस जाता है, फट जाता है। इन स्थितियों को दृष्टि में रखते हुए स्वस्थता, समुचित व्यवहार-प्रवणता इत्यादि के कारण नखों को काटना, सुधारना अविहित नहीं है।

इसी आगम (निशीथ सूत्र) के प्रथम उद्देशक में नखछेदनक का उल्लेख हुआ है। वहाँ नखछेदनक का नख काटने के अतिरिक्त अन्य कार्य में उपयोग करना, बिना प्रयोजन लेना, अविधिपूर्वक लेना, अविधिपूर्वक लौटाना - इनका प्रायश्चित्त कहा गया है।

आचारांग सूत्र में अपने प्रयोजन हेतु गृहीत नखछेदनक अन्य भिक्षु को न देने का तथा जिससे लिया हो, उसे स्वयं वापस लौटाने की विधि का प्रतिपादन है*।

इनसे यह सिद्ध होता है कि आवश्यकतावश साधु द्वारा नख काटा जाना अविहित नहीं है।

यहाँ नख काटने एवं सुधारने का जो निषेध किया गया है, प्रायश्चित्त बतलाया गया है, उसका आशय यह है कि साधु अति आवश्यकता के बिना केवल आदत की दृष्टि से इस प्रकार का कोई भी कार्य नहीं करे। इसी दृष्टि से इन सूत्रों में प्रायश्चित्त बताया गया है।

वस्ति आदि के बाल काटने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू अप्पणो दीहाइं वत्थीरोमाइं कप्पेज्ज वा संठवेज्ज वा कप्पंतं वा संठवेंतं वा साइज्जइ ॥ ४२ ॥

जे भिक्खू अप्पणो दीहाइं चक्खुरोमाइं कप्पेज्ज वा संठवेज्ज वा कप्पंतं वा संठवेंतं वा साइज्जइ ॥ ४३ ॥

जे भिक्खू अप्पणो दीहाइं जंघरोमाइं कप्पेज्ज वा संठवेज्ज वा कप्पंतं वा संठवेंतं वा साइज्जइ ॥ ४४ ॥

जे भिक्खू अप्पणो दीहाइं कक्खुरोमाइं कप्पेज्ज वा संठवेज्ज वा कप्पंतं वा संठवेंतं वा साइज्जइ ॥ ४५ ॥

जे भिक्खू अप्पणो दीहाइं मंसुरोमाइं कप्पेज्ज वा संठवेज्ज वा कप्पंतं वा संठवेंतं वा साइज्जइ ॥ ४६ ॥

* आचारांग सूत्र - २.७.१.

जे भिक्खू अप्पणो दीहाइं केसाइं कप्पेज्ज वा संठवेज्ज वा कप्पेंतं वा संठवेतं वा साइज्जइ ॥ ४७ ॥

जे भिक्खू अप्पणो दीहाइं कण्णरोमाइं कप्पेज्ज वा संठवेज्ज वा कप्पेंतं वा संठवेतं वा साइज्जइ ॥ ४८ ॥

जे भिक्खू अप्पणो दीहाइं णासारोमाइं कप्पेज्ज वा संठवेज्ज वा कप्पेंतं वा संठवेतं वा साइज्जइ ॥ ४९ ॥

कठिन शब्दार्थ - वत्थीरोमाइं - वस्तिरोमाणि - नाभि के नीचे का भाग - पेडू या मूत्राशय के बाल, चक्खुरोमाइं - नेत्रों के बाल, जंघरोमाइं - जंघाओं के बाल, कक्खुरोमाइं - कक्ष - काख के बाल, मंसुरोमाइं - श्मश्रु - दाढी-मूँछ के बाल, केसाइं - केश - बाल, कण्णरोमाइं - कानों के बाल, णासारोमाइं - नासिका के बाल।

भावार्थ - ४२. जो भिक्षु अपने बड़े हुए पेडू या मूत्राशय के बालों को काटे या संस्थापित करे - सम्यक् स्थापित करे या संवारे अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करे, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

४३. जो भिक्षु अपने बड़े हुए आँखों के बालों को काटे या संवारे अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करे, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

४४. जो भिक्षु अपने बड़े हुए जंघाओं के बालों को काटे या संवारे अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करे, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

४५. जो भिक्षु अपने बड़े हुए काख के बालों को काटे या संवारे अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करे, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

४६. जो भिक्षु अपने बड़े हुए दाढी-मूँछ के बालों को काटे या संवारे अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करे, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

४७. जो भिक्षु अपने बड़े हुए केशों, बालों को काटे या संवारे अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करे, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

४८. जो भिक्षु अपने बड़े हुए कानों के बालों को काटे या संवारे अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करे, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

४९. जो भिक्षु अपने बड़े हुए नासिका के बालों को काटे या संवारे अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करे, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - इन सूत्रों में साधु द्वारा अपने शरीर के विभिन्न अंगों के बालों को काटा जाना या संवारना दोषपूर्ण बतलाया गया है। क्योंकि साधु आत्म-लक्षी होता है, देह-लक्षी नहीं। देह तो गौण है, वह तभी तक आदेय है, जब तक संयम में साधक, उपकारक हो।

दन्त - आघर्षणादि - विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू अप्पणो दंते आघंसेज्ज वा पघंसेज्ज वा आघंसंतं वा पघंसंतं वा साइज्जइ ॥ ५० ॥

जे भिक्खू अप्पणो दंते सीओदगवियडेण वा उसिणो - दगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा पधोवेज्ज वा उच्छोलेंतं वा पधोवेंतं वा साइज्जइ ॥ ५१ ॥

जे भिक्खू अप्पणो दंते फूमेज्ज वा रएज्ज वा फूमंतं वा रएंतं वा साइज्जइ ॥ ५२ ॥

कठिन शब्दार्थ - दंते - दाँतों को, आघंसेज्ज - धिसे, पघंसेज्ज - बार-बार धिसे।

भावार्थ - ५०. जो भिक्षु अपने दाँतों को मंजन आदि से एक बार या अनेक बार धिसे - रगड़-रगड़कर साफ करे अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करे, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

५१. जो भिक्षु अपने दाँतों को अचित्त शीतल या उष्ण जल से एक बार या अनेक बार धोए अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करे, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

५२. जो भिक्षु अपने दाँतों को मुखवायु से फूत्करित करे - फूँक देकर स्वच्छ करे या मिस्सी आदि से रंजित करे - रंगे अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करे, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - जैन दर्शन अनेकान्त सिद्धान्त पर आश्रित है। वहाँ एकान्तिक दृष्टि से तत्त्व-निरूपण नहीं होता। विरुद्ध अपेक्षाओं को दृष्टि में रखते हुए वस्तु-स्वरूप का दिग्दर्शन कराया जाता है। अनेकान्त सिद्धान्त जब वाणी या भाषा का विषय बनता है, तब उसे स्याद्वाद कहा जाता है। "१. स्यात् अस्ति, २. स्यात् नास्ति, ३. स्यात् अस्ति नास्ति, ४. स्यात् अवक्तव्य, ५. स्यात् अस्ति अवक्तव्य, ६. स्यात् नास्ति अवक्तव्य, ७. स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य" - स्याद्वाद के ये सात भंग हैं। इनके आधार पर किसी वस्तु का स्वरूप निरूपण किया जाता है। स्याद्वाद मंजरी, स्याद्वाद-रत्नावतारिका तथा अनेकान्त-जय-पताका, सप्तभंगीतरंगिणी इत्यादि ग्रन्थों से ये विषय पठनीय हैं।

इसी अनेकान्त दृष्टिकोण से इन सूत्रों का विवेचन किया जाना चाहिए। इन सूत्रों में दन्त-आघर्षण आदि का जो प्रायश्चित्त बतलाया गया है, उसका तात्पर्य यह है कि प्रतिदिन की आदत की दृष्टि से भी दाँतों का आघर्षण-प्रघर्षण, प्रक्षालन, रंजीकरण आदि परिकर्म दोषयुक्त हैं। वैसा करने में साधु की भावना आध्यात्मिक, पारमार्थिक वृत्ति से हटकर लौकिकता का, तन्मूलक बाह्य प्रदर्शन का संस्पर्श करने लगती है। ऐसा करना सर्वथा त्याज्य है, दूषणीय है, प्रायश्चित्त योग्य है।

दाँतों के छिद्रों में आहारादि के फंसे रहने से सड़ान, पायरिया आदि रोग, दन्तक्षय इत्यादि न हो, दूषित दाँतों से चबाया गया, खाया गया आहार उदर में पहुँच कर अन्य व्याधि उत्पन्न न करे, इस प्रकार चिकित्सा की दृष्टि से उदासीनता तथा निःस्पृहतापूर्वक दाँतों की अपेक्षित सफाई करना दोष युक्त नहीं है।

ओष्ठ-आमर्जन-प्रमार्जनादि विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू अप्पणो उट्टे आमज्जेज्ज वा पमज्जेज्ज वा आमज्जंतं वा पमज्जंतं वा साइज्जइ ॥ ५३ ॥

जे भिक्खू अप्पणो उट्टे संवाहेज्ज वा पलिमहेज्ज वा संवाहंतं वा पलिमहंतं वा साइज्जइ ॥ ५४ ॥

जे भिक्खू अप्पणो उट्टे तेल्लेण वा घाएण वा वसाए वा णवणीएण वा मक्खेज्ज वा भिलिंगेज्ज वा मक्खंतं वा भिलिंगंतं वा साइज्जइ ॥ ५५ ॥

जे भिक्खू अप्पणो उट्टे लोद्धेण वा जाव पउमचुण्णेण वा उल्लोलेज्ज वा उव्वट्टेज्ज वा उल्लोलंतं वा उव्वट्टंतं वा साइज्जइ ॥ ५६ ॥

जे भिक्खू अप्पणो उट्टे सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छेलेज्ज वा पधोवेज्ज वा उच्छोलंतं वा पधोवंतं वा साइज्जइ ॥ ५७ ॥

जे भिक्खू अप्पणो उट्टे फूमेज्ज वा रएज्ज वा फूमंतं वा रएंतं वा साइज्जइ ॥ ५८ ॥

कठिन शब्दार्थ - उट्टे - ओष्ठ - होठ।

भावार्थ - ५३. जो भिक्षु अपने होठों का आमर्जन या प्रमार्जन करे - एक बार या अनेक बार वस्त्र आदि से विशेष रूप से मार्जन करे अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करे, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

५४. जो भिक्षु अपने होठों का संवाहन या परिमर्दन करे अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करे, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

५५. जो भिक्षु अपने होठों की तेल, घृत, चिकने पदार्थ या मक्खन द्वारा एक बार या अनेक बार मालिश करे अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करे, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

५६. जो भिक्षु अपने होठों पर लोध्र यावत् पद्मचूर्ण एक बार या अनेक बार मले - मसले अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करे, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

५७. जो भिक्षु अपने होठों को अचित्त शीतल या उष्ण जल द्वारा एक बार या अनेक बार प्रक्षालित करे अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करे, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

५८. जो भिक्षु अपने होठों को मुखवायु द्वारा फूत्करित करे - फूँक देकर स्वच्छ करे या रगे अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करे, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - इन सूत्रों में होठों के आमर्जन, प्रमार्जन, संवाहन, परिमर्दन, अभ्यंगन, उद्धर्तन, प्रक्षालन, फूत्कारन एवं रंजन का जो उल्लेख हुआ है, वह गृहस्थों के समान प्रतिदिन नियमित रूप से इन कार्यों को करने की दृष्टि से निषिद्ध बताया गया है। जो मोक्षमार्गानुगामी, सम्यक् ज्ञान-दर्शन-चारित्रमूलक रत्नत्रयधारी साधु के लिए सर्वथा त्याज्य है। साधु के परिणाम तथा तत्प्रेरित कार्य सदा निर्विकार, निर्मल एवं निरवद्य रहें, यह आवश्यक है।

उत्तरोष्ठ-रोम-परिकर्म-प्रायश्चित्त

जे भिक्खू अप्पणो दीहाइं उत्तरोद्धरोमाइं कप्पेज्ज वा संठवेज्ज वा कप्पेंतं वा संठवेतं वा साइज्जइ ॥ ५९ ॥

कठिन शब्दार्थ - उत्तरोद्धरोमाइं - ऊपरी होठ - मूँछ के बाल।

भावार्थ - ५९. जो भिक्षु अपने बड़े हुए ऊपरी होठ के - मूँछ के बालों को काटे या सम्यक् संस्तापित करे - संवारे अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करे, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - साधु द्वारा अपने ऊपर के होठ - मूँछ के बालों को काटा जाना, सम्यक् स्थापित - सज्जित किया जाना इस सूत्र में दोषयुक्त बतलाया गया है, क्योंकि जो साधु अपनी विशुद्ध आचार संहिता और तद्गत मर्यादाओं का अनुसरण करता है, अपने संयम का

विशुद्ध रूप में परिपालन करता है, जैसे गृहस्थ प्रतिदिन नियमित रूप से उपर्युक्त कार्य करते हैं, साधुओं के लिए वे कार्य वर्जनीय हैं। ऐसा करना साधुत्व की विडम्बना है। देखने वालों के मन पर इसका बुरा प्रभाव पड़ता है। साधु-जीवन तो एक ऐसा सजीव आदर्श है, जिसे देखकर लोगों को अध्यात्म जागरण की प्रेरणा प्राप्त होती है। वैसे प्रशस्त, प्रकृष्ट जीवन को इस प्रकार के भेदे एवं भोंडे उपक्रमों द्वारा दूषित नहीं बनाना चाहिए।

अक्षि-रोम-कर्तन एवं अक्षि-परिकर्म-विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू अप्पणो दीहाइं अच्छिपत्ताइं कप्पेज्ज वा संठवेज्ज वा कप्पेतं वा संठवेतं वा साइज्जइ ॥ ६० ॥

जे भिक्खू अप्पणो अच्छीणि आमज्जेज्ज वा पमज्जेज्ज वा आमज्जंतं वा पमज्जंतं वा साइज्जइ ॥ ६१ ॥

जे भिक्खू अप्पणो अच्छीणि संवाहेज्ज वा पलिमहेज्ज वा संवाहेतं वा पलिमहेतं वा साइज्जइ ॥ ६२ ॥

जे भिक्खू अप्पणो अच्छीणि तेल्लेण वा घएण वा वसाए वा णवणीएण वा मक्खेज्ज वा भिलिंगेज्ज वा मक्खेतं वा भिलिंगेतं वा साइज्जइ ॥ ६३ ॥

जे भिक्खू अप्पणो अच्छीणि लोद्धेण वा जाव पउमचुण्णेण वा उल्लोलेज्ज वा उव्वट्टेज्ज वा उल्लोलेतं वा उव्वट्टेतं वा साइज्जइ ॥ ६४ ॥

जे भिक्खू अप्पणो अच्छीणि सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा पथोवेज्ज वा उच्छोलेतं वा पथोवेतं वा साइज्जइ ॥ ६५ ॥

जे भिक्खू अप्पणो अच्छीणि फूमेज्ज वा रएज्ज वा फूमेतं वा रएतं वा साइज्जइ ॥ ६६ ॥

कठिन शब्दार्थ - अच्छिपत्ताइं - अक्षि पक्ष्म - आँखों की पलकें (रोम), अच्छीणि-आँखें।

भावार्थ - ६०. जो भिक्षु अपने बड़े हुए नेत्र रोमों - पलकों को काटे या संवारे अथवा वैया करते हुए का अनुमोदन करे, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

६१. जो भिक्षु अपने नेत्रों का एक बार या अनेक बार मार्जन करे अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करे, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

६२. जो भिक्षु अपने नेत्रों का संवाहन करे या परिमर्दन करे अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करे, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

६३. जो भिक्षु अपने नेत्रों पर तेल, घृत या चिकने पदार्थ या मक्खन एक बार या अनेक बार मसले - लगाए अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करे, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

६४. जो भिक्षु अपने नेत्रों पर लोध्र यावत् पद्मचूर्ण एक बार या अनेक बार मले- मसले अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करे, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

६५. जो भिक्षु अपने नेत्रों को अचित्त शीतल या उष्ण जल द्वारा एक बार या अनेक बार प्रक्षालित करे - धोए अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करे, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

६६. जो भिक्षु अपने नेत्रों को फूत्करित करे या रंजित करे अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करे, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - उपर्युक्त सूत्रों के अन्तर्गत प्रथम सूत्र में आँखों की पलकों को काटने तथा संवारने का प्रायश्चित्त कहा गया है। वह गृहस्थों के समान नित्य नियमित रूप से करने की दृष्टि से कहा गया है। आँखों का उपयोग तो केवल देख-देख कर चलने, उठने, बैठने आदि सभी दैनंदिन क्रियाएँ यतनापूर्वक करने में है। ऐसा करना संयम के सम्यक् परिपालन में सहायक है, आवश्यक है।

यदि आँखों की पलकें इतनी बढ जाए कि वे देखने में असुविधा, बाधा उत्पन्न करे तो उन्हें साधु यदि अनासक्त भाव से, यतनापूर्वक कार्य करने में अनुकूलता रहे, इस दृष्टि से काटे या कतरे, छोटा करे तो उसमें दोष नहीं है। क्योंकि उसके परिणाम शुद्ध हैं। उक्त सूत्र इसी आशय को लिए हुए है।

प्रथम सूत्र के अतिरिक्त अवशिष्ट सूत्रों में नेत्रों के आमर्जन, प्रमार्जन, संवाहन, परिमर्दन, अभ्यंगन, उद्वर्तन, प्रक्षालन, फूत्कारन एवं रंजन का जो कथन हुआ है, वह नित्य नियमित रूप से आदत से इन प्रवृत्तियों को करने की दृष्टि से बताया गया है, ऐसा करना प्रायश्चित्त का कारण है। साधु का लक्ष्य तो संवर एवं निर्जरा द्वारा आत्मा की सुन्दरता, शुद्धता, पावनता को सिद्ध करना है - साधना है।

नेत्र-भ्रूवों एवं देह-पार्श्वों के रोम-परिकर्म संबंधी प्रायश्चित्त

जे भिक्खू अप्पणो दीहाइं भुमगरोमाइं कप्पेज्ज वा संठवेज्ज वा कप्पेतं वा संठवेतं वा साइज्जइ ॥ ६७ ॥

जे भिक्खू अप्पणो दीहाइं पासरोमाइं कप्पेज्ज वा संठवेज्ज वा कप्पेतं वा संठवेतं वा साइज्जइ ॥ ६८ ॥

कठिन शब्दार्थ - भुमगरोमाइं - भ्रूवों के बाल, पासरोमाइं - पार्श्व - शरीर के दाएँ-बाएँ पसवाड़े के बाल।

भावार्थ - ६७. जो भिक्षु अपनी भ्रूवों के बड़े हुए बालों को काटे या संवारे अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करे, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

६८. जो भिक्षु अपनी देह के पार्श्वों के बड़े हुए बालों को काटे या संवारे अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करे, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - भ्रूवों के बालों को गृहस्थों के समान नियमित आदत के रूप में काटना, सम्यक् स्थापित करना - संवारना, इसी प्रकार देह के दोनों पार्श्वों के बालों को काटना, संवारना दोषयुक्त एवं प्रायश्चित्त योग्य हैं।

नेत्र-कर्ण-दन्त-नख-मलनिर्हरण-विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू अप्पणो अच्छिमलं वा कण्णमलं वा दंतमलं वा ण्हमलं वा णीहरेज्ज वा विसोहेज्ज वा णीहरेतं वा विसोहेतं वा साइज्जइ ॥ ६९ ॥

कठिन शब्दार्थ - अच्छिमलं - आँखों का मैल - गीड, कण्णमलं - कानों का मैल - कीटी, दंतमलं - दाँतों का मैल, ण्हमलं - नखों का मैल।

भावार्थ - ६९. जो भिक्षु अपनी आँखों का मैल - गीड आदि, कानों का मैल- कीटी, दाँतों का मैल या नखों का मैल निर्हत करे - निकाले या विशोधित करे - स्वच्छ करे या संवारे अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करे, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - इस सूत्र में नेत्र आदि के मल-निर्हरण को जो दोषपूर्ण एवं प्रायश्चित्त योग्य बतलाया गया है प्रतिदिन गृहस्थों के समान इन कार्यों को करना साधु-साध्वी की आचार मर्यादा के विपरीत है।

यदि नेत्र आदि के मल ऐसी उपस्थिति उत्पन्न कर दें, जिससे देखने आदि की क्रियाओं में, ईर्या आदि समितियों के सम्यक् निर्वाह में, परिपालन में बाधा उत्पन्न होती हो तो आवश्यकता के अनुरूप तथा संयम-जीवितव्य की सुरक्षा की दृष्टि से नेत्र आदि का मैल निकालना दोष नहीं है, क्योंकि वहाँ परिणामों की धारा निर्मलता युक्त होती है।

पसीने आदि के निवारण का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू अप्पणो कायाओ सेयं वा जल्लं वा पंकं वा मलं वा णीहरेज्ज वा विसोहेज्ज वा णीहरेतं वा विसोहेतं वा साइज्जइ ॥ ७० ॥

कठिन शब्दार्थ - कायाओ - शरीर से, सेयं - स्वेद - पसीना, जल्लं - जमा हुआ मैल, पंकं - शरीर से निकले हुए पसीने पर लगी हुई धूल आदि - गीला मैल, मलं - शरीर से निकले हुए खून आदि पर जमी हुई मिट्टी आदि।

भावार्थ - ७०. जो भिक्षु अपने शरीर का पसीना, जमा हुआ मैल, गीला मैल या शरीर से निकले रक्त आदि पर जमी हुई मिट्टी - इनका निर्हरण करे - इन्हें निवारित करे या विशोधित करे अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करे, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - पंचमहाव्रतधारी, त्यागी, तपस्वी, शुद्ध संयम के परिपालयिता साधु के लिए शरीर गौण है, आत्मा का उत्थान तथा कल्याण ही मुख्य है। इसलिए शरीर की चिन्ता वह तभी करे, जब उसकी संयमोपयोगिता बाधित होती प्रतीत हो। मोक्षमार्गानुगामी साधु सदा ऐसा ही करते हैं।

उपर्युक्त सूत्र में स्वेदादि निवारण को जो प्रायश्चित्त योग्य बतलाया गया है, उसका आशय यह है कि साधु गृहस्थों के समान नित्य नियमित आदत आदि की दृष्टि से ऐसा कदापि न करे, क्योंकि उससे संयम-संपृक्त परिणाम शिथिल होते हैं। अत एव ये प्रवृत्तियाँ दोषपूर्ण हैं।

विहार में मस्तक आवरिका का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू गामाणुगामं दूइज्जमाणे अप्पणो सीसदुवारियं करेइ करेतं वा साइज्जइ ॥ ७१ ॥

कठिन शब्दार्थ - सीसदुवारियं - शीर्षद्वारिका - वस्त्र से सिर को ढकना।

भावार्थ - ७१. जो भिक्षु ग्रामानुग्राम विहार करता हुआ अपने मस्तक को ढकता है अथवा ढकते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - सामान्यतः साधु अपना मस्तक खुला रखते हैं, साध्वियाँ अपने मस्तक को वस्त्र से ढकती हैं, सिर पर वस्त्र ओढती हैं, क्योंकि वैसा करना नारी-परिवेश के अनुरूप है। साधु यदि वैसा करे तो वह लिंग विपर्यास है, पुरुष-परिवेश के विपरीत है। इसलिए विहार करते समय, भिक्षा आदि हेतु जाते समय साधु अपने मस्तक को आवरित, अवगुण्ठित न करे।

यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि साध्वी अपने मस्तक को वस्त्र द्वारा आवरित, अवगुण्ठित किए बिना कहीं न जाए। क्योंकि मस्तक को वस्त्र से ढके बिना जाना नारी-परिवेश का विपर्यास है।

वेश-भूषा, वस्त्र-धारण आदि लैंगिक-परिवेश के अनुरूप हो, यह वांछित है।

सन कपास आदि से वशीकरण सूत्र बनाने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू सणकप्पासाओ वा उण्णकप्पासाओ वा पोण्डकप्पासाओ वा अमिलकप्पासाओ वा वसीकरणसोत्तियं करेइ करेत्तं वा साइज्जइ ॥ ७२ ॥

कठिन शब्दार्थ - सणकप्पासाओ - जूट, सन आदि की रूई से, उण्णकप्पासाओ - ऊन से, पोण्डकप्पासाओ - कपास के डोडों से निकलने वाली रूई से, अमिलकप्पासाओ - सेमल, आक आदि की कपास से, वसीकरणसोत्तियं- वशीकरण सूत्र - किसी को वश में करने का डोरा।

भावार्थ - ७२. जो भिक्षु जूट, सन आदि की रूई से, ऊन से, कपास, सेमल, आक आदि की रूई से वशीकरण सूत्र - किसी को वश में करने का मन्त्राभिषिक्त डोरा बनाता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - समस्त-कर्म-क्षयपूर्वक मोक्ष प्राप्ति का महान् लक्ष्य लिए साधना-निरत भिक्षु मन्त्र, तन्त्र, यन्त्र आदि का कदापि प्रयोग नहीं करता। वैसा करना एक साधु के लिए सर्वथा परिहेय है, प्रायश्चित्त योग्य है।

इस सूत्र में इसी आशय को लिए हुए तत्त्व-निरूपण किया गया है। कोई साधु उत्तम भोजन, वस्त्र आदि के लोभवश किसी स्वार्थान्ध व्यक्ति द्वारा प्रार्थित, प्रेरित होकर सूत्रोक्त

जूट, सन, कपास आदि की रूई से, ऊन से मंत्र प्रयोग युक्त डोरा बनाता है तो उसका यह कार्य साधुचर्या की दृष्टि से अतीव गर्हित और निन्दित है।

मल-मूत्र परिष्ठापन-विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू गिहंसि वा गिहमुहंसि वा गिहदुवारियंसि वा गिहपडिदुवारियंसि वा गिहेलुयंसि वा गिहंगणंसि वा गिहवच्चंसि वा उच्चारं वा पासवणं वा परिट्टवेइ परिट्टवेतं वा साइज्जइ ॥ ७३ ॥

जे भिक्खू मडगगिहंसि वा मडगछारियंसि वा मडगथूभियंसि वा मडगासयंसि वा मडगलेणंसि वा मडगथंडिलंसि वा मडगवच्चंसि वा उच्चारं वा पासवणं वा परिट्टवेइ परिट्टवेतं वा साइज्जइ ॥ ७४ ॥

जे भिक्खू इंगालदाहंसि वा खारदाहंसि वा गायदाहंसि वा तुसदाहंसि वा ऊसदाहंसि वा उच्चारं वा पासवणं वा परिट्टवेइ परिट्टवेतं वा साइज्जइ ॥ ७५ ॥

जे भिक्खू अभिणवियासु वा गोलेहणियासु अभिणवियासु वा मट्टियाखाणीसु वा परिभुंजमाणियासु वा अपरिभुंजमाणियासु वा उच्चारं वा पासवणं वा परिट्टवेइ परिट्टवेतं वा साइज्जइ ॥ ७६ ॥

जे भिक्खू सेयायणंसि वा पंकंसि वा पणगंसि वा उच्चारं वा पासवणं वा परिट्टवेइ परिट्टवेतं वा साइज्जइ ॥ ७७ ॥

जे भिक्खू उंबरवच्चंसि वा णगोहवच्चंसि वा अस्सत्थवच्चंसि वा उच्चारं वा पासवणं वा परिट्टवेइ परिट्टवेतं वा साइज्जइ ॥ ७८ ॥

जे भिक्खू डागवच्चंसि वा सागवच्चंसि वा मूलयवच्चंसि वा कोत्थुंभरिवच्चंसि वा खारवच्चंसि वा जीरयवच्चंसि वा दमण(ग)वच्चंसि वा मरुगवच्चंसि वा उच्चारं वा पासवणं वा परिट्टवेइ परिट्टवेतं वा साइज्जइ ॥ ७९ ॥

जे भिक्खू इक्खुवणंसि वा सालिवणंसि वा कुसुंभवणंसि वा कप्पासवणंसि वा उच्चारं वा पासवणं वा परिट्टवेइ परिट्टवेतं वा साइज्जइ ॥ ८० ॥

जे भिक्खू असोगवणंसि वा सत्तिवणवणंसि वा चंपगवणंसि वा

चूयवर्णंसि वा अण्णयरेसु वा तहप्पगारेसु वा पत्तोवएसु पुप्फोवएसु फलोवएसु
छाओवएसु(बीओवएसु) उच्चारं वा पासवर्णं वा परिट्टवेइ परिट्टवेतं वा
साइज्जइ ॥ ८१ ॥

कठिन शब्दार्थ - गिहंसि - गृह - घर में, गिहमुहंसि - गृहमुख - घर के मुख्य स्थान में, गिहदुवारियंसि - घर के (प्रमुख) द्वार पर, गिहपडिदुवारियंसि - गृहप्रतिद्वार- घर के अवान्तर - दूसरे या पीछे के द्वार पर, गिहेलुयंसि - घर के अग्र भाग में - आगे के हिस्से में, गिहंगणंसि - गृहांगण - घर के आंगन में, गिहवच्चंसि - गृहवर्चस्- घर के आस-पास की भूमि में, उच्चारं - मल, पासवर्णं - मूत्र, मडगगिहंसि - मृतकगृह में, मडगछारियंसि - जलाए गए मृतक के राख युक्त स्थान में, मडगथूभियंसि- मृतक के स्तूप (चबूतरे) पर, मडगासयंसि - मृतक के आश्रय-स्थान में - श्मशान में उस जगह, जहाँ मृतक को रखा गया हो, मडगलेणंसि - मृतक के लयन में - मृतक के दाह-स्थान पर बनाए गए स्मारक या देवकुल आदि में, मडगथंडिलंसि - मृतकस्थण्डिल में - मृतक की चिता, भस्म रहित दहन स्थान में, मडगवच्चंसि - मृतकवर्चस् - कुत्ते आदि जन्तुओं ने जहाँ मृतक के अंग-प्रत्यंग डाले हों, उस स्थान में, इंगालदाहंसि - अंगार-दाह - कोयले बनाने के स्थान में, खारदाहंसि - क्षार- दाह - साजी खार आदि बनाने के स्थान में, गायदाहंसि- गाय आदि पशुओं के डाम देने के स्थान में, तुसदाहंसि - तुष जलाने के स्थान में, ऊसदाहंसि - भूसा जलाने के स्थान में, अभिणवियासु - नवनिर्मित, गोलेहणियासु - गोलेहनिका - गायों के चाटने के लिए जहाँ चमक रखा गया हो, ऐसे स्थान में, मट्टियाखाणीसु- मिट्टी की खानों में, परिभुंजमाणियासु - प्रयोग में लिए जाते हुए, सेयायणंसि - सचित्त जल मिश्रित कर्दम बहुल स्थान में, पंकंसि - सामान्य पंक में - कीचड़ में, पणगंसि - लीलन-फूलन में, उंबरवच्चंसि - गूलर (वृक्ष विशेष) के निकटवर्ती स्थान में, णगोहवच्चंसि- बरगद के पेड़ के समीपवर्ती स्थान में, अस्सत्थवच्चंसि- अश्वत्थ - पीपल के समीपवर्ती स्थान में, डागवच्चंसि - पत्तों के शाक (पालक आदि) के पौधे के समीपवर्ती स्थान में, सागवच्चंसि - अन्य शाक के पौधों या बेलों के पास, मूलयवच्चंसि - मूली के पौधों के पार्श्ववर्ती स्थान में, कोत्थुंभरिवच्चंसि- धनियाँ के पौधों के पुंज में या पुंज के समीप, खारवच्चंसि - खार संबंधी पौधों के निकटवर्ती स्थान में, जीरयवच्चंसि - जीरे के पौधों के निकटवर्ती स्थान में, दमण (ग) वच्चंसि - दमनक के पौधों के पास, मरुगवच्चंसि -

मरुक नामक वनस्पति विशेष के निकट, इक्खुवणंसि - गन्ने के पौधों में या उनके पास, सालिवणंसि - शालि नामक चावल विशेष के पौधों के समीप, कुसुंभवणंसि - कुसुम्ब नामक पौधों के वन में - समूह में, कप्पासवणंसि - कपास पादप-समूह के समीप अथवा कपास के खेत में, असोगवणंसि - अशोक नामक वृक्षों के वन में, सत्तिवणणवणंसि - सप्तपर्ण नामक वृक्षों के वन में, चंपगवणंसि - चंपक पादपों के वन में, चूयवणंसि - आमों के बगीचे में, तहप्पगारेसु - तथाप्रकार के - उस तरह के, पत्तोवएसु - पत्रोपेत - पतों सहित, पुप्फोवएसु - पुष्पोपेत - फूलों सहित, फलोवएसु - फलोपेत- फलों सहित, छाओवएसु - छायोपेत - छाया युक्त अथवा (बीओवएसु - बीजों आदि से युक्त) ।

भावार्थ - ७३. जो भिक्षु गृह, गृहमुख, गृहद्वार, गृह-प्रतिद्वार, गृह के अग्रभाग, गृह के प्रांगण, गृह के समीपवर्ती स्थान - इनमें से किसी में मल-मूत्र परठता है अथवा परठते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

७४. जो भिक्षु मृतक गृह, दाह किए गए मृतक के भस्म युक्त स्थान, मृतक-स्तूप, मृतक-आश्रित-स्थान, मृतक-लयन, मृतक-स्थण्डिल, मृतक-वर्चस् - इनमें से किसी में मल-मूत्र परठता है अथवा परठते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

७५. जो भिक्षु कोयले बनाने का स्थान, क्षार-स्थान, गाय आदि पशुओं के डाम देने का स्थान, तुष जलाने का स्थान, भूसा जलाने का स्थान - इनमें से किसी में मल-मूत्र परठता है अथवा परठते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

७६. जो भिक्षु नवनिर्मित गोलेहनिका, नवनिर्मित मिट्टी की खानें - इनमें से किसी में, जिनका मल-मूत्र त्याग हेतु प्रयोग होता हो या नहीं होता हो, उच्चार-प्रस्रवण परठता है अथवा परठते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

७७. जो भिक्षु सचित्त जल मिश्रित कर्दम बहुल स्थान, कीचड़, लीलन-फूलन - इनमें से किसी में उच्चार-प्रस्रवण परठता है अथवा परठते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

७८. जो भिक्षु गूलर, बरगद, पीपल - इन वृक्षों में से किसी के सन्निकट मल-मूत्र परठता है अथवा परठते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

७९. जो भिक्षु पत्तेदार शाक (साग-सब्जी), अन्य शाक - सब्जियाँ, मूली, धनियाँ, क्षार (खार), जीरा, दमनक, मरुक - इनके पौधों में से किसी के सन्निकट मल-मूत्र परठता है अथवा परठते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

८०. जो भिक्षु गन्ना, शालि (चावल विशेष), कुसुम्ब, कपास - इनके पौधों, वन, उपवन या क्षेत्र में से किसी में मल-मूत्र परठता है अथवा परठते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

८१. जो भिक्षु अशोक, सप्तपर्ण, चंपक, आम्र - इनके वृक्षों के वन या उपवन में से किसी में या तथाविध अन्य पत्र, पुष्प, फल छायायुक्त वृक्षों के या बीजों से युक्त वृक्षों के वन, उपवन में से किसी में मल-मूत्र परठता है अथवा परठते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - इस सूत्र के मूल पाठ में "छाओवएसु" शब्द के स्थान पर कुछ प्रतियों में "बीओवएसु" पाठ भी मिलता है जिसका अर्थ 'बीजों से युक्त स्थान' होता है। अपेक्षा विशेष से दोनों प्रकार का पाठ प्रसंग संगत प्रतीत होता है।

इन सूत्रों में जिन-जिन स्थानों में या उनके सन्निकट साधु द्वारा मल-मूत्र परठा जाना प्रायश्चित्त योग्य बतलाया गया है, उसका मुख्य हेतु विविध जीवों की हिंसा या विराधना है।

जिन-जिन स्थानों का इन सूत्रों में उल्लेख हुआ है, उनमें मल-मूत्र परठने से पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजसकाय की हिंसा आशंकित है। इन स्थानों में उच्चार-प्रस्रवण परिष्ठापन से प्रथम अहिंसा महाव्रत व्याहत होता है। पाँचों महाव्रतों में अहिंसा का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। अहिंसा एक ऐसा महाव्रत है, जिसमें अन्य चार महाव्रत भी समाविष्ट हो जाते हैं। क्योंकि असत्य, अस्तेय, अब्रह्मचर्य तथा परिग्रह के साथ किसी न किसी रूप में हिंसा का योग बना रहता है। गहराई से, सूक्ष्मता से अध्ययन करने से यह विषय स्पष्ट हो जाता है।

जीव विराधना के साथ-साथ और भी ऐसे कारण हैं, जिनसे इन स्थानों में उच्चार-प्रस्रवण-परिष्ठापन अनुचित, अनुपयुक्त तथा दोषपूर्ण है।

किसी घर के द्वार, प्रतिद्वार, प्रांगण, निकटस्थ स्थान आदि में उच्चार-प्रस्रवण परठने से गृहस्वामी के मन में पीड़ा उत्पन्न होती है, जो मानसिक हिंसा है। उसके मन में असंतोष के साथ-साथ क्रोध का उत्पन्न होना भी आशंकित है। ऐसा करने से साधुओं के प्रति गृहस्थों में अश्रद्धा एवं असम्मान का भाव उत्पन्न होता है।

घर की तरह उपवन, उद्यान, बाग, क्षेत्र इत्यादि में उच्चार-प्रस्रवण परठे जाने से उनके मालिक दुःखित होते हैं, साधु का तिरस्कार भी कर सकते हैं, इससे साधुवृन्द की लोक में निंदा होती है। संघ की प्रतिष्ठा का हनन होता है।

श्मशान भूमि में, मृतकों के दाह-स्थान में, मृतकों की स्मृति में बनो गए स्तूप, देवकुल

आदि के सन्निकट उच्चार-प्रस्रवण परठना अव्यावहारिक और अनुचित है। देवों की आशातना, अवहेलना भी आशंकित है। जिन परिवारों के मृतकों का वहाँ दाह-संस्कार हुआ हो, वे भी यह जानकर दुःखित एवं व्यथित होते हैं।

विधि विरुद्ध परिष्ठापन प्रायश्चित्त

जे भिक्खू सपायंसि वा परपायंसि वा दिया वा राओ वा वियाले वा उब्बाहिज्जमाणे सपायं गहाय परपायं जाइत्ता वा उच्चारं पासवणं वा परिदुवेत्ता अणुग्गए सूरिए एडेइ एडेंतं वा साइज्जइ। तं सेवमाणे आवज्जइ मासियं परिहारद्वाणं उग्घाइयं ॥ ८२ ॥

॥ णिसीहऽज्जयणे तइओ उद्देसो समत्तो ॥ ३ ॥

कठिन शब्दार्थ - सपायंसि - स्वपात्र में - अपने पात्र में, परपायंसि - परपात्र में - दूसरे के पात्र में, दिया - दिन में, राओ - रात में, वियाले - विकाल में - संध्या-समय में, उब्बाहिज्जमाणे - उच्चार-प्रस्रवण के वेग से बाध्यमान - मल-मूत्र की तीव्र शंका युक्त, परिदुवेत्ता - परठकर, अणुग्गए सूरिए - जहाँ सूर्य का प्रकाश नहीं पहुँचता हो, उस स्थान पर, एडेइ - परठता है।

भावार्थ - ८२. जो भिक्षु दिन, रात या संध्याकाल के समय मल-मूत्र के तीव्र वेग से बाधित होता हुआ स्व-निश्चित या अन्यनिश्चित पात्र में विसर्जित उच्चार-प्रस्रवण को अपने पात्र में लेकर दूसरे का पात्र याचित कर उसमें निहित कर जहाँ सूर्य का प्रकाश नहीं पहुँचता हो, वहाँ परठता है अथवा परठते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

उपर्युक्त ८२ सूत्रों में किए गए किसी भी प्रायश्चित्त-स्थान के सेवन करने वाले को उद्घातिक परिहार-तप रूप लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

इस प्रकार निशीथ अध्ययन (निशीथ सूत्र) में तृतीय उद्देशक परिसमाप्त हुआ।

विवेचन - "न उद्गतः - उदित इति अनुद्गतः, तस्मिन् अनुद्गते - अनुद्गत सूर्ये" यहाँ 'सति' अर्थ में सप्तमी विभक्ति का प्रयोग हुआ है। इस व्युत्पत्ति या किग्रह के अनुसार 'अनुद्गत' का अर्थ 'नहीं उगा हुआ' होता है। अतः इस पद का सामान्यतः 'सूर्योदय से पूर्व' - ऐसा अर्थ होता है, किन्तु यहाँ यह अर्थ संगत नहीं होता।

क्योंकि यहाँ 'रात्रि' (रात्रि) और 'दियाले' (संध्या काल) से पहले प्रारम्भ में 'दिया' (दिवा - दिवस) का प्रयोग हुआ है। जब तक सूर्य रहता है, तब तक दिन कहा जाता है, इसलिए सूर्य का उदित होना यहाँ संगत या घटित नहीं होता। अत एव यहाँ 'सूर्य का प्रकाश न पहुँचना' अर्थ किया गया है, जो प्रसंग के अनुकूल है।

सामान्यतः भिक्षु अचित्त स्थण्डिल उच्चार-प्रस्रवण योग्य भूमि में ही जाकर मल-मूत्र का परिष्ठापन करते हैं, किन्तु मल-मूत्र की शंका इतनी तीव्र हो जाए कि उसे सहा न जा सके, रोका न जा सके तो उपाश्रय में ही एकान्त स्थान में पात्र में विसर्जित करने का विधान है। क्योंकि मल-मूत्र को रोकना आरोग्य की दृष्टि से बहुत हानिप्रद है। आयुर्वेदशास्त्र में कहा है - 'न वेगान् धाटयेद् धीमान्' बुद्धिमान् पुरुष मल-मूत्र के वेग को रोके नहीं। साथ ही साथ यह भी बतलाया गया है कि मल के वेग को रोकने से उदर तथा आन्त्र विषयक रोग हो जाते हैं। मूत्र के वेग को रोकने से मूत्रकृच्छ्र आदि बीमारियाँ हो जाती हैं, मन भी विकृत हो जाता है। बलपूर्वक रोकने से उनके स्वयं निःसृत होने की आशंका बनी रहती है, जिससे अशुचि प्रसृत होती है।

सूर्य का प्रकाश जहाँ दिन में कभी भी नहीं पहुँचता हो वहाँ परठना जो दोषपूर्ण एवं प्रायश्चित्त योग्य बतलाया गया है, उसका अभिप्राय यह है कि ऐसे स्थान पर परठा हुआ उच्चार-प्रस्रवण जल्दी सूखता नहीं, क्योंकि वह स्थान यत्किंचित् आर्द्रता लिए रहता है। इसलिए वहाँ सम्मूर्च्छिम जीवों की उत्पत्ति संभावित है, जिससे ज्यादा समय तक जीव विराधना आशंकित रहती है।

साथ ही साथ परठते समय भिक्षु यह भी ध्यान रखे कि यदि मल के साथ छोटे-छोटे कृमि निकलें हो तो वह धूप में न परठे, क्योंकि वे धूप में तत्काल मर जाते हैं। उन्हें छाया में परठे। मरते तो वे छाया में भी हैं, किन्तु थोड़ी देर बाद स्वयं अपनी मौत से मरते हैं।

यदि धूप में ही परठना पड़े तो कुछ देर (१५-२० मिनट) बाद परठे, क्योंकि तब तक वे कृमि स्वयं ही मर जाते हैं। उनकी मृत्यु से साधु की संबंधता या हेतुमत्ता नहीं होती।

आचारांग सूत्र में भी मल-मूत्र प्रस्रवण विषयक विधि का उल्लेख हुआ है★, जो पठनीय है।

॥ इति निशीथ सूत्र का तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

★ आचारांग सूत्र-द्वितीय श्रुतस्कंध, दशम अध्ययन.

चउत्थो उद्देसओ - चतुर्थ उद्देशक

राजा आदि को वश में करने का प्रायश्चित्त

- जे भिक्खू रायं अत्तीकरेइ अत्तीकरेंतं वा साइज्जइ ॥ १ ॥
 जे भिक्खू रायारक्खियं अत्तीकरेइ अत्तीकरेंतं वा साइज्जइ ॥ २ ॥
 जे भिक्खू णगरारक्खियं अत्तीकरेइ अत्तीकरेंतं वा साइज्जइ ॥ ३ ॥
 जे भिक्खू णिगमारक्खियं अत्तीकरेइ अत्तीकरेंतं वा साइज्जइ ॥ ४ ॥
 जे भिक्खू देसारक्खियं अत्तीकरेइ अत्तीकरेंतं वा साइज्जइ ॥ ५ ॥
 जे भिक्खू सव्वारक्खियं अत्तीकरेइ अत्तीकरेंतं वा साइज्जइ ॥ ६ ॥

कठिन शब्दार्थ - रायं - राजा को, अत्तीकरेइ - अपने अधीन करता है - अपने वश में करता है, रायारक्खियं - राजा का अंगरक्षक, णगरारक्खियं - नगर रक्षक, णिगमारक्खियं - निगम रक्षक - व्यापार प्रधान स्थान या व्यापारिक मण्डी का रक्षक - अधिष्ठाता या सर्वोच्च अधिकारी, देसारक्खियं - देश के रक्षक - महाराजा या सम्राट, सव्वारक्खियं - सर्वरक्षक-सबका रक्षक।

भावार्थ - १. जो भिक्षु राजा को अपने अधीन या वश में करता है अथवा वश में करते हुए का अनुमोदन करता है।

२. जो भिक्षु राजा के अंगरक्षक को अपने वश में करता है या वश में करते हुए का अनुमोदन करता है।

३. जो भिक्षु नगररक्षक को अपने वश में करता है या वश में करते हुए का अनुमोदन करता है।

४. जो भिक्षु निगमरक्षक को अपने वश में करता है या वश में करते हुए का अनुमोदन करता है।

५. जो भिक्षु देशरक्षक को अपने वश में करता है या वश में करते हुए का अनुमोदन करता है।

६. जो भिक्षु सर्व-रक्षक को अपने वश में करता है या वश में करते हुए का अनुमोदन करता है।

ऐसा करने वाले को लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - इन सूत्रों के अन्तर्गत अन्तिम सूत्र में आए हुए 'सव्वारक्खियं' पद में राजा, राजा के अंगरक्षक, नगररक्षक, व्यापारिक केन्द्र के अधिष्ठायक तथा देशरक्षक- इन सबका समावेश हो जाता है। यह समष्टिबोधक पद है।

भिक्षु द्वारा राजा तथा उच्च अधिकारियों को वश में करना इन सूत्रों में दोषपूर्ण एवं प्रायश्चित्त योग्य बतलाया गया है। इनके अनुकूल या वशगत होने से भिक्षु की संयमाराधना में बाधा, शिथिलता आना आशंकित है। अपने वृद्धिगत प्रभाव के कारण भिक्षु में अभिमान भी आ सकता है, जो साधु-जीवन के प्रतिकूल है।

राजा आदि को वश में करने के संदर्भ में प्रशस्त कारण, प्रशस्त प्रयत्न तथा अप्रशस्त कारण एवं अप्रशस्त प्रयत्न का व्याख्या-ग्रन्थों में वर्णन आता है।

संकटापन्न स्थितियों में संघहित की दृष्टि से राजा आदि को वशगत करना प्रशस्त कारण है।

संयम तथा तपोबल से प्राप्त विशिष्ट लब्धिसिद्धि द्वारा राजा आदि को वश में करना प्रशस्त प्रयत्न है।

किसी की प्रतिष्ठा बढ़ाना, किसी का अहित करना अथवा अपना स्वार्थ सिद्ध करना - इन्हें उद्दिष्ट कर राजा आदि को वश में करना अप्रशस्त कारण है।

असत्य एवं छल-कपट आदि सावद्य प्रवृत्तियों द्वारा राजा आदि को वश में करना अप्रशस्त प्रयत्न है।

यहाँ प्रायश्चित्त का जो विधान किया गया है, वह प्रशस्त कारण और प्रशस्त प्रयत्न द्वारा राजा आदि को वश में करने से संबंधित है।

अप्रशस्त कारण और प्रयत्न द्वारा राजा आदि को वश में करने का प्रायश्चित्त अधिक निरूपित हुआ है।

राज-प्रशंसा आदि का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू रायं अच्चीकरेइ अच्चीकरेंतं वा साइज्जइ ॥ ७ ॥

जे भिक्खू रायारक्खियं अच्चीकरेइ अच्चीकरेंतं वा साइज्जइ ॥ ८ ॥

जे भिक्खू णगरारक्खियं अच्चीकरेइ अच्चीकरेंतं वा साइज्जइ ॥ ९ ॥

जे भिक्खू णिगमारक्खियं अच्चीकरेइ अच्चीकरेंतं वा साइज्जइ ॥ १० ॥

जे भिक्खू देसारक्खियं अच्चीकरेइ अच्चीकरेंतं वा साइज्जइ ॥ ११ ॥

जे भिक्खू सव्वारक्खियं अच्चीकरेइ अच्चीकरेंतं वा साइज्जइ ॥ १२ ॥

कठिन शब्दार्थ - अच्चीकरेइ - शौर्य, औदार्य आदि गुण वर्णन द्वारा प्रशंसा करता है।

भावार्थ - ७. जो भिक्षु राजा की प्रशंसा करता है - कीर्तिमान करता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

८. जो भिक्षु राजा के अंगरक्षक की प्रशंसा - श्लाघा करता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

९. जो भिक्षु नगररक्षक की प्रशंसा - बड़ाई करता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

१०. जो भिक्षु निगमरक्षक की प्रशंसा करता है - बड़प्पन का बखान करता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

११. जो भिक्षु देशरक्षक की प्रशंसा - यशोगाथा वर्णित करता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

१२. जो भिक्षु सर्वरक्षक की प्रशंसा - गुणकीर्तन करता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

ऐसा करने वाले को लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - भिक्षु समदर्शी होता है। वह तो सदा साधनानिरत रहता है। उसका लोगों से आसक्तिपूर्ण या घनिष्ट संपर्क नहीं होता। ऐसा होना उचित एवं लाभप्रद भी नहीं, प्रत्युत हानिप्रद है। संयममय जीवन के अनन्य उपकरणभूत शरीर के निर्वाह हेतु श्रद्धालुजनों से शुद्ध एषणीय भिक्षा प्राप्त करना एवं धार्मिक उपदेश द्वारा उन्हें अध्यात्म के पथ पर आगे बढ़ने की प्रेरणा देना है। भिक्षु का इतना मात्र गृहस्थों के साथ संबंध है। भिक्षा जैसी भी प्राप्त हो उसी में वह सदा संतुष्ट रहता है। इसलिए तथाकथित बड़े लोगों को प्रसन्न करने, अपने अनुकूल बनाने तथा प्रभावित करने की उसे जरा भी आवश्यकता नहीं होती।

राजा-रंक, बड़े-छोटे, धनी-निर्धन इत्यादि की भेदरेखा उसके लिए कोई विशेष महत्त्व नहीं रखती। यही कारण है कि इन सूत्रों में राजा आदि को वश में करना - प्रभावित करना, अनुकूल बनाना प्रायश्चित्त योग्य कहा गया है।

जैसा पिछले सूत्रों में विवेचित हुआ है, इन तथाकथित बड़े लोगों के अनुकूल होने से साधु के संयममय जीवन में कोई मदद नहीं मिलती, बाधा ही होती है। क्योंकि जब साधु को

अपने प्रभाव का अहसास हो जाता है तब उसके संयमानुगत विशुद्ध परिणामों की धारा सर्वथा निर्मल नहीं रह पाती।

राजा आदि को स्वसहयोगापेक्षी बनाने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू रायं अत्थीकरेइ अत्थीकरेंतं वा साइज्जइ ॥ १३ ॥

जे भिक्खू रायारक्खियं अत्थीकरेइ अत्थीकरेंतं वा साइज्जइ ॥ १४ ॥

जे भिक्खू णगरारक्खियं अत्थीकरेइ अत्थीकरेंतं वा साइज्जइ ॥ १५ ॥

जे भिक्खू णिगमारक्खियं अत्थीकरेइ अत्थीकरेंतं वा साइज्जइ ॥ १६ ॥

जे भिक्खू देसारक्खियं अत्थीकरेइ अत्थीकरेंतं वा साइज्जइ ॥ १७ ॥

जे भिक्खू सव्वारक्खियं अत्थीकरेइ अत्थीकरेंतं वा साइज्जइ ॥ १८ ॥

कठिन शब्दार्थ - अत्थीकरेइ - अर्थी - स्वसहयोगापेक्षी बनाता है।

भावार्थ - १३. जो भिक्षु राजा को अपना अर्थी - सहयोगापेक्षी बनाता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

१४. जो भिक्षु राजा के अंगरक्षक को अपना सहयोगापेक्षी बनाता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

१५. जो भिक्षु नगररक्षक को अपना सहयोगापेक्षी बनाता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

१६. जो भिक्षु निगमरक्षक को अपना सहयोगापेक्षी बनाता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

१७. जो भिक्षु देशरक्षक को अपना सहयोगापेक्षी बनाता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

१८. जो भिक्षु सर्वरक्षक को अपना सहयोगापेक्षी बनाता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

ऐसा करने वाले को लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - अर्थ का अभिप्राय प्रयोजन है। अर्थ से ही अर्थीकरण शब्द बना है। अत्थीकरेइ (अर्थीकरोति) उसी का वर्तमानकाल द्योतक लट् लकार का प्रथम पुरुष के एकवचन का रूप है। अर्थीकरण का तात्पर्य ऐसी मानसिकता उत्पन्न करना है, जिससे व्यक्ति

के उस बिना सम्मुखीन - उद्दिष्ट व्यक्ति का कार्य न चल पाए या कर पाने में कठिनाई हो। उद्दिष्ट व्यक्ति को अपने कार्य में उसके सहयोग या सहाय्य की आवश्यकता अथवा अपेक्षा अपरिहार्य रूप में प्रतीत होती रहे। जो भिक्षु अपनी विद्या, लब्धि - योग सिद्धि, निमित्त ज्ञान तथा ज्योतिष इत्यादि द्वारा राजा आदि को इतना प्रभावित कर ले कि वे एक प्रकार से उसके सहयोग के मुखापेक्षी बन जाएं। जब भिक्षु राजा आदि को अपने से इतना प्रभावित मानता है, तब उसमें स्वच्छन्दता आना आशंकित है, जो साधुत्व के प्रतिकूल है। साधु में तो समता, धीरता, गम्भीरता आदि गुण होने चाहिए, उसे आत्म-धर्म में अभिरत रहना चाहिए। उसे किसी को प्रभावित करने की आवश्यकता नहीं है। स्व-कल्याण के साथ-साथ उसका कार्य तो जन-जन को धर्म का उपदेश और आत्मोपासना की प्रेरणा प्रदान करना है।

इसीलिए राजा आदि को अर्थी या अपने सहयोग अथवा सहाय्य का अपेक्षी बनाना स्व-वशगत करना दोषयुक्त है। अत एव वैसा करने वाला भिक्षु प्रायश्चित्त का भागी बतलाया गया है।

अखण्डित व सचित्त (एक जीवी) अन्न-आहार का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू कसिणाओ ओसहीओ आहारेइ आहारेंतं वा साइज्जइ ॥ १९ ॥

कठिन शब्दार्थ - कसिणाओ - कृत्स्न - सम्पूर्ण - अखण्डित, ओसहीओ - औषधियाँ - चावल, गेहूँ आदि अन्न या धान्य, आहारेइ - आहार करता है - खाता है या सेवन करता है।

भावार्थ - १९. जो भिक्षु चावल, गेहूँ आदि सम्पूर्ण - अखण्डित अन्न का आहार करता है या आहार करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - कृत्स्न शब्द समग्र, समस्त, संपूर्ण या अखण्डित का वाचक है। जो धान्य के दाने दूटे हुए, दले हुए नहीं होते वे कृत्स्न या अखण्डित कहे जाते हैं।

कृत्स्न के द्रव्यतः - द्रव्यापेक्षया तथा भावतः - भावापेक्षया दो भेद प्रतिपादित हुए हैं। द्रव्यतः का अर्थ द्रव्य रूप से अखण्डित है। भावतः का अर्थ भाव रूप से सचित्त है।

ओसहीओ (औषधि) शब्द सामान्यतः जड़ी-बूटी का वाचक है, जो विभिन्न रोगों की चिकित्सा में उपयोग में ली जाती है अथवा जिनसे निर्मित दवाईयाँ रुग्णावस्था में सेवन की जाती हैं।

औषधि का एक अर्थ 'वनस्पति' है। वनस्पति के अन्तर्गत समस्त पेड़, पौधे, बेलें आदि

का समावेश है। चावल, गेहूँ आदि वनस्पति के अन्तर्गत ही आते हैं। यहाँ 'ओसहीओ' शब्द चावल, गेहूँ आदि के अर्थ में ही प्रयुक्त है, क्योंकि आहार इन्हीं का दिया जाता है, देह निर्वाह के लिए प्रतिदिन ये ही काम में आते हैं। औषधियाँ - दवाईयाँ तो रुग्णता में ही काम में आती हैं, वे आहार रूप नहीं हैं, चिकित्सा रूप हैं।

यहाँ पर कृत्स्न औषधियों का आशय - 'ऐसे धान्य जो तीन, पांच या सात वर्षों में अचित्त योनि वाले बन गए हैं। (जिनका वर्णन स्थानांग और भगवती सूत्र में आया है) परन्तु अखण्ड होने से व्यवहार सचित्त गिने जाते हैं, ऐसे धान्यों का आहार करने का इस सूत्र में लघुमासिक प्रायश्चित्त बताया है।' इन अखण्डित धान्यों को भी उबालने या अन्य शस्त्रों द्वारा परिवर्तित कर दिया हो तो वे अखण्ड दिखते हुए भी उनको ग्रहण करने का प्रायश्चित्त नहीं समझना चाहिए।

कृत्स्न औषधियों के उपलक्षण से 'एक-जीवी धान्यों' के आहार का भी लघुमासिक प्रायश्चित्त समझना चाहिए।

आचार्य द्वारा अदत्त-अनाज्ञप्त आहार-सेवन का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू आयरिएहिं अदिण्णं आहारेइ आहारेंतं वा साइज्जइ ॥ २० ॥

कठिन शब्दार्थ - आयरिएहिं - आचार्य, अदिण्णं - अदत्त - नहीं दिया हुआ।

भावार्थ - २०. जो भिक्षु आचार्य द्वारा दिए बिना उनकी आज्ञा या स्वीकृति पाए बिना ही भिक्षा में प्राप्त भोज्य पदार्थों का आहार करता है अथवा आहार करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - भिक्षु संघ की आचार संहिता के अन्तर्गत यह मर्यादा या व्यवस्था है कि भिक्षु गृहस्थों के यहां से भिक्षा में जो भी भोज्य पदार्थ लाते हैं, वे उपाश्रय में आकर आचार्य या उपाध्याय को सौंप देते हैं। फिर आचार्य या उपाध्याय भिक्षुओं को भोजन हेतु वितीर्ण करते हैं - देते हैं। इससे सबको समान आहार प्राप्त हो जाता है, कोई विशेष भिन्नता नहीं रहती। यह समत्व का आदर्श रूप है इस प्रकार आचार्य या उपाध्याय द्वारा वितीर्ण आहार दत्त कहा जाता है।

जो भिक्षु अपने द्वारा भिक्षा में लाए हुए भोज्य पदार्थों का आचार्य या उपाध्याय को सौंपे या बतलाए बिना, उनकी स्वीकृति प्राप्त किए बिना आहार कर लेता है, उसे इस सूत्र में प्रायश्चित्त का भागी बतलाया गया है, क्योंकि यह अनुशासन विहीनता है। आचार संहिता

के अन्तर्गत मर्यादा एवं व्यवस्था का इससे उल्लंघन होता है, जिससे स्वच्छन्दता फैलना आशंकित है।

अननुज्ञात रूप में विगय-सेवन का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू आयरियउवज्झाएहिं अविदिण्णं विगइं आहारेइ आहारेतं वा साइज्जइ ॥ २१ ॥

कठिन शब्दार्थ - आयरियउवज्झाएहिं - आचार्य या उपाध्याय को, अविदिण्णं - अविदत्त - अननुज्ञात - विशेष रूप से आज्ञा प्राप्त किए बिना, विगइं - विकृत - विकृतिजनक पौष्टिक पदार्थ - दूध, दही, घृत, तेल तथा गुड़ या शक्कर।

भावार्थ - २१. जो भिक्षु आचार्य या उपाध्याय द्वारा विशेष रूप से आज्ञा प्राप्त किए बिना दूध, दही, घृत, तेल तथा गुड़ या शक्कर रूप पंचविध विगय में से किसी का भी सेवन करता है अथवा सेवन करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - भिक्षु का जीवन, रहन-सहन, खान-पान इत्यादि सभी सादगीपूर्ण और सात्त्विक हों, यह आवश्यक है।

भोजन या खान-पान का जीवन से विशेष संबंध है, क्योंकि प्रतिदिन उसे लेना होता है, उसी पर शरीर टिका रहता है। भिक्षु का लक्ष्य शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त करना है, देह उसका लक्ष्य नहीं है।

जैसा कि पहले व्याख्यात हुआ है, देह आध्यात्मिक साधना में उपकरण - साधनभूत है, इसलिए वह परिरक्षणीय है। भिक्षु इसी भाव से आहार करता है कि उसका शरीर चलता रहे, दैनंदिन काम-काज के लिए समर्थ रहे, साधना में उपयोगी रहे। शरीर को हृष्ट-पुष्ट, हट्टा-कट्टा या मोटा-ताजा बनाना उसका कदापि लक्ष्य नहीं है प्रत्युत आध्यात्मिक साधना के विकास की दृष्टि से प्रतिबन्धक है।

इस सूत्र में प्रयुक्त प्राकृत का 'विगय' शब्द विकृत का वाचक है। जो विकृति से युक्त होता हो या विकृति का उत्पादक हो, उसके लिए विकृत (विगय) शब्द का प्रयोग हुआ है। दूध, दही, घृत, तेल और गुड़-शक्कर - ये पौष्टिक पदार्थ हैं, शरीर को परिपुष्ट बनाते हैं। शारीरिक परिपुष्टता संयममूलक साधना में अनावश्यक ही नहीं, बाधक भी है। इसलिए इन पदार्थों को विगय कहा गया है।

स्वस्थता में सामान्यतः इनका सेवन अविहित है। रुग्णता, दुर्बलता, पथ-सेवनता आदि

के रूप में जब इनका भोजन में उपयोग आवश्यक हो तो आचार्य या उपाध्याय या उनकी अनुपस्थिति में स्थविर अथवा गीतार्थ, विद्यादि गुणसंपन्न तत्त्ववेत्ता साधु से आज्ञा प्राप्त कर इनका सेवन करने का विधान है। वे आवश्यकतानुरूप इनके सेवन का काल, मात्रा या प्रमाण आदि की आज्ञा देते हैं।

इस प्रकार आज्ञा प्राप्त किए बिना ही साधु द्वारा इनका सेवन किया जाना दोषयुक्त है। अत एव उसे प्रायश्चित्त योग्य बतलाया गया है।

स्थापना कुल की जानकारी आदि प्राप्त किए बिना भिक्षार्थ प्रवेश का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू ठवणाकुलाइं अजाणिय अपुच्छिय अगवेसिय पुव्वामेव
पिंडवायपडियाए अणुप्पविसइ अणुप्पविसंतं वा साइज्जइ ॥ २२ ॥

कठिन शब्दार्थ - ठवणाकुलाइं - स्थापना कुल - साधु आदि के निमित्त जहाँ अन्न-पान आदि स्थापित किए जाते हैं, वे कुल।

भावार्थ - २२. स्थापना कुलों को जाने, पूछे या गवेषणा किए बिना या उनके संबंध में जानने, पूछने और गवेषणा करने से पूर्व ही जो भिक्षु भिक्षा लेने हेतु गृहस्थ के घर में प्रवेश करता है अथवा प्रवेश करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - प्राचीनकाल में हमारे देश में दान, सेवा, सहयोग और आतिथ्य की बड़ी समीचीन परंपरा थी। संपन्न परिवारों के उदारचेता व्यक्ति विभिन्न परंपराओं के संतों, अतिथियों आदि के लिए नित्यप्रति भोजन की विशेष व्यवस्था रखते थे। ऐसे परिवारों को स्थापित कुल कहा जाता था अथवा आचार्य आदि के द्वारा स्थगन किये (रोके) हुए वृद्ध, ग्लान, रोगी तपस्वी के लिए जहाँ पर निर्दोष व अनुकूल द्रव्य सुलभ मिलते हैं उन विशिष्ट कुलों को भी स्थापना कुल कहा जाता था। पूर्व में स्वतन्त्र गोचरी की व्यवस्था होने से ऐसे कुलों की जानकारी करनी होती थी। वर्तमान में सामूहिक गोचरी होने से इस प्रकार की विधि प्रायः नहीं है। जैन आगमों में जो दानशालाओं का वर्णन आता है, वह इसी का एक व्यापक रूप प्रतीत होता है।

साधु जब भिक्षा के लिए जाए तब वह स्थापित कुलों के संदर्भ में पूरी तरह जानकारी करे, पूछताछ करे, गवेषणा करे।

तथाभूत स्थापना कुलों में ऐसे भी हो सकते हैं, जिनको जैन भिक्षुओं में अश्रद्धा, विपरीत भावना हो, ऐसे भी हो सकते हैं, जिनका जैन भिक्षुओं के साथ विशेष अनुराग हो तथा कुछ ऐसे भी हो सकते हैं, जो साधुओं के ठहरने के स्थान के सन्निकटवर्ती हों। कई ऐसे कुल हो सकते हैं, जिनमें विशिष्ट पदार्थ, बहुमूल्य औषधियाँ आदि प्राप्य हैं, जो उन्हें दान में देते हैं।

जिनका जैन भिक्षुओं के साथ विरोध हो, वहाँ जाना इसलिए अनुचित है कि वे भिक्षु का तिरस्कार, अपमान या अवज्ञा कर सकते हैं, भिक्षा दिए बिना खाली हाथ लौटा सकते हैं। जिनका अधिक अनुराग हो वहाँ देने वाले सदोष-निर्दोष भिक्षा का अधिक ध्यान न रख सके, ऐसा भी आशंकित है। अतः ऐसे स्थानों के संबंध में साधु को भलीभाँति जानकारी और गवेषणा करनी चाहिए ताकि उसकी भिक्षाचर्या में बाधा, अशुद्धता न आ पाए।

भिक्षु सामान्यतः सादा, निर्विकार, आरोग्यानुकूल आहार लेते हैं। विशिष्ट, स्वादिष्ट, पौष्टिक पदार्थों को वे स्वीकार नहीं करते। इतना अवश्य है - ग्लान, रुग्ण, दुर्बल, बाल, वृद्ध आचार्य आदि के लिए आवश्यक होने पर, पथ्य रूप होने पर विवेकशील भिक्षु सावधानी और जागरूकता के साथ अपेक्षानुकूल आहार स्वीकार कर सकता है।

जो भिक्षु उपर्युक्त स्थापित कुलों के संदर्भ में भलीभाँति जानकारी और खोज किए बिना जाता है, वहाँ अनेक दोष आशंकित हैं। वैसा करना वर्जित है, अत एव प्रायश्चित्त योग्य कहा गया है।

साध्वी-उपाश्रय में अविधिपूर्वक प्रवेश का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू णिगंगंथीणं उवस्सयंसि अविहीए अणुप्पविसइ अणुप्पविसंतं
वा साइज्जइ ॥ २३ ॥

कठिन शब्दार्थ - णिगंगंथीणं - साध्वियों के, उवस्सयंसि - उपाश्रय में, अविहीए- अविधि से - मर्यादा का अतिक्रमण कर।

भावार्थ - २३. जो भिक्षु मर्यादा का अतिक्रमण कर साध्वियों के उपाश्रय में अनुप्रविष्ट होता है, प्रवेश करता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - भिक्षु को यदि प्रयोजनवश साध्वियों के उपाश्रय में प्रवेश करना हो तो वह एकाएक प्रवेश न करे, मुख्यद्वार के बाहर से ही अपने प्रवेश करने की सूचना दे अथवा श्रमणोपासक या श्रमणोपासिकाओं द्वारा, जो वहाँ उपस्थित हों, साध्वियों को सूचना करवाए

ताकि साध्वियों को जानकारी प्राप्त हो सके, वे सावधानी से स्थित हो सकें। ऐसा न कर एकाएक चले जाना अविधि है, क्योंकि उसमें साधु चर्योचित मर्यादा का अतिक्रमण या उल्लंघन है। इसलिए वह दोष पूर्ण है, प्रायश्चित्त योग्य है।

साधु-साध्वी संघ की स्वस्थ, शुद्ध एवं अनुशासनोपेत अवस्थिति की दृष्टि से चर्या संबंधी मर्यादाओं का पालन आवश्यक है, इस सूत्र का यह आशय है।

साध्वियों के आने के मार्ग में उपकरण रखने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू णिगगंथीणं आगमणपहंसि दंडगं वा लड्डियं वा रयहरणं वा मुहपोत्तियं वा अण्णयरं वा उवगरणजायं ठवेइ ठवेतं वा साइज्जइ ॥ २४ ॥

कठिन शब्दार्थ - आगमणपहंसि - आगमनपथ पर - आने के मार्ग पर, मुहपोत्तियं-मुखवस्त्रिका, ठवेइ - रखता है।

भावार्थ - २४. जो भिक्षु साध्वियों के आने के मार्ग में दण्ड, लाठी, रजोहरण या मुखवस्त्रिका - इन उपकरणों को अथवा इनमें से किसी एक को रख देता है अथवा रखते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघु मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - आचार्य, उपाध्याय तथा स्थविर आदि गीतार्थ साधु का दर्शन करने, उनसे अध्ययन करने आदि कारणों से साध्वियों का तदनुकूल समय-समय पर साधुओं के उपाश्रय में आगमन होता है। उनके आने के मार्ग में, आचार्य आदि के संमुख उपस्थित होने के स्थान तक में किसी साधु को अविवेकवश या कुतूहलवश दण्ड आदि अपना कोई भी उपकरण नहीं रखना चाहिए। ऐसा करना अव्यवस्थित, अननुशासित एवं असावधानी पूर्ण व्यवहार का द्योतक है। अत एव दोष युक्त होने के कारण इसे लघुमासिक प्रायश्चित्त योग्य कहा गया है।

यहाँ इतना और ज्ञातव्य है कि यदि कोई साधु मलिन विचार पूर्वक दण्डादि उपकरण मार्ग में रखता है तो यह और भी बड़ा दोष है, जिसके लिए गुरु चातुर्मासिक आदि रूप से अधिक प्रायश्चित्त का विधान किया गया है।

नवाभिनव कलह उत्पन्न करने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू णवाइं अणुप्पण्णाइं अहिगरणाइं उप्पाएइ उप्पाएंत्तं वा साइज्जइ ॥ २५ ॥

कठिन शब्दार्थ - णवाइं - नये, अणुप्पण्णाइं - अनुत्पन्न - तत्काल अविद्यमान, अहिगरणाइं - अधिकरण - कलह - झगड़े, उप्पाएइं - उत्पन्न करता है।

भावार्थ - २५. जो भिक्षु नये-नये झगड़े पैदा करता है - औरों के लिए यों क्लेश उत्पन्न करता है अथवा क्लेश उत्पन्न करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - “अधिक्रियते - अधो गती पात्यते आत्मा येन - तत् अधिकरणम्” इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिसके द्वारा आत्मा निम्न गति में पतित हो जाती है अर्थात् जिसके परिणाम स्वरूप आत्मा निम्न गति प्राप्त करती है, उसे अधिकरण कहा जाता है।

जैन आगमों में अधिकरण शब्द का प्रयोग विशेष रूप से कलह या झगड़े के अर्थ में होता रहा है। पवित्र एवं साधनामय जीवन के धनी साधु के लिए कलह करना सर्वथा अनुचित है, क्योंकि कलह से अनेक अशुभ कर्मों का बंध होता है, जो आत्मा के पतन का कारण है।

सूत्रकृतांग सूत्र में अधिकरण के संदर्भ में उल्लेख हुआ है -

जो साधु अधिकरण - कलह करता है तथा प्रकट रूप में दारुण - कठोर वचन बोलता है, उसका अर्थ - जीवन का लक्ष्य मोक्ष तथा उसे प्राप्त करने का मार्ग (संयम) परिहीन हो जाता है - नष्ट हो जाता है। इसलिए पण्डित - ज्ञानी या विवेकशील साधक कलह कदापि न करें ❁।

उपशमित पूर्वकालिक कलह को पुनः उत्पन्न करने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू पोरणाइं अहिगरणाइं खामिय विओसवियाइं पुणो उदीरेइं उदीरिंतं वा साइज्जइं ॥ २६ ॥

कठिन शब्दार्थ - पोरणाइं - पूर्व कालिक - पहले के, खामिय - क्षामित - वंदना-क्षमायाचना द्वारा, विओसवियाइं - व्युपशमित - शान्त किए हुए, उदीरेइं - उदीर्ण करता है - उत्पन्न करता है।

भावार्थ - २६. जो भिक्षु वंदना - क्षमायाचना आदि द्वारा उपशमित पूर्वकालिक

❁ सूत्रकृतांग सूत्र - २.२.१९

कलहों को - झगड़ों को पुनः उत्पन्न करता है अथवा उत्पन्न करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघु मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - यद्यपि भिक्षु मन, वचन, काय से संतुलित रहता है, इनका समुचित प्रयोग करता है, किन्तु मानव जीवन में यदा-कदा भूल भी हो जाती है। ऐसा होने पर बुद्धिमत्ता इसी में है कि उसे आत्मशोधन द्वारा, शालीन व्यवहार द्वारा सुधार लिया जाए।

भिक्षु के जीवन में यदि मानसिक क्षुब्धतावश कभी किसी अन्य भिक्षु के साथ कलह का प्रसंग बन जाए, उसके परिणामस्वरूप कटु वचन आदि का प्रयोग हो जाए तो वह वंदना-क्षमायाचना द्वारा उसे अच्छी तरह शान्त कर देता है।

इस सूत्र में व्युपशमित शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। “**विशेषेण उपशमितम्-व्युपशमितम्**” जिसे विशेष रूप से - भलीभाँति शान्त कर दिया जाता है अर्थात् मन में भी जिसे नहीं रखा जाता, उसे व्युपशमित कहा जाता है।

भिक्षु सदा जागरूक रहता है कि किसी भी प्रकार का व्युपशमित कलह कभी उत्पन्न न हो जाए। क्योंकि उसका उत्पन्न होना आत्म-साधना के पथ में आने वाला बाधक हेतु है, विघ्न है।

जो भिक्षु व्युपशमित कलह को पुनः उदीर्ण करता है - उभारता है, वह प्रायश्चित्त का भागी होता है।

उद्धत - हास्य - प्रायश्चित्त

जे भिक्खू मुहं विप्फालिय हसइ हसंतं वा साइज्जइ ॥ २७ ॥

कठिन शब्दार्थ - मुहं - मुख, विप्फालिय - विस्फारित कर - फाड़-फाड़ कर, हसइ - हँसता है।

भावार्थ - २७. जो भिक्षु मुँह फाड़-फाड़ कर हँसता है, या हँसते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - भिक्षु की जीवनचर्या संयम से सदैव अनुप्राणित रहती है। वह मन, वचन तथा शरीर से ऐसे कार्यों का परिवर्जन किए रहता है, जो उसके उदात्त, पावन, संयममय जीवन में अशोभनीय हों, असमीचीन हों। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए यहाँ उद्धता या उच्छृंखलता पूर्ण हास्य को भिक्षु के लिए दोष युक्त, प्रायश्चित्त योग्य बतलाया गया है।

इस सूत्र में प्रयुक्त 'मुहं विष्फालिय' पद इसी भाव का द्योतक है। मुँह को विस्फारित कर - फाड़-फाड़ कर, ठह-ठहाकर हँसना एक सामान्य व्यक्ति के लिए भी अशोभाजनक है, फिर साधु की तो बात ही क्या? यह मानसिक चंचलता एवं अस्थिरता का द्योतक है।

साधु कुतूहलवश, मजाकवश, अमर्यादित मनोरंजनवश कभी भी ऐसा न करे। ऐसा करना साधु के त्याग-तपोमय व्यक्तित्व को दूषित करता है।

आचारांग सूत्र में कहा गया है कि साधु हास्य के दोष को समझे अर्थात् उसे दोष युक्त जानता हुआ कभी हास-परिहास में अनुरत न हो ❖।

पार्श्वस्थ आदि को संघाटक आदान-प्रदान करने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू पासत्थस्स संघाडयं देइ देतं वा साइज्जइ ॥ २८ ॥

जे भिक्खू पासत्थस्स संघाडयं पडिच्छइ पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥ २९ ॥

जे भिक्खू ओसण्णस्स संघाडयं देइ देतं वा साइज्जइ ॥ ३० ॥

जे भिक्खू ओसण्णस्स संघाडयं पडिच्छइ पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥ ३१ ॥

जे भिक्खू कुसीलस्स संघाडयं देइ देतं वा साइज्जइ ॥ ३२ ॥

जे भिक्खू कुसीलस्स संघाडयं पडिच्छइ पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥ ३३ ॥

जे भिक्खू णित्थिस्स संघाडयं देइ देतं वा साइज्जइ ॥ ३४ ॥

जे भिक्खू णित्थिस्स संघाडयं पडिच्छइ पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥ ३५ ॥

जे भिक्खू संसत्तस्स संघाडयं देइ देतं वा साइज्जइ ॥ ३६ ॥

जे भिक्खू संसत्तस्स संघाडयं पडिच्छइ पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥ ३७ ॥

कठिन शब्दार्थ - पासत्थस्स - पार्श्वस्थ, संघाडयं - संघाटक, पडिच्छइ - स्वीकार करता है - ग्रहण करता है, ओसण्णस्स - अवसन्न - संयम में अवसाद युक्त, कुसीलस्स - कुशील - कुत्सित शील आचार युक्त, णित्थिस्स - नित्यक - निरन्तर एक क्षेत्रवासी, संसत्तस्स - संसक्त - आसक्ति युक्त।

भाषार्थ - २८. जो भिक्षु पार्श्वस्थ को - अपनी गण परंपरा से भिन्न, अन्यगण में

❖ आचारांग सूत्र श्रुतस्कन्ध - २, अध्ययन - १६

विद्यमान भिक्षु को अथवा ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य में आस्थावान होते हुए भी उनका परिपालन न करने वाले भिक्षु को संघाडा या सिंघाडा देता है अर्थात् अपने संघाटक में से एक या दो साधु देकर उसका सिंघाडा बनाता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

२९. जो भिक्षु पार्श्वस्थ से संघाटक प्रतिगृहीत करता है - स्वीकार करता है या लेता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

३०. जो भिक्षु संयम में अवसाद युक्त - संयम के परिपालन में कष्ट अनुभव करने वाले भिक्षु को संघाटक देता है अथवा देते हुए का अनुमोदन करता है।

३१. जो भिक्षु संयम में अवसाद युक्त भिक्षु से संघाटक प्रतिगृहीत करता है अथवा प्रतिगृहीत करते हुए का अनुमोदन करता है।

३२. जो भिक्षु कुत्सित आचार युक्त भिक्षु को संघाटक देता है अथवा देते हुए का अनुमोदन करता है।

३३. जो भिक्षु कुत्सित आचार युक्त भिक्षु से संघाटक प्रतिगृहीत करता है अथवा प्रतिगृहीत करते हुए का अनुमोदन करता है।

३४. जो भिक्षु निरन्तर एक ही स्थान पर प्रवास करने वाले भिक्षु को संघाटक देता है अथवा देते हुए का अनुमोदन करता है।

३५. जो भिक्षु निरन्तर एक ही स्थान पर प्रवास करने वाले भिक्षु से संघाटक प्रतिगृहीत करता है अथवा प्रतिगृहीत करते हुए का अनुमोदन करता है।

३६. जो भिक्षु आसक्ति युक्त भिक्षु को संघाटक देता है अथवा देते हुए का अनुमोदन करता है।

३७. जो भिक्षु आसक्ति युक्त भिक्षु से संघाटक प्रतिगृहीत करता है अथवा प्रतिगृहीत करते हुए का अनुमोदन करता है।

ऐसा करने वाले भिक्षु को लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - 'संघाडय' - संघाटक शब्द समुदाय का वाचक है। जैन परंपरा में यह समुदाय विषयक एक विशेष आशय से जुड़ा हुआ है। धर्म प्रसार की दृष्टि से एक गण के अन्तर्गत दो-दो या तीन-तीन साधुओं के छोटे-छोटे समूह निर्धारित कर दिए जाते हैं, जो अपने में से एक के नेतृत्व में मास कल्प विहार एवं चातुर्मासिक प्रवास कल्प के अनुसार साधनारत रहते हैं, जन-जन में धर्म-प्रसार करते हैं।

संघाटक में दो-या तीन की तो न्यूनतम संख्या है, उनसे अधिक भी हो सकते हैं।

अपने संघाटक - समूह में से एक या एकाधिक साधु किसी दूसरे वैसे समूह में आदान-प्रदान करना भी संघाटक शब्द द्वारा अभिहित होता है। इन सूत्रों में “संघाडयं देड” तथा “संघाडयं पडिच्छड” क्रमशः आदान-प्रदान का सूचक है।

इस सूत्रों में पार्श्वस्थ आदि को संघाटक देना या उससे लेना दोषपूर्ण और प्रायश्चित्त योग्य बतलाया गया है।

परंपरा वैपरीत्य तथा संयम के परिपालन में उनकी दूषितता, अनुत्साह एवं आचार विरोधी कुत्सित प्रवृत्तियों में निरंतरता, संलग्नता अपने सहवर्ती साधुओं और अपने अनुगामी गृहस्थों के प्रति आसक्ति इत्यादि के कारण उनको संघाटक देना तथा उनसे संघाटक स्वीकार करना दोनों ही परिवर्जनीय हैं। इस परिवर्जन को आदर न देता हुआ जो साधु उपर्युक्त प्रवृत्तियों में लगा रहता है, उसे इन सूत्रों में प्रायश्चित्त का भागी कहा गया है।

यहाँ प्रयुक्त पार्श्वस्थ शब्द बड़ा महत्त्वपूर्ण है। “यो ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तपसां पार्श्वे - समीपे तिष्ठति न तु तेषामाराधको भवति स पार्श्वस्थः” इस विग्रह के अनुसार जो ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप तप के समीप तो रहता है, उनमें विश्वास तो करता है, किन्तु उनका आचरण नहीं करता, वह पार्श्वस्थ है।

इस संदर्भ में शोधार्थी विद्वानों ने विशेष तथ्य भी उद्भासित किया है -

तेवीसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ की परंपरा के साधु पार्श्वपत्निक कहे जाते रहे हैं। पार्श्वस्थ संभवतः पार्श्वपत्निक का ही द्योतक है। भगवान् पार्श्वनाथ की परंपरा में चातुर्याम धर्म प्रचलित था। भगवान् महावीर स्वामी की परंपरा में पाँच महाव्रतों का स्वीकार था। पार्श्व परंपरा में चतुर्थ और पंचम महाव्रत का अर्थात् ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह का चतुर्थ याम-अपरिग्रह में ही स्वीकार था।

यद्यपि तत्त्वतः दोनों में कोई भेद नहीं था, किन्तु बाह्य दृष्टि से अन्तर परिलक्षित होता था।

उत्तराध्ययन सूत्र में कुमार केशिश्रमण और भगवान् महावीर स्वामी के प्रमुख गणधर गौतम के मिलन का प्रसंग है, जहाँ चातुर्याम धर्म और पंच महाव्रतों के भेद की चर्चा है। दोनों का एक ही तथ्यमूलकता को देखते हुए कुमार केशिश्रमण ने पंचम महाव्रतात्मक परंपरा को स्वीकार कर लिया। दोनों संघों में ऐक्य स्थापित हो गया। किन्तु ऐसा होने के पश्चात् भी

कतिपय स्थानों में पार्श्वपत्निक या पार्श्वस्थ साधु दीर्घकाल तक पृथक् विचरणशील रहे। बाह्य आचार विद्या में भगवान् महावीर स्वामी एवं प्रभु पार्श्वनाथ की परंपरा में अन्तर था।

यहाँ पार्श्वस्थ शब्द का प्रयोग ऐतिहासिक दृष्टि से प्राचीनकाल में विद्यमान भगवान् पार्श्वनाथ की परंपरा के श्रमणों के लिए हुआ हो, ऐसा भी संभव है। कालान्तर में क्रमशः सभी पार्श्ववर्ती परंपरा के श्रमण भगवान् महावीर स्वामी की परंपरा में आते गए, उनका पृथक् अस्तित्व नहीं रहा, अतः विवेचन के प्रारंभ में जो व्युत्पत्ति मूलक अर्थ किया है, तदनुसार वर्तमान में यह शब्द उन श्रमणों का सूचक है, जो सिद्धांततः ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य तप आदि में विश्वास तो रखते हैं, किन्तु जीवन में उनका पालन नहीं करते।

‘अव’ उपसर्ग और ‘सीद्’ धातु के योग से अवसाद बनता है, जिसका अर्थ कष्ट पाना, क्लेश अनुभव करना है। अवसाद से तद्धित प्रक्रिया के अन्तर्गत अवसन्न बनता है, जिसका तात्पर्य खेद अनुभव करने वाला है। यहाँ उस भिक्षु को अवसन्न कहा गया है, जिसे संयम का परिपालन करने में कष्ट होता है।

कुत्सित (संयम से विपरीत) आचरण करने वाले को कुशील कहा जाता है। संसक्त का अर्थ यह है कि जो पासत्था आदि से हिलमिल रहे तथा उच्च आचार वाले के साथ उच्च आचार पालें और शिथिल आचार वाले के साथ शिथिल आचार पालें। जैसे “पानी तेरा रंग कैसा? जिसमें मिलाओ जैसा।” नित्यक उस भिक्षु को कहा गया है, जो मासकल्प विहार और चातुर्मासकल्प प्रवास का सम्यक् अनुसरण न करता हुआ किसी एक ही स्थान पर रहता है अथवा मासकल्प प्रवास के पश्चात् मर्यादित समय तक अन्यत्र न रहकर वहीं रुक जाता है। भिक्षु के लिए रुग्णता, वृद्धावस्था इत्यादि विकल्पों के अतिरिक्त स्वस्थावस्था में एक ही स्थान पर निरन्तर रहना निषिद्ध है।

पूर्ववर्णित तथाकथित श्रमणों को संघाटक देना और लेना इसलिए परिहार्य है कि इससे संयम का शुद्ध रूप में पालन करने वाले साधु की उनके साथ संगति नहीं होती। “संसर्गजा दोष गुणाः भवन्ति” के अनुसार उनकी संगति से दोषोत्पत्ति आशंकित रहती है।

भगवान् पार्श्वनाथ की परंपरा के श्रमणों से प्रभु महावीर स्वामी के श्रमणों के आचार में बाह्य भिन्नता होती है। पार्श्वनाथ परंपरावर्ती साधु जहाँ श्वेत एवं पीत दोनों ही वस्त्र धारण करते थे वहीं भगवान् महावीर स्वामी की परंपरा के साधु केवल श्वेत वस्त्र ही पहनते हैं। अन्य विभिन्नताएं भी थीं। अतः यहाँ परिवर्जन किया गया है।

सचित्त संस्पृष्ट हाथ आदि से आहार लेने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू उदउल्लेण वा ससिणिद्धेण वा हत्थेण वा मत्तेण वा दक्कीए वा भायणेण वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ ॥ ३८ ॥

जे भिक्खू ससरक्खेण वा मट्टियासंसट्टेण वा ऊसासंसट्टेण वा लोणियसंसट्टेण वा हरियालसंसट्टेण वा मणोसिलासंसट्टेण वा वण्णियसंसट्टेण वा गेरुयसंसट्टेण वा सेढियसंसट्टेण वा हिंगुलसंसट्टेण वा अंजणसंसट्टेण वा लोद्धसंसट्टेण वा कुक्कुससंसट्टेण पिट्टुसंसट्टेण वा कंतवसंसट्टेण वा कंदसंसट्टेण वा मूलसंसट्टेण वा सिंगबेरसंसट्टेण वा पुप्फसंसट्टेण वा उक्कुट्टुसंसट्टेण वा हत्थेण वा मत्तेण वा दक्कीए वा भायणेण वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ ॥ ३९ ॥

कठिन शब्दार्थ - उदउल्लेण - जल से गीले, मत्तेण - मिट्टी से निर्मित छोटे पात्र से, दक्कीए - दर्वी - कुड़छी से, भायणेण - कांसी आदि धातु पात्र से, ससरक्खेण - सचित्त रज युक्त, मट्टियासंसट्टेण - मृत्तिका संयुक्त, ऊसासंसट्टेण - ओस बिन्दुओं से संस्पृष्ट (संसक्त), लोणिय - नमक से, हरियाल - हरिताल (पीतवर्णी खनिज द्रव्य विशेष), मणोसिला - मैसिल (खनिज विशेष), वण्णिय - सचित्त पीत वर्ण युक्त मृत्तिका, गेरुय-गैरिक खनिज, सेढिय - श्वेत मृत्तिका, हिंगुल - हिंगुलक, अंजण - सचित्त सौवीर (सुरमा) आदि द्रव्य, कुक्कुस - तत्काल सम्मर्दित तुष, पिट्टु - गेहूँ का आटा, सिंगबेर - आर्द्रक - अदरक, उक्कुट्टु - सुगन्धित द्रव्य विशेष।

भावार्थ - ३८. जो भिक्षु सचित्त जल से संस्पृष्ट - लिप्त हाथ, मिट्टी के पात्र, कुड़छे, धातुपात्र - इनसे दिए जाने वाले अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप चतुर्विध आहार को ग्रहण करता है या ग्रहण करते हुए का अनुमोदन करता है।

३९. जो भिक्षु सचित्त रज, मृत्तिका, ओसबिन्दु, नमक, हरिताल, मैसिल, पीत वर्णी मिट्टी, गैरिक खनिज, श्वेत मृत्तिका, हिंगुलक, सुरमा, सम्मर्दित तुष गेहूँ का आटा, कंतव, कंद,

मूल, अदरक, पुष्प या सुगंधित द्रव्य से संस्पृष्ट हाथ, मृत्तिका पात्र, कुड़छे या धातु पात्र से अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप चतुर्विध आहार ग्रहण करता है या ग्रहण करते हुए का अनुमोदन करता है।

ऐसा करने वाले भिक्षु को लघु मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - साधु आहार विषयक चर्या में अत्यन्त जागरूक रहे, सचित्त संस्पृष्ट को न लेने का सदैव ध्यान रखे। क्योंकि उसमें स्पष्ट रूप में जीवों की विराधना होती है। इन सूत्रों में सचित्त हाथ आदि द्वारा संस्पृष्ट तथा विभिन्न प्रकार के सचित्त पदार्थों द्वारा संस्पृष्ट आहार प्रतिगृहीत करना प्रायश्चित्त योग्य बतलाया गया है, उसमें पृथ्वीकाय, अप्काय, वनस्पतिकाय इत्यादि की हिंसा होती है, जिससे प्राणातिपात विरमण रूप प्रथम महाव्रत खण्डित होता है।

जैसा पहले व्याख्यात हुआ है, एक अहिंसा महाव्रत के व्याहत होने पर पाँचों ही महाव्रत व्याहत हो जाते हैं।

आंगमों में संक्षिप्त रुचि और विस्तार रुचि के रूप में दो प्रकार के वर्णन प्राप्त होते हैं। कुछ वर्णन अति संक्षिप्त - संकेत रूप में होते हैं जिन्हें योग्य श्रोता (पाठक) अपनी बुद्धि द्वारा समझ लेते हैं।

सामान्यजनों को समझाने की दृष्टि से विस्तारपूर्वक कहना अपेक्षित है। इन सूत्रों में जिन पदार्थों का उल्लेख हुआ है, वे किसी न किसी रूप में गृहस्थों के यहाँ उपयोग में आते रहते हैं। अतः उनको यहाँ पृथक्-पृथक् निरूपित किया गया है, जिससे शुद्धाचरणशील भिक्षु कहीं भी शंकाशील न हो।

यहाँ चतुर्विध आहार ग्रहण करने का आशय यह नहीं है कि आहारार्थी भिक्षु जहाँ भिक्षा लेने जाता है, वहाँ चारों ही प्रकार के आहार लेता हो। इनमें से जहाँ जैसी आवश्यकता होती है, उसे ग्रहण करता है। अशन-पान तो सभी के लिए आवश्यक होते हैं। खाद्य, स्वाद्य भी जहाँ पथ्य आदि हेतु लेना अपेक्षित हों, लिए जाते हैं।

उपरोक्त सूत्रों में अप्काय, पृथ्वीकाय एवं वनस्पतिकाय की विराधना की अपेक्षा से ये प्रायश्चित्त कहे गये हैं। अतः यहाँ ये सब-पदार्थ सचित्त की अपेक्षा से गृहीत हैं। यदि किसी भी प्रयोगविशेष से ये वस्तुएं शस्त्र-परिणत होकर अचित्त हो गई हों और उनसे हाथ आदि लिप्त हों तो उन हाथों से आहार ग्रहण करने का कोई प्रायश्चित्त नहीं समझना चाहिए।

यथा - “उदउल्ल” गर्म पानी से भी गीले हाथ हो सकते हैं। नमक कभी अचित्त भी हो सकता है इत्यादि। इसी प्रकार सर्वत्र समझ लेना चाहिए।

आचा० श्रु० २ अ० २ उ० ११ में सात पिंडैषणा में प्रथम पिंडैषणा अभिग्रह का कथन है। उस अभिग्रह को धारण करने वाला भिक्षु असंसृष्ट (अलिप्त) हाथ आदि से ही भिक्षा ग्रहण करता है, संसृष्ट हाथ आदि से नहीं। इस प्रतिज्ञा वाला भिक्षु लेप्य अलेप्य दोनों प्रकार के खाद्य पदार्थ ग्रहण कर सकता है क्योंकि केवल अलेप्य (रूक्ष) पदार्थ ग्रहण करने की ‘अलेपा’ नामक चौथी पिंडैषणा (प्रतिज्ञा) कही है। अतः यह असंसृष्ट का प्रायश्चित्त उपर्युक्त अपेक्षा से है, ऐसा समझना आगम सम्मत है।

कुछ विशेष शब्दों के अर्थ इस प्रकार हैं -

१. मट्टिया - साधारण मिट्टी - चिकनी मिट्टी, काली मिट्टी, लाल मिट्टी आदि जो कच्चे मकान बनाने, बर्तन मांजने - साफ करने, घड़े आदि बर्तन बनाने के काम में आती है।

२. ऊस - साधारण भूमि पर अर्थात् ऊपर भूमि पर खार जमता है, उसे खार या ‘पांशुखार’ कहते हैं। “उषः-पांशुकारः”। दशवै० चूर्णि व टीका।

३. मणोसिल - मैनशिल - एक प्रकार की पीली कठोर मिट्टी।

४. गोरुय - कठोर लाल मिट्टी।

५. वण्णिय - पीली मिट्टी - ‘जेण सुवण्णं वण्णज्जति’।

६. सेडिय - सफेद मिट्टी - खडिया मिट्टी।

७. सोरट्टिय - फिटकरी - “सोरट्टिया तूवरिया जीए सुवण्णकारा उच्चं करोति सुवण्णस्स पिंड”।

८. उक्कुट्ठ - “सचित्त वणस्सइचुण्णो - ओक्कुट्ठो भण्णति” प्राकृत भाषा में अनेक विकल्प होते हैं, इसलिए - “उक्कुट्ठ, उक्किट्ठ-उक्कुट्ठ” तीनों ही शुद्ध हैं तथा सेडिय सेडिय दोनों शुद्ध हैं। दोनों चूर्णि में मिलते हैं।

उपरोक्त सूत्रों में जो प्रायश्चित्त विधान है इनका निर्देश आचारांग श्रु० २ अ० १ उ० ६ व दशवैकालिक अ० ५, उ० १ में हुआ है। दशवैकालिक सूत्र में इस विषय की दो गाथाएं हैं, जिनमें १६ प्रकार से हाथ आदि लिप्त कहे हैं। वहाँ “सोरट्टिय” के बाद जो “पिट्ठ” शब्द है वह “सोरट्टिय” पर्यंत कही गई सभी कठोर पृथ्वियों का विशेषण मात्र है।

क्योंकि उन कठोर पृथ्वियों के चूर्ण से ही हाथ लिप्त हो सकता है। अतः पृथ्वी संबंधी शब्दों के समाप्त होने पर इस शब्द का प्रयोग गाथा में हुआ है। किन्तु उसे भी स्वतंत्र शब्द मान कर १७ प्रकार से लिप्त हाथ आदि हैं ऐसा अर्थ किया जाता है। वह तर्कसंगत नहीं है अपितु केवल भ्रान्ति है।

अगस्त्य चूर्ण में व जिनदासगणी की चूर्ण में **पिट्ठ** शब्द को स्वतंत्र मान कर जो अर्थ संगति की गई है वह इस प्रकार है -

“अग्नि की मंद आंच से पकाया जाने वाला अपक्व पिष्ट (आटा) एक प्रहर से शस्त्र परिणत (अचित्त) होता है और तेज आंच से पकाया जाने वाला शीघ्र शस्त्र परिणत होता है।

यहाँ पिष्ट (धान्य के आटे) को अग्नि पर रखने के पहले और बाद में सचित्त बताया है वह उचित नहीं है।

धान्य में चावल त्ने अचित्त माने गये हैं और शेष धान्य एक जीवी होते हैं, वे धान्य पिस कर आटा बन जाने के बाद भी घंटों तक आटा सचित्त रहे यह व्याख्या भी “**पिट्ठ**” शब्द को अलग मानने के कारण ही की गई है।

गोचरी के समय घर में आटे से भरे हाथ दो प्रकार के हो सकते हैं - १. आटा छानते समय या बर्तन से परात में लेते समय २. धान्य पीसते समय।

धान्य पीसने वाले से तो गोचरी लेना निषिद्ध है ही और छानते समय तक सचित्त मानना संगत नहीं है। अतः “पिष्ट” शब्द को-सूत्रोक्त पृथ्वीकाय के शब्दों का विशेषण मानकर उनके चूर्ण से लिप्त हाथ आदि ऐसा अर्थ करने से मूल पाठ एवं अर्थ दोनों की संगति हो जाती है।

दशवैकालिक सूत्र में इस विषय के १६ शब्द हैं। यहाँ उनका प्रायश्चित्त कहा है। “**उदउल्ल**” में “**ससिण्ह**” का प्रायश्चित्त समाविष्ट कर दिया गया है और “**ससरक्ख**” का प्रायश्चित्त “**मट्टियासंसट्ट**” में समाविष्ट कर दिया गया है। भाष्य गाथा से इनका क्रम स्पष्ट ज्ञात हो जाता है।

चूर्णकार ने कुछ शब्दों के ही अर्थ किये हैं।

भाष्य गाथा - उदउल्ल, मट्टिया वा, ऊसगते चैव होति बोधत्वे।

हरिताले हिंगुलए, मणोसिला अंजणे लोणे ॥१८४८॥

गेरुय वण्णिय सेडिय, सोरट्ठिय पिट्ठ कुक्कुसकए य।

उक्कुट्ठमसंसट्ठे, णेयव्वे आणुपुव्वीए ॥१८४१॥

यहाँ पर निशीथ चूर्णिकार ने भी “पिट्ठ” शब्द को स्वतंत्र मानकर “तंदुलपिट्ठ आम असत्योवहत्त” व्याख्या की है। यही अर्थ उपलब्ध अनुवादों में किया जाता है।

“तंदुल” से सूखे चावल अर्थ किया जाए तो वे अचित्त ही होते हैं और हरे चावल अर्थ किया जाय तो उसके लिए “उक्कुट्ठ” शब्द का स्वतंत्र प्रयोग हुआ है, जिसका अर्थ चूर्णिकार स्वयं सचित्त वणस्सईचुण्णो ओक्कुट्ठो भण्णति ऐसा करते हैं। जिसमें सभी हरी वस्तुतियों के कूटे व चटनी आदि का समावेश-हो सकता है।

भाष्य, चूर्णि एवं दशवैकालिक की अपेक्षा निशीथ के मूल पाठ में कुछ भिन्नता है। कई प्रतियों में तो ‘सोरट्ठिय’ शब्द नहीं है किन्तु अन्य ‘कंतव, लोद्ध, कंदमूल, सिंगबेर, पुप्फग’ ये शब्द बढ़ गये हैं तथा ‘एवं एक्कवीसं हत्था भाणियव्वा’, ‘एगवीसभेएण हत्थेण’ आदि पाठ बढ़ गये हैं तो किसी प्रति में २३ संख्या भी हो गई है।

वनस्पति से संसट्ठ की अपेक्षा यहाँ दो शब्द प्रयुक्त हैं -

१. वनस्पति का कूटा पीसा चूर्ण चटनी, २. वनस्पति के छिलके भूसा आदि। इन से हाथ आदि संसृष्ट हो सकते हैं और इनमें सभी प्रकार की वनस्पति का समावेश भी हो जाता है। अतः लोद्ध, कंद, मूल, सिंगबेर, पुप्फग के सूत्रों की अलग कोई आवश्यकता नहीं रहती है। भाष्य, चूर्णि तथा दशवैकालिक आदि से भी ये शब्द प्रामाणित नहीं है। ‘कंतव’ शब्द तो अप्रसिद्ध ही है। अतः ये पांच शब्द और एक्कवीसं हत्था आदि पाठ बहुत बाद में जोड़ा गया है। क्योंकि उसके लिए कोई प्राचीन आधार देखने में नहीं आता है।

ग्रामरक्षक को वशंगत करने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू गामारक्खियं अत्तीकरेइ अत्तीकरेत्तं वा साइज्जइ ॥ ४० ॥

जे भिक्खू गामारक्खियं अच्चीकरेइ अच्चीकरेत्तं वा साइज्जइ ॥ ४१ ॥

जे भिक्खू गामारक्खियं अत्थीकरेइ अत्थीकरेत्तं वा साइज्जइ ॥ ४२ ॥

कठिन शब्दार्थ - गामारक्खियं - ग्राम रक्षक।

भावार्थ - ४०. जो भिक्षु ग्राम रक्षक को मन्त्रादि प्रयोग द्वारा स्व-अधीन - अपने वश में करता है या वश में करते हुए का अनुमोदन करता है।

४१. जो भिक्षु शौर्य आदि गुण-कीर्तन द्वारा ग्राम रक्षक की प्रशंसा करता है या प्रशंसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

४२. जो भिक्षु ग्राम रक्षक को अपना अर्थी - सहयोगापेक्षी बनाता है या अर्थी - सहयोगापेक्षी बनाते हुए का अनुमोदन करता है।

ऐसा करने वाले भिक्षु को लघु मासिक प्रायश्चित्त आता है।

सीमारक्षक को वश में करने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू सीमारक्खियं अत्तीकरेइ अत्तीकरेंतं वा साइज्जइ ॥ ४३ ॥

जे भिक्खू सीमारक्खियं अच्चीकरेइ अच्चीकरेंतं वा साइज्जइ ॥ ४४ ॥

जे भिक्खू सीमारक्खियं अत्थीकरेइ अत्थीकरेंतं वा साइज्जइ ॥ ४५ ॥

कठिन शब्दार्थ - सीमारक्खियं - सीमा रक्षक।

भावार्थ - ४३. जो भिक्षु सीमारक्षक को अपने वश में करता है या वश में करते हुए का अनुमोदन करता है।

४४. जो भिक्षु शौर्य आदि गुण कीर्तन द्वारा सीमारक्षक की प्रशंसा करता है या प्रशंसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

४५. जो भिक्षु सीमारक्षक को अपना अर्थी - सहयोगापेक्षी बनाता है या सहयोगापेक्षी बनाते हुए का अनुमोदन करता है।

ऐसा करने वाले भिक्षु को लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

अरण्यरक्षक को अधीन करने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू रण्णारक्खियं अत्तीकरेइ अत्तीकरेंतं वा साइज्जइ ॥ ४६ ॥

जे भिक्खू रण्णारक्खियं अच्चीकरेइ अच्चीकरेंतं वा साइज्जइ ॥ ४७ ॥

जे भिक्खू रण्णारक्खियं अत्थीकरेइ अत्थीकरेंतं वा साइज्जइ ॥ ४८ ॥

कठिन शब्दार्थ - रण्णारक्खियं - अरण्यरक्षक - वन का रक्षक।

४६. जो भिक्षु अरण्यरक्षक को मन्त्रादि प्रयोग द्वारा अपने अधीन करता है या अधीन करते हुए का अनुमोदन करता है।

४७. जो भिक्षु शौर्य आदि गुण कीर्तन द्वारा अरण्यरक्षक की प्रशंसा करता है या प्रशंसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

४८. जो भिक्षु अरण्यरक्षक को अपना अर्थी - सहयोगापेक्षी बनाता है या सहयोगापेक्षी बनाते हुए का अनुमोदन करता है।

ऐसा करने वाले भिक्षु को लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - जो भिक्षु ग्रामरक्षक, सीमारक्षक तथा अरण्यरक्षक या वनरक्षक को मन्त्रादि द्वारा अपने अधीन, शौर्यादि गुणकीर्तन द्वारा प्रशंसित, रुग्णावस्था में औषधि, मन्त्र, यन्त्र आदि द्वारा निरोग और स्वसहयोगार्थी - अपने सहयोग के बिना उसका कार्य न चल सके, ऐसी स्थिति युक्त बनाता है, उसे उपर्युक्त सूत्रों में प्रायश्चित्त का भागी कहा गया है। इनको अपने वश में बना लेने से भिक्षु का ग्राम में, उसके सीमावर्ती स्थानों में, अरण्य या वन में प्रभाव बढ़ जाता है। वहाँ रहने वाले लोग यह जानकर कि ग्रामरक्षक आदि इस भिक्षु के अधीन हैं, वे भयभीत या आतंकित रहते हैं। इस कारण भिक्षु अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति में अपनी इच्छा के अनुरूप उनसे अनुचित लाभ उठा सकता है, इससे उसमें उच्छृंखलता आ जाना आशंकित है, जो संयम की सम्यक् आराधना में बाधक है।

भिक्षु के लिए लौकिक प्रभाव बढ़ाना किसी भी प्रकार उचित नहीं है। अध्यात्म-साधना-प्रवण जीवन के सम्यक् निर्वाह हेतु लोगों से प्रासुक, निरवद्य, एषणीय आहार, वस्त्र, पात्र आदि आवश्यक उपधि प्राप्त करना तथा लोगों को धर्मानुप्राणित करना, धार्मिक उपदेश देना इतना ही अपेक्षित है।

अन्तिम चार सूत्रों में 'रण्णारत्तिखर्यं' शब्द का प्रयोग हुआ है। प्राकृत व्याकरण के अनुसार अरण्य शब्द का प्राकृत रूप 'रण्ण' होता है। प्रारम्भ के अकार का लोप हो जाता है। णकार के साथ जो यकार मिला हुआ है, वह समीकरण के नियमानुसार 'ण' बन जाता है। इस प्रकार 'रण्ण' रूप सिद्ध होता है, जिसका अर्थ वन है।

प्राकृत व्याकरण के अनुसार 'राजन्त्य' शब्द को 'रण्ण' आदेश होता है। व्याकरण में प्रतिपादित 'शत्रुवत् आदेशः' के अनुसार जैसे शत्रु आकर जब किसी स्थान पर अधिकार करता है तो उस स्थान पर पूर्वतन व्यवस्था लुप्त हो जाती है, उसकी नूतन व्यवस्था स्थापित होती है। इसी प्रकार व्याकरण में आदेश होने का तात्पर्य पिछले रूप का लोप और

नए रूप का स्थापन हो जाता है। राजन्य का अर्थ राजा है तदनुसार रण्ण का एक अर्थ राजा भी होता है।

‘रण्ण’ के आगे ‘आरक्खिय’ आने पर ‘सवणे दीर्घ सह’ के नियमानुसार रण्ण और आरक्खिय की संधि होकर ‘रण्णारक्खिय’ हो जाता है।

यद्यपि व्याकरण की इस प्रक्रिया के अनुसार रण्णारक्खिय का अर्थ राजरक्षक भी हो सकता है, किन्तु यहाँ ग्राम तथा सीमा के साथ इसका प्रयोग होने से ‘अरण्यरक्षक’ अर्थ ही अधिक संगत है।

परस्पर पाद-आमर्जन-प्रमार्जनादि का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू अण्णमण्णस्स पाए आमज्जेज्ज वा पमज्जेज्ज वा आमज्जंतं वा पमज्जंतं वा साइज्जइ एवं तइयउद्देशगगमेणं णेयव्वं जाव जे भिक्खू गामाणुगामं दूइज्जमाणे अण्णमण्णस्स सीसदुवारियं करेइ, करेत्तं वा साइज्जइ ॥ ४९-१०४ ॥

कठिन शब्दार्थ - अण्णमण्णस्स - अन्योन्य का - परस्पर एक दूसरे का।

भावार्थ - ४९-१०४. जो भिक्षु आपस में एक दूसरे के पांवों का एक बार या अनेक बार आमर्जन करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है। इस प्रकार तीसरे उद्देशक के (सूत्र १६ से ७१ तक के) समान पूरा आलापक जान लेना चाहिए यावत् जो भिक्षु आपस में एक दूसरे का ग्रामानुग्राम विहार करते समय मस्तक ढांकता है या ढांकने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन - तृतीय उद्देशक में सूत्र सं. १६-७१ में भिक्षु द्वारा स्व-पाद-प्रमार्जन, स्व-काय-प्रमार्जन आदि किया जाना दोषपूर्ण, प्रायश्चित्त योग्य बतलाया गया है, उसी प्रकार उपर्युक्त (सूत्र सं. ४९-१०४) सूत्रों में भिक्षु द्वारा परस्पर एक दूसरे के पाद-प्रमार्जन, काय-प्रमार्जन आदि को प्रायश्चित्त योग्य कहा गया है।

आमर्जन, प्रमार्जन आदि जिन प्रवृत्तियों का उल्लेख हुआ है, वे प्रदर्शनात्मक होने के कारण दोष युक्त हैं, संयम मूलक साधना में प्रत्यवाय - विघ्न रूप हैं। इसीलिए वे वर्जित हैं, प्रायश्चित्त योग्य है।

भिक्षु तो सहज रूप में आत्मस्थ होता है, आत्मरमणशील होता है। शारीरिक सज्जा का

उसके जीवन में कोई स्थान नहीं है। वैसा करना उसके लिए अलंकरण न होकर दूषण रूप है। वह तो आत्मोद्दिष्ट जीवन जीता है, देहोद्दिष्ट नहीं। अत एव उसके सभी कार्य-कलाप आत्मशुद्धि एवं आत्माभ्युदय को लक्षित कर गतिशील रहते हैं।

परिष्ठापना समिति विषयक - दोष प्रायश्चित्त

जे भिक्खू साणुप्पए उच्चारपासवणभूमिं ण पडिलेहेइ ण पडिलेहंतं वा साइज्जइ ॥ १०५ ॥

जे भिक्खू तओ उच्चारपासवणभूमीओ ण पडिलेहेइ ण पडिलेहंतं वा साइज्जइ ॥ १०६ ॥

जे भिक्खू खुड्डागंसि थंडिलंसि उच्चारपासवणं परिट्टवेइ परिट्टवेतं वा साइज्जइ ॥ १०७ ॥

जे भिक्खू उच्चारपासवणं अविहीए परिट्टवेइ परिट्टवेतं वा साइज्जइ ॥ १०८ ॥

जे भिक्खू उच्चारपासवणं परिट्टवेत्ता ण पुंछइ ण पुंछंतं वा साइज्जइ ॥ १०९ ॥

जे भिक्खू उच्चारपासवणं परिट्टवेत्ता कट्टेण वा किलिंचेण वा अंगुलियाए वा सलागाए वा पुंछइ पुंछंतं वा साइज्जइ ॥ ११० ॥

जे भिक्खू उच्चारपासवणं परिट्टवेत्ता णायमइ णायमंतं वा साइज्जइ ॥ १११ ॥

जे भिक्खू उच्चारपासवणं परिट्टवेत्ता तत्थेव आयमइ आयमंतं वा साइज्जइ ॥ ११२ ॥

जे भिक्खू उच्चारपासवणं परिट्टवेत्ता अइ दूरे आयमइ आयमंतं वा साइज्जइ ॥ ११३ ॥

जे भिक्खू उच्चारपासवणं परिट्टवेत्ता परं तिण्हं णावापूराणं आयमइ आयमंतं वा साइज्जइ ॥ ११४ ॥

कठिन शब्दार्थ - साणुप्पए - सानुपाद - दिन की चौथी पौरुषी (पोरसी) का चौथा भाग, उच्चारपासवणभूमिं - उच्चार-प्रस्रवण भूमि - मल-मूत्र त्याग का स्थान, पडिलेहेइ -

प्रतिलेखन करता है, **खुड्गागति** - अति संकुचित - एक हाथ प्रमाण से कम, **थंडिलंसि** - स्थण्डिल भूमि में, **पुंछइ** - पोंछता है, **कट्टेण** - काण्ठ से, **किलिंचेण** - बांस की सीक से, **अंगुलियाए** - अंगुली से, **सलागाए** - शलाका से - लोह आदि की सीक से, **आयमइ** - आचमन - शौच - शुद्धि करता है, **तत्थेव** - वहीं पर, **अइ दूरे** - बहुत दूर, **परं तिण्ह** - तीन से अधिक, **णावापूराणं** - नाव के आकार में बनाई हुई हथेली - चुल्लु।

भावार्थ - १०५. जो भिक्षु दिवस की चतुर्थ पौरुषी (पोरसी) के चतुर्थ भाग में उच्चार-प्रस्रवण भूमि का प्रतिलेखन नहीं करता या प्रतिलेखन नहीं करते हुए का अनुमोदन करता है।

१०६. जो भिक्षु तीन उच्चार-प्रस्रवण भूमियों का प्रतिलेखन नहीं करता या प्रतिलेखन नहीं करते हुए का अनुमोदन करता है।

१०७. जो भिक्षु अति संकुचित - एक हाथ प्रमाण से कम स्थण्डिल भूमि में उच्चार-प्रस्रवणा परठता है या परठते हुए का अनुमोदन करता है।

१०८. जो भिक्षु अविधि - विधि के विपरीत उच्चार-प्रस्रवण परठता है या परठते हुए का अनुमोदन करता है।

१०९. जो भिक्षु उच्चार-प्रस्रवण परठ कर (मलद्वार को) नहीं पोंछता या नहीं पोंछते हुए का अनुमोदन करता है।

११०. जो भिक्षु उच्चार-प्रस्रवण परठ कर (मलद्वार को) लकड़ी से, बांस की सीक से, अंगुली से या लोह शलाका से पोंछता है या पोंछते हुए का अनुमोदन करता है।

१११. जो भिक्षु उच्चार-प्रस्रवण परठ कर शौच शुद्धि नहीं करता या आचमन नहीं करते हुए का अनुमोदन करता है।

११२. जो भिक्षु उच्चार-प्रस्रवण परठ कर वहीं पर शौच शुद्धि करता है या आचमन करते हुए का अनुमोदन करता है।

११३. जो भिक्षु उच्चार-प्रस्रवण परठ कर बहुत (सौ हाथ से अधिक) दूर जाकर शौच शुद्धि करता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

११४. जो भिक्षु उच्चार-प्रस्रवण परठ कर तीन से अधिक, नाव के आकार में की हुई हथेली या चुल्लु से आचमन करता है अथवा आचमन करते हुए का अनुमोदन करता है।

ऐसा करने वाले भिक्षु को लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - उपर्युक्त सूत्रों में से प्रथम सूत्र में 'साणुप्पाए' पद का प्रयोग हुआ है। इसका संस्कृत रूप सानुपाद है। "पादः चतुर्थ भाग रूपः, तम्, अनुअधिकृत्य यद् भवति तद् अनुपादं, तेन सहितं सानुपादम्, तस्मिन् - सानुपादे" इस व्युत्पत्ति - विग्रह के अनुसार सानुपाद का अर्थ - 'दिवस की चतुर्थ पौरुषी का चतुर्थ भाग है।' सामान्यतः दिन का प्रमाण बारह घंटे माना गया है। तीन घण्टे की एक पौरुषी मानी जाती है। प्रत्येक इन चार पौरुषियों में विभक्त है। दिवस की चौथी या अन्तिम पौरुषी तब प्रारम्भ होती है। जब सूर्यास्त होने में तीन घण्टे बाकी रहते हैं। उसका अन्तिम चतुर्थ भाग तब होता है जब सूर्यास्त में ४५ मिनट बाकी रहते हैं। तब तक उच्चार-प्रस्रवण भूमि का प्रतिलेखन किया जाना आवश्यक है। एक के स्थान पर उच्चार-प्रस्रवण भूमियाँ तीन हो सकती है, जिनका प्रतिलेखन इस निर्दिष्ट समय में किया जाना चाहिए।

भिक्षु द्वारा उच्चार-प्रस्रवण का परिष्ठापन विधि पूर्वक किया जाना चाहिए। अचित्त, कीट आदि रहित, एक हाथ से अधिक विस्तीर्ण निरवद्य स्थान में मर्यादानुरूप रीति से परिष्ठापन किया जाना विधि सम्मत है। इन बातों का ध्यान न रखते हुए चाहे जैसे रूप में परिष्ठापन कर देना विधि विपरीत है।

परिष्ठापन के अनन्तर आचमन किए जाने का जो निरूपण हुआ है, तब उच्चार - मल विसर्जन से संबद्ध है, प्रस्रवण के साथ उसका संबंध नहीं है।

पारिहारिक के साथ भिक्षार्थ जाने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू अपरिहारिण परिहारियं वएज्जा - एहि अज्जो ! तुमं च अहं च एगओ असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिगाहिता तओ पच्छा पत्तेयं पत्तेयं भोक्खामो वा पाहामो वा, जे तं एवं वयइ वयंतं वा साइज्जइ। तं सेवमाणे आवज्जइ मासियं परिहारट्ठणं उग्घाइयं ॥ ११५ ॥

॥ णिसीहउज्जयणे चउत्थो उद्देसो समत्तो ॥ ४ ॥

कठिन शब्दार्थ - अपरिहारिण - अपारिहारिक - परिहार संज्ञक तप रूप प्रायश्चित्त

रहित भिक्षु, परिहारियं - पारिहारिक - परिहार संज्ञक तप रूप प्रायश्चित्त में संलग्न भिक्षु, वएज्जा - वदेत् - कहे, पत्तेयं पत्तेयं - पृथक्-पृथक्, भोक्खामो - भोक्ष्यावः - खायेंगे, पाहामो - पास्यावः - पीयेंगे।

भावार्थ - ११५. अपारिहारिक - विशुद्ध आचारशील भिक्षु पारिहारिक भिक्षु से कहे - आर्य! तुम और मैं एक साथ अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप चतुर्विध आहार को प्रतिगृहीत कर - भिक्षा में प्राप्त कर लाएँ तदनन्तर हम अलग-अलग खाएंगे, पीयेंगे।

जो ऐसा कहे या ऐसा कहते हुए का अनुमोदन करे, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

उपर्युक्त ११५ सूत्रों में किए गए किसी भी प्रायश्चित्त स्थान के सेवन करने वाले भिक्षु को परिहार स्थान उद्घातिक - लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

इस प्रकार निशीथ अध्ययन (निशीथ सूत्र) में चतुर्थ उद्देशक परिसमाप्त हुआ।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त “पारिहारिक” शब्द “परिहार” का तद्धित प्रक्रिया निष्पन्न रूप है। “परि” उपसर्ग और “हृ” धातु के योग से परिहार बनता है, जिसका अर्थ परित्याग है। पारिहारिक का अर्थ परित्याग योग्य होता है। जो भिक्षु परिहार रूप प्रायश्चित्त तप में संलग्न होता है, वह गण या गच्छ के आचार्य के अतिरिक्त सभी साधुओं द्वारा परिहेय माना जाता है। वे उसके साथ न तो आहार-पानी लाने हेतु जाते हैं तथा न साथ में आहार ही करते हैं। क्योंकि वह प्रायश्चित्त संपन्न न हो जाने तक सर्वथा विशुद्ध नहीं माना जाता।

इस सूत्र में अपारिहारिक भिक्षु का पारिहारिक भिक्षु के साथ जाना इसी कारण दोष युक्त बतलाया गया है। यद्यपि पारिहारिक भिक्षु पृथक्-पृथक् अशन-पान सेवन की बात कहता है, किन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं है, उसके साथ जाना भी दोष युक्त है।

पारिहारिक के साथ अपारिहारिक को भिक्षार्थ आया हुआ देखकर श्रद्धावान् गृहस्थों के मन में अपारिहारिक के प्रति भी संशय उत्पन्न होना आशंकित है। इसके अतिरिक्त दोष युक्त का साहचर्य मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी निरापद नहीं कहा जा सकता।

॥ इति निशीथ सूत्र का चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥



पंचमो उद्देशओ - पंचम उद्देशक

सचित्त वृक्ष-मूल के सन्निकट स्थित होने आदि का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू सचित्तरुक्खमूलंसि ठिच्चा आलोएज्ज वा पलोएज्ज वा आलोएंतं वा पलोएंतं वा साइज्जइ ॥ १ ॥

जे भिक्खू सचित्तरुक्खमूलंसि ठिच्चा ठाणं वा सेज्जं वा णिसीहियं वा तुयट्टणं चेएइ चेएंतं वा साइज्जइ ॥ २ ॥

जे भिक्खू सचित्तरुक्खमूलंसि ठिच्चा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आहारेइ आहारेंतं वा साइज्जइ ॥ ३ ॥

जे भिक्खू सचित्तरुक्खमूलंसि ठिच्चा उच्चारपासवणं परिट्टवेइ परिट्टवेंतं वा साइज्जइ ॥ ४ ॥

जे भिक्खू सचित्तरुक्खमूलंसि ठिच्चा सज्जायं करेइ करेंतं वा साइज्जइ ॥ ५ ॥

जे भिक्खू सचित्तरुक्खमूलंसि ठिच्चा सज्जायं उद्दिसइ उद्दिसेंतं वा साइज्जइ ॥ ६ ॥

जे भिक्खू सचित्तरुक्खमूलंसि ठिच्चा सज्जायं समुद्दिसइ समुद्दिसंतं वा साइज्जइ ॥ ७ ॥

जे भिक्खू सचित्तरुक्खमूलंसि ठिच्चा सज्जायं अणुजाणइ अणुजाणंतं वा साइज्जइ ॥ ८ ॥

जे भिक्खू सचित्तरुक्खमूलंसि ठिच्चा सज्जायं वाएइ वाएंतं वा साइज्जइ ॥ ९ ॥

जे भिक्खू सचित्तरुक्खमूलंसि ठिच्चा सज्जायं पडिच्छइ पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥ १० ॥

जे भिक्खू सचित्तरुक्खमूलंसि ठिच्चा सज्जायं परियट्टेइ परियट्टेंतं वा साइज्जइ ॥ ११ ॥

काठिन शब्दार्थ - सचित्तरुक्खमूलंसि - सचित्त वृक्ष के मूल में (मूल के सन्निकट सचित्त भूमि पर), ठिच्चा - स्थित होकर, आलोएज्ज - आलोकन करे - एक बार देखे,

पंचम उद्देशक - सचित्त वृक्ष मूल के सन्निकट स्थित होने आदि का प्रायश्चित्त ११५

पलोएज्ज - प्रलोकन करे - बार-बार देखे, ठाणं - स्थान संज्ञक कायोत्सर्ग, सेज्जं - शय्या - शयन, णिसीहियं - निषीदन - बैठना या नैषधिकी क्रिया करना, चेएइ - करता है (चयनित करता है), सज्जायं - स्वाध्याय, उद्दिसए - उद्देश करता है, समुद्दिसइ - समुद्देश करता है, अणुजाणइ - अनुज्ञा देता है, वाएइ - वाचना देता है, पडिच्छइ - ग्रहण करता है - लेता है, परियट्ठेइ - पुनरावृत्ति करता है - दुहराता है।

भावार्थ - १. जो भिक्षु सचित्त वृक्ष के मूल में - वृक्ष के सन्निकट सचित्त भूमि पर स्थित होकर आलोकन-प्रलोकन करता है - एक बार या अनेक बार इधर-उधर झांकता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

२. जो भिक्षु सचित्त वृक्ष के मूल में स्थित होकर स्थान संज्ञक कायोत्सर्ग करता है, शयन करता है, निषीदन करता है - बैठता है या नैषधिकी क्रिया करता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

३. जो भिक्षु सचित्त वृक्ष के मूल में स्थित होकर अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप चतुर्विध आहार करता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

४. जो भिक्षु सचित्त वृक्ष के मूल में स्थित होकर उच्चार-प्रस्रवण परठता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

५. जो भिक्षु सचित्त वृक्ष के मूल में स्थित होकर स्वाध्याय करता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

६. जो भिक्षु सचित्त वृक्ष के मूल में स्थित होकर स्वाध्याय का उद्देश करता है - अभिनव मूल पाठ की वाचना देता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

७. जो भिक्षु सचित्त वृक्ष के मूल में स्थित होकर स्वाध्याय का समुद्देश करता है - कण्ठाग्र पाठ को शुद्ध एवं परिपक्व कराता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

८. जो भिक्षु सचित्त वृक्ष के मूल में स्थित होकर स्वाध्याय की अनुज्ञा देता है - अन्य को सीखाने की आज्ञा देता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

९. जो भिक्षु सचित्त वृक्ष के मूल में स्थित होकर स्वाध्याय की वाचना देता है या वाचना देते हुए का अनुमोदन करता है।

१०. जो भिक्षु सचित्त वृक्ष के मूल में स्थित होकर स्वाध्याय (वाचना) ग्रहण करता है या ग्रहण करते हुए का अनुमोदन करता है।

११. जो भिक्षु सचित्त वृक्ष के मूल में स्थित होकर स्वाध्याय का पुनरावर्तन करता है या पुनरावर्तन करते हुए का अनुमोदन करता है।

विवेचन - वृक्ष के मूल की निकटवर्ती भूमि वृक्ष के साथ संलग्नता के कारण सचित्त होती है। निशीथ चूर्णि में उसकी सीमा का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि जिस वृक्ष का स्कन्ध - तना हाथी के पैर जितना मोटा हो, उसके चारों ओर की एक-एक हाथ प्रमाण भूमि सचित्त होती है। वृक्ष का तना उससे अधिक मोटा हो तो उस मोटेपन के अनुपात से सचित्त भूमि का प्रमाण भी बढ़ जाता है अर्थात् जितना-जितना मोटापन अधिक होता है, उतना-उतना सचित्तता का प्रमाण बढ़ता जाता है।

सचित्त भूमि में स्थित होना - खड़ा होना, बैठना इत्यादि क्रियाएँ प्राणातिपात विरमण की दृष्टि से दोष युक्त हैं, क्योंकि वैसा करने से पृथ्वीकाय, वनस्पतिकाय आदि जीवों की विराधना होती है।

इन सूत्रों में शयन, त्वग्वर्तन, कायोत्सर्ग, आहार क्रिया, उच्चार-प्रस्रवण परिष्ठापन, स्वाध्याय, उद्देश, समुद्देश, अनुज्ञा, वाचना देना, लेना, पुनरावर्तन करना - सचित्त वृक्ष की निकटवर्ती भूमि में इन उपक्रमों को करना दोषयुक्त है, अत एव वैसा करने वाला प्रायश्चित्त का भागी होता है, ऐसा इन सूत्रों में वर्णन हुआ है।

यद्यपि वृक्ष की निकटवर्ती भूमि में स्थित होने के अन्तर्गत संक्षेप में वहाँ किए जाने वाले कार्यों का समावेश हो जाता है, किन्तु विस्तृत निरूपण की दृष्टि से यहाँ उन कार्यों का जो भिक्षु-जीवन के साथ विशेष रूप से संबंधित हैं, पृथक्-पृथक् उल्लेख किया गया है, ताकि भिक्षु असंदिग्ध रूप में अपनी समाचारी का अनुवर्तन करता रहे।

यहाँ आया हुआ 'उद्देश' शब्द चूर्णिकार के अनुसार आगमों के पठित, गृहीत मूल पाठ के अतिरिक्त नूतन मूल पाठ की वाचना देना है।

'समुद्देश' शब्द का तात्पर्य वाचना में दिए गए आगम पाठ को विशेष रूप से शुद्ध एवं सुस्थिर कराना है।

'अनुज्ञा' देने का अर्थ, जो भिक्षु वाचना लेकर आगम पाठ को शुद्ध रूप में भलीभाँति कण्ठस्थ स्वायत्त कर लेता है, उसे दूसरों को वाचना देने की आज्ञा देना है।

यहाँ आया हुआ 'वाचना' - वाचना शब्द सूत्रार्थ को गृहीत कराने के अर्थ में है।

यहाँ जो 'णिशीदित्यं' पद का प्रयोग हुआ है, प्राकृत व्याकरण के अनुसार संस्कृत में उसके निषीदन और नैषधिक दो रूप बनते हैं। निषीदन का अर्थ बैठना है और नैषधिक का अर्थ नैषधिकी क्रिया करना है। दोनों ही अर्थ यहाँ प्रसंगानुसार असंगत नहीं हैं।

अन्यतीर्थिक आदि से चदर सिलवाने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू अप्पणो संघाडिं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा सागारिएण वा सिव्वावेइ सिव्वावेतं वा साइज्जइ ॥ १२ ॥

कठिन शब्दार्थ - संघाडिं - संघाटिका - चादर, सागारिएण - सागारिक - गृही, उपासक - श्रावक, सिव्वावेइ - सिलवाता है।

भावार्थ - १२. जो भिक्षु अपनी चदर को किसी अन्यतीर्थिक या गृहस्थ या सागारिक से सिलवाता है या सिलवाते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - जैसाकि पहले व्याख्यात हुआ है, भिक्षु का जीवन आत्म-निर्भरता और स्वावलम्बन पर अवस्थित होता है। जहाँ तक शक्य हो, वह अपने सभी कार्य स्वयं करता है। यदि कोई कार्य उस द्वारा स्वयं किया जाना संभव न हो तो वह स्वतीर्थिक - अपने गण के भिक्षु से करवाता है, क्योंकि एक गण में सभी का जीवन पारस्परिक सहयोग पर आश्रित, आधृत होता है।

भिक्षु अन्यतीर्थिक से या अपने अनुयायी श्रावक से अथवा अन्य गृहस्थ से अपना कार्य नहीं करवाता। इससे उसकी स्वावलम्बिता व्याहत होती है, पराश्रितता व्यक्त होती है, ऐसा होना अवांछित है।

इस सूत्र में चदर सिलवाने का वर्णन है। सिलवाने के दो प्रसंग संभावित हैं। यदि पूरी लम्बी-चौड़ी चदर भिक्षा में न मिली हो, छपेटे टुकड़े मिले हों तो उन्हें सिलवा कर जोड़ना आवश्यक होता है ताकि वे प्रावरण का - देह ढकने का काम दे सकें। यदि पूरी लम्बी-चौड़ी चदर हो और वह फट गई हो तो उसे भी सिलवाना आवश्यक होता है, क्योंकि उसे ओढने से शरीर के अंग दिखलाई पड़ते हैं, जो अनुचित हैं। अपनी चदर की सिलाई भिक्षु स्वयं करे या अपने गणवर्ती साधुओं में से किसी से करवाए। यदि साधुओं को सिलाई करना नहीं आता हो तो गणवर्ती साध्वियों से सिलाई करवाई जा सकती है। उनके अतिरिक्त अन्य किसी से न करवाए। वैसा करवाना दोषपूर्ण है, प्रायश्चित्त योग्य है।

चदर के धागों को लंबा करने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू अप्पणो संघाडीए दीहसुत्ताइं करेइ करेतं वा साइज्जइ ॥ १३ ॥

कठिन शब्दार्थ - दीहसुत्ताइं - दीर्घ सूत्र - लम्बे धागे या पतली डोरियाँ।

भावार्थ - १३. जो भिक्षु अपनी चदर के छोटे-छोटे लटकते हुए धागों को अन्य धागे बांधकर लंबे करता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - यदि भिक्षु की चदर लम्बाई-चौड़ाई में कुछ छोटी पड़ती हो, जिससे उसका प्रावरण के रूप में समुचित उपयोग करने में कठिनाई हो तो चदर के किनारों पर लटकते हुए छोटे-छोटे धागों को दूसरे धागे उनमें जोड़कर, बांधकर कुछ लम्बा करना आवश्यक होता है। नए जोड़े जाने के बाद लटकने वाले धागों की मर्यादा चार अंगुल परिमित मानी गई है।

इस सूत्र में धागों को दीर्घ करने का जो प्रायश्चित्त बतलाया गया है, वह चार अंगुल से अधिक दीर्घ-लम्बा करने से संबंधित है। वैसा करने से अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। धागे आपस में उलझ सकते हैं। यथावत् प्रतिलेखन न किए जाने से दोष लगता है, देखने में भी वे असमीचीन प्रतीत होते हैं, लोगों को भद्दे लगते हैं।

धारणा (गुरु परम्परा) से दीर्घ सूत्र करने का अर्थ "अपनी चादर को प्रमाण से अधिक लम्बी चौड़ी करें" ऐसा भी किया जाता है।

नीम आदि के पत्ते खाने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू पिउमंदपलासयं वा पडोलपलासयं वा बिलपलासयं वा सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा संफाणिय संफाणिय आहारेइ आहारेंतं वा साइज्जइ ॥ १४ ॥

कठिन शब्दार्थ - पिउमंदपलासयं - नीम के पत्ते, पडोलपलासयं - परवल के पत्ते, बिलपलासयं - बिल्व के पत्ते, संफाणिय-संफाणिय - संफानित कर - पानी में डुबो-डुबो कर - स्वच्छ बनाकर, आहारेइ - आहार के रूप में सेवन करता है, खाता है।

भावार्थ - १४. जो भिक्षु नीम, परवल या बिल्व के पत्तों को अचित्त शीतल या उष्ण जल में डुबा-डुबा कर - स्वच्छ कर आहार के रूप में खाता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - आहार के रूप में वृक्षों के पत्तों को अचित्त शीतल या उष्ण जल में धोकर, स्वच्छ कर खाना अनुचित है। धोए जाने के बाद जल को फेंकना होता है, जिसमें जीव-विराधना अशंकित है। पत्तों को स्वयं धोए, यह भी साधु के लिए अशोभनीय है, अव्यवहार्य है।

रुग्णता में औषध या पथ्य आदि के रूप में गृहस्थों के यहाँ से उनके अपने लिए सुखाए गए पत्तों को भिक्षा के रूप में लेना और उनका सेवन करना विहित है। उसमें कोई दोष नहीं लगता।

यहाँ नीम, परवल तथा बिल्व इन तीन प्रकार के वृक्षों का उल्लेख हुआ है, जो संकेत रूप में है, इनके अतिरिक्त अन्य वृक्षों के पत्ते भी असेवनीय हैं।

प्रातिहारिक पादप्रोक्षण प्रत्यर्पणा-विषयक-प्रायश्चित्त

जे भिक्खू पाडिहारियं पायपुंछणं जाइत्ता तमेव रयणिं पच्चप्पिणिस्सामित्ति सुए पच्चप्पिणइ पच्चप्पिणंतं वा साइज्जइ ॥ १५ ॥

जे भिक्खू पाडिहारियं पायपुंछणं जाइत्ता सुए पच्चप्पिणिस्सामित्ति तमेव रयणिं पच्चप्पिणइ पच्चप्पिणंतं वा साइज्जइ ॥ १६ ॥

जे भिक्खू सागारियसंतियं पायपुंछणं जाइत्ता तमेव रयणिं पच्चप्पिणिस्सामित्ति सुए पच्चप्पिणइ पच्चप्पिणंतं वा साइज्जइ ॥ १७ ॥

जे भिक्खू सागारियसंतियं पायपुंछणं जाइत्ता सुए पच्चप्पिणिस्सामित्ति तमेव रयणिं पच्चप्पिणइ पच्चप्पिणंतं वा साइज्जइ ॥ १८ ॥

कठिन शब्दार्थ - तमेव - उसी, रयणिं - रजनी - रात (दिवस), पच्चप्पिणिस्सामित्ति - प्रत्यर्पित कर दूंगा, लौटा दूंगा, सुए - श्व - कल - अगले दिन, पच्चप्पिणइ - प्रत्यर्पित करता है - लौटाता है।

भावार्थ - १५. जो भिक्षु 'उसी दिन - आज ही वापस लौटा दूंगा' यों कहता हुआ बाहर से - शय्यातर से भिन्न गृहस्थ से प्रातिहारिक - प्रत्यर्पणीय रूप में पादप्रोक्षण याचित कर उसे कल - अगले दिन वापस लौटाता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

१६. जो भिक्षु 'कल लौटा दूंगा' यों कहता हुआ बाहर से प्रातिहारिक - प्रत्यर्पणीय रूप में पादप्रोक्षण याचित कर उसे उसी दिन वापस लौटाता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

१७. जो भिक्षु 'आज ही वापस लौटा दूंगा' यों कहता हुआ सागारिक - शय्यातर से पादप्रोक्षण याचित कर उसे कल - अगले दिन वापस लौटाता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

१८. जो भिक्षु 'कल लौटा दूंगा' यों कहता हुआ शय्यातर से पादप्रोँछन याचित कर उसे उसी दिन वापस लौटाता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

ऐसा करने वाले भिक्षु को लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - भिक्षु आवश्यकतावश एक-दो दिन के लिए गृहस्थ से, श्रावक से या शय्यातर से पादप्रोँछन याचित कर सकता है। याचित करते समय प्रत्यर्पण - वापस लौटाने के संबंध में जिस दिन का कथन करे, उसी दिन उसे वापस लौटाना चाहिए। क्योंकि भिक्षु यथार्थभाषी होता है। 'जहावाइ, तहाकारी' के अनुसार भिक्षु जैसा बोलता है, वैसा ही करता है। अपने वचन के विपरीत करना मिथ्या भाषण-में परिगणित होता है। इससे मृषावाद विरमण संज्ञक द्वितीय महाव्रत दूषित होता है।

महाव्रत भिक्षु के लिए अमूल्य रत्न है। उन पर जरा भी कालुष्य - कालिख न लगे, उसे सदैव ऐसा प्रयत्न करना चाहिए।

उपर्युक्त सूत्रों में आये हुवे "पादप्रोँछन" शब्द का अर्थ गुरु परम्परा से - 'रजोहरण' किया जाता है। उत्सर्ग मार्ग से तो पडिहारा रजोहरण लेने का निषेध ही है, किन्तु साधु का रजोहरण गुम हो गया हो, स्वाध्याय आदि भूमि में भूल गये हो, चोर आदि ले गये हो, इत्यादि प्रसंगों से उस रजोहरण की गवेषणा के लिए गृहस्थों से पडिहारा रजोहरण लेने का विधान इन सूत्रों में किया गया है। गवेषणा करने पर भी यदि नहीं मिले तो उस रजोहरण को पूर्ण रूप से ग्रहण कर सकता है। किंतु स्वयं के पास रजोहरण होते हुए भी कचरा आदि लेने के लिए पडिहारा रजोहरण नहीं लेना चाहिए।

प्रातिहारिक दण्ड आदि प्रत्यर्पण-विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू पाडिहारियं दंडयं वा लट्टियं वा अवलेहणियं वा वेणुसूडं वा जाइत्ता तमेव रयणिं पच्चप्पिणिस्सामित्ति सुए पच्चप्पिणइ पच्चप्पिणंतं वा साइज्जइ ॥ १९ ॥

जे भिक्खू पाडिहारियं दंडयं वा लट्टियं वा अवलेहणियं वा वेणुसूडं वा जाइत्ता सुए पच्चप्पिणिस्सामित्ति तमेव रयणिं पच्चप्पिणइ पच्चप्पिणंतं वा साइज्जइ ॥ २० ॥

जे भिक्खू सागारियसंतियं दंडयं वा लट्टियं वा अवलेहणियं वा वेणुसूइं वा जाइत्ता तमेव रयणिं पच्चप्पिणिस्सामित्ति सुए पच्चप्पिणइ पच्चप्पिणंतं वा साइज्जइ ॥ २१ ॥

जे भिक्खू सागारियसंतियं दंडयं वा लट्टियं वा अवलेहणियं वा वेणुसूइं वा जाइत्ता सुए पच्चप्पिणिस्सामित्ति तमेव रयणिं पच्चप्पिणइ पच्चप्पिणंतं वा साइज्जइ ॥ २२ ॥

भावार्थ - १९. जो भिक्षु 'आज ही प्रत्यर्पित कर दूंगा - वापस लौटा दूंगा' यों कहता हुआ प्रातिहारिक रूप में बाहर से - शय्यातर से भिन्न गृहस्थ से दण्ड, लाठी, अवलेहनिका या बांस की सूई याचित कर उसे कल - अगले दिन वापस करता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

२०. जो भिक्षु 'कल लौटा दूंगा' यों कहता हुआ प्रातिहारिक रूप में बाहर से दण्ड, लाठी, अवलेहनिका या बांस की सूई याचित कर उसे उसी दिन वापस करता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

२१. जो भिक्षु 'आज ही वापस लौटा दूंगा' यों कहता हुआ शय्यातर से दण्ड, लाठी, अवलेहनिका या बांस की सूई याचित कर उसे कल - अगले दिन वापस करता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

२२. जो भिक्षु 'कल लौटा दूंगा' यों कहता हुआ शय्यातर से दण्ड, लाठी, अवलेहनिका या बांस की सूई याचित कर उसे उसी दिन वापस करता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

ऐसा करने वाले भिक्षु को लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - इन सूत्रों में वर्णित औपग्रहिक उपाधि रूप दण्ड, लाठी, अवलेहनिका तथा बांस की सूई, जो प्रत्यर्पणीय है, आवश्यकतावश भिक्षु गृहस्थ से याचित कर अपने कथन के अनुरूप प्रत्यर्पित नहीं करता, जिस दिन लौटाने के लिए कहा हो, उस दिन न लौटाकर आगे-पीछे लौटाता है तो यह वचन दोष है। भिक्षु मन, वचन, काय रूप तीन योगों तथा कृत, कारित, अनुमोदित रूप तीन कारणों से असत्य का प्रत्याख्यान - त्याग किए हुए होता है। अतः वैसा करने से उसका सत्य महाव्रत धूमिल होता है।

प्रातिहारिक एवं सागारिकसत्क-शय्यासंस्तारक-उपयोग विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू पाडिहारियं वा सेज्जासंथारयं पच्चप्पिणित्ता दोच्चं पि
अणणुण्णविय अहिट्टेइ अहिट्टेंतं वा साइज्जइ ॥ २३ ॥

जे भिक्खू सागारियसंतियं वा सेज्जासंथारयं पच्चप्पिणित्ता दोच्चं पि
अणणुण्णविय अहिट्टेइ अहिट्टेंतं वा साइज्जइ ॥ २४ ॥

कठिन शब्दार्थ - अणणुण्णविय - अनुज्ञा बिना - पुनः आज्ञा प्राप्त किए बिना,
अहिट्टेइ - अधिष्ठित होता है - बैठने-सोने आदि के रूप में उसे उपयोग में लेता है।

भावार्थ - २३. जो भिक्षु प्रातिहारिक रूप में बाहर से - शय्यातर से भिन्न गृहस्थ से
गृहीत शय्या-संस्तारक को (उसके स्वामी को) प्रत्यर्पित कर - वापस सम्हलाकर, सौंपकर
उसकी आज्ञा प्राप्त किए बिना पुनः उपयोग में लेता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन
करता है।

२४. जो भिक्षु शय्यातर से गृहीत शय्या-संस्तारक को वापस सम्हलाकर, (शय्यातर
की) आज्ञा प्राप्त किए बिना पुनः उपयोग में लेता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन
करता है।

ऐसा करने वाले भिक्षु को लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - इन सूत्रों में साधु द्वारा याचित - गृहीत शय्या-संस्तारक के विशेषण के रूप
में 'पाडिहारियं - प्रातिहारिक' और 'सागारियसंतियं - सागारिकसत्क' इन दो पदों
का प्रयोग हुआ है।

इन दोनों में अन्तर यह है - साधु जिस मकान में रुका हो, उस मकान मालिक से भिन्न
बाहर के किसी गृहस्थ से जो औपग्रहिक उपधि याचित कर ली जाती है, उसे यहाँ
'पाडिहारियं- प्रातिहारिक' के रूप में अभिहित किया गया है। जो उपधि शय्यातर (जिस
मकान में भिक्षु रुका हो, उसके मालिक) से याचित कर गृहीत की जाती है, उसे
'सागारियसंतियं - सागारिकसत्क' शब्द द्वारा सूचित किया गया है।

प्रत्यर्पणीय तो दोनों ही हैं, किन्तु शय्यातर के मकान में जो सहज रूप में उपकरण रखे
हुए हों, उन्हें याचित कर भिक्षु उपयोग में लेता है। उपयोग में लेने के बाद वह वहीं, मकान
मालिक को यह कहता हुआ कि - 'अपनी सामग्री सम्हाल लो' प्रत्यर्पित कर देता है।
उपकरण वहीं ज्यों की त्यों पड़े रहते हैं।

यदि भिक्षु को पुनः उन्हें उपयोग में लेने की आवश्यकता हो जाए तो शय्यातर से आज्ञा प्राप्त करके ही उपयोग में ले सकता है। 'वहाँ रखे हुए हैं ही, उपयोग में ले लूं' ऐसा नहीं कर सकता। यदि शय्यातर की पुनः अनुज्ञा प्राप्त किए बिना उपयोग में लेता है तो वह प्रायश्चित्त का भागी होता है।

जो औपग्रहिक उपधि - उपकरण बाहर से लाए गए हों, सामान्यतः परंपरा यह है कि भिक्षु उन्हें वापस वहीं ले जाकर लौटाता है, किन्तु यदि उनका मालिक संयोगवश उपाश्रय में, भिक्षु के ठहरने के स्थान में आया हुआ हो और यदि वह उसे, वहाँ भी सम्हला दे तो दोष नहीं है। किन्तु सम्हलाने के पश्चात् यदि वह उनको, उनके मालिक की अनुज्ञा प्राप्त किए बिना पुनः उपयोग में लेता है तो उस द्वारा वैसा किया जाना दोष युक्त हो जाता है।

यद्यपि देखने में ये बहुत छोटी बातें लगती हैं, किन्तु भिक्षु के प्रतिक्षण जागरूकतामय जीवन में इतनी भी असावधानी आदेय नहीं है। क्योंकि ऐसी मर्यादाबद्ध नियमानुवर्तिता न रहने से जीवन में अव्यवस्था तथा उच्छृंखलता का आना आशंकित है।

जैन दर्शन अत्यन्त सूक्ष्मदर्शितायुक्त है। उसमें प्रत्येक विषय के सन्दर्भ में बहुत ही गहराई से, बारीकी से चिन्तन हुआ है तथा तदनुकूल चर्यामूलक मर्यादाएँ एवं व्यवस्थाएँ स्थापित की गई हैं।

कपास आदि कातने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू सणकप्पासाओ वा उण्णकप्पासाओ वा पोण्डकप्पासाओ वा अमिलकप्पासाओ वा दीहसुत्ताइं करेइ करेत्तं वा साइज्जइ ॥ २५ ॥

भावार्थ - २५. जो भिक्षु कपास (कपास से प्राप्त रूई), ऊन, पोंड - अर्क आदि वानस्पतिक डोडों से प्राप्त रूई या सेमल आदि वृक्षों से प्राप्त रूई से लम्बे सूत बनाता है - कातकर वैसा करता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - भिक्षु का जीवन आरम्भ-समारम्भ विरहित होता है। वस्त्र आदि किसी भी उपकरण का वह स्वयं निर्माण नहीं करता। यदि निरवद्य रूप में प्राप्त हो तो वह गृहस्थों से याचित कर ग्रहण करता है।

रूई, ऊन आदि को कातकर साधु द्वारा धागा तैयार किया जाना यद्यपि है तो छोटा सा

कार्य, किन्तु साधुचर्या के प्रतिकूल होने से वह परिहेय है, परित्याज्य है। जिस उद्देश्य से या जिस कार्य के लिए साधु रूई आदि को कातने का उपक्रम करे, उसके स्थान पर उसके लिए करणीय यह है कि वह गृहस्थों से उपयोग हेतु वैसी वस्तु आचार मर्यादा के अनुरूप याचित कर प्राप्त करे, आवश्यकतानुरूप उपयोग में ले। स्वयं उसे निर्मित करना सर्वथा असंगत है।

निशीथ भाष्य में साधु द्वारा कपास, ऊन आदि काते जाने के दोषों का वर्णन करते हुए कहा गया है :-

“कातना आदि तो गृहस्थ के कार्य हैं। भिक्षु यदि वैसा करने लगे तो साधुत्व की अवहेलना होती है, वैसा करते समय मशकादि जीवों की विराधना होती है, अत्यधिक कातने से हाथों में परिश्रान्तता, शिथिलता आ जाती है, जिससे अन्य कार्य करने में बाधा उत्पन्न होती है। कताई का उपक्रम आगे चलकर बुनाई में भी परिवर्तित, प्रचलित हो सकता है, संग्रह आदि दोष भी उसमें आशंकित हैं★।”

इस सूत्र में इन्हीं कारणों से कताई का उपक्रम भिक्षु के लिए प्रायश्चित्त योग्य बतलाया गया है।

सचित्त, चित्रित-विचित्रित दण्ड बनाने आदि का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू सचित्ताइं दारुदंडाणि वा वेणुदंडाणि वा वेत्तदंडाणि वा करेइ करेतं वा साइज्जइ ॥ २६ ॥

जे भिक्खू सचित्ताइं दारुदंडाणि वा वेणुदंडाणि वा वेत्तदंडाणि वा धरेइ धरेतं वा साइज्जइ ॥ २७ ॥

जे भिक्खू चित्ताइं दारुदंडाणि वा वेणुदंडाणि वा वेत्तदंडाणि वा करेइ करेतं वा साइज्जइ ॥ २८ ॥

जे भिक्खू चित्ताइं दारुदंडाणि वा वेणुदंडाणि वा वेत्तदंडाणि वा धरेइ धरेतं वा साइज्जइ ॥ २९ ॥

जे भिक्खू विचित्ताइं दारुदंडाणि वा वेणुदंडाणि वा वेत्तदंडाणि वा करेइ करेतं वा साइज्जइ ॥ ३० ॥

★ निशीथ भाष्य, गाथा - १९६६

जे भिक्खू विचिन्ताइं दारुदंडाणि वा वेणुदंडाणि वा वेत्तदंडाणि वा धरेइ धरेंतं वा साइज्जइ ॥ ३१ ॥

कठिन शब्दार्थ - सचित्ताइं - सचित्त, दारुदंडाणि - काठ के दण्ड, वेणुदंडाणि - बांस के दण्ड, वेत्तदंडाणि - बेंत के दण्ड, चिन्ताइं - चित्रित - रंग युक्त, विचिन्ताइं - विचित्र - विविध रंग युक्त।

भावार्थ - २६. जो भिक्षु सचित्त काष्ठदण्ड, वेणुदण्ड या वेत्रदण्ड बनाता है अथवा बनाते हुए का अनुमोदन करता है।

२७. जो भिक्षु सचित्त काष्ठदण्ड, वेणुदण्ड या वेत्रदण्ड धारण करता है या धारण करते हुए का अनुमोदन करता है।

२८. जो भिक्षु काष्ठदण्ड, वेणुदण्ड या वेत्रदण्ड चित्रित करता है - रंगीन बनाता है, रंगता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

२९. जो भिक्षु चित्रित - रंगीन काष्ठदण्ड, वेणुदण्ड या वेत्रदण्ड धारण करता है अथवा धारण करते हुए का अनुमोदन करता है।

३०. जो भिक्षु काष्ठदण्ड, वेणुदण्ड या वेत्रदण्ड विचित्रित - विभिन्न रंग युक्त बनाता है, विभिन्न रंगों से रंगता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

३१. जो भिक्षु विभिन्न रंगयुक्त काष्ठदण्ड, वेणुदण्ड या वेत्रदण्ड धारण करता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

विवेचन - सामान्यतः भिक्षु दण्ड (काठ आदि का डण्डा) नहीं रखता, किन्तु आवश्यकतावश वह अचित्त काष्ठ आदि का दण्ड औपग्रहिक उपधि के रूप में गृहस्थ से याचित्त कर ग्रहण कर सकता है। आवश्यकता के पश्चात् उसे वापस लौटा देता है।

उपर्युक्त सूत्रों में जो सचित्त काष्ठदण्ड आदि बनाने का वर्णन आया है - उसके दो अर्थ किये जाते हैं - १. सचित्त जीव सहित लकड़ी - कुछ आर्द्रता (गीलापन) वाली होने पर भी सचित्त या मिश्र होती है २. अचित्त लकड़ी होने पर भी जिसमें धुन पड़े हुए है ऐसी लकड़ी का दण्ड आदि बनावे तो जीव विराधना होने से यहाँ पर लघुमासिक प्रायश्चित्त बताया है। पूर्ण रूप से हरी लकड़ी के द्वारा दण्ड आदि बनाने में तो अधिक जीव विराधना की स्थिति होने से उसका तो अधिक प्रायश्चित्त समझना चाहिए।

वृद्धत्व, शारीरिक दौर्बल्य आदि के कारण यदि भिक्षु निरन्तर काष्ठ आदि का दण्ड धारण करे तो वह दोष युक्त नहीं है।

यदि बना बनाया दण्ड प्राप्त न हो तो अचित्त काष्ठ आदि का दण्ड बनाना, उसे धारण करना एवं उपयोग में लेना भिक्षु के लिए दोषयुक्त नहीं है। क्योंकि वह दैहिक स्थिति के कारण अपरिहार्य रूप में अपेक्षित है।

अचित्त काष्ठ आदि से दण्ड बनाते, धारण करते या उपयोग में लेते समय यह ध्यान में रहना चाहिए कि अचित्त काष्ठ कीट आदि जीव युक्त न हो, अपने स्वाभाविक रंग में हो, रंगा हुआ न हो। भिक्षु स्वयं भी उसे एक या अनेक रंगों से न रंगे, क्योंकि ऐसा करना उसे सुन्दर और आकर्षक बनाना है, जो भिक्षु के लिए अस्वीकार्य है। भिक्षु के जीवन में त्याग, तप एवं साधना का ही आकर्षण हो, बाह्य आकर्षणों का उसके लिए कोई मूल्य नहीं है। वे निरर्थक हैं, त्याज्य हैं।

दण्ड की सुरक्षा आदि के लिए उस पर कोई लेप आदि करना आवश्यक हो तो वह सज्जा में नहीं गिना जाता। अत एव वैसा करना अविहित नहीं है।

नवस्थापित ग्राम आदि में भिक्षा ग्रहण करने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू णवगणिवेसंसि वा गामंसि वा जाव सण्णिवेसंसि वा अणुप्पविसित्ता असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ ॥ ३२ ॥

कठिन शब्दार्थ - णवगणिवेसंसि - नवस्थापित, गामंसि - ग्राम - गाँव में, सण्णिवेसंसि - सन्निवेश - व्यापारिक काफिले या सार्थवाह सेना के अस्थायी निवास हेतु बने कुटीर (कैम्प, शिविर)।

भावार्थ - ३२. जो भिक्षु नवस्थापित ग्राम यावत् सन्निवेश में अनुप्रविष्ट होकर अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप चतुर्विध आहार प्रतिगृहीत करता है - लेता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

विवेचन - नवस्थापित गाँव आदि में भिक्षु का प्रवेश करना तथा भिक्षा लेना उपर्युक्त सूत्र में जो प्रायश्चित्त योग्य बतलाया गया है, उसका आशय यह है कि कतिपय अन्यतीर्थानुयायी जन जैन भिक्षुओं के आगमन को (यद्यपि वास्तव में वैसा कुछ है नहीं किन्तु) स्वगत लौकिक मान्यतावश अपशकुन के साथ जोड़ लेते हैं। तदनुसार उनके मन में अप्रसन्नता, व्यथा आदि विपरीत भाव उत्पन्न होना आशंकित है।

जो जैन भिक्षुओं के आगमन को शुभ शकुन रूप मानते हैं, उनके मन में अत्यधिक

उल्लास एवं प्रमोद उत्पन्न होता है। प्रसन्नता के अतिरेक से वे स्वागत, सम्मान आदि हेतु ऐसी प्रदर्शनात्मक तैयारियाँ करने में लग सकते हैं, जिनमें विशेष रूप से आरम्भ-समारम्भ हों।

यों अपशकुन और शुभ शकुन दोनों ही दृष्टियों से भिक्षु का नवस्थापित ग्राम आदि में अनुप्रवेश एवं भिक्षा ग्रहण दोषयुक्त बतलाया गया है।

खान-निकटवर्ती नवस्थापित बस्ती में प्रवेश आदि विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू णवगणिवेसंसि वा अयागरंसि वा तंबागरंसि वा तउयागरंसि वा सीसागरंसि वा हिरण्णागरंसि वा सुवण्णागरंसि वा (रयणागरंसि वा) वडरागरंसि वा अणुप्पविसित्ता असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ ॥ ३३ ॥

कठिन शब्दार्थ - अयागरंसि - लोहे की खान, तंबागरंसि - ताँबे की खान, तउयागरंसि- जस्त - रांगे की खान, सीसागरंसि - सीसे की खान, हिरण्णागरंसि - हिरण्य - रजत या चाँदी की खान, सुवण्णागरंसि - सोने की खान, रयणागरंसि - रत्नों की खान, वडरागरंसि- हीरों की खान।

भावार्थ - ३३. जो भिक्षु लोहा, ताँबा, जस्त, सीसा, चाँदी, सोना, (रत्न) या हीरे - इन खनिज पदार्थों में से किसी की भी खान के निकट नवस्थापित बस्ती - आबादी में अनुप्रविष्ट होकर अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप चतुर्विध आहार लेता है अथवा लेते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - जहाँ लोहा, सोना, चाँदी आदि धातुओं तथा अन्यान्य खनिज पदार्थों की खानें होती हैं, वहाँ अनेक श्रमिक - मजदूर तथा कर्मचारी, व्यवस्थापक, संचालक आदि रहने लगते हैं। उनकी एक बस्ती आबाद हो जाती है।

किसी भी खान के निकट नवस्थापित - नई बसी हुई आबादी में जाकर भिक्षा लेना उपर्युक्त सूत्र में जो प्रायश्चित्त योग्य बतलाया गया है, उसका एक कारण तो इससे पूर्ववर्ती सूत्र में वर्णित अपशकुन, शुभशकुन विषयक है, यहाँ उसी रूप में समझ लेना चाहिए।

खान के निकटवर्ती नवस्थापित आबादी में पृथ्वीकाय आदि जीवों की विराधना - हिंसा होना भी अपेक्षाकृत अधिक आशंकित है।

बहुमूल्य धातुओं तथा रत्नों की खानों के निकटवर्ती बस्तियों में जाना इसलिए भी अनुचित और अवांछित है, क्योंकि वहाँ यथार्थ न होने पर भी भिक्षु पर चोरी का भी इल्जाम

आ सकता है। क्योंकि बहुमूल्य वस्तुओं का खोया जाना, किसी द्वारा छिपा लिया जाना, स्तेय बुद्धि से उठा लिया जाना भी (वहाँ) संभावित रहता है। ऐसी स्थिति में भिक्षु पर अज्ञानवश लोग मिथ्या आरोप भी लगा सकते हैं। इस प्रकार की आशंकाएँ वहाँ विद्यमान रहती हैं।

भिक्षु की शुद्ध, संयत चर्या अविचल अविचल रूप में चलती रहे, इस हेतु उसे आशंकनीय स्थानों तथा हेतुओं से सदैव बचते रहना चाहिए।

मुखवीणिका आदि बनाने एवं बजाने का प्रायश्चित्त

- जे भिक्खू मुहवीणियं करेइ करेत्तं वा साइज्जइ ॥ ३४ ॥
जे भिक्खू दंतवीणियं करेइ करेत्तं वा साइज्जइ ॥ ३५ ॥
जे भिक्खू उट्टुवीणियं करेइ करेत्तं वा साइज्जइ ॥ ३६ ॥
जे भिक्खू गासावीणियं करेइ करेत्तं वा साइज्जइ ॥ ३७ ॥
जे भिक्खू कक्खवीणियं करेइ करेत्तं वा साइज्जइ ॥ ३८ ॥
जे भिक्खू हत्थवीणियं करेइ करेत्तं वा साइज्जइ ॥ ३९ ॥
जे भिक्खू णहवीणियं करेइ करेत्तं वा साइज्जइ ॥ ४० ॥
जे भिक्खू पत्तवीणियं करेइ करेत्तं वा साइज्जइ ॥ ४१ ॥
जे भिक्खू पुप्फवीणियं करेइ करेत्तं वा साइज्जइ ॥ ४२ ॥
जे भिक्खू फलवीणियं करेइ करेत्तं वा साइज्जइ ॥ ४३ ॥
जे भिक्खू बीयवीणियं करेइ करेत्तं वा साइज्जइ ॥ ४४ ॥
जे भिक्खू हरियवीणियं करेइ करेत्तं वा साइज्जइ ॥ ४५ ॥
जे भिक्खू मुहवीणियं वाएइ वाएत्तं वा साइज्जइ ॥ ४६ ॥
जे भिक्खू दंतवीणियं वाएइ वाएत्तं वा साइज्जइ ॥ ४७ ॥
जे भिक्खू उट्टुवीणियं वाएइ वाएत्तं वा साइज्जइ ॥ ४८ ॥
जे भिक्खू गासावीणियं वाएइ वाएत्तं वा साइज्जइ ॥ ४९ ॥
जे भिक्खू कक्खवीणियं वाएइ वाएत्तं वा साइज्जइ ॥ ५० ॥
जे भिक्खू हत्थवीणियं वाएइ वाएत्तं वा साइज्जइ ॥ ५१ ॥
जे भिक्खू णहवीणियं वाएइ वाएत्तं वा साइज्जइ ॥ ५२ ॥

जे भिक्खू पत्तवीणियं वाएइ वाएंत्तं वा साइज्जइ ॥ ५३ ॥

जे भिक्खू पुप्फवीणियं वाएइ वाएंत्तं वा साइज्जइ ॥ ५४ ॥

जे भिक्खू फलवीणियं वाएइ वाएंत्तं वा साइज्जइ ॥ ५५ ॥

जे भिक्खू बीयवीणियं वाएइ वाएंत्तं वा साइज्जइ ॥ ५६ ॥

जे भिक्खू हरियवीणियं वाएइ वाएंत्तं वा साइज्जइ ॥ ५७ ॥

जे भिक्खू अण्णयराणि वा तहप्पगाराणि वा अणुदिण्णाइं सद्दाइं उदीरेइ उदीरिंतं वा साइज्जइ ॥ ५८ ॥

कठिन शब्दार्थ - मुहवीणियं - मुखवीणिका, दंतवीणियं - दन्तवीणिका, उट्टवीणियं- ओष्ठवीणिका, णासावीणियं - नासावीणिका, कक्खवीणियं - कक्ष- काँख वीणिका, हत्थवीणियं - हस्तवीणिका, णहवीणियं - नखवीणिका, पत्तवीणियं - पत्रवीणिका, पुप्फवीणियं - पुष्पवीणिका, फलवीणियं - फलवीणिका, बीयवीणियं - बीजवीणिका हरियवीणियं - हरितवीणिका, वाएइ - बजाता है, तहप्पगाराणि - उस प्रकार के, अणुदिण्णाइं - अनुदीर्ण - अनुत्पन्न, सद्दाइं - शब्दों को, उदीरेइ - उदीरित - उत्पन्न करता है।

भावार्थ - ३४. जो भिक्षु मुख को वीणा की तरह करता है, बनाता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

३५. जो भिक्षु दाँतों को वीणा की तरह करता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

३६. जो भिक्षु होठों को वीणा की तरह करता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

३७. जो भिक्षु नासिका को वीणा की तरह करता या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

३८. जो भिक्षु काँख को वीणा की तरह करता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

३९. जो भिक्षु हाथ को वीणा की तरह करता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

४०. जो भिक्षु नख को वीणा की तरह करता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

४१. जो भिक्षु (वृक्ष विशेष के) पत्ते को वीणा की तरह करता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

४२. जो भिक्षु पुष्प को वीणा की तरह करता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।
४३. जो भिक्षु फल को वीणा की तरह करता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।
४४. जो भिक्षु बीज को वीणा की तरह करता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।
४५. जो भिक्षु हरियाली - हरी घास आदि को वीणा की तरह करता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।
४६. जो भिक्षु मुख को वीणा की तरह बजाता है - मुख से वीणा जैसी ध्वनि निकालता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।
४७. जो भिक्षु दाँतों से वीणा जैसी ध्वनि निकालता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।
४८. जो भिक्षु होठों से वीणा जैसी ध्वनि निकालता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।
४९. जो भिक्षु नासिका से वीणा जैसी ध्वनि निकालता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।
५०. जो भिक्षु काँख से वीणा जैसी ध्वनि निकालता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।
५१. जो भिक्षु हाथ से वीणा जैसी ध्वनि निकालता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।
५२. जो भिक्षु नख से वीणा जैसी ध्वनि निकालता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।
५३. जो भिक्षु (वृक्ष विशेष के) पत्ते से वीणा जैसी ध्वनि निकालता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।
५४. जो भिक्षु पुष्प से वीणा जैसी ध्वनि निकालता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।
५५. जो भिक्षु फल से वीणा जैसी ध्वनि निकालता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।
५६. जो भिक्षु बीज से वीणा जैसी ध्वनि निकालता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

५७. जो भिक्षु हरियाली - हरी घास आदि से वीणा जैसी ध्वनि निकालता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

५८. यों जो भिक्षु इस प्रकार के अन्य अनुत्पन्न शब्दों को ध्वन्यात्मक रूप में उत्पन्न करता है या उत्पन्न करते हुए का अनुमोदन करता है।

उपर्युक्त सूत्रों में वर्णित दोष-स्थानों में से किसी भी दोष-स्थान का सेवन करने वाले भिक्षु को लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - स्थापत्य, प्रतिमा, चित्र, काव्य एवं संगीत - ये पाँच ललित कलाएं हैं। मनोरंजन, मानसिक हर्ष एवं उल्लास बढ़ाने में इनकी अपनी सुंदरता के अनुकूल उपयोगिता बढ़ती जाती है। संगीत के साथ तन्तुवाद्य एवं तालवाद्य का अविनाभाव संबंध है। तन्तुवाद्यों में वीणा प्राचीनतम है और महत्त्वपूर्ण है। तर्जनी पर लगे मिराज द्वारा उन्हें इंकृत किया जाता है। वीणा से ही अन्य तन्तुवाद्यों का विकास हुआ है। इन सूत्रों में प्रयुक्त 'वीणियं' (वीणिका) शब्द वीणा का वाचक है। वीणा से ही 'स्वार्थे क' प्रत्यय लगाने से 'वीणिका' शब्द बना है।

'सर्वं विडंबियं गीयं सर्वं नट्टं विडंबियं' इस आगम वचन के अनुसार सभी गीत और सभी नृत्य विडंबना है। यह वचन भिक्षु को उद्दिष्ट कर कहा गया है। सर्वस्व त्यागी आत्मचेता, संयमी साधक के लिए स्वाध्याय, आत्मचिन्तन, मनन एवं तपश्चरण ही मनोरंजन, मनोविनोद या मानसिक हर्ष के हेतु हैं। इसीलिए नृत्य या गीत आदि से उसे पृथक् रहने का निर्देश दिया गया है।

यहाँ इतना अवश्य ज्ञातव्य है, अपने मनोरंजन के लिए, दूसरों को रिझाने के लिए या कुतूहलवश संगान करना दोष है। वाद्य बजाना तो अति दोष पूर्ण है। किन्तु आध्यात्मिक पदों का लयात्मक रूप में, संगानात्मक रूप में उच्चारण करना अदूषित है। इतना ही नहीं यह सत् तत्त्व आत्म सात कराने में उपयोगी भी है।

यही कारण है कि जैनाचार्यों, मुनियों और लेखकों ने आध्यात्मिक ज्ञेय पदों की रचना की है। यहाँ वीणावादन के बालकोचित, कल्पित उपक्रमों का जो वर्णन हुआ है, वह सर्वथा प्रयोजन शून्य, निरर्थक और कौतुहलजनित निरर्थक औत्सुक्य का सूचक है।

मुँह, नासिका, कर्ण, नख इत्यादि अंगोपांगों से, पत्र, पुष्प, फल आदि से वीणा का वादन का अभिनय करना इतना तुच्छ कार्य है, जिसकी साधु द्वारा किए जाने की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

इसके अतिरिक्त वनस्पतिकाय, वायुकाय इत्यादि अनेकविध जीवों की विराधना का प्रसंग भी इससे जुड़ा हुआ है, जिससे अहिंसा महाव्रत व्याहृत होता है।

यद्यपि भिक्षु सामान्यतः ऐसा नहीं करते किन्तु आखिर वह भी तो मानव है। कदाचन कौतुकाधिक्य, कल्पित रूप में आत्मरंजन आदि हेतु ऐसी बचकानी प्रवृत्तियों में साधु न पड़ जाए इस हेतु जागरूक करने की दृष्टि से विस्तार से इन अवाञ्छित, दोष संकुल उपक्रमों का उल्लेख हुआ है। साधु सदैव इनसे बचा रहे।

औद्देशिक आदि स्थान में प्रवेश-प्रवास विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू उद्देशियं सेज्जं अणुपविसइ अणुपविसंतं वा साइज्जइ ॥ ५९ ॥

जे भिक्खू सपाहुडियं सेज्जं अणुपविसइ अणुपविसंतं वा साइज्जइ ॥ ६० ॥

जे भिक्खू सपरिकम्मं सेज्जं अणुपविसइ अणुपविसंतं वा साइज्जइ ॥ ६१ ॥

कठिन शब्दार्थ - उद्देशियं - औद्देशिक, सेज्जं - शय्या, सपाहुडियं - सप्राभृतिक, सपरिकम्मं - परिकर्म युक्त।

भावार्थ - ५९. जो भिक्षु औद्देशिक शय्या - आवास स्थान में अनुप्रविष्ट होता है, प्रवास करता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

६०. जो भिक्षु सप्राभृतिक शय्या - आवास स्थान में अनुप्रविष्ट होता है, प्रवास करता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

६१. जो भिक्षु सपरिकर्म शय्या - आवास - स्थान में अनुप्रविष्ट होता है, प्रवास करता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

ऐसा करना वाले भिक्षु को लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - भिक्षु आरम्भ-समारम्भ का तीन योग और तीन करण पूर्वक त्यागी होता है। अत एव अपने निमित्त निर्मापित स्थान में रहना, अपने लिए बनाए गए आहार, वस्त्र, पात्र आदि स्वीकार करना उसके लिए सर्वथा वर्जित है। यहाँ उन स्थानों का वर्णन है, जो भिक्षु के लिए अस्वीकार्य हैं। उनको स्वीकार करना दोष युक्त या प्रायश्चित्त योग्य है। वे तीन प्रकार से निरूपित हुए हैं -

१. औद्देशिक - यह शब्द उद्देश का तद्धित प्रक्रियान्तर्गत रूप है। उद्देश का अर्थ लक्ष्य या अभिप्राय है, जिसे लक्षित या उद्दिष्ट कर जो कार्य किया जाता है, उसे औद्देशिक कहा जाता है। भिक्षुओं के आवास का उद्देश्य लेकर जो भवन बनाए जाते हैं, वे औद्देशिक हैं।

उपर्युक्त सूत्र में बताई हुई “औद्देशिक शय्या को - आधाकर्म, औद्देशिक आदि अविशुद्ध कोटि के दोष वाली” नहीं समझना चाहिए। क्योंकि उसका तो आधाकर्मो वस्त्र, पात्र, आहार की तरह-गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त बताया है। यहाँ पर तो सभी श्रमणों के लिए बनाई गई “समणार्ण उद्देशो” समण माहण आदि के समुच्चय उद्देश्य वाली शय्या समझना चाहिए। आचारांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के दूसरे अध्ययन में वर्णित अनभिक्रान्त आदि क्रिया वाली शय्याओं में अपरुषान्तक अवस्था में प्रवेश करने पर औद्देशिक शय्या समझनी चाहिए।

भवन निर्माण में अत्यधिक आरंभ-समारम्भ होता है। उसे ‘कमट्टाण - कर्म स्थान’ कहा गया है। जहाँ विभिन्न सावद्य कर्मों का दोष लगता है। राजस्थान के थली जनपद में आज भी भवन निर्माण को ‘कमठाणा’ कहा जाता है, जो इसका अपभ्रंश रूप है। जिससे प्रकट होता है कि जैन दर्शन की चिन्तनधारा सामान्य लोकजीवन में इस क्षेत्र में कभी प्रसार पा चुकी थी। वर्तमान में भी सामान्यजन इस शब्द का प्रयोग तो करते हैं किन्तु संभवतः इसमें अन्तर्निहित मर्म को नहीं जानते।

2. सप्राभृतिक - ‘प्रकर्षेण आ समन्तात् भ्रियते, पूर्यते इति प्राभृतम्, प्राभृतेन सहितं सप्राभृतम्, सप्राभृतेन संबद्धं सप्राभृतिकम्’ इस व्युत्पत्ति विग्रह के अनुसार प्राभृत उसे कहा जाता है, जो किसी के लिए भेंट स्वरूप विशेष रूप से तैयार की जाती है। वैसी वस्तुविशेष को सप्राभृतिक कहा जाता है।

अपने लिए भवन निर्माण करता हुआ कोई गृहस्थ साधुओं के आगमन को उद्दिष्ट कर उनकी सुविधा, अनुकूलता को दृष्टि में रखता हुआ निर्माण को आगे-पीछे करे, वैसा उस रूप में निर्मित स्थान सप्राभृतिक दोष युक्त है। आगमों में बतलाए गए सोलह उद्गम दोषों में यह ‘पाहुडिया’ संज्ञक छठा दोष है। ‘पाहुडिया’ ‘प्राभृतिक’ का प्राकृत रूप है।

3. सपरिकर्म - ‘परि समन्तात् क्रियते इति परिकर्मः’ के अनुसार किसी कार्य को विविध रूप में, विस्तार पूर्वक करना, उपयोग योग्य बनाना परिकर्म है। इसका सज्जा के अर्थ में विशेष रूप से प्रयोग होता है। साधुओं के संभावित प्रवास को दृष्टिगत रखते हुए भवन की विविध प्रकार से साज-सज्जा करना, सफाई करना, वायु के आगमन को न्यूनाधिक करना, द्वार को सुविधानुरूप छोटे-बड़े रूप में परिवर्तित करना, भूमि को सम-विषम करना, अचित्त भारी वस्तुओं को इधर-उधर करना, रंगाई-पुताई कराना, विशेष स्वच्छता एवं मरम्मत करवाना इत्यादि सपरिकर्म दोष के अन्तर्गत हैं।

इनमें पृथ्वीकाय, अप्काय, वायुकाय, तेजस्काय इत्यादि जीवों की विराधना सन्निहित है।

अत एव भिक्षु ऐसे आवास स्थानों में गवेषणा पूर्वक प्रवेश करे ताकि इस प्रकार उसकी चर्या दोषाविल न हो जाए।

संभोग प्रत्ययिक क्रिया-विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू णत्थि संभोगवत्तिया किरियत्ति वयइ वयंतं वा साइज्जइ ॥ ६२ ॥

कठिन शब्दार्थ - संभोगवत्तिया - संभोग प्रत्ययिक।

भावार्थ - ६२. 'संभोग प्रत्ययिक क्रिया नहीं लगती', जो भिक्षु इस प्रकार वचन बोलता है या बोलते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - 'सम्' उपसर्ग और 'भुज्' धातु के योग से संभोग शब्द निष्पन्न होता है। 'सह भोजनं अथवा एकत्र भोजनं संभोगः' एक साथ, एक पंक्ति या मंडल में भोजन करना 'संभोग' कहा जाता है। इसी प्रकार और भी आवश्यक कार्य जो गण के भिक्षु एक साथ करने के अधिकारी हैं, संभोग शब्द द्वारा अभिहित होते हैं।

जिन भिक्षुओं के सहभोजन इत्यादि पारस्परिक संबंध होते हैं, उन्हें सांभोगिक कहा जाता है। वैसा कोई सांभोगिक भिक्षु भिक्षाचर्या आदि में यथेष्ट गवेषणा न करता हुआ कोई दोष लगाता है, उस द्वारा आनीत भिक्षा का जो साधु उपयोग करते हैं, उनको भी उस दोष की क्रिया लगती है। उसे संभोग प्रत्ययिक क्रिया कहा जाता है।

'संभोग प्रत्याययति, इति संभोग प्रत्यय, संभोग प्रत्ययिका वा' इस विग्रह के अनुसार पारस्परिक सांभोगिकता की प्रतीति कराने से इस क्रिया को उक्त संज्ञा से अभिहित किया जाता है।

उपयोग योग उपधि को ध्वस्त कर परठने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू वत्थं वा पडिगगहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा अलं थिरं धुवं धारणिज्जं पलिच्छिंदय पलिच्छिंदय परिट्टवेइ परिट्टवेंतं वा साइज्जइ ॥ ६३ ॥

जे भिक्खू लाउयपायं वा दारुपायं वा मट्टियापायं वा अलं थिरं धुवं धारणिज्जं पलिभिंदिय पलिभिंदिय परिट्टवेइ परिट्टवेंतं वा साइज्जइ ॥ ६४ ॥

जे भिक्खू दंडगं वा लट्टियं वा अवलेहणियं वा वेणसूडं वा पलिभंजिय पलिभंजिय परिट्टवेइ परिट्टवेंतं वा साइज्जइ ॥ ६५ ॥

कठिन शब्दार्थ - वत्थं - वस्त्र, पडिग्गहं - प्रतिग्रह - पात्र रखने की झोली, अलं - उपयोग हेतु पर्याप्त - यथेष्ट, थिरं - स्थिर - यथावस्थित - अपने स्वरूप में यथावत् विद्यमान, धुवं - धुव - चिरकाल पर्यन्त बरतने योग्य, धारणिज्जं - धारणीय - धारण करने योग्य, रखने योग्य, पलिच्छिंदिय - प्रतिछिन्न कर - टुकड़े-टुकड़े कर, परिभिंदिय - परिभिन्न कर - प्रस्फोटित कर या फोड़कर, पलिभंजिय - परिभग्न कर - तोड़ कर।

भाषार्थ - ६३. जो भिक्षु उपयोग हेतु पर्याप्त, अपने स्वरूप में यथावत् विद्यमान, चिरकाल पर्यन्त बरतने योग्य, धारण करने योग्य वस्त्र, पात्र रखने की झोली, कम्बल या पादप्रोच्छन को टुकड़े-टुकड़े कर परठता है अथवा परठते हुए का अनुमोदन करता है।

६४. जो भिक्षु उपयोग हेतु पर्याप्त, अपने स्वरूप में यथावत् विद्यमान, चिरकाल पर्यन्त बरतने योग्य, धारण करने योग्य तुम्बिका पात्र, काष्ठ पात्र या मृत्तिका पात्र को फोड़-फोड़कर परठता है या परठते हुए का अनुमोदन करता है।

६५. जो भिक्षु दण्ड, लाठी, अवलेहनिका या बांस की सूई को तोड़-तोड़ कर परठता है या परठते हुए का अनुमोदन करता है।

ऐसा करने वाले भिक्षु को लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - जैसाकि पहले वर्णित हुआ है, भिक्षु वस्त्र, पात्र, दण्ड आदि उपधि का उपयोग शास्त्रमर्यादानुसार यथावश्यक रूप में करता है। जो वस्त्र, पात्र आदि उपधि भिक्षु ने प्राप्त की हो, उसका जब तक वह काम में लेने योग्य स्थिति में रहे, प्रतिछिन्न, परिभिन्न एवं परिभग्न न हो अर्थात् आवश्यकता या प्रयोजन को पूर्ण करने में समर्थ हो तब तक उसको उपयोग में लेना चाहिए। अभिनव, शोभन, आकर्षक आदि प्राप्त करने के भाव से या अन्य किसी विचार से उसे तोड़-फोड़ कर परठना कदापि उचित नहीं है। ऐसा करना उपकरणों के प्रति भिक्षु की आसक्तता का सूचक है। आसक्तता प्रलोभन का रूप है, जिससे भिक्षु सर्वथा दूर रहे।

अत एव उपर्युक्त रूप में उपधि को तोड़-फोड़ कर परठने का प्रायश्चित्त प्रतिपादित हुआ है।

रजोहरण के अनियमित प्रयोग का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू अइरेयपमाणं रयहरणं धरेइ धरेंतं वा साइज्जइ ॥ ६६ ॥

जे भिक्खू सुहमाइं रयहरणसीसाइं करेइ करेंतं वा साइज्जइ ॥ ६७ ॥

- जे भिक्खू रयहरणस्स एक्कं बंधं देइ देतं वा साइज्जइ ॥ ६८ ॥
- जे भिक्खू रयहरणं कंडूसगबंधेणं बंधइ बंधंतं वा साइज्जइ ॥ ६९ ॥
- जे भिक्खू रयहरणं अविहीए बंधइ बंधंतं वा साइज्जइ ॥ ७० ॥
- (जे भिक्खू रयहरणं एगेण बंधेण बंधइ बंधंतं वा साइज्जइ ॥ ७१ ॥)
- जे भिक्खू रयहरणस्स परं तिण्हं बंधाणं देइ देतं वा साइज्जइ ॥ ७२ ॥
- जे भिक्खू रयहरणं अणिसट्ठं धरेइ धरंतं वा साइज्जइ ॥ ७३ ॥
- जे भिक्खू रयहरणं वोसट्ठं धरेइ धरंतं वा साइज्जइ ॥ ७४ ॥
- जे भिक्खू रयहरणं अभिक्खणं अभिक्खणं अहिट्ठेइ अहिट्ठंतं वा साइज्जइ ॥ ७५ ॥
- जे भिक्खू रयहरणं उस्सीसमूले ठवेइ ठवंतं वा साइज्जइ ॥ ७६ ॥
- जे भिक्खू रयहरणं तुयट्ठेइ तुयट्ठंतं वा साइज्जइ । तं सेवमाणे आवज्जइ मासियं परिहारट्ठाणं उग्घाइयं ॥ ७७ ॥

॥ णिसीहज्जयणे पंचमो उद्देशो समत्तो ॥ ५ ॥

कठिन शब्दार्थ - अइरेयपमाणं - अतिरेक प्रमाण - प्रमाणाधिक, प्रमाण से बड़ा, रयहरणं - रजोहरण, सुहुमाइं - सूक्ष्म - बारीक, रयहरणसीसाइं - रजोहरण की फलियाँ, बंधं - बंध - गाँठ, कंडूसगबंधेणं - कन्दुक - गेंद जैसी मोटी गाँठ लगाकर बांधना, बंधइ - बांधता है, अणिसट्ठं - अनिसृष्ट - अकल्पनीय, वोसट्ठं - व्युत्सृष्ट - अपने शरीर के प्रमाण से या साढे तीन हाथ प्रमाण से अधिक दूर, अभिक्खणं - अभिक्षण - क्षण-क्षण - प्रतिक्षण, अहिट्ठेइ - अधिष्ठित होता है, उस्सीसमूले - सिर के नीचे, ठवेइ - स्थापित करता है - रखता है, तुयट्ठेइ - त्वग्वर्तित करता है - करवट में रखता है।

भावार्थ - ६६. जो भिक्षु प्रमाण से अधिक रूप में विद्यमान रजोहरण को धारण करता है या धारण करते हुए का अनुमोदन करता है।

६७. जो भिक्षु रजोहरण की फलियों को सूक्ष्म - बारीक-बारीक बनाता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

६८. जो भिक्षु रजोहरण के एक बंध देता है - गाँठ लगाता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

६९. जो भिक्षु रजोहरण के गेंद जैसी बड़ी गाँठ लगाता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

७०. जो भिक्षु रजोहरण को अविधि पूर्वक बांधता है - गाँठ लगाता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

(७१. जो भिक्षु रजोहरण को एक बंध से बांधता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।)

७२. जो भिक्षु रजोहरण के तीन से अधिक बंध देता है - गाँठें लगाता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

७३. जो भिक्षु कल्पविरुद्ध (अकल्पनीय तीर्थकरों की आज्ञा से अदत्त या गुरु आदि की आज्ञा के बिना) रजोहरण को धारण करता है या धारण करते हुए का अनुमोदन करता है।

७४. जो भिक्षु रजोहरण को स्वदेह प्रमाण (साढ़े तीन हाथ या पाँच हाथ प्रमाण) से अधिक दूर रखता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

७५. जो भिक्षु क्षण-क्षण रजोहरण पर अधिष्ठित - आश्रित होता है या रहता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

७६. जो भिक्षु रजोहरण को सिर के नीचे (शिरोधान - तकिये की तरह) स्थापित करता है - रखता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

७७. जो भिक्षु रजोहरण को करवट में रखता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है। इन तथाकथित दोष-स्थानों का सेवन करने वाले भिक्षु को लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है। उपर्युक्त ७७ सूत्रों में किए गए किसी भी प्रायश्चित्त स्थान के सेवन करने वाले भिक्षु को परिहार स्थान उद्घातिक - लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

इस प्रकार निशीथ अध्ययन (निशीथ सूत्र) में पंचम उद्देशक परिसमाप्त हुआ।

विवेचन - "रजः - रजः कणान् हरति - दूरी करोति इति रजोहरणम्
अथवा **रजः-रजः कणा ह्रियन्ते दूरी क्रियन्ते येन तत् रजोहरणम्"** जिससे रजःकरण दूर किए जाते हैं, गन्तव्य स्थान या भूमि का प्रमार्जन किया जाता है, उसे रजोहरण

कहा गया है। रजःकणों के दूरी करण या भूमि के प्रमार्जन से वे छोटे-छोटे जीव जो साधारणतः दिखाई नहीं पड़ते, मार्ग से हट जाते हैं, उनकी विराधना नहीं होती, इस हेतु भिक्षु रजोहरण धारण करता है। यह हिंसा से अपने आपको बचाने का एक विशेष उपकरण है।

इन सूत्रों में रजोहरण के अविहित, मर्यादा प्रतिकूल प्रयोग आदि के संबंध में प्रायश्चित्त का विधान किया गया है।

रजोहरण सामान्यतः ऊन आदि की फलियों से बना होता है। उसके प्रमाण के संबंध में शास्त्रों में कहा गया है कि एक बार में प्रमार्जित - पूंजी हुई भूमि में एक पैर समा सके उतनी फलियों के विस्तार से युक्त रजोहरण विहित है। रजोहरण की फलियों का उत्कृष्ट प्रमाण बत्तीस अंगुल परिमित बतलाया गया है। इस प्रमाण से अधिक विस्तृत फलीयुक्त रजोहरण धारण करना दोष पूर्ण है।

रजोहरण की फलियाँ भी बहुत सूक्ष्म या बारीक नहीं होनी चाहिए, क्योंकि उनसे प्रमार्जन - पूंजने का कार्य भलीभाँति निष्पन्न नहीं हो पाता। क्योंकि वे अपेक्षा कृत अधिक कोमल होती हैं।

बृहत्कल्प सूत्र, उद्देशक २ में ऊन आदि की फलियों से निर्मित रजोहरण के अतिरिक्त अन्य प्रकार का रजोहरण रखना भिक्षु के लिए कल्पनीय नहीं कहा गया है। स्थानांग सूत्र के पंचम स्थान में भी रजोहरण विषयक वर्णन है, जो पठनीय है।

रजोहरण को मस्तक के नीचे रखकर, करवट में रखकर शयन करना उसका अनुचित उपयोग है, विधि विरुद्ध है।

रजोहरण विषयक अन्यान्य निर्देश भावार्थ से स्पष्ट हैं।

तात्पर्य यह है कि रजोहरण अहिंसा मूलक संयम साधना का सहायक उपकरण है, उसका उसी रूप में शास्त्र विहित प्रमाण, स्वरूप तथा विधि के साथ भिक्षु द्वारा उपयोग किया जाए, यह वांछनीय है। तत् प्रतिकूल प्रयोग दोषयुक्त होने से प्रायश्चित्त योग्य है।

॥ इति निशीथ सूत्र का पंचम उद्देशक समाप्त ॥

छट्टो उद्देशओ - षष्ठ उद्देशक

अब्रह्म के संकल्प से किए जाने वाले कृत्यों का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू माउग्गामं मेहुणवडियाए विण्णवेइ विण्णवेतं वा साइज्जइ ॥ १ ॥

जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए हत्थकम्मं करेइ करेतं वा साइज्जइ ॥ २ ॥

जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए अंगादाणं कट्टेण वा किलिंचेण वा अंगुलियाए वा सलागाए वा संचालेइ संचालेतं वा साइज्जइ ॥ ३ ॥

जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए अंगादाणं संवाहेज्ज वा पलिमहेज्ज वा संवाहेतं वा पलिमहेतं वा साइज्जइ ॥ ४ ॥

जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए अंगादाणं तेल्लेण वा घएण वा वसाए वा णवणीएण वा अब्भंगेज्ज वा मक्खेज्ज वा अब्भंगेतं वा मक्खेतं वा साइज्जइ ॥ ५ ॥

जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए अंगादाणं कक्केण वा लोद्धेण वा पउमचुण्णेण वा ष्हाणेण वा सिणाणेण वा चुण्णेहिं वा वण्णेहिं वा उव्वट्टेइ वा परिवट्टेइ वा उव्वट्टेतं परिवट्टेतं वा साइज्जइ ॥ ६ ॥

जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए अंगादाणं सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा पधोएज्ज वा उच्छोलेतं वा पधोएतं वा साइज्जइ ॥ ७ ॥

जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए अंगादाणं णिच्छल्लेइ णिच्छल्लेतं वा साइज्जइ ॥ ८ ॥

जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए अंगादाणं जिग्घइ जिग्घंतं वा साइज्जइ ॥ ९ ॥

जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए अंगादाणं अण्णयरंसि अचित्तंसि सोयंसि अणुपवेसेत्ता सुक्कपोग्गले णिग्घायइ णिग्घायंतं वा साइज्जइ ॥ १० ॥

कठिन शब्दार्थ - माउगगामं - मातृग्रामं - स्त्री जाति या हर कोई स्त्री, मेहुणवडियाए-
मैथुन सेवन हेतु, विण्णवेइ - विनिवेदित करता है - अनुरोध करता है।

भावार्थ - १. जो भिक्षु मैथुन सेवन के विचार से किसी स्त्री से वैसा अनुरोध करता है या अनुरोध करते हुए का अनुमोदन करता है।

२. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के विचार से हस्तकर्म करता है या हस्तकर्म करते हुए का अनुमोदन करता है।

३. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के विचार से अंगादान को काष्ठ, बांस आदि की सलाई, अंगुली तथा लोह आदि की शलाका से संचालित करता है या संचालित करते हुए का अनुमोदन करता है।

४. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के विचार से अंगादान का संवाहन या परिमर्दन करे अथवा संवाहन या परिमर्दन करते हुए का अनुमोदन करे।

५. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के विचार से अंगादान का तेल, घृत, चिकने पदार्थ या मक्खन द्वारा अभ्यंगन, म्रक्षण या सम्मर्दन करे अथवा अभ्यंगन, म्रक्षण या सम्मर्दन करते हुए का अनुमोदन करे।

६. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के विचार से अंगादान का कल्क, लोध्र, पद्मचूर्ण, स्नपन या स्नान - विशेष स्नपन करे, जो चंदन आदि के चूरे से, अबीर आदि के बुरादे से उद्धर्तित - उबटन करे या परिवर्तित - बार-बार वैसा करे अथवा उद्धर्तित या परिवर्तित करते हुए का अनुमोदन करे।

७. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के विचार से अंगादान को अचित्त शीतल या उष्ण जल से उत्क्षालित करे या प्रक्षालित करे अथवा उत्क्षालित या प्रक्षालित करते हुए का अनुमोदन करे।

८. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से अंगादान के अग्रभाग की त्वचा को ऊपर की ओर करता है - उलटता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

९. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के विचार से अंगादान को सूंधता है या सूंधते हुए का अनुमोदन करता है।

१०. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के विचार से किसी अचित्त छिद्र में अंगादान को अनुप्रविष्ट कर शुक्र पुद्गलों को निष्कासित करता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

इन दोष स्थानों में से किसी भी दोष स्थान का सेवन करने वाले भिक्षु को गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए (अवाउडिं) सयं कुज्जा सयं बूया करेत्तं वा (बूएत्तं वा) साइज्जइ ॥ ११ ॥

जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए कलहं कुज्जा कलहं बूया कलहवडियाए गच्छइ गच्छंत्तं वा साइज्जइ ॥ १२ ॥

जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए लेहं लिहइ लेहं लिहावेइ लेहवडियाए वा गच्छइ गच्छंत्तं वा साइज्जइ ॥ १३ ॥

कठिन शब्दार्थ - अवाउडिं - अनावृत - निर्वस्त्र, सयं - स्वयं, कुज्जा - करे, बूया - बोले - कहे, लेहं - पत्र, लिहइ - लिखता है, लिहावेइ - लिखवाता है।

भावार्थ - ११. जो भिक्षु मैथुन सेवन के भाव से किसी स्त्री को स्वयं अनावृत - निर्वस्त्र करे या वैसा करने के लिए कहे अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करे।

१२. जो भिक्षु किसी स्त्री के साथ मैथुन सेवन के भाव से कलह-क्रोध, रोष आदि व्यक्त करे, कलहपूर्ण वचन बोले, कलह करने हेतु बाहर जाता है या जाते हुए का अनुमोदन करता है।

१३. जो भिक्षु किसी स्त्री के साथ मैथुन सेवन के भाव से (प्रेम) पत्र लिखता है, पत्र लिखवाता है या पत्र लिखने हेतु बाहर जाता है या जाते हुए का अनुमोदन करता है।

ऐसा करने वाले भिक्षु को गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

इस तेरहवें सूत्र में साधु के द्वारा मैथुन सेवन के भाव से पत्र लिखने का प्रायश्चित्त बताया है। इससे फलित होता है कि साधु के द्वारा संयम मर्यादा के अनुरूप लिखने लिखवाने का प्रायश्चित्त नहीं आता है।

जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए पिट्ठंत्तं वा सोयंत्तं वा पोसंत्तं वा भ(ल्लि)ल्लयएण उप्पाएइ उप्पाएत्तं वा साइज्जइ ॥ १४ ॥

जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए पिट्ठंत्तं वा सोयंत्तं वा पोसंत्तं वा भल्लयएण उप्पाएत्ता सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा पधोएज्ज वा उच्छोलेत्तं वा पधोएत्तं वा साइज्जइ ॥ १५ ॥

जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए पिट्ठंत्तं वा सोयंत्तं वा पोसंत्तं वा

उच्छोलेत्ता पधोएत्ता अण्णयरेणं आलेवणजाएणं आलिंपेज्ज वा विलिंपेज्ज वा आलिंपेतं वा विलिंपेतं वा साइज्जइ ॥ १६ ॥

जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए पिट्ठंतं वा सोयंतं वा पोसंतं वा उच्छोलेत्ता पधोएत्ता आलिंपेत्ता विलिंपेत्ता तेल्लेण वा घएण वा वसाए वा णवणीएण वा अब्भंगेज्ज वा मक्खेज्ज वा अब्भंगेतं वा मक्खेतं वा साइज्जइ ॥ १७ ॥

जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए पिट्ठंतं वा सोयंतं वा पोसंतं वा उच्छोलेत्ता पधोएत्ता आलिंपेत्ता विलिंपेत्ता अब्भंगेत्ता मक्खेत्ता अण्णयरेणं धूवणजाएणं धूवेज्ज वा पधूवेज्ज वा धूवेंतं वा पधूवेंतं वा साइज्जइ ॥ १८ ॥

कठिन शब्दार्थ - पिट्ठंतं - अपानद्वार के अग्रभाग पर, सोयंतं - स्त्रोतांत - शरीर के नाभि, कान, नाक आदि छिद्र विशेष के अग्रभाग पर, पोसंतं - स्त्री जननांग के अग्रभाग पर, भ(ल्लि)ल्लाघएण - भिलावा, उप्पाएइ - उत्पादित करता है।

भावार्थ - १४. जो भिक्षु मैथुन सेवन के संकल्प से किसी स्त्री के योनिद्वार, नाभिकर्ण-नासिकादि छिद्र विशेष या अपान द्वार (गुदा) के अग्रभाग को भल्लातक से उत्पन्न करता है, उन पर उसे लगाता है (शोथ युक्त बनाता है) या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

१५. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से स्त्री के योनिद्वार, नाभि-कर्ण-नासिकादि छिद्र विशेष या अपान द्वार के अग्रभाग को भल्लातक से उत्पन्न कर उन्हें अचित्त शीतल या उष्ण जल से एक बार या अनेक बार धोए अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करे।

१६. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के भाव से स्त्री के योनिद्वार, नाभि-कर्ण-नासिकादि छिद्र विशेष या अपानद्वार के अग्रभाग को भिलावा से उत्पादित कर उन्हें अचित्त शीतल या उष्ण जल से धोकर उन पर औषधि निर्मित किसी प्रकार का लेप या मल्हम एक बार या अनेक बार लगाए अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करे।

१७. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के भाव से स्त्री के योनिद्वार, नाभि-कर्म-नासिकादि छिद्र विशेष या अपानद्वार के अग्रभाग को भिलावा से उत्पादित कर उन्हें अचित्त शीतल या उष्ण जल से धोकर, मल्हम लगाकर उन पर तेल, घृत, चिकने पदार्थ या मक्खन एक बार या अनेक बार मले - मसले अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करे।

१८. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के भाव से स्त्री के योनिद्वार, नाभि-कर्ण-

नासिकादि छिद्र विशेष या अपानद्वार के अग्रभाग को भिलावा से उत्पादित कर उन्हें अचित्त शीतल या उष्ण जल से धोकर, मल्हम लगाकर, उन पर तेल, घृत आदि मल कर अग्नि में डाले हुए सुगन्धित पदार्थ निष्पन्न धूप से निकलते हुए धूएँ द्वारा एक बार या अनेक बार वासित करे, धूमित करे अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करे।

इन दोष स्थानों में से किसी भी दोष-स्थान का सेवन करने वाले भिक्षु को गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए कसिणाइं वत्थाइं धरेइ धरेंतं वा साइज्जइ ॥ १९ ॥

जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए अहयाइं वत्थाइं धरेइ धरेंतं वा साइज्जइ ॥ २० ॥

जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए धोवरत्ताइं वत्थाइं धरेइ धरेंतं वा साइज्जइ ॥ २१ ॥

जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए चित्ताइं वत्थाइं धरेइ धरेंतं वा साइज्जइ ॥ २२ ॥

जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए विचित्ताइं वत्थाइं धरेइ धरेंतं वा साइज्जइ ॥ २३ ॥

कठिन शब्दार्थ - अहयाइं - अहतानि - नवीन, धोवरत्ताइं - उज्ज्वल धुले हुए।

भावार्थ - १९. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से सम्पूर्ण - अखण्डित वस्त्र धारण करता है या धारण करते हुए का अनुमोदन करता है।

२०. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से नवीन वस्त्र धारण करता है या धारण करते हुए का अनुमोदन करता है।

२१. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से स्वच्छ धुले हुए वस्त्र धारण करता है या धारण करते हुए का अनुमोदन करता है।

२२. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से एक रंग से रंजित वस्त्र को धारण करता है या धारण करते हुए का अनुमोदन करता है।

२३. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से विविध रंगों से रंजित वस्त्र धारण करता है या धारण करते हुए का अनुमोदन करता है।

ऐसा करने वाले भिक्षु को गुरु चौमासी प्रायश्चित्त-आता है।

कामुकतावश स्व-पाद-आमर्जनादि का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए अप्पणो पाए आमज्जेज्ज वा पमज्जेज्ज वा आमज्जंतं वा पमज्जंतं वा साइज्जइ। एवं तइय उद्देशगमेण णेयव्वं जाव जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए गामाणुगामं दूइज्जमाणे अप्पणो सीसदुवारियं करेइ, करेत्तं वा साइज्जइ ॥ २४-७९ ॥

भावार्थ - २४. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से अपने पैरों का एक बार या अनेक बार घर्षण करता है या घर्षण करने वाले का अनुमोदन करता है, इस प्रकार तीसरे उद्देशक के सूत्र १६ से ७१ तक के आलापक के समान यहाँ जान लेना चाहिए यावत् जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से ग्रामानुग्राम विहार करते हुए अपना मस्तक ढँकता है या ढँकने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे गुरुचौमासीक प्रायश्चित्त आता है।)

जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए खीरं वा दहिं वा णवणीयं वा सप्पिं वा गुलं वा खंडं वा सक्करं वा मच्छंडियं वा अण्णयरं वा पणीयं आहारं आहारेइ आहारेत्तं वा साइज्जइ। तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुघाइयं ॥ ८० ॥

॥ णिसीहज्जयणे छट्ठो उद्देशो समत्तो ॥ ६ ॥

कठिन शब्दार्थ - खीरं - क्षीर - दूध, सप्पिं - घी, गुलं - गुड़, मच्छंडियं - मिश्री, पणीयं - प्रणीत - पौष्टिक।

भावार्थ - ८०. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के भाव से दूध, दही, नवनीत - मक्खन, घी, गुड़, खांड, शक्कर, मिश्री या अन्य सरस (प्रणीत) आहार लेता है अथवा लेते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

इस प्रकार उपर्युक्त ८० सूत्रों में किए गए किसी भी प्रायश्चित्त स्थान के सेवन करने वाले भिक्षु को अनुदघातिक परिहार-तप रूप गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

इस प्रकार निशीथ अध्ययन (निशीथ सूत्र) में षष्ठ उद्देशक परिसमाप्त हुआ।

विवेचन - उपर्युक्त सूत्रों में प्रयुक्त “माउग्गामं” का संस्कृत रूप “मातृग्राम”

है। “मातृ” माता का वाचक है तथा ग्राम समुदाय, समूह या जाति का वाचक है। स्त्रियों के लिए भारतीय वाङ्मय में मातृ शब्द का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। चाणक्य नीति में उल्लेख हुआ है -

मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्टवत्।

आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः ॥

जो पर स्त्रियों को माता के समान, दूसरे के धन को पत्थर के समान तथा सभी प्राणियों को अपने समान देखता है, मानता है, वही वास्तव में पण्डित, ज्ञानी है।

इस प्रकार और भी अनेक स्थानों पर नारी जाति के लिए मातृ पद या सम्मान सूचक शब्दों का प्रयोग होता रहा है।

जब सपत्नीक पुरुष के लिए पत्नी के अतिरिक्त सभी नारियाँ मातृवत् हैं तो भिक्षु के लिए तो, जो ब्रह्मचारी है, कहना ही क्या है? जगत् की समस्त नारियाँ उसके लिए माताएँ हैं।

कामविजय वस्तुतः अत्यंत दुर्गम है। यद्यपि भिक्षु ब्रह्मचर्य का नव बाढ़ और दशवें कोट के साथ परिरक्षण में सर्वदा, सर्वथा उद्यत रहता है। इन सूत्रों में जो कामविषयक कुट्टेवों का उल्लेख हुआ है, उनमें वह नहीं फँसता। क्योंकि ये अत्यन्त जघन्य कोटि की कुत्सित प्रवृत्तियाँ हैं। पूर्वोक्त रूप में येन-केन प्रकारेण स्त्री को मैथुन हेतु आकर्षित करना, बाध्य करना, लालायित करना - यों स्वायत्त करना साध्वाचार एवं ब्रह्मचर्य व्रत के विपरीत है।

उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है -

संसार मोक्खस्स विपक्खभूया, खाणी अणत्थाण हु कामभोगा ❖।

कामभोग संसार और मोक्ष के विपक्षभूत हैं। (लौकिक और पारमार्थिक - दोनों ही दृष्टियों से) दुष्फलप्रद हैं। वे अनर्थों की खान हैं।

मानवजीवन की बड़ी विचित्र स्थिति है। तीव्र वेदमोह के उदय से उत्कट ब्रह्मचारी का भी पतित होना आशंकित है। वह कभी भी ऐसी कामुक दुष्प्रवृत्तियों में न फँस जाए उसके परिणाम ब्रह्मचर्य में हेतु एवं अविचल बने रहें अत एव उनका यहाँ विशद वर्णन किया गया है। ऐसी प्रवृत्तियाँ सर्वथा परिहेय एवं परित्याज्य हैं।

प्रथम तथा तृतीय उद्देशक में इससे संबंध विषयों पर जो विवेचन हुआ है, वह यहाँ दृष्टव्य है।

॥ इति निशीय सूत्र का षष्ठ उद्देशक समाप्त ॥

❖ उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन १४ गाथा १३



सत्तमो उद्देशओ - सप्तम उद्देशक

तृण आदि की माला बनाने - धारण करने आदि का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए तणमालियं वा मुंजमालियं वा वेतमालियं वा कट्टुमालियं वा मयणमालियं वा भिंडमालियं वा पिच्छमालियं वा हड्डुमालियं वा दंतमालियं वा संखमालियं वा सिंगमालियं वा पत्तमालियं वा पुप्फमालियं वा फलमालियं वा बीयमालियं वा हरियमालियं वा करेइ करेतं वा साइज्जइ ॥ १ ॥

जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए तणमालियं वा जाव हरियमालियं वा धरेइ धरेतं वा साइज्जइ ॥ २ ॥

जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए तणमालियं वा जाव हरियमालियं वा पिण(ह्)द्धेइ पिणद्धंतं वा साइज्जइ ॥ ३ ॥

कठिन शब्दार्थ - तणमालियं - तृण की माला, मुंजमालियं - मूँज की माला, वेतमालियं - वेंत की माला, कट्टुमालियं - काष्ठ की माला, मयणमालियं - मेण (मोम) की माला, भिंडमालियं - भींड की माला, पिच्छमालियं - मोरपिच्छी की माला, हड्डुमालियं- हड्डी की माला, दंतमालियं - दांत की माला, संखमालियं- शंख की माला, सिंगमालियं - सींग की माला, पत्तमालियं - पत्तों की माला, पुप्फमालियं - पुष्पों की माला, फलमालियं- फलों की माला, बीयमालियं - बीजों की माला, हरियमालियं - हरित (वनस्पति) की माला, पिण(ह्)द्धेइ - पहनता है।

भाषार्थ - जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से - तृण की माला, मुंज की माला, वेंत की माला, काष्ठ की माला, मेण (मोम) की माला, भींड की माला, मोरपिच्छी की माला, हड्डी की माला, दांत की माला, शंख की माला, सींग की माला, पत्तों की माला, पुष्पों की माला, फलों की माला, बीजों की माला या हरित (वनस्पति) की माला बनाता है या बनाने वाले का अनुमोदन करता है।

२. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से तृण की माला यावत् हरित की माला धारण करता है या धारण करने वाले का अनुमोदन करता है।

३. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से तृण की माला यावत् हरित की माला पहनता है या पहनने वाले का अनुमोदन करता है। (ऐसा करने वाले भिक्षु को गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है)

विवेचन - जब तीव्रातितीव्र वेदमोह का उदय होता है, सुदृढ, प्रबल आत्म-परिणामों के न संजो पाने के कारण भिक्षु कदाचन, कामकेलि, कामकौतुक में ग्रस्त हो जाए, ऐसा आशंकित है। वह कभी भी वैसा न करे तथा विविध प्रकार के कामकौतुकों से बचा रहे, इन सूत्रों का यह आशय है।

जब कोई व्यक्ति काम-वासना का दास बन जाता है तब वह अपने आपको आकर्षक एवं मोहक बनाने के लिए क्या-क्या लीलाएँ नहीं रचता, यह इन सूत्रों से प्रतिध्वनित है। विविध प्रकार की मालाओं को बनाना, धारण करना, पिनद्ध करना - पहनना तथा परिभोग करना इन सूत्रों में जो उल्लिखित हुआ है, वह मन की कामासक्तिपूर्ण कुतूहलप्रियता का सूचक है।

कामोदीप्त, मैथुन-विह्वल व्यक्ति कितना विवेकशून्य एवं आत्मविस्मृत हो जाता है, इन सूत्रों में वर्णित माला विषयक विभिन्न जघन्य तथा लज्जाजनक उपक्रमों से द्योतित होता है।

संयम को परम पावन, अत्यन्त निर्मल और शुद्ध रखने हेतु भिक्षु कदापि ऐसे कुत्सित तथा निंघ कृत्यों में लिप्त न हो, यह सर्वथा वांछित है।

धातु कटकादि निर्माण आदि विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए अयलोहाणि वा तंबलोहाणि वा तउयलोहाणि वा सीसगलोहाणि वा रुप्पलोहाणि वा सुवण्णलोहाणि वा करेइ करेत्तं वा साइज्जइ ॥ ४ ॥

जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए अयलोहाणि वा जाव सुवण्णलोहाणि वा धरेइ धरेत्तं वा साइज्जइ ॥ ५ ॥

जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए अयलोहाणि वा जाव सुवण्णलोहाणि वा परिभुंजइ (पिणद्धेइ) परिभुंजत्तं (पिणद्धेत्तं) वा साइज्जइ ॥ ६ ॥

कठिन शब्दार्थ - अयलोहाणि - लोहे का कड़ा विशेष, तंब - ताँबा, रुप - रौप्य - चाँदी, सुवण्ण - सोना।

भावार्थ - ४. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के भाव से लोहे, ताँबे, रांगे, सीसे, चाँदी या सोने के कड़े - अलंकरण विशेष बनाता है अथवा बनाते हुए का अनुमोदन करता है।

५. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के भाव से लोहे, ताँबे, रांगे, सीसे, चाँदी या सोने के कड़े धारण करता है अथवा धारण करते हुए का अनुमोदन करता है।

६. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के भाव से लोहे, ताँबे, रांगे, सीसे, चाँदी या सोने के कड़े परिभोग करता है अथवा परिभोग करते हुए का अनुमोदन करता है।

ऐसा करने वाले भिक्षु को गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - संस्कृत और प्राकृत में लोह शब्द लोहर नामक धातु के अर्थ में प्रयुक्त है। इन सूत्रों में जो लोह शब्द का प्रयोग हुआ है, वह देशी है। धातु विशेष द्वारा निर्मापित आकार विशेष - अलंकरण विशेष का यह सूचक है। अलंकरणों में भी कटक या कड़े का सर्वाधिक उपयोग होता है। भुजा, कलाई या पैर - तीनों ही स्थानों पर कुछ-कुछ परिवर्तित आकारों में प्रयोग में आता है। तदनुसार इसके नाम भी भिन्न-भिन्न हो जाते हैं, किन्तु सामान्यतः कटक या कड़ा उन सबका सूचक होता है।

निशीथ सूत्र के टब्बों (हस्तलिखित संक्षिप्त अर्थों) की प्रतियों में - 'अयलोहाणि' आदि शब्दों में आये हुए 'लोहाणि' शब्द का अर्थ - 'कमाना' किया है। भट्ठी में तपाकर कूटने को - कूटकर वस्तु बनाने को 'कमाना' कहते हैं। निशीथसूत्र की चूर्णि से भी ऐसा ही भावार्थ निकलता है। चूर्णि वाली प्रति के मूलपाठ में तो 'परिभुंजइ' शब्द ही दिया है। टब्बे वाली एवं अन्य प्रतियों में भी 'परिभुंजइ' शब्द ही दिया है। स्वर्ण आदि को कमाने से कड़े आदि का निर्माण हो सकता है। इस कारण से - चूर्णिकार ने 'पिणद्धेइ' शब्द का प्रयोग किया हो, ऐसी संभावना हो सकती है। 'परिभुंजइ' शब्द व्यापक होने से 'लोहाणि' आदि के सूत्रों में 'परिभुंजइ' शब्द का प्रयोग होना अधिक उपयुक्त ध्यान में आता है।

चूर्णि के पाठ - "धर्मत फर्मतस्स संजम-छक्काय विराहणा। राउले - भूइज्जइ (सूइज्जइ) तत्थ बंधणा - दिया य दोसा। जम्हा एते दोसा तम्हा णो करेति णो धरेति णो पिणद्धेति।" का आशय इस प्रकार ध्यान में आया है - "लोह, स्वर्ण आदि धातुओं को धमने से - अग्नि में लोहारों की तरह तपाने से, फूंकने से, भस्महि बनाने से अथवा अनेक प्रकार की वस्तुओं के संयोग से धातु वादियों की तरह स्वर्ण

आदि धातुओं का निर्माण करने से संयम और छहकाया की विराधना होती है। अथवा 'भूइज्जइ' - अर्थात् राजकुल में 'यह इस प्रकार धातु निर्माण करता है, इस प्रकार कह कर' छोड़ दिया जाता है। 'भूइज्जइ' के स्थान पर 'सूइज्जइ' हो तो - राजकुल में उसके धातुवाद की सूचना कर दी जाती है। तो उसे राजकुल में उसे बन्दी बना दिया जाता है। इत्यादि दोष आते हैं अथवा राजकुल में उससे स्वर्ण आदि धातुओं का निर्माण करवाया जाता है। लोहा आदि कूटने से शरीर में बांधा भी उत्पन्न हो सकती है। अथवा उन (राजकुल आदि) के द्वारा ग्रहण किया जा सकता है। इत्यादि दोषों का कारण समझ कर लोहा आदि धातुओं का धमन आदि नहीं करें, सञ्चय आदि नहीं करें एवं उनका परिभोग (अथवा कड़े आदि के रूप में पहनना) भी नहीं करें।"

पूज्य गुरुदेव (स्व. बहुश्रुत श्रमण श्रेष्ठ पू० श्री समर्थमलजी म. सा.) भी 'लोहाणि' का अर्थ 'कमाना' फरमाया करते थे। अतः पूर्व परम्परा (धारणा) के अनुसार - उपर्युक्त प्रकार से अर्थ समझना उचित ही ध्यान में आता है।

यहाँ कामोद्रेकवश, दुर्दम वासना के परिणामस्वरूप यदि कोई भिक्षु अपने को सुन्दर, मोहक, आकर्षक दिखाने हेतु विभिन्न धातुओं के कटक या आभरण विशेष का निर्माण करता है तो वह गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का भागी होता है। धातुओं से आकार विशेष का निर्माण करने में धातु को गलाने, वांछित रूप में ढालने, घड़ने आदि में षट्काय विराधना का सहज प्रसंग बनता है, जो सर्वथा परिहेय और निन्द्य है।

इस प्रकार का लज्जास्पद, हीन कार्य भिक्षु कदापि न करे। एतद्विषयक प्रेरणा हेतु ये सूत्र यहाँ प्रयुक्त हुए हैं।

आभूषण निर्माण आदि विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए हाराणि वा अब्धहाराणि वा एगावली वा मुत्तावली वा कणगावली वा रयणावली वा कडगाणि वा तुडियाणि वा केऊराणि वा कुंडलाणि वा पट्टाणि वा मउडाणि वा पलंबसुत्ताणि वा सुवण्णसुत्ताणि वा करेइ करेतं वा साइज्जइ ॥ ७ ॥

जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए हाराणि वा जाव सुवण्णसुत्ताणि वा धरेइ धरेतं वा साइज्जइ ॥ ८ ॥

जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए हाराणि वा जाव सुवण्णसुत्ताणि वा परिभुंजइ परिभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ९ ॥

कठिन शब्दार्थ - एगावली - इकलड़ा हार, मुत्तावली - मोतियों का हार, कणगावली - स्वर्ण हार, रयणावली - रत्नों का हार, कडगाणि - कटक - कंगन, तुडियाणि - त्रुटित - हस्ताभरण विशेष, केऊराणि - भुजबंध, पट्टाणि - चार अंगुल का स्वर्णपट्ट, मउड - मुकुट, पलंबसुत्ताणि - गले में पहनने का लम्बा सूत्र, सुवण्णसुत्ताणि - सोने का सूत्र।

भावार्थ - ७. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से हार, अर्द्धहार, इकलड़ा हार, मोतियों का हार, स्वर्णहार, रत्नहार, कटक, हस्ताभरण विशेष, भुजबंध, कुंडल, स्वर्णपट्ट, मुकुट, प्रलम्ब सूत्र या स्वर्ण सूत्र बनाता है अथवा बनाते हुए का अनुमोदन करता है।

८. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से हार, अर्द्धहार, इकलड़ा हार, मोतियों का हार, स्वर्ण हार, रत्न हार, कटक, हस्ताभरण विशेष, भुजबंध, कुंडल, स्वर्णपट्ट, मुकुट, प्रलम्ब सूत्र या स्वर्णसूत्र धारण करता है अथवा धारण करते हुए का अनुमोदन करता है।

९. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से हार, अर्द्धहार, इकलड़ा हार, मोतियों का हार, स्वर्णहार, रत्नहार, कटक, हस्ताभरण विशेष, भुजबंध, कुंडल, स्वर्णपट्ट, मुकुट, प्रलम्ब सूत्र या स्वर्ण सूत्र परिभोग करता है अथवा परिभोग करते हुए का अनुमोदन करता है।

ऐसा करने वाले भिक्षु को गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - प्राचीनकाल में स्त्रियों की तरह पुरुष भी आभूषण प्रिय होते थे। पुरुषों के अपने विशेष प्रकार के आभरण होते थे। उनमें सुन्दरता के साथ-साथ सुदृढता और परिरक्षणता का भी भाव था। भुजबंध आदि इसके सूचक हैं। इन सूत्रों में जिन आभूषणों का वर्णन आया है, वे उस समय सामान्यतः पुरुषों द्वारा अपने को सुंदर, सुशोभन दिखाने हेतु प्रयोग में लिए जाते थे। इन आभूषणों को धारण करना बाह्य सज्जा का एक विशेष उपक्रम था।

साधु के लिए बाह्य सज्जा, शोभा, अलंकृति का कोई महत्त्व नहीं है। वह तो अन्तर्जीवन के परिष्कार, परिशोधन, संशोधन में लगा रहता है। ज्यों ही उसकी दृष्टि बहिर्गामिनी हो जाती है, वह अधः पतित होने लगता है। ऊपर जिन आभरणों का वर्णन आया है, उनका निर्माण करना सामान्य कार्य नहीं है। उनके लिए अनेक साधन और संयोग चाहिए। भिक्षु द्वारा ऐसा किया जा सके, ऐसी कल्पना करना बहुत कठिन प्रतीत होता है, किन्तु यदि ऐसी मानसिकता

बन जाए तो वह अनुमोदन तो कर ही सकता है। कृत, कारित, अनुमोदित की त्रिविध विधि के अन्तर्गत करना, कराना तथा अनुमोदित करना - तीनों समाविष्ट होते हैं। आगमों में त्रिकरणात्मक विधि-निषेधपूर्वक वर्णन की विशेष परंपरा है। इस परंपरा के निर्वाह की दृष्टि से इस कोटि के वर्णन विभिन्न सूत्रों में आते हैं।

वस्त्र निर्माण आदि का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए आईणाणि वा आईणपावराणि वा कंबलाणि वा कंबलपावराणि वा कोयरा(वा)णि वा कोयर(व)पावराणि वा कालमियाणि वा णीलमियाणि वा सामाणि वा मि(म)हासामाणि वा उट्टाणि वा उट्टलेस्साणि वा वग्घाणि वा विवग्घाणि वा परवंगाणि वा सहिणाणि वा सहिणकल्लाणि वा खोमाणि वा दुगुल्लाणि वा (तिरीडपट्टाणि वा) पत्तु(ल्ला)ण्णाणि वा आवरंताणि वा वी(ची)णाणि वा अंसुयाणि वा कणककंताणि वा कणगखचियाणि वा कणगचित्ताणि वा कणगविचित्ताणि वा आभरणविचित्ताणि वा करेइ करेतं वा साइज्जइ ॥ १० ॥

जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए आईणाणि वा जाव आभरणविचित्ताणि वा धरेइ धरेतं वा साइज्जइ ॥ ११ ॥

जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए आईणाणि वा जाव आभरणविचित्ताणि वा परिभुंजइ परिभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ १२ ॥

कठिन शब्दार्थ - आईणाणि - आजिन - मृगचर्म के वस्त्र, आईणपावराणि - मृगप्रावरण - मृगचर्म के आच्छादन - ओढने के चद्दर आदि वस्त्र, कंबलाणि - कम्बल - ऊन निर्मित वस्त्र, कंबलपावराणि - कम्बलप्रावरण - ओढने के ऊनी वस्त्र, कोयरा(वा)णि- कोयर संज्ञक देश में बनने वाले वस्त्रों जैसे कपड़े, कोयर(व)पावराणि - कोयर प्रावरण, कालमियाणि - काले हरिण के चर्म के वस्त्र, णीलमियाणि - नीले हरिण के चर्म के वस्त्र, सामाणि - श्याम - बादल जैसे हल्के नीले हरिण के चर्म के वस्त्र, मि(म)हासामाणि- अतिशय श्याम वर्ण के हरिण के चर्म के वस्त्र, उट्टाणि - ऊँट की चर्म के वस्त्र, उट्टलेस्साणि- ऊँट के चर्म के प्रावरण, वग्घाणि - बाघ के चर्म के वस्त्र, विवग्घाणि - विव्याघ्र -

चीत्रक या चीते के चर्म के वस्त्र, परवंगाणि - बन्दर के चर्म के वस्त्र, सहिणाणि - श्लक्ष्ण - सूक्ष्म या बारीक वस्त्र, सहिणकल्लाणि - श्लक्ष्ण कल्प - मुलायम, चिकने वस्त्र, खोमाणि - क्षौम - रेशमी वस्त्र, दुगुल्लाणि - दुकूल - कपास के वस्त्र, (तिरीडपट्टाणि - तिरीट संज्ञक वृक्ष की छाल के वस्त्र), पतु(ल्ला)ण्णाणि - प्रतुल - बारीक रेशे के वस्त्र, आवरंताणि - आवृत - बारीक सूत्रों - धागों के वस्त्र, वी(ची)ण्णाणि - चीन देश के (रेशम के) वस्त्र, अंसुयाणि - रेशम के कीड़ों से बने वस्त्र, कणककंताणि - स्वर्ण के सदृश सुन्दर - चमकीले वस्त्र, कणगखचियाणि - स्वर्ण-जटित - सोने से जड़े हुए वस्त्र, कणगचित्ताणि - कनकचित्रित - स्वर्ण से चित्रांकित वस्त्र, कणगखचित्ताणि - कनकविचित्रित - सोने से विविध रूप में चित्रांकित, आभरणविचित्ताणि - विविध प्रकार के आभरणों से मण्डित वस्त्र, (पणलाणि - पटल - गले में डालने का वस्त्र, दुपट्टा)।

भावार्थ - १०. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के विचार से मृगचर्म के वस्त्र या प्रावरण, ऊन के कंबल या प्रावरण, कोयर के वस्त्र या प्रावरण तथा काले, नीले, श्याम, अतिश्याम हरिण के चर्म के वस्त्र एवं ऊँट के चर्म के वस्त्र या प्रावरण, बाघ, चीता या बन्दर के चर्म के वस्त्र, सूक्ष्म, बारीक वस्त्र, रेशम, कपास, (तिरीट नामक वृक्ष की छाल) के वस्त्र, बारीक रेशे के वस्त्र, बारीक धागों के वस्त्र, चीन देश के वस्त्र, रेशमी कीड़ों से प्राप्त रेशम से बने वस्त्र, सोने के समान सुन्दर, चमकीले, सोने से जड़े हुए, सोने से चित्रांकित, विविध रूप में चित्रांकित वस्त्र, विभिन्न प्रकार के आभरणों से मण्डित वस्त्र - इनमें से किसी को बनाता है - धारण करने योग्य रूप प्रदान करता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

११. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के विचार से मृगचर्म के वस्त्र या प्रावरण, ऊन के कंबल या प्रावरण, कोयर के वस्त्र या प्रावरण तथा काले, नीले, श्याम, अतिश्याम हरिण के चर्म के वस्त्र, एवं ऊँट के चर्म के वस्त्र या प्रावरण, बाघ, चीता या बन्दर के चर्म के वस्त्र, सूक्ष्म, बारीक वस्त्र, रेशम, कपास के वस्त्र, बारीक रेशे के वस्त्र, (पटल - गले में डालने का वस्त्र), बारीक धागों के वस्त्र, चीन देश के वस्त्र, रेशमी कीड़ों से प्राप्त रेशम से बने वस्त्र, सोने के समान सुन्दर, चमकीले, सोने से चित्रांकित, विविध रूप में चित्रांकित वस्त्र, विभिन्न प्रकार के आभरणों से मण्डित वस्त्र - इनमें से किसी को धारण करता है अथवा धारण करते हुए का अनुमोदन करता है।

१२. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के विचार से मृगचर्म के वस्त्र या प्रावरण, ऊन के कंबल या प्रावरण, कोयर के वस्त्र या प्रावरण तथा काले, नीले, श्याम, अतिश्याम हरिण

के चर्म के वस्त्र, एवं ऊँट के चर्म के वस्त्र या प्रावरण, बाघ, चीता या बन्दर के चर्म के वस्त्र, सूक्ष्म, बारीक वस्त्र, रेशम, कपास के वस्त्र, बारीक रेशे के वस्त्र, (पटल - गले में डालने का वस्त्र), बारीक धागों के वस्त्र, चीन देश के वस्त्र, रेशमी कीड़ों से प्राप्त रेशम से बने वस्त्र, सोने के समान सुन्दर, चमकीले, सोने से चित्रांकित, विविध रूप में चित्रांकित वस्त्र, विभिन्न प्रकार के आभरणों से मण्डित वस्त्र - इनमें से किसी का परिभोग करता है, उपयोग में लेता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

ऐसा करने वाले भिक्षु को गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - इन सूत्रों में मृग आदि पशुओं के चर्म, ऊन, कपास, (रेशमी) कीड़े तथा वृक्षों की छाल - इनसे निर्मित होने वाले, तैयार किए जाने वाले वस्त्रों का जो उल्लेख हुआ है, इससे यह प्रकट है कि प्राचीन काल में विविध रूप में वस्त्रों का निष्पादन और उपयोग होता था।

ऊन, कपास तथा रेशम के धागों से कपड़े बुने जाते थे। प्राचीन काल में चीन देश में रेशम के कपड़ों का प्रचुरता से उत्पादन होता था। वे भारतवर्ष में विशेष रूप से आयात किए जाते थे। अतः प्राकृत एवं संस्कृत ग्रन्थों से रेशमी वस्त्रों के लिए क्रमशः 'चीणांसुए' तथा 'चीणांशुक' शब्दों का प्रयोग प्राप्त होता है।

भिक्षु देह रक्षा और लज्जा निवारण हेतु ही वस्त्र धारण करता है। सुन्दरता, सजावट, दिखावा, बनावटी शोभा, प्रभाव आदि के लिए वह कीमती, चमकीले, भड़कीले, बहुमूल्य आदि किसी भी प्रकार के वस्त्र कदापि धारण न करे, ऐसा शास्त्रीय विधान है, क्योंकि ये बाह्य प्रदर्शनात्मक उपक्रम संयम में नितान्त बाधक हैं।

विकराल वेद मोहोदय से उन्मत्त व्यक्ति स्त्रियों को मोहित एवं आकर्षित करने हेतु विविध रूप में अपने को शृंगार-सज्जित करता है। शृंगार-सज्जा में वस्त्रों का विशेष महत्त्व है, जिसका उपर्युक्त सूत्रों में उल्लेख हुआ है।

ऊपर वर्णित वस्त्रों के बनाने में, तैयार करने में अनेक प्रकार के उपक्रम करणीय हैं, जिनमें विविध रूप में जीवों की विपुल विराधना होती है। आसक्ति एवं मोह का अतिशय तो वहाँ है ही। भिक्षु अदम्य कामावेशवश भी ऐसे कुकृत्यों में संलग्न न हो जाए, इस आशंका और आशय को ध्यान में रखते हुए सूत्रकार ने विस्तार से, विविध प्रकार के वस्त्रों का वर्णन करते हुए उन्हें तैयार करना, धारण करना और उपयोग में लेना प्रायश्चित्त योग्य तथा सर्वथा दोषपूर्ण बतलाया है।

नारी अंग संचालन विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए अ(क्खिं)क्खंसि वा ऊरंसि वा उयरंसि वा थणंसि वा गहाय संचालेइ संचालेतं वा साइज्जइ ॥ १३ ॥

कठिन शब्दार्थ - अ(क्खिं)क्खंसि - अक्ष - योनिस्थान अथवा शरीर की इन्द्रियों में से किसी को, ऊरंसि - उर - हृदय प्रदेश को, उयरंसि - उदर - कुक्षि प्रदेश या पेट को, थणंसि - स्तन को, गहाय - गृहीत कर - पकड़कर, संचालेइ - संचालित करता है - सहलाता है, हिलाता है।

भावार्थ - १३. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के लक्ष्य से उसके किसी अंग, हृदय प्रदेश, उदर या स्तन को गृहीत कर संचालित करता है, सहलाता है अथवा वैसे करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - इस सूत्र में जिन कायिक कामचेष्टाओं का वर्णन हुआ है, वे सर्वथा गहिंते हैं, घृणास्पद हैं। ब्रह्मचारी के लिए तो वैसे करना तो दूर रहा, सोचना तक निषिद्ध है।

दुःस्सह काम वेग से सन्तप्त, उत्पीड़ित व्यक्ति वासनाजनित स्पर्श-सुख का अनुभव करने हेतु नारी को अपनी ओर आकृष्ट एवं कामोद्यत बनाने हेतु ऐसी कुचेष्टाएं करता है। इन अति जघन्य लज्जास्पद, निन्दनीय कार्यों में साधु पड़ कर अपने संयम रत्न को न गंवा दे, पतन के गर्त में न गिर जाए, इस सूत्र में इन कलुषित कृत्यों को प्रायश्चित्त योग्य बतला कर उस ओर से सदैव पराङ्मुख, विमुख, सर्वथा पृथक् रहने की प्रेरणा प्रदान की गई है।

कामुकतावश परस्पर पाद-आमर्जनादि विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए अण्णमण्णस्स पाए आमज्जेज्ज वा पमज्जेज्ज वा आमज्जंतं वा पमज्जंतं वा साइज्जइ एवं तइयउहेसगगमेण पोयव्वं जाव जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए गामाणुगामं दूइज्जमाणे अण्णमण्णस्स सीसदुवारियं करेइ, करेतं वा साइज्जइ ॥१४-६९ ॥

भावार्थ - १४-६९. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से आपस में एक दूसरे के पाँव का एक बार या अनेक बार घर्षण करता है या घर्षण करने वाले का अनुमोदन करता है। इस प्रकार तीसरे उद्देशक के (सूत्र १६ से ७१) ५६ सूत्रों के आलापक के समान जान लेना चाहिए यावत् जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के संकल्प से ग्रामानुग्राम विहार

करते हुए आपस में एक दूसरे के मस्तक को ढांकता है या ढांकते वाले का अनुमोदन करता है। (उसे गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन - इन सूत्रों में परस्पर पाद आदि के आमर्जन - प्रमार्जन तथा परिकर्म विषयक जो वर्णन हुआ है, वह पूर्ववत् कामोत्तेजना के परिणाम स्वरूप क्रियमाण वासनामूलक प्रवृत्तियों का द्योतक है। पहले की तरह ये भी ऐसे कुत्सित कृत्य हैं, जिससे भिक्षु को मन-वचन-काय एवं कृत-कारित-अनुमोदित रूप में सर्वथा पृथक् रहना चाहिए।

एतद्विषयक विस्तृत विवेचन पिछले सूत्रों (तृतीय उद्देशक) में यथा स्थान द्रष्टव्य है।

सचित्त भूमि - सजीव स्थान पर बिठाने आदि का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए अणंतरहियाए पुढवीए णिसीयावेज्ज वा तुयट्ठावेज्ज वा णिसियावेतं वा तुयट्ठावेतं वा साइज्जइ ॥ ७० ॥

जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए ससिणिद्धाए पुढवीए णिसीयावेज्ज वा तुयट्ठावेज्ज वा णिसीयावेतं वा तुयट्ठावेतं वा साइज्जइ ॥ ७१ ॥

जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए ससरक्खाए पुढवीए णिसीयावेज्ज वा तुयट्ठावेज्ज वा णिसीयावेतं वा तुयट्ठावेतं वा साइज्जइ ॥ ७२ ॥

जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए मट्टियाकडाए पुढवीए णिसीयावेज्ज वा तुयट्ठावेज्ज वा णिसीयावेतं वा तुयट्ठावेतं वा साइज्जइ ॥ ७३ ॥

जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए चित्तमंताए पुढवीए णिसीयावेज्ज वा तुयट्ठावेज्ज वा णिसीयावेतं वा तुयट्ठावेतं वा साइज्जइ ॥ ७४ ॥

जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए चित्तमंताए सिलाए णिसीयावेज्ज वा तुयट्ठावेज्ज वा णिसीयावेतं वा तुयट्ठावेतं वा साइज्जइ ॥ ७५ ॥

जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए चित्तमंताए लेलूए णिसीयावेज्ज वा तुयट्ठावेज्ज वा णिसीयावेतं वा तुयट्ठावेतं वा साइज्जइ ॥ ७६ ॥

जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए कोलावासंसि वा दारुए जीवपइट्ठिए सअंडे सपाणे सबीए सहरिए सओसे सउदए सउत्तिंगपणग-

दगमद्वियमक्कडासंताणगंसि णिसीयावेज्ज वा तुयद्वावेज्ज वा णिसीयावेतं वा तुयद्वावेतं वा साइज्जइ ॥ ७७ ॥

कठिन शब्दार्थ - अणंतरहियाए - अनंतरहितायां - शीतवातादि शास्त्रों द्वारा अनुपहत-सचित्त, पुढवीए - भूमि पर, मट्टियाकडाए - सचित्त मृत्तिकामय, चित्तमंताए - स्वभावतः सचित्त - खदान रूप, चित्तमंताए सिलाए - खान से सद्यः निष्कासित सचित्त शिला, चित्तमंताए लेलूए - खान से तत्काल निकाला गया मिट्टी का ढेला, कोलावासंसि - घुणों के आवास से युक्त, दारुए जीवपइट्टिए - जीव युक्त काष्ठ में, सहरिए - हरित - हरियाली युक्त, सओसे - ओस (नमी) युक्त, सउदए - स-उदक - जल सहित, उत्तिंगं - कीट विशेष युक्त, भूमि में गोलाकार बिल बनाने वाले गर्दभ के मुख के आकार से युक्त कीट विशेष, पणग - पनकं - लीलन-फूलण आदि जीव, मक्कडासंताणगंसि - मकड़ी के जाले पर।

भावार्थ - ७०. जो भिक्षु मैथुन सेवन की इच्छा से स्त्री को सचित्त भूमि (सचित्त संलग्न भूमि) पर बिठाता है या करवट लिवाता है-सुलाता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

७१. जो भिक्षु मैथुन सेवन की इच्छा से स्त्री को (सचित्त जल से) स्निग्ध - भीगी हुई या चिकनी भूमि पर बिठाता है या सुलाता है अथवा बिठाते-सुलाते हुए का अनुमोदन करता है।

७२. जो भिक्षु मैथुन सेवन की इच्छा से स्त्री को सचित्त रजयुक्त भूमि पर बिठाता है या सुलाता है अथवा बिठाते-सुलाते हुए का अनुमोदन करता है।

७३. जो भिक्षु मैथुन सेवन की इच्छा से स्त्री को सचित्त मृत्तिकामय भूमि पर बिठाता है या सुलाता है अथवा बिठाते-सुलाते हुए का अनुमोदन करता है।

७४. जो भिक्षु मैथुन सेवन की इच्छा से स्त्री को स्वभावतः सचित्त - खदान रूप भूमि पर बिठाता है या सुलाता है अथवा बिठाते-सुलाते हुए का अनुमोदन करता है।

७५. जो भिक्षु मैथुन सेवन की इच्छा से स्त्री को खान से सद्यः निष्कासित सचित्त शिला पर बिठाता है या सुलाता है अथवा बिठाते-सुलाते हुए का अनुमोदन करता है।

७६. जो भिक्षु मैथुन सेवन की इच्छा से स्त्री को खान से तत्काल निकाले गए मिट्टी के ढेले पर बिठाता है या सुलाता है अथवा बिठाते-सुलाते हुए का अनुमोदन करता है।

७७. जो भिक्षु मैथुन सेवन की इच्छा से स्त्री को घुणों के आवास से युक्त, जीव प्रतिष्ठित - अन्यान्य जीव युक्त काष्ठ निर्मित पीठ, फलक आदि पर, चींटी आदि के अण्डों

से युक्त काष्ठ या स्थान पर, प्राण सहित - छोटे-छोटे द्वीन्द्रिय आदि जीव सहित, बीजों सहित, हरियाली युक्त, ओस - नमी सहित, पानी सहित, उत्तिंग संज्ञक कीट विशेष, पनक - लीलन-फूलन, उदक मृत्तिका - जल सहित मिट्टी युक्त तथा मकड़ी के जाले से युक्त स्थान पर बिठाता है या सुलाता है अथवा बिठाते-सुलाते हुए का अनुमोदन करता है।

उपर्युक्त रूप में आचरण करने वाले भिक्षु को गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - सचित्त - सजीव भूमि, स्थान, पदार्थ, उपकरण आदि भिक्षु के लिए सर्वथा त्याज्य हैं। सचित्त के साथ-साथ सचित्त संलग्न पदार्थ भी सचित्त की श्रेणी में आ जाते हैं।

इन सूत्रों में सचित्त भूमि, सचित्त शिला आदि पर साधु द्वारा स्त्री को बिठाए जाने या सुलाए जाने आदि का जो वर्णन आया है, उसमें अहिंसा और ब्रह्मचर्य महाव्रत के खण्डन का स्पष्ट संकेत प्राप्त होता है। अहिंसा का परम आराधक साधु सचित्त का संश्लेष, संस्पर्श आदि कदापि नहीं करता।

कामविमूढ मानसिकतावश स्त्री को सचित्त, सचित्त संलग्न भूमि आदि पर बिठाना, सुलाना आदि साधुत्व के सर्वथा प्रतिकूल हैं। साधु के लिए तो स्त्री का स्पर्श करना तथा उस भवन में रहना तक वर्जित है, जहां स्त्री का चित्र लगा हो। स्त्री के साथ काम-कौतुकमय खिलवाड़ करना तो एक ऐसा कार्य है, जिसके संबंध में सुनते ही आत्मा कांप उठती है।

इसी तथ्य को हृदयंगम करना और ऐसे वर्जनीय, निन्दनीय कार्यों के प्रति भिक्षु के मन में दुराव उत्पन्न करना, इन सूत्रों का हार्द है।

अंक एवं पर्यक पर स्त्री को बिठाने आदि का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए अंकंसि वा पलियंकंसि वा णिसीयावेज्ज वा तुयट्ठावेज्ज वा णिसीयावेतं वा तुयट्ठावेतं वा साइज्जइ ॥ ७८ ॥

जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए अंकंसि वा पलियंकंसि वा णिसीयावेत्ता तुयट्ठावेत्ता वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अणुग्घासेज्ज वा अणुपाएज्ज वा अणुग्घासेतं वा अणुपाएतं वा साइज्जइ ॥ ७९ ॥

कठिन शब्दार्थ - अंकंसि - अंक में - गोद में, पलियंकंसि - पर्यक पर - पलंग या मंच (मांचे या खाट) पर, अणुग्घासेज्ज - अनुग्रासित करे - मुँह में ग्रास देवे या खिलाए, अणुपाएज्ज - अनुपानित करे - पिलाए।

भावार्थ - ७८. जो भिक्षु मैथुन सेवन करने की मानसिकतावश स्त्री को अपनी गोद में या पलंग पर बिठाए या सुलाए अथवा बिठाते सुलाते हुए का अनुमोदन करे।

७९. जो भिक्षु मैथुन सेवन करने की मानसिकतावश स्त्री को गोद में या पलंग पर बिठाकर - सुलाकर उसे अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप चतुर्विध आहार अनुग्रासित करे - खिलाए या अनुपानित करे - पिलाए अथवा खिलाते-पिलाते हुए का अनुमोदन करे।

ऐसा करने वाले भिक्षु को गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - इन सूत्रों में स्त्री के साथ जिस रूप में काम वासनाजन्य अतिहीन कामुक क्रियाएँ किए जाने का जो वर्णन हुआ है, कोई भी पंचमहाव्रतधारी साधु ऐसा करे, यह कल्पना करना तक कठिन है, किन्तु लोक में कामोद्वेलित, कामोत्कण्ठित व्यक्ति ऐसा करते देखे जाते हैं। वेदमोह के अति तीव्र उदयवश भिक्षु में कभी ऐसी प्रवृत्ति व्याप्त न हो जाए, यही दृष्टिकोण इन सूत्रों में रहा है। वैसी प्रवृत्तियाँ पापमय हैं। जीवन रूपी स्वर्ण पाप रूपी कालुष्य के पश्चात्ताप रूपी अग्नि में जल जाने से ही शुद्ध होता है।

धर्मशाला आदि में स्त्री को बिठाने आदि का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए आगंतागारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावडकुलेसु वा परियावसहेसु वा णिसीयावेज्ज वा तुयट्टावेज्ज वा णिसीयावेतं वा तुयट्टावेतं वा साइज्जइ ॥ ८० ॥

जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए आगंतागारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावडकुलेसु वा परियावसहेसु वा णिसीयावेत्ता वा तुयट्टावेत्ता वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अणुग्घासेज्ज वा अणुपाएज्ज वा अणुग्घासेतं वा अणुपाएतं वा साइज्जइ ॥ ८१ ॥

कठिन शब्दार्थ - आरामागारेसु - उद्यानों में क्रीड़ा हेतु निर्मित गृहों या भवनों में, परियावसहेसु - परिव्राजकों के अवसथ - स्थान में।

भावार्थ - ८०. जो भिक्षु मैथुन सेवन की कामना लिए स्त्री को धर्मशाला, उद्यानगृह, गाथापतिकुल, परिव्राजकों या तापसों या संन्यासियों के स्थान - इनमें से किसी में बिठाता है या सुलाता है अथवा बिठाते - सुलाते हुए का अनुमोदन करता है।

८१. जो भिक्षु मैथुन सेवन की कामना लिए स्त्री को धर्मशाला, उद्यानगृह, गाथापतिकुल,

परिव्राजकों या तापसों या संन्यासियों के स्थान - इनमें से किसी में बिठाकर या सुलाकर उसे अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप चतुर्विध आहार खिलाए या पिलाए अथवा खिलाते-पिलाते हुए का अनुमोदन करे।

ऐसा करने वाले भिक्षु को गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - यहाँ प्रयुक्त **परियावसथेषु** - **परिव्राजकावसथेषु** पद में तत्पुरुष समास है। **परिव्राजक+अवसथ** - इन दो शब्दों के मेल से यह बना है। परिव्राजक शब्द 'परि' उपसर्ग और 'व्रज्' धातु से बनता है। "व्रज्" धातु गमनार्थक है। "परि-समन्तात्, सर्वं विहाय व्रजति - गच्छति संन्यासमार्गे सः परिव्राजकः" जो सबका त्याग कर संन्यास के मार्ग पर जाता है, उसे परिव्राजक कहा जाता है। इस प्रकार 'परि' पूर्वक व्रज् धातु संन्यास लेने के अर्थ में है।

"अव - समन्तात्, सर्वप्रकारेण स्थीयते यत्र सः अवस्थः" जहाँ स्थित या आवास किया जाता है, उसे अवसथ कहा जाता है। अवसथ निवास स्थान या आश्रम का वाचक है।

"परिव्राजकानाम् अवसथः - इति परिव्राजकावसथः, तेषु परिव्राजकावसथेषु" इस विग्रह के अनुसार यह षष्ठी तत्पुरुष है।

प्राचीनकाल में अन्यतीर्थिकों के अनेक संप्रदाय थे, जिनमें परिव्राजक, तापस आदि मुख्य थे। औपपातिक सूत्र में उपपात के संदर्भ में परिव्राजकों का वर्णन हुआ है❶। वहाँ अम्बड नामक परिव्राजक का विशेष रूप से उल्लेख है❷। भगवान् महावीर कालीन अन्यतीर्थिक परंपराओं के अध्ययन की दृष्टि से औपपातिक सूत्र का वह संदर्भ विशेष रूप से पठनीय है।

चिकित्सा विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू माउगामस्स मेहुणवडियाए अण्णयरं तेइच्छं आउट्टइ आउट्टं
वा साइज्जइ ॥ ८२ ॥

कठिन शब्दार्थ - तेइच्छं - चिकित्सा, आउट्टइ - आवर्तित - निष्पादित करता है।

भावार्थ - ८२. जो भिक्षु मैथुन सेवन करने की कांक्षा से अपनी या स्त्री की चिकित्सा

❶ औपपातिक सूत्र, सूत्र ७६ (आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर)

❷ औपपातिक सूत्र, सूत्र ८२ (आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर)

आवर्तित करता है अथवा चिकित्सा आवर्तित करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - आयुर्वेद में दोषज एवं कर्मज के रूप में रोग दो प्रकार के बतलाए गए हैं-
“दोषैर्जायन्ते - इति दोषजाः” वात, पित्त एवं कफ इन तीन दोषों से जो रोग उत्पन्न होते हैं, उन्हें दोषज कहा जाता है। दोषों के आधार पर उनके चार भेद होते हैं - वातज, पित्तज, कफज और सन्निपातज। वात, पित्त तथा कफ के प्रकोप, वैषम्य या असंतुलन से जो रोग उत्पन्न होते हैं, उन्हें क्रमशः वातज, पित्तज एवं कफज कहा जाता है। इन तीनों का जब एक साथ विकार होता है, उसे सन्निपात कहा जाता है। उससे होने वाले रोग सन्निपातज कहे जाते हैं।

चरक संहिता, सुश्रुत संहिता, शार्ङ्गधर संहिता, अष्टांगहृदय तथा भाव प्रकाश आदि ग्रन्थों में इन रोगों की विविध रूप में चिकित्सा का वर्णन है। समीचीन चिकित्सा, समुचित पथ्य और यथेष्ट उपचार से ये रोग यथासंभव मिट सकते हैं।

“कर्मभिर्जायन्ते - इति कर्मजाः” जो रोग असातावेदनीय कर्मों के कारण उत्पन्न होते हैं, वे कर्मज कहे जाते हैं। वे चिकित्सा द्वारा नहीं मिट सकते, कर्मभोगोपरान्त ही वे शान्त होते हैं।

यहाँ साधु द्वारा अपनी या स्त्री की चिकित्सा किए जाने का जो उल्लेख हुआ है, वह दोषज रोगों के संदर्भ में है।

अपने को या स्त्री को, जो किसी रोग से ग्रस्त हो, वैसी अवस्था में मैथुन सेवन में अक्षम हो, यह सोच कर कि इसमें मैथुन सेवन बाधित नहीं होगा, साधु द्वारा चिकित्सा किया जाना, उसका अनुमोदन किया जाना कलुषित एवं पापपूर्ण कृत्य है, प्रायश्चित्त योग्य है। ऐसे अशुभोपक्रम में साधु कदापि न पड़े।

पुद्गल प्रक्षेपादि विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए अमणुण्णाइं पोग्गलाइं णीहरइ
 णीहरंतं वा साइज्जइ ॥ ८३ ॥

जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए मणुण्णाइं पोग्गलाइं उवकिरइ
 उवकिरंतं वा साइज्जइ ॥ ८४ ॥

कठिन शब्दार्थ - अमणुण्णाइं - अमनोज्ञ - मन को अप्रिय लगने वाले, षोगगलाइं-
पुद्गल, मणुण्णाइं - मनोज्ञ - मन को प्रिय लगने वाले, उवकिरइ - उपकिरण करता है -
प्रक्षिप्त करता है।

भावार्थ - ८३. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन करने के अभिप्राय से अमनोज्ञ
पुद्गलों को निकालता है - हटाता है या दूर करता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन
करता है।

८४. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन करने के अभिप्राय से मनोज्ञ पुद्गलों का प्रक्षेप
करता है अथवा प्रक्षेप करते हुए का अनुमोदन करता है।

ऐसा करने वाले भिक्षु को गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - जब मन में काम-वासना जागृत होती है तो काममोहित व्यक्ति अपने
आपको, भोग्या नारी को तथा भवन, वस्त्र आदि उपकरणों की असुन्दरता को मिटाने के लिए
अमनोज्ञ पुद्गलों को असुन्दर, भौतिक पदार्थों को दूर करता है अर्थात् अपने देह, स्थान और
वहाँ विद्यमान वस्तुओं की अमनोज्ञता - असुन्दरता को हटाता है। सूत्र में इसे पुद्गल निर्हरण
शब्द द्वारा अभिहित किया गया है। तदर्थ व्यक्ति अपने शरीर, स्थान, वस्त्र आदि उपकरण इन
सभी को मनोज्ञ - सुन्दर, सुसज्ज बनाने का उपक्रम करता है। इसके लिए पुद्गलों का
उपकिरण - प्रक्षेपण पद आया है। साधु के लिए ऐसा करना सर्वथा दोष पूर्ण है।

पशु-पक्षी के अंगसंचालन आदि विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए अण्णयरं पसुजाइं वा पक्खिजाइं
वा पायंसि वा पक्खंसि वा पुंछंसि वा सीसंमि वा गहाय (उज्जिहइ वा पव्विहइ
वा) संचालेइ (उज्जिहेतं वा पव्विहेतं वा) संचालेतं वा साइज्जइ ॥ ८५ ॥

जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए अण्णयरं पसुजायं वा पक्खिजायं
वा सोयंसि कट्ठं वा किलिंच्चं वा अंगुलियं वा सलागं वा अणुप्पवेसित्ता संचालेइ
संचालेतं वा साइज्जइ ॥ ८६ ॥

जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए अण्णयरं पसुजायं वा पक्खिजायं
वा अयमित्थित्तिकट्ठु आलिंगेज्ज वा परिस्सएज्ज वा परिचुंबेज्ज वा विच्छेदेज्ज
वा आलिंगंतं वा परिस्सयंतं वा परिचुंबंतं वा विच्छेदंतं वा साइज्जइ ॥ ८७ ॥

कठिन शब्दार्थ - पसुजाइं - पशुजाति, पक्खिजाइं - पक्षी जाति, पक्खंसि - पंख को, पुंछंसि - पूंछ को, सीसंसि - सिर को, गहाय - गृहीत कर - पकड़ कर, उज्जिहइ - उज्जीवित - उल्लसित करता है, पव्विहइ - प्रविहित करता है - प्रेरित करता है, किलिंचं - बांस की सीक, अणुप्पवेसित्ता - अनुप्रविष्ट कर, अयमित्थित्तिकडु - यह स्त्री है, ऐसा मानकर, आलिंगेज्ज - आलिंगन करे, परिस्सएज्ज - परिष्वजन - विशेष रूप से आलिंगन करे, परिचुंबेज्ज - चुंबन करे, विच्छेदेज्ज - नख - क्षत आदि करे।

भावार्थ - ८५. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन की दुर्भावना से किसी पशु या पक्षी के पंख, पूंछ या सिर को गृहीत कर - पकड़ कर उसे (उज्जीवित - उल्लसित करता है या प्रविहित - उत्प्रेरित करता है) संचालित करता है - सहलाता है अथवा (उज्जीवित - उल्लासित या प्रविहित - उत्प्रेरित) संचालित करते हुए का अनुमोदन करता है।

८६. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन की दुर्भावना से किसी पशु या पक्षी के स्रोत - शरीर के नाक, कान आदि छिद्र स्थानों में लकड़ी, बांस की सीक, अंगुली या शलाका - लोहे की कील अनुप्रविष्ट कर संचालित - आन्दोलित करता है अथवा संचालित करते हुए का अनुमोदन करता है।

८७. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन की दुर्भावना से किसी पशु या पक्षी को "यह स्त्री है" ऐसा मानकर उसका आलिंगन - देह के अंग विशेष का संस्पर्श करे, परिष्वजन - समस्त शरीर का आलिंगन करे, परिचुंबन करे या नख-क्षत आदि द्वारा खरोंचे अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करे।

उपर्युक्त रूप में आचरण करने वाले भिक्षु को गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - काम-वासना का पथ बड़ा बीहड़ है, भीषण है और विचित्र है। वेद मोहोदय के परिणाम स्वरूप व्यक्ति अपनी कामोद्वेलित दुर्वासना की अभिव्यक्ति न जाने कितने लज्जास्पद रूपों में करता है, यह उपर्युक्त सूत्रों से प्रकट होता है। वह भोले पशु, पक्षियों को भी अपनी दूषित मानसिकता की लपेट में ले लेता है। उनको माध्यम बनाकर अपनी हेय-परिहेय, कुतूहल - बहुल कुप्रवृत्तियों को प्रकट करता है।

प्रथम सूत्र में जिन कुचेष्टाओं का उल्लेख है, वे मुख्यतः मैथुन के लिए उद्दिष्ट स्त्री को दुष्प्रेरित करने हेतु प्रतीत होती हैं।

आगे के दो सूत्रों में जैसा कि स्पष्ट रूप में उल्लेख हुआ है, स्त्री जातीय पशु, पक्षी विशेष को गृहीत कर ऐसी चेष्टाएं करने का वर्णन है, जो कामासक्त पुरुष स्त्री के साथ करता है।

यहाँ प्रयुक्त विच्छेदन शब्द कामी पुरुष द्वारा स्त्री के देह पर नख आदि द्वारा बनाए गए खरोंचों के अर्थ में है, जो काम-कौतुक का एक रूप है। वात्स्यायन के कामसूत्र में आलिंगन, परिष्वजन, चुम्बन, परिच्छेदन का कामांगों के रूप में विस्तृत विवेचन है। कामकर्दम में लिप्त-प्रलिप्त पुरुष ऐसा करने में बड़ा सुख अनुभव करते हैं। कामवशगा नारी भी इन्हें उल्लासप्रद मानती है, जो प्रबल मोह प्रसूत है, अशुभ कर्मबंध का अनन्य हेतु है। साधु कामकेलितगत कौतुक प्रधान प्रवृत्तियों में पड़कर कभी भी अपने संयम रत्न को धूमिल, दूषित न बनाए। इसलिए इनको प्रायश्चित्त योग्य बतलाते हुए भिक्षुवृन्द को इनसे सर्वथा अतीत, अस्पृष्ट एवं अलग्न रहने की प्रेरणा प्रदान की गई है।

भक्त-पान-प्रतिगृहादि आदान-प्रदान-विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा देइ देतं वा साइज्जइ ॥ ८८ ॥

जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिच्छइ पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥ ८९ ॥

जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा देइ देतं वा साइज्जइ ॥ ९० ॥

जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा पडिच्छइ पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥ ९१ ॥

भावार्थ - ८८. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के दुर्विचार से उसे अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य रूप चतुर्विध आहार देता है अथवा देते हुए का अनुमोदन करता है।

८९. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के दुर्विचार से उससे अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य रूप चतुर्विध आहार ग्रहण करता है अथवा ग्रहण करते हुए का अनुमोदन करता है।

९०. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के दुर्विचार से उसे वस्त्र, पात्र, कंबल या पादप्रोँछन देता है अथवा देते हुए का अनुमोदन करता है।

९१. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन के दुर्विचार से उससे वस्त्र, पात्र, कंबल या पादप्रोँछन ग्रहण करता है अथवा ग्रहण करते हुए का अनुमोदन करता है।

इस प्रकार उपर्युक्त अविहित कार्य करने वाले भिक्षु को गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।
विवेचन - काम-वासना के उद्दीपन तथा संवर्धन में स्त्री एवं पुरुष के बीच खाद्य-पेय आदि सामग्री के आदान-प्रदान का बड़ा प्रभाव होता है। उससे वे एक-दूसरे के अधिक निकट आते हैं, मैथुनोद्देलित होते हैं।

उपर्युक्त सूत्रों में इसी प्रकार की कामुकता प्रेरित प्रवृत्ति का उल्लेख है। पाप-पंकिलता के कारण वैसी प्रवृत्ति परित्याग योग्य एवं प्रायश्चित्त योग्य है, भिक्षु इस तथ्य को सदैव हृदयंगम किए रहे।

सूत्रार्थ वाचना आदान-प्रदान-विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए सज्झायं वाएइ वाएंतं वा साइज्जइ ॥ ९२ ॥

जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए सज्झायं पडिच्छइ पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥ ९३ ॥

भावार्थ - ९२. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन की दुष्कामना से उसे स्वाध्याय - सूत्रार्थ की वाचना देता है अथवा वाचना देते हुए का अनुमोदन करता है।

९३. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन की दुष्कामना से उससे स्वाध्याय - सूत्रार्थ की वाचना ग्रहण करता है अथवा ग्रहण करते हुए का अनुमोदन करता है।

ऐसा करने वाले भिक्षु को गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - भिक्षु आगम सूत्रों के मूल पाठ की वाचना एवं अर्थ की वाचना तथा सूत्रार्थ (तदुभय) की वाचना गृहस्थों को भी दे सकता है अर्थात् सूत्रों का अर्थ विश्लेषण - भावार्थ, विवेचन गृहस्थों को भी ज्ञापित कर सकता है, समझा सकता है। यहाँ वाचना देना और लेना इसी अर्थ में गृहीत है।

सूत्रार्थ - तत्त्व विवेचन, तत्त्वानुशीलन एवं तत्त्वानुचिन्तन परम पवित्र कार्य है, कर्म निर्जरा का हेतु है। किन्तु बड़े ही दुःखद आश्चर्य का विषय है कि ऐसे पावन कृत्य का भी कामोद्देगवशा व्यक्ति मैथुन जैसे परित्याज्य कार्य में प्रेरक के रूप में उपयोग करने में उद्यत हो जाता है। कामान्धता व्यक्ति के विवेक को किस प्रकार उन्मूलित कर डालती है, यह उसका स्वभाव उदाहरण है। भिक्षु इससे अपने को सदैव परिरक्षित किए रहे।

किसी भी इन्द्रिय द्वारा विकारोत्पादक आकृति बनाने विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणन्नडियाए अण्णयरेणं इंदिएणं आकारं करेइ करेत्तं वा साइज्जइ। तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ॥ ९४ ॥

॥ णिसीहउज्जयणे सत्तमो उद्देशो समत्तो ॥ ७ ॥

कठिन शब्दार्थ - इंदिएणं - इन्द्रिय द्वारा, आकारं - आकार - कामुक संकेत।

भावार्थ - ९४. जो भिक्षु स्त्री के साथ मैथुन सेवन का अभिप्राय लिए किसी भी इन्द्रिय द्वारा कोई (विकारोत्पादक) आकार - आकृति बनाता है, अंगों द्वारा कामुक संकेत देता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

इस प्रकार उपर्युक्त ९४ सूत्रों में किए गए किसी भी प्रायश्चित्त स्थान का, तद्गत दोषों का सेवन करने वाले भिक्षु को अनुद्घातिक परिहार तप रूप गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

इस प्रकार निशीथ अध्ययन (निशीथ सूत्र) का सप्तम उद्देशक परिसमाप्त हुआ।

विवेचन - यहाँ आकार शब्द स्त्री को कामप्रेरित करने की दुरभिलाषा से शरीर के अंगोपांगों से विविध प्रकार के संकेत करना है।

निशीथ भाष्य में नेत्रों द्वारा इशारा करना, रोमांचित होना - शरीर के रोमों का खड़ा होना, देह को कंपित करना, स्वेद आना, अपनी दृष्टि - नजर और मुखाकृति को रागयुक्त करना, लम्बे सांस छोड़ते हुए बोलना, बार-बार बातें करना - मोहक या लुभावने वचन बोलना, बार-बार उबासी लेना - इन संकेतात्मक उपक्रमों का कामुक आकारों के रूप में आख्यान किया है।

वात्स्यायन ने भी कामसूत्र में इस प्रकार की कामुक चेष्टाओं को कामोत्तेजना तथा भोगोत्प्रेरणा के रूप में वर्णित किया है।

॥ इति निशीथ सूत्र का सप्तम उद्देशक समाप्त ॥

अट्टमो उद्देसओ - अष्टम उद्देशक

एकाकिनी नारी के साथ आवास आदि विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू आगंतागारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावइकुलेसु वा परियावसहेसु वा एगो एगीत्थिए सद्धिं विहारं वा करेइ सज्जायं वा करेइ असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आहारेइ उच्चारं वा पासवणं वा परिट्टवेइ अण्णयरं वा अणारियं मेहुणं (णिट्ठुरं) अस्समणपाओग्गं कहं कहेइ कहेंतं वा साइज्जइ ॥ १ ॥

जे भिक्खू उज्जाणंसि वा उज्जाणगिहंसि वा उज्जाणसालंसि वा णिज्जाणंसि वा णिज्जाणगिहंसि वा णिज्जाणसालंसि वा एगो एगीत्थिए सद्धिं विहारं वा करेइ सज्जायं वा करेइ असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आहारेइ उच्चारं वा पासवणं वा परिट्टवेइ अण्णयरं वा अणारियं मेहुणं अस्समणपाओग्गं कहं कहेइ कहेंतं वा साइज्जइ ॥ २ ॥

जे भिक्खू अट्ठंसि वा अट्ठालयंसि वा चरियंसि वा पागारंसि वा दारंसि वा गोपुरंसि वा एगो एगीत्थिए सद्धिं विहारं वा करेइ सज्जायं वा करेइ असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आहारेइ उच्चारं वा पासवणं वा परिट्टवेइ अण्णयरं वा अणारियं मेहुणं अस्समणपाओग्गं कहं कहेइ कहेंतं वा साइज्जइ ॥ ३ ॥

जे भिक्खू दगंसि वा दगमग्गंसि वा दगपहंसि वा दगमलंसि वा दगतीरंसि वा दगठाणंसि वा एगो एगीत्थिए सद्धिं विहारं वा करेइ सज्जायं वा करेइ असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आहारेइ उच्चारं वा पासवणं वा परिट्टवेइ अण्णयरं वा अणारियं मेहुणं अस्समणपाओग्गं कहं कहेइ कहेंतं वा साइज्जइ ॥ ४ ॥

जे भिक्खू सुण्णगिहंसि वा सुण्णसालंसि वा भिण्णगिहंसि वा

भिण्णसालंसि वा कूडागारंसि वा कोट्टागारंसि वा एगो एगीत्थिए सद्धिं विहारं वा करेइ सज्जायं वा करेइ असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आहारेइ उच्चारं वा पासवणं वा परिट्टवेइ अण्णयरं वा अणारियं मेहुणं अस्समणपाउग्गं कहं कहेइ कहेतं वा साइज्जइ ॥ ५ ॥

जे भिक्खू तणगिहंसि वा तणसालंसि वा तुसगिहंसि वा तुससालंसि वा भुसगिहंसि वा भुससालंसि वा एगो एगीत्थिए सद्धिं विहारं वा करेइ सज्जायं वा करेइ असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आहारेइ उच्चारं वा पासवणं वा परिट्टवेइ अण्णयरं वा अणारियं मेहुणं अस्समणपाउग्गं कहं कहेइ कहेतं वा साइज्जइ ॥ ६ ॥

जे भिक्खू जाणसालंसि वा जाणगिहंसि वा जुग्गसालंसि वा जुग्गगिहंसि वा एगो एगीत्थिए सद्धिं विहारं वा करेइ सज्जायं वा करेइ असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आहारेइ उच्चारं वा पासवणं वा परिट्टवेइ अण्णयरं वा अणारियं मेहुणं अस्समणपाउग्गं कहं कहेइ कहेतं वा साइज्जइ ॥ ७ ॥

जे भिक्खू पणियसालंसि वा पणियगिहंसि वा परियासालंसि वा परियागिहंसि वा कुवियसालंसि वा कुवियगिहंसि वा एगो एगीत्थिए सद्धिं विहारं वा करेइ सज्जायं वा करेइ असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आहारेइ उच्चारं वा पासवणं वा परिट्टवेइ अण्णयरं वा अणारियं मेहुणं अस्समणपाउग्गं कहं कहेइ कहेतं वा साइज्जइ ॥ ८ ॥

जे भिक्खू गोणसालंसि वा गोणगिहंसि वा महाकुलंसि वा महागिहंसि वा एगो एगीत्थिए सद्धिं विहारं वा करेइ सज्जायं वा करेइ असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आहारेइ उच्चारं वा पासवणं वा परिट्टवेइ अण्णयरं वा अणारियं मेहुणं अस्समणपाउग्गं कहं कहेइ कहेतं वा साइज्जइ ॥ ९ ॥

कठिन शब्दार्थ - एगो - एकाकी - अकेला, एगीत्थिए - एकाकिनी - अकेली, स्त्री के, सद्धिं - साथ, विहारं - गमनागमन, आवास आदि साहचर्य, अणारियं - अनाया

अच्छे जनों द्वारा अग्राह्या, निंदिता, **णिदुरं** - निष्ठुर - अश्लील, **अस्समणपाओगं** - अश्रमण प्रायोग्य - साधु द्वारा प्रयोग में न लेने योग्य - न कहने योग्य, **कहं** - कथा - कामकथा, **कहेइ** - कहता है, **उज्जाणंसि** - उद्यान उपवन में, **उज्जाणगिहंसि** - उद्यानग्रह उपवन में निर्मित क्रीड़ा सदन में, **उज्जाणसालंसि** - उद्यानशाला - उपवन स्थित धर्मशाला में, **णिज्जाणंसि** - निर्याण में - निर्गमन (राजा के निकलने या बाहर जाने के रास्ते) में, **णिज्जाणगिहंसि** - निर्याणगृह - निर्गमन मार्ग पर निर्मित भवन में, **णिज्जाणसालंसि** - निर्याणशाला - निर्गमन मार्ग पर निर्मित धर्मशाला में, **अट्टंसि**-अट्टम - ग्राम नगरादि के प्राकार के अधोभाग में, **अट्टालयंसि** - अट्टालय - प्राकार के किसी भाग में निर्मित अट्टालिका में - भवन विशेष में, **चरियंसि** - चरिका में - प्राकार के अधोभाग से सटे हुए आठ हाथ परिमित मार्ग में, **पागारंसि** - प्राकार के ऊपर निर्मित मकान में, **दारंसि** - नगर के द्वार - दरवाजे में, **गोपुरंसि** - गोपुर - नगर के मुख्य द्वार के अग्रवर्ती द्वार में, **दगंसि** - उदक - जलाशय में - जलाशय के सन्निकट, **दगमगंसि** - उदकमार्ग में - जलाशय में जल आने के मार्ग पर, **दगपहंसि** - उदक पथ में - जलाशय से जल लेने हेतु लोगों के आने-जाने के रास्ते पर, **दगमलंसि** - उदकमल में - कीचड़ युक्त मार्ग पर, **दगतीरंसि** - उदकतीर में - जलाशय के तट पर, **दगठाणंसि** - उदक स्थान में - तालाब आदि पर ठहरने हेतु बने मकान में, **सुण्णगिहंसि** - शून्यगृह - सूने घर में, **सुण्णसालंसि** - शून्यशाला - सूनी धर्मशाला में, **भिण्णगिहंसि** - भिन्नगृह - टूटे-फूटे घर में, **भिण्णसालंसि** - भिन्नशाला - टूटे-फूटी धर्मशाला में, **कूडागारंसि** - कूटागार में - पर्वत की चोटी पर बने मकान में, **कोट्टागारंसि** - कोष्ठागार में - चावल, गेहूँ तथा जौ आदि के भण्डार गृह में, **तणगिहंसि** - तृणगृह में - घास-फूस से बनी झोंपड़ी में, **तणसालंसि** - तृणशाला में - घास-फूस आदि से बने छप्पर में, **तुसगिहंसि** - तुषगृह - चावल आदि का तुष रखने के ढारे में, **तुससालंसि**- तुषशाला - तुष रखने के मकान में, **भुसगिहंसि** - भुसगृह में - गेहूँ, जौ आदि का भूसा रखने के ढारे में, **भुससालंसि** - भुसशाला - भूसा रखने के मकान में, **जाणसालंसि** - यानशाला में - विशाल अश्वशाला (बड़ी घुड़शाल) आदि में, **जाणगिहंसि** - यानगृह में - अश्व आदि रखने की छोटी शाला में, **जुग्गसालंसि** - युग्गशाला में - गाड़े, रथ आदि रखने की विशाल शाला - वाहनशाला में, **जुग्गगिहंसि** - युग्गगृह में - गाड़े, रथ आदि रखने की छोटी शाला में, **पणियसालंसि** - पण्यशाला में - माल - अमन्त्राय वेचने के विशाल स्थान में (बड़ी

थोक की दुकान में), **पणियगिहंसि** - पण्यगृह में - माल - असबाब बेचने के छोटे स्थान में (परचून विक्रय केन्द्र में या हाट में), **परियासालंसि** - पर्यटनशाला में, **परियागिहंसि** - पर्यटनगृह में, **कुविय सालंसि** - कुप्यशाला में - लोहे आदि का सामान रखने की बड़ी शाला में, **कुवियगिहंसि** - कुप्यगृह में - लोहे आदि का सामान रखने के छोटे स्थान में, **गोणसालंसि** - गोशाला में - गायों-बैलों की शाला - गोष्ठ में, **गोणगिहंसि** - गोगृह में - गायों-बैलों को रखने के छोटे स्थान में, **महाकुलंसि** - महाकुल में - विशिष्टजनों के कुल में - पारिवारिक स्थान में, **महागिहंसि** - महागृह में - विशाल भवन में।

भावार्थ - १. जो भिक्षु धर्मशालाओं में, उद्यानों में क्रीड़ा हेतु बने भवनों में, गाथापति कुलों में या परिव्राजकों के आश्रमों में अकेला एकाकिनी स्त्री के साथ गमनागमन या प्रवास आदि करता है या स्वाध्याय करता है, अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप चतुर्विध आहार करता है, मल-मूत्र परठता है, किसी अनार्या, निंदिताचार युक्ता स्त्री को मैथुन विषयक (अश्लील), श्रमण द्वारा प्रयुक्त न किए जाने योग्य कामकथा - कामुकता पूर्ण वचन कहता है अथवा कहते हुए का अनुमोदन करता है।

२. जो भिक्षु उद्यान में, उद्यानगृह में, उद्यानशाला में, निर्गमन-मार्ग-स्थित भवन में गृह में, शाला में अकेला एकाकिनी स्त्री के साथ गमनागमन, प्रवास आदि करता है या स्वाध्याय करता है, अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप चतुर्विध आहार करता है, मल-मूत्र परठता है, किसी अनार्या, निंदिताचार युक्ता स्त्री को मैथुन विषयक - श्रमण द्वारा प्रयुक्त न किए जाने योग्य कामकथा कहता है अथवा कहते हुए का अनुमोदन करता है।

३. जो भिक्षु प्राकार के अधोभाग में, प्राकार के किसी भाग में निर्मित भवन में, प्राकार से सटे हुए मार्ग में, प्राकार के ऊपरितन भाग में निर्मित मकान में, नगर - ग्रामादि के द्वार पर या गोपुर में अकेला एकाकिनी स्त्री के साथ गमनागमन, प्रवास आदि करता है या स्वाध्याय करता है, अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप चतुर्विध आहार करता है, मल-मूत्र परठता है, किसी अनार्या, निंदिताचारयुक्ता स्त्री को मैथुन विषयक, श्रमण द्वारा प्रयुक्त न किए जाने योग्य कामकथा कहता है अथवा कहते हुए का अनुमोदन करता है।

४. जो भिक्षु उदक - जलाशय के सन्निकट, जलाशय में जल आने के मार्ग पर, जलाशय से जल ले जाने के पथ पर, कीचड़ युक्त मार्ग पर, जलाशय के तट पर या तालाब पर बने मकान में अकेला एकाकिनी स्त्री के साथ गमनागमन, प्रवास आदि करता है या

स्वाध्याय करता है, अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप चतुर्विध आहार करता है, मल-मूत्र परठता है, किसी अनार्या, निंदिताचारयुक्ता स्त्री को मैथुन विषयक, श्रमण द्वारा प्रयुक्त न किए जाने योग्य कामकथा कहता है अथवा कहते हुए का अनुमोदन करता है।

५. जो भिक्षु शून्यगृह में, शून्यशाला में, टूटे-फूटे गृह में, टूटी-फूटी शाला में, पर्वत-शिखरवर्ती भवन में या कोष्ठागार में अकेला एकाकिनी स्त्री के साथ गमनागमन प्रवास आदि करता है या स्वाध्याय करता है, अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप चतुर्विध आहार करता है, मल-मूत्र परठता है, किसी अनार्या, निंदिताचारयुक्ता स्त्री को मैथुन विषयक, श्रमण द्वारा प्रयुक्त न किए जाने योग्य कामकथा कहता है अथवा कहते हुए का अनुमोदन करता है।

६. जो भिक्षु तृणगृह में, तृणशाला में, तुषगृह में, तुषशाला में, भूसे के गृह में या भूसे की शाला में अकेला एकाकिनी स्त्री के साथ गमनागमन, प्रवास आदि करता है या स्वाध्याय करता है, अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप चतुर्विध आहार करता है, मल-मूत्र परठता है, किसी अनार्या, निंदिताचारयुक्ता स्त्री को मैथुन विषयक, श्रमण द्वारा प्रयुक्त न किए जाने योग्य कामकथा कहता है अथवा कहते हुए का अनुमोदन करता है।

७. जो भिक्षु यानशाला में, यानगृह में, वाहनशाला में या वाहनगृह में अकेला एकाकिनी स्त्री के साथ गमनागमन, प्रवास आदि करता है या स्वाध्याय करता है, अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप चतुर्विध आहार करता है, मल-मूत्र परठता है, किसी अनार्या, निंदिताचारयुक्ता स्त्री को मैथुन विषयक, श्रमण द्वारा प्रयुक्त न किए जाने योग्य कामकथा कहता है अथवा कहते हुए का अनुमोदन करता है।

८. जो भिक्षु पन्यशाला में, पन्यगृह में, पर्यटनशाला में या कुप्यगृह में अकेला एकाकिनी स्त्री के साथ गमनागमन, प्रवास आदि करता है या स्वाध्याय करता है, अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप चतुर्विध आहार करता है, मल-मूत्र परठता है, किसी अनार्या, निंदिताचारयुक्ता स्त्री को मैथुन विषयक, श्रमण द्वारा प्रयुक्त न किए जाने योग्य कामकथा कहता है अथवा कहते हुए का अनुमोदन करता है।

९. जो भिक्षु गोशाला में, गोगृह में, विशिष्टजनों के कुल (परिवार) में या विशाल भवन में अकेला एकाकिनी स्त्री के साथ गमनागमन, प्रवास आदि करता है या स्वाध्याय करता है, अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप चतुर्विध आहार करता है, मल-मूत्र परठता है, किसी अनार्या, निंदिताचारयुक्ता स्त्री को मैथुन विषयक, श्रमण द्वारा प्रयुक्त न किए जाने योग्य कामकथा कहता है अथवा कहते हुए का अनुमोदन करता है।

ऊपर वर्णित दोष-स्थानों में से किसी भी दोष-स्थान का सेवन करने वाले भिक्षु को गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - इन सूत्रों में प्राकार, आगार, गृह, शाला, अट्ट - अट्टालिका तथा यान, वाहन आदि रखने के मकानात, आश्रम, पर्यटन स्थल इत्यादि का जो वर्णन हुआ है, उससे यह सूचित होता है कि प्राचीन काल में भारतवर्ष में नगरनिर्माण, ग्रामनिर्माण, भवननिर्माण आदि के रूप में स्थापत्यकला या वास्तुकला का बहुत विकास हुआ था। यह तो स्थूल वर्णन है, ज्ञाताधर्मकथा आदि सूत्रों में जो स्थापत्य विषयक सूक्ष्मातिसूक्ष्म वर्णन आया है, वह बड़ा आश्चर्यकारी है, जो इस कला के अति सूक्ष्म परिशीलन और अभ्यास का द्योतक है। वास्तुकला के संबंध में संस्कृत में प्रचुर साहित्य प्राप्त है, जिसमें मेवाड़ के महाराणा कुम्भा के प्रमुख स्थपति (मुख्य मिस्त्री) मंडन सूत्रधार द्वारा रचित प्रासाद मण्डन आदि ग्रन्थ बहुत महत्त्वपूर्ण हैं।

यहाँ तथा इससे पूर्व-आए वर्णन से यह स्पष्ट है कि भारत में पथिकों या यात्रियों के विश्राम की दृष्टि से धर्मशालाओं के निर्माण की विशेष प्रथा थी। लोगों में आतिथ्य - अतिथि सेवा का विशेष भाव था।

यहाँ शाला शब्द धर्मशाला तथा विशाल भवन इन दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। “शालते-तैशद्येन, विस्तारेण वा द्योतते - शोभते, सा शाला” शाला शब्द ‘शाल्’ धातु से बना है। जो भवन अपनी विशदता या विस्तीर्णता के कारण उद्योतित या शोभित होता है, उसे शाला कहा जाता है। इस विग्रह के अनुसार ऐसा प्रतीत होता है कि धर्मशालाएँ भी बहुत बड़ी-बड़ी बनाई जाती रही हों ताकि राहगीर वहाँ ठहर सकें, विश्राम कर सकें।

इन सूत्रों के अन्तर्गत प्रथम सूत्र में ‘आगतागारेसु’ पद का प्रयोग हुआ है, इसका संस्कृत रूप आगतागारेषु होता है। “आगतानां जनानामागाराः - आवास-विश्राम स्थानानि, इति आगतागाराः, तेषु - आगतागारेषु।” इस विग्रह के अनुसार आए हुए जनों या राहगीरों के ठहरने और विश्राम करने के जो स्थान होते हैं, उन्हें आगतागार कहा जाता है। आगतागारेषु इसका सप्तमी विभक्ति का बहुवचनांत रूप है।

इन सूत्रों में से चतुर्थ सूत्र में ‘दग्गसि’ पद आया है, जो ‘उदग्गसि’ का संक्षिप्त रूप है। प्राकृत व्याकरण के नियमानुसार यहाँ ‘उ’ का लोप हो गया है। यह सप्तमी विभक्ति का एकवचन रूप है। शब्द की अभिधा शक्ति के अनुसार इसका अर्थ जल के भीतर होता है।

जल के भीतर कोई भिक्षु एकाकिनी स्त्री के साथ रह सके, यह संभव नहीं है। अतः यहाँ अभिधागम्य अर्थ बाधित होता है, तब लक्षणा शक्ति द्वारा इसका अर्थ उदक - जल या जलाशय के निकट होता है, जल के अन्दर नहीं।

इन सूत्रों में भिक्षु का एकाकिनी स्त्री के साथ रहना आदि प्रायश्चित्त योग्य बतलाया गया है, उसका तात्पर्य यह है कि साहचर्य से, साथ रहने से मनोगत कामविकार और अधिक उद्दीप्त होता है। फलस्वरूप अब्रह्मचर्य सेवन का दूषित प्रसंग घटित होना आशंकित है, इसलिए भिक्षु ब्रह्मचर्य महाव्रत के सम्यक् परिपालन, परिरक्षण की दृष्टि से कभी भी वैसा न करे।

उपर्युक्त सूत्र क्रमांक १ से ९ तक में आये हुए “एगीटियाए” शब्द को यहाँ पर व्यक्ति वाचक नहीं समझ कर ‘जाति-वाचक’ समझना चाहिए। भाष्य आदि में भी बहुवचन से शब्द का अर्थ किया है। यथा - “मात्र स्त्रियों के साथ” ऐसा अर्थ समझना चाहिए। आशय यह है कि ‘एक या अनेक स्त्रियों के साथ में भी’ उपर्युक्त कार्य करना साधु के लिए प्रायश्चित्त का कारण है।

स्त्री समूह के मध्य धर्मकथा विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू राओ वा वियाले वा इत्थिमज्झगए इत्थिसंसत्ते इत्थिपरिवुडे अपरिमाणाए कहं कहेइ कहेतं वा साइज्जइ ॥ १० ॥

कठिन शब्दार्थ - इत्थिमज्झगए - स्त्रीमध्यगत - स्त्रियों के बीच में स्थित, इत्थिसंसत्ते- स्त्रीसंसक्त - स्त्री के अंगस्पर्श से युक्त - उससे सटकर बैठा हुआ, इत्थिपरिवुडे - स्त्रीपरिवृत- स्त्रियों से घिरा हुआ, अपरिमाणाए - परिमाणरहित - अत्यधिक (असीमित)।

भावार्थ - १०. जो भिक्षु रात में या संध्या काल में स्त्रियों के बीच स्थित होता हुआ, उनके अंग से अंग सटाता हुआ, स्पर्श करता हुआ या उनसे घिरा हुआ प्रमाण का अतिक्रमण कर धर्मकथा कहता है - प्रश्नोत्तर आदि के रूप में धर्मोपदेश करता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - इस सूत्र में स्त्रियों के बीच स्थित होना, उनका अंग स्पर्श किए रहना तथा उनसे घिरे हुए प्रमाणातीत - अपरिमित रूप में धर्मकथा कहना भिक्षु के लिए प्रायश्चित्त योग्य बतलाया गया है। ये तीनों ही ऐसे प्रसंग हैं, जो अधःपतन के हेतु हैं।

धर्मकथा कहना तो वहाँ एक बहाना है, विडम्बना है। वैसा करता हुआ भिक्षु अपनी कामुक मानसिकता को तृप्त करता है। उसका मनोयोग दूषित और कलंकित होता है।

यहाँ प्रयुक्त 'अपरिमाणाए' शब्द प्रमाणातिक्रमण का द्योतक है। धार्मिक तत्त्व विषयक एक प्रश्नोत्तर चले, दो, तीन, चार या पाँच चलें - यहाँ तक तो एक प्रमाणवत्ता है, किन्तु इनसे आगे बढ़ना, प्रश्नोत्तर क्रम को उत्तरोत्तर चलाते जाना, प्रमाण - सीमा का अतिक्रमण - उल्लंघन है। वहाँ तात्त्विक प्रश्नोत्तर, धर्मचर्चा, उपदेश तो सर्वथा गौण, कृत्रिम और नगण्य होता है। प्रमाणातिक्रान्त रूप में प्रश्नोत्तर क्रम को बढ़ाता हुआ साधु मानसिक अब्रह्मचर्य का आस्वाद - सेवन करता जाता है। उस द्वारा ऐसा अशुभ आचरण कदापि न किया जाए, इस हेतु उसे जागृत, अपतित रहने की इस सूत्र में उद्बोधना, प्रेरणा प्रदान की गई है।

साधारणतया स्त्रियों के बीच में रात्रि और विकाल में धर्मकथा नहीं करनी चाहिए। विशेष परिस्थिति में यहाँ पर आपवादिक छूट दी गई है। अचानक राजा का अन्तःपुर, विशिष्ट पदाधिकारी स्त्रियाँ आकर साधु को घेर लें, ऐसी परिस्थिति में जैसा गृहस्थ के घर पर खड़ा संक्षेप में पूछी हुई बातों का उत्तर देता है, वैसे ही रात्रि और विकाल में चार पाँच व्याकरणों (उत्तरों) का परिमाण करके उससे अधिक अपरिमाण कथा कहने पर प्रायश्चित्त बताया गया है। यह तो विशेष परिस्थिति में आपवादिक छूट है। इसे प्रतिदिन का उत्सर्ग मार्ग नहीं समझना चाहिए। अतः इसी आगम पाठ के आधार पर सूर्योदय से पूर्व एवं सूर्यास्त के बाद उपाश्रय में अन्य लिङ्गी (साधु हो तो स्त्रियाँ एवं साध्वी हो तो पुरुष) के आने का एवं धर्मोपदेश सुनाने का निषेध समझा जाता है।

साध्वी के साथ कामासक्त व्यवहार का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू सगणिच्चियाए वा परगणिच्चियाए वा णिग्गंथीए सद्धिं
गामाणुग्गामं दूइज्जमाणे पुरओ गच्छमाणे पिट्ठओ रीयमाणे ओहयमणसंकपे
चिंतासोयसागरसंपविट्ठे करयलपल्हत्थमुहे अट्टुज्जाणोवगए विहारं वा करेइ
सज्जायं वा करेइ असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आहारेइ उच्चारं
वा पासवणं वा परिट्ठवेइ अण्णयरं वा अणारियं मेहुणं अस्समणपाउग्गं क्हं
कहेइ कहेतं वा साइज्जइ ॥ ११ ॥

कठिन शब्दार्थ - सगणिच्चियाए - स्वगणीय - अपने गण की, परगणिच्चियाए - अन्य गण की, पुरओ - पुरतः - आगे, गच्छमाणे - जाता हुआ, पिट्टुओ - पृष्ठतः - पीछे, रीयमाणे - चलता हुआ, ओहयमणसंकण्णे - अपहतं मनःसंकल्प युक्त - उद्भ्रान्तचेता, दुर्विचार युक्त, चिंतासोयसागरसंपविट्ठे - चिंता-शोक-सागर-संप्रविष्ट - चिन्ता और शोक के समुद्र में डूबा हुआ, करयलपल्हत्थमुहे - करतल-प्रन्यस्त-मुख - हथेली पर मुँह रखे हुए, अट्टञ्जाणोवगए - आर्तध्यानोपगत - आर्तध्यान में अवस्थित।

भावार्थ - ११. जो भिक्षु अपने गण की या अन्य गण की निर्ग्रन्थिनी - साध्वी के साथ ग्रामानुग्राम - एक गाँव से दूसरे गाँव विचरण करता हुआ, उसके आगे गमन करता हुआ, पीछे चलता हुआ उद्भ्रान्तचेता - दुर्विचार युक्त, भोग विषयक चिन्तन तथा दुष्प्राप्ति के कारण शोक सागर में डूबा हुआ - अत्यन्त शोकान्वित, नैराश्य - औदासीन्य के कारण व्यथा से हथेली पर अपना मुख रखे हुए आर्तध्यानोपगत - आर्तध्यान में अवस्थित होता हुआ विहार करता है या स्वाध्याय करता है, अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप चतुर्विध आहार करता है, उच्चार-प्रस्रवण परठता है, किसी अनार्या, निंदिताचारयुक्ता स्त्री को मैथुन विषयक, श्रमण द्वारा प्रयुक्त न किए जाने योग्य कामकथा - कामुकतापूर्ण वचन कहता है अथवा कहते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - ब्रह्मचर्य के अविचल परिपालन एवं संरक्षण की दृष्टि से भिक्षु के लिए धर्मोपदेश या भिक्षाप्रसंग के अतिरिक्त स्त्री के संपर्क में आना, उसका साहचर्य सेवन करना निषिद्ध है। साध्वी भी एक नारी है उस दृष्टि से स्वाध्याय तथा सूत्रार्थ वाचन के सिवाय भिक्षु को उसके संपर्क में नहीं रहना चाहिए।

उपर्युक्त सूत्र में स्वगण अथवा परगण की साध्वियों के साथ विहार करते समय भी आगे पीछे चलने की विधि बताई गई है, साथ में चलने की नहीं। पहुँचाने एवं लेने जाने पर साथ में विहार की स्थिति बनती है जो उपर्युक्त आगमपाठ से निषिद्ध ध्यान में आती है। साथ में गृहस्थों का होना हर समय आवश्यक भी नहीं है। साधु गृहस्थों को सूचित भी नहीं कर सकता। ऐसी स्थिति में एकांत स्थानों में मोह उद्भव आदि अनेक अनर्थ उत्पन्न हो सकते हैं। अतः साथ में या कुछ आगे पीछे भी नहीं जाना ही संयम साधना की विशुद्धि के लिए उचित रहता है।

काम का वेग बड़ा दुर्वह होता है। उसका अवरोध-निरोध करने हेतु आत्म-शुद्धि परक सुदृढ मनःपरिणामों की आवश्यकता है। जहाँ भी इस सुदृढता में कमी आती है, व्यक्ति फिसल जाता है। वैसा हो जाने पर उसके मन में मैथुनार्थ स्त्री को प्राप्त करने का प्रबल भाव उदित हो जाता है। वह ऐसी चेष्टाएँ करता है, जिससे उसकी कलुषित कामना पूर्ण हो सके। भिक्षु की मानसिकता कभी कामोद्रेक से कालुष्ययुक्त न हो जाए एवं भिक्षु पतनोन्मुख न बन जाए इस हेतु इस सूत्र में उन दुर्वासनामय प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है, जिनसे भिक्षु को सदैव बचते रहना चाहिए।

भोग हेतु स्त्री को प्राप्त करने की तीव्र उत्कण्ठा, उसकी दुष्प्राप्ति में मानसिक संक्लेश, चिंता, व्याकुलता शोकानुभूति इत्यादि कामविकार इसमें जो वर्णित हुए हैं, वे काममोहित व्यक्ति में उत्पन्न होते ही हैं। कामसूत्र में कामी पुरुष की इस प्रकार की चंचलता, आकुलता, लोलुपतापूर्ण चेष्टाओं का विस्तार से वर्णन है। ये चेष्टाएँ किसी भी साधनाशील व्यक्ति को पतन के गर्त में गिरा देती हैं।

उपाश्रय में रात्रि में पुरुष या स्त्री संवास विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू णायगं वा अणायगं वा उवासयं वा अणुवासयं वा अंतो उवस्सयस्स अद्धं वा राइं कसिणं वा राइं संवसावेइ संवसावेतं वा साइज्जइ ॥ १२ ॥

कठिन शब्दार्थ - णायगं - ज्ञातक - परिचित, अपने किसी संसारपक्षीय संबंध से युक्त, अणायगं - अज्ञातक - अपरिचित, संसारपक्षीय किसी संबंध से व्यतिरिक्त, उवासयं - उपासक - श्रमणोपासक, जिनधर्माराधक - श्रावक, अणुवासयं - अनुपासक - अन्यत्र मतावलम्बी, अंतो - भीतर, उवस्सयस्स - उपाश्रय के, अद्धं वा राइं - अर्द्ध रात्रि पर्यन्त - आधी रात तक, कसिणं वा राइं - कृत्स्न - समग्र रात्रि पर्यन्त - पूरी रात तक, संवसावेइ-संवासित करता है - साथ में रखता है।

भावार्थ - १२. जो भिक्षु किसी परिचिता या अपने किसी संसार पक्षीय संबंध से युक्ता, अपरिचिता या अपने किसी संसार पक्षीय संबंध से अयुक्ता, श्रमणोपासिका - श्राविका या अनुपासिका - जैनेत्तर मतानुयायिनी स्त्री को उपाश्रय के भीतर आधी रात तक या पूरी रात तक संवासित करता है - रखता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - इस सूत्र की शब्द संरचना से सामान्यतः किसी स्त्री को उपाश्रय में संवासित करने का अर्थ व्यक्त नहीं होता, क्योंकि स्त्री शब्द का इसमें उल्लेख नहीं है, केवल 'णायगं' 'अणायगं' 'उवासयं' तथा 'अणुवासयं' शब्दों का प्रयोग है, जो व्याकरण की दृष्टि से विशेषण है। विशेषण का प्रयोग विशेष्य - संज्ञा या सर्वनाम के साथ होना अपेक्षित होता है। अकेला विशेषण वाक्य में प्रयुक्त नहीं होता, क्योंकि उससे पूरा भाव व्यक्त नहीं हो पाता। इस सूत्र की ऐसी ही शाब्दिक स्थिति है।

किसी भी संदर्भ का अर्थ योजित करने के लिए प्रसंग को देखना आवश्यक होता है। अतः पूर्व सूत्रों में स्त्री का प्रसंग चल रहा है, तदनुसार यहाँ स्त्री का अध्याहार करना होगा।

जैसाकि पूर्वतन सूत्रों में व्याख्यात हुआ है, इस सूत्र में भी भिक्षु द्वारा रात्रि में स्त्री को अपने साथ रखा जाना दोषपूर्ण एवं प्रायश्चित्त योग्य कहा गया है।

उपर्युक्त सूत्र एवं आगे के तेरहवें सूत्र का आशय-गुरु परम्परा से इस प्रकार किया जाता है - "उपासक, अनुपासक, ज्ञातिक, अज्ञातिक के धन संरक्षण के लिये एवं उन्हें स्थान नहीं मिल रहा है, ऐसा समझ कर उन्हें आधी रात्रि या पूरी रात्रि उपाश्रय में रखे, उनकी रक्षा आदि के निमित्त उनके साथ उपाश्रय से बाहर निकले, पुनः उपाश्रय में प्रवेश करे तो गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त बताया है। क्योंकि ऐसा करने से गृहस्थों की आसक्ति-संसक्ति एवं परिचय बढ़ कर संयम विराधना की स्थिति बन सकती है।"

निशीथ भाष्य चूर्ण में तो इन दोनों सूत्रों में आये हुवे 'णायगं वा...' आदि शब्दों का अर्थ - स्त्री से संबंधित किया है, परन्तु पूर्व परम्परा से इन शब्दों का अर्थ - 'स्त्री या पुरुष' दोनों की अपेक्षा से करने में भी कोई बाधा नहीं आती है।

रात्रि में पुरुष या स्त्री-उद्दिष्ट गमनागमन का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू णायगं वा अणायगं वा उवासयं वा अणुवासयं वा अंतो उवस्सयस्स अद्धं वा राइं कसिणं वा राइं संवसावेइ तं पडुच्च णिक्खमइ वा पविसइ वा णिक्खमंतं वा पविसंतं वा साइज्जइ ॥ १३ ॥

भावार्थ - १३. जो भिक्षु किसी परिचिता या अपने किसी संसारपक्षीय संबंध से युक्ता, अपरिचिता या अपने किसी संसार पक्षीय संबंध से अयुक्ता, श्रमणोपासिका - श्राविका या अनुपासिका - जैनेतर मतानुयायिनी स्त्री को उपाश्रय के भीतर आधी रात तक या पूरी रात

तक संवासित करता है - रखता है, प्रतीतिपूर्वक उद्दिष्ट कर उसके लिए निष्क्रमण-प्रवेश - गमनागमन करता है अथवा निष्क्रमण-प्रवेश - गमनागमन करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

राजमहोत्सव आदि से आहार ग्रहण विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं समवाएसु वा पिंडणियरेसु वा इंदमहेसु वा खंदमहेसु वा रुद्धमहेसु वा मुगुंदमहेसु वा भूतमहेसु वा जक्खमहेसु वा णागमहेसु वा थूभमहेसु वा चेइयमहेसु वा रुक्खमहेसु वा गिरिमहेसु वा दरिमहेसु वा अगडमहेसु वा तडागमहेसु वा दहमहेसु वा णईमहेसु वा सरमहेसु वा सागरमहेसु वा आगरमहेसु वा अण्णयरेसु वा तहप्पगारेसु विरूवरूवेसु महामहेसु असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ ॥ १४ ॥

जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं उत्तरसालंसि वा उत्तरगिहंसि वा रीयमाणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ ॥ १५ ॥

जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं हयसालागयाण वा गयसालागयाण वा मंतसालागयाण वा गुज्झसालागयाण वा रहस्ससालागयाण वा मेहुणसालागयाण वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ ॥ १६ ॥

जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं सण्णिहिसंणिचयाओ खीरं वा दहिं वा णवणीयं वा सप्पिं वा तेल्लं वा गुलं वा खंडं वा सक्करं वा मच्छंडियं वा अण्णयरं वा भोयणजाणं पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ ॥ १७ ॥

जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं उस्सट्ठुपिंडं वा संसट्ठुपिंडं वा अणाहपिंडं वा किविणपिंडं वा वणीमगपिंडं वा पडिग्गाहेइ

पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ। तं सेवमाणे आवज्जंइ चाउम्मासियं परिहारट्टाणं
अणुग्घाइयं ॥ १८ ॥

॥ णिसीहज्जयणे अट्टमो उद्देसो समत्तो ॥ ८ ॥

कठिन शब्दार्थ - रण्णो - राजा के, खत्तियाणं - क्षत्रियों में से - क्षत्रिय वंशोत्पन्न, मुदियाणं - मुदित - शुद्ध मातृ-पितृ वंशीय, मुद्धाभिसित्ताणं - मूर्खाभिषिक्त - पितृ-पितामहादि क्रम से राज्याभिषिक्त, समवाएसु - गोठ, दावत आदि में, पिंडणियरेसु - पिण्डनिकर- पितृपिण्ड दान संबंधित भोजों में, इंदमहेसु - इन्द्रोत्सवों में, खंदमहेसु - स्कन्दोत्सवों में, रुद्धमहेसु - रुद्रोत्सवों में, मुगुंदमहेसु - मुकुन्दोत्सवों में, भूतमहेसु - भूतोत्सवों में, जक्खमहेसु - यक्षोत्सवों में, णागमहेसु - नागोत्सवों में, थूभमहेसु - स्तूपोत्सवों में, चेइयमहेसु - चैत्योत्सवों में, रुक्खमहेसु - वृक्षोत्सवों में, गिरिमहेसु - पर्वतोत्सवों में, दरिमहेसु - गिरिकन्दरोत्सवों में, अगडमहेसु - कूपोत्सवों में, तडागमहेसु - तडागोत्सवों में, दहमहेसु - हदोत्सवों में (हृद-उत्सवों) में, णईमहेसु - नद्युत्सवों (नदी-उत्सवों) में, सरमहेसु- सरोवरोत्सवों में, सागरमहेसु- सागरोत्सवों में, आगरमहेसु - आकरोत्सवों (सोने आदि धातुओं की खानों पर आयोजित उत्सवों) में, विरूवरूवेसु - विरूपरूप - भिन्न-भिन्न प्रकार के महोत्सवों में, उत्तरसालंसि - उत्तरशाला - पर्यटनादि हेतु निर्मापित विशाल भवन में, उत्तरगिहंसि - उत्तरगृह - पर्यटनादि हेतु निर्मापित छोटे भवन में, रीयमाणं - भ्रमण करते हुए - घूमते हुए, हयसालागयाण - अश्वशालागत, गयसालागयाण - हस्तिशालागत, मंतसालागयाण - मन्त्रशालागत - मन्त्रणा भवनगत, गुज्झसालागयाण - गुह्यशालागत - गुप्त, गोपनीय कार्य करने हेतु निर्मित भवनगत, रहस्ससालागयाण - रहस्यशालागत - दण्डविधानादि हेतु निर्मित भवनगत, मेहुणसालागयाण- मैथुनशालागत, सण्णिसिचयाओ- सन्निधिसिचय - दूध, दही, गुड, खांड - चीनी आदि विनाशी-अविनाशी पदार्थों के संग्रह में से, खीरं - क्षीर - दूध, दहिं - दधि, णवणीयं- नवनीत - मक्खन, सपिं - सर्पि - घृत, तेस्सं - तेल, गुलं - गुड़, खंडं - खाण्ड - बूरा, सक्करं - शर्करा - चीनी, मच्छंडियं - मिश्री, भौयणजाणं - भोज्य पदार्थ, उस्सट्टुपिंडं - उत्सृष्टपिण्ड - कौवे आदि को देने हेतु स्थापित चावल आदि भोज्य पदार्थ, संसट्टुपिंडं - संसृष्टपिण्ड - खाने के बाद बचा हुआ अन्न - दीन हीनों को देने हेतु स्थापित - रखा हुआ भोज्यान्न, अणाहपिंडं - अनाथपिण्ड-

आश्रयहीन - अनाथजनों को देने के लिए रखा हुआ भोजन, **किविणपिंड** - कृपणपिण्ड - दीन-दुःखियों को देने के लिए रखी गई भोज्य सामग्री, **वणीमगपिंड** - वनीपकपिण्ड - याचकों को देने हेतु रखे हुए चावल आदि।

नोट : 'उत्सद्वपिंड' का एक अर्थ यह भी किया जाता है - "झूठा पिंड - खाये हुए भोजन में से बचा हुआ।" 'संसद्वपिंड' का एक अर्थ ऐसा भी किया जाता है - बने हुए भोजन में से बचा हुआ। अथवा बड़े व्यक्तियों के द्वारा आहार को मात्र छू लेने से भी वह खाया हुआ माना जाता है।

भावार्थ - १४. जो भिक्षु क्षत्रियकुलोत्पन्न, शुद्ध मातृ-पितृ वंशीय एवं पितृ-पितामहादि क्रम से राज्याभिषिक्त राजा के द्वारा समायोजित गोठों या दावतों में, पितृ पिंडदान विषयक भोज्यों में, इन्द्र, स्कन्ध, रुद्र, मुकुन्द, भूत, यक्ष, नाग - इन विविध देवों को उद्दिष्ट कर आयोजित उत्सवों में, स्तूप, चैत्य, वृक्ष, पर्वत, गिरिकन्दरा, कूप, तडाग - तालाब, हृद - बड़ा सरोवर या झील, नदी, समुद्र, स्वर्ण आदि की खनि (खान) - इन्हें उद्दिष्ट कर आयोजित उत्सवों में या उसी प्रकार के, विविध बड़े-बड़े उत्सवों या समारोहों में से अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप चतुर्विध आहार ग्रहण करता है अथवा ग्रहण करते हुए का अनुमोदन करता है।

१५. जो भिक्षु (भिक्षार्थ) घूमता हुआ क्षत्रियकुलोत्पन्न, शुद्ध मातृ-पितृ वंशीय एवं मूर्धाभिषिक्त राजा के पर्यटन आदि हेतु निर्मापित बड़े भवन से या छोटे भवन से अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप चतुर्विध आहार ग्रहण करता है अथवा ग्रहण करते हुए का अनुमोदन करता है।

१६. जो भिक्षु क्षत्रियकुलोत्पन्न, शुद्ध मातृ-पितृ वंशीय एवं मूर्धाभिषिक्त राजा की अश्वशाला, गजशाला, मंत्रणाशाला, गुह्यशाला, रहस्यशाला या मैथुनशाला - अन्तःपुर - एतद्गत इनमें प्राप्य अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप चतुर्विध आहार ग्रहण करता है अथवा ग्रहण करते हुए का अनुमोदन करता है।

१७. जो भिक्षु क्षत्रियकुलोत्पन्न, शुद्ध मातृ-पितृ वंशीय एवं मूर्धाभिषिक्त राजा के विनश्वर-जल्दी विकृत होने वाले तथा अविनश्वर - लम्बे समय तक टिकने वाले भोज्य पदार्थों के संग्रह में से दूध, दही, मक्खन, घृत, तेल, गुड़, खांड, शक्कर, मिश्री या कोई अन्य भोज्य पदार्थ ग्रहण करता है अथवा ग्रहण करते हुए का अनुमोदन करता है।

१८. जो भिक्षु क्षत्रियकुलोत्पन्न, शुद्ध मातृ-पितृ वंशीय एवं मूर्धाभिषिक्त राजा के उत्सृष्टपिण्ड, संसृष्टपिण्ड, अनाथपिण्ड, कृपणपिण्ड या वनीपकपिण्ड ग्रहण करता है अथवा ग्रहण करते हुए का अनुमोदन करता है।

ऐसा करने वाले भिक्षु को गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

उपर्युक्त १८ सूत्रों में किए गए किसी भी प्रायश्चित्त-स्थान का, तद्गत दोषों का सेवन करने वाले भिक्षु को अनुद्घातिक परिहार तप रूप गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

इस प्रकार निशीथ अध्ययन (निशीथ सूत्र) में अष्टम उद्देशक परिसमाप्त हुआ।

विवेचन - इन सूत्रों में क्षत्रिय वंशोत्पन्न, शुद्ध मातृ-पितृ वंशीय, मूर्धाभिषिक्त राजा के द्वारा आयोजित दावतों, पितृ-पितामहादि की स्मृति में आयोजित भोजों, लौकिक देवों के निमित्त समायोजित देवभोजों, स्तूप, वृक्ष, समुद्र, सरोवर आदि पर दैविक, सामाजिक, लौकिक प्रसंगों को लक्षित कर आयोजित भोजों से, अश्वशाला आदि विभिन्न शालाओं से तथा विविध पर्यटन-स्थलों से, विश्राम-स्थलों से, दूध, दही, घृत आदि के भण्डारगृहों से और विविध कोटि के याचकवृन्द हेतु पकाए गए, रखे गए खाद्य पदार्थों में से भिक्षु के लिए आहार ग्रहण करना दोषपूर्ण, प्रायश्चित्त योग्य बतलाया गया है। क्योंकि इन भोजात्मक समारोहों में आरम्भ समारम्भमूलक अनेक सावद्य कार्य चलते ही रहते हैं। वहाँ से आहार लेने में और भी अनेक दोष आशंकित हैं।

दीन, कृपण, याचक, वनीपक आदि हेतु सुरक्षित भोज्य पदार्थों में से आहार लेने से उनके लिए अंतराय होता है। उनकी भोजन प्राप्ति में विघ्न होता है, क्योंकि भिक्षु को आया देखकर उन्हें गौण कर दिया जाता है इत्यादि अनेक ऐसी स्थितियाँ हैं, जिनसे भिक्षुओं की आहारचर्या की शुद्धता बाधित होती है।

॥ इति निशीथ सूत्र का अष्टम उद्देशक समाप्त ॥



णवमो उद्देशओ - नवम् उद्देशक

राजपिण्ड ग्रहण एवं सेवन विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू रायपिंडं गेणहइ गेणहंतं वा साइज्जइ ॥ १ ॥

जे भिक्खू रायपिंडं भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ ॥ २ ॥

कठिन शब्दार्थ - रायपिंडं - राजपिण्ड, भुंजइ - भुक्त करता है, सेवन करता है।

भावार्थ - १. जो भिक्षु राजपिण्ड ग्रहण करता है या ग्रहण करते हुए का अनुमोदन करता है।

२. जो भिक्षु राजपिण्ड का सेवन करता है या सेवन करते हुए का अनुमोदन करता है।

ऐसा करने वाले भिक्षु को गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - पिण्ड शब्द भ्वादिगण की आत्मनेपदी तथा चुरादिगण की उभयपदी 'पिण्ड' धातु के आगे 'अच्' प्रत्यय लगाने से बनता है। "पिण्डयते - संश्लिष्यते इति पिण्डम्" विकीर्ण पदार्थ का पिण्डित, संश्लिष्ट या एकत्रित रूप पिण्ड कहा जाता है। चावल, दाल, रोटी, साग आदि जब भोजन के रूप में खाए जाते हैं तब उन्हें ग्रास या कौर के रूप में पिण्डित कर मुँह में डाला जाता है। इस कारण 'पिण्ड' भोजन या आहार के अर्थ में निहित हो गया। जैन आगमों में इसी अर्थ में पिण्ड शब्द का प्रयोग होता रहा है।

इन सूत्रों में राजपिण्ड लेना और उसका सेवन करना सदोष, प्रायश्चित्त योग्य बतलाया गया है।

यहां पर राजपिण्ड में मूर्द्धाभिषिक्त (अमात्य आदि पांच पदवी वालों से युक्त मुकुटबंध) राजा के वहां के आहार आदि को राजपिण्ड में समझना चाहिये। ऐसे बड़े राजा के वहां का आहार आदि २४वें तीर्थंकर के शासनवर्ती साधु साध्वियों को ग्रहण करना नहीं कृत्यता है। अतः इससे जागीरदार, ठाकुर आदि के यहां का आहार आदि ग्रहण करने का निषेध नहीं समझना चाहिए। अतिमुक्तक कुमार के पिता विजयसेन जागीरदार आदि के समान छोटे राजा होने से उनके यहां से आहार आदि ग्रहण करना निषिद्ध नहीं होने से ही गौतमस्वामी ने वहां से आहार ग्रहण किया था। वर्तमान में राजतंत्र नहीं होने पर भी देश व प्रांत के प्रमुख नेता - राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, राज्यपाल, मुख्यमंत्री राजा जैसे समझे जा सकते हैं। इनके शासकीय आवासों से आहार आदि को लेना निषिद्ध समझना चाहिए।

निशीथ भाष्य में अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, पात्र, कंबल एवं पादप्रोक्षण के रूप में आठ प्रकार का राजपिण्ड निरूपित हुआ है ॥

यद्यपि वस्त्र, पात्र, कंबल एवं पादप्रोक्षण के साथ उपर्युक्त पिण्ड धातु विषयक व्युत्पत्ति घटित नहीं होती, क्योंकि ये भोज्य सामग्री से भिन्न हैं। किन्तु पिण्ड रूप में भुज्यमान एवं सेव्यमान आहार सामग्री की तरह वस्त्रादि चारों पदार्थ भी निरन्तर आवश्यक होते हैं। इसलिए साहचर्य की निरन्तरता के कारण इन्हें भी पिण्ड रूप में उपलक्षित किया गया है। पिण्ड का यह लक्षणा गर्भित अर्थ है।

राजा के अन्तःपुर में प्रवेश एवं भिक्षा ग्रहण विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू रायंतेउरं पविसइ पविसंतं वा साइज्जइ ॥ ३ ॥

जे भिक्खू रायंतेपुरियं वएज्जा- 'आउसो! रायंतेपुरिए णो खलु अम्हं कप्पइ रायंतेपुरं णिक्खमित्तए वा पविसित्तए वा, इमम्हं तुमं पडिग्गहगं गहाय रायंतेपुराओ असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अभिहडं आहट्टु दलयाहि' जो तं एवं वयइ वयंतं वा साइज्जइ ॥ ४ ॥

जे भिक्खू णो वएज्जा, रायंतेपुरिया वएज्जा- 'आउसंतो ! समणा णो खलु तुज्झं कप्पइ रायंतेपुरं णिक्खमित्तए वा पविसित्तए वा, आहरेयं पडिग्गहगं जाए अम्हं रायंतेपुराओ असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अभिहडं आहट्टु दलयामि' जो तं एवं वयंतं पडिसुणेइ पडिसुणेंतं वा साइज्जइ ॥ ५ ॥

कठिन शब्दार्थ - रायंतेउरं - राजा का अन्तःपुर - रनवास, रायंतेपुरियं - राजान्तःपुरिका- राजा के अन्तःपुर की प्रहरिका - पहेरेदारिन, आउसो - आयुष्मती, खलु - निश्चय ही, नियमानुसार, अम्हं - मुझे, कप्पइ - कल्पता है, इमम्हं - इसे, तुमं - तुम, पडिग्गहगं - प्रतिग्रहगत - पात्रगत-पात्र में स्थित, गहाय - लेकर, रायंतेपुराओ - राजा के अन्तःपुर से, अभिहडं आहट्टु - अभिहत-आहत कर - लाकर, दलयाहि - दो, आउसंतो समणा - आयुष्मन् श्रमण, तुज्झं - तुमको - आपको, दलयामि - देती हूँ - दे दूँ, पडिसुणेइ - प्रतिश्रुत करता है - स्वीकार या अंगीकार करता है।

● निशीथ भाष्य गाथा-२५००

भावार्थ - ३. जो भिक्षु राजा के अन्तःपुर में प्रवेश करता है या प्रवेश करते हुए का अनुमोदन करता है।

४. जो भिक्षु राजा की अन्तःपुर प्रहरिका या पालिका से कहे - “आयुष्मती राजान्तःपुरिके! मुझे राजा के अन्तःपुर में आना-जाना नहीं कल्पता। तुम मेरा यह पात्र लेकर राजा के अन्तःपुर से अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप आहार गृहीत कर, अभिहत - आहत कर - लाकर मुझे दो,” जो उसे (राजान्तःपुरिका को) इस प्रकार कहता है अथवा कहते हुए का अनुमोदन करता है।

५. जो भिक्षु स्वयं तो ऐसा न कहे किन्तु राजा की अन्तःपुरपालिका उससे कहे - “आयुष्मन् श्रमण! आपको राजा के अन्तःपुर में आना-जाना नहीं कल्पता। आपके पात्र में गृहीत-निहित अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप आहार लाकर देती हूँ - दूँ?,” जो अन्तःपुर पालिका द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर स्वीकार करता है अथवा स्वीकार करते हुए का अनुमोदन करता है।

उपर्युक्त रूप में आचरण करने वाले भिक्षु को गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - ब्रह्मचर्य की अप्रतिहत, अविच्छिन्न, अखण्डित साधना हेतु भिक्षु के लिए राजा के अन्तःपुर में - रानियों के आवास स्थान में या रनवास में जाना नहीं कल्पता। वहाँ रानियों, दासियों एवं सेविकाओं के रूप में नारियाँ ही नारियाँ होती हैं, कोई पुरुष नहीं होता। अतः उसे संयम में विघ्नोत्पादक स्थान माना गया है। अत एव भिक्षु का राजान्तःपुर-प्रवेश निषिद्ध है, दोषयुक्त और प्रायश्चित्त योग्य है।

भिक्षु द्वारा अन्तःपुर की पालिका या संरक्षिका को अपना पात्र देकर अन्तःपुर से अपने लिए आहार मंगवाना भी दोषयुक्त है। इतना ही नहीं यदि अन्तःपुर पालिका स्वयं भिक्षु का पात्र लेकर अन्तःपुर से आहार गृहीत कर, लाकर भिक्षु को देना चाहे तो भी भिक्षु के लिए वह स्वीकार्य या ग्राह्य नहीं होता। भिक्षु द्वारा उसे स्वीकार किया जाना एषणादि दोषयुक्त है। वैसा आहार लेने में और भी अनेक बाधाएँ हैं, आहार द्वेषवश विषाक्त, मोहवश (वश में करने हेतु) अभिमन्त्रित तथा रागवश अधिक भी हो सकता है, जिसका परिणाम ऐहिक, पारलौकिक दोनों दृष्टियों से दुःखद, क्लेशोत्पादक होता है।

उपर्युक्त सूत्रों में आये हुवे ‘रायंतेपुरियं, रायंतेपुरिया’ शब्दों से ‘अन्तःपुर का रक्षक या रक्षिका’ दोनों अर्थ समझे जा सकते हैं।

जहाँ स्त्री द्वारपालिका रहती है वहाँ स्त्रीलिंगवाची ‘जो तं एवं वर्यति पडिसुणइ’

तथा जहाँ पुरुष द्वारपाल हो वहाँ पुलिंगवाची 'जो तं एवं वदंतं पडिसुणेइ' इस प्रकार दोनों पाठ शुद्ध हो सकते हैं।

राजा आदि के द्वारपाल प्रभृति हेतु निष्पादित खाद्य सामग्री से आहार लेने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं दुवारियभत्तं वा पसुभत्तं वा भयगभत्तं वा बलभत्तं वा कयगभत्तं वा हयभत्तं वा गयभत्तं वा कंतारभत्तं वा दुब्भिक्खभत्तं वा दुक्कालभत्तं वा दमगभत्तं वा गिलाणभत्तं वा वहलियाभत्तं वा पाहुणभत्तं वा पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ ॥ ६ ॥

कठिन शब्दार्थ - दुवारियभत्तं - द्वारपालों के निमित्त बना भोजन, पसुभत्तं - पशुओं के लिए कृत आहार, भयगभत्तं - भृत्यों के लिए बना भोजन, बलभत्तं - सैना के लिए बना भोजन, कयगभत्तं - क्रीत - खरीदकर आनीत (लाकर) दास-दासियों के निमित्त बनाया हुआ भोजन, हयभत्तं - अश्वों के निमित्त बना आहार, गयभत्तं - हाथियों के लिए निष्पादित आहार, कंतारभत्तं - कान्तारभक्त - जंगल के यात्रियों के लिए बना भोजन, दुब्भिक्खभत्तं - दुर्भिक्षभक्त - दुर्भिक्ष-पीड़ितों के लिए बना भोजन, दुक्कालभत्तं - दुष्कालभक्त - दुष्काल-पीड़ितों के लिए बना भोजन, दमगभत्तं - द्रमकभक्त - दीनजनों हेतु बना भोजन, गिलाणभत्तं - ग्लानभक्त - ज्वरादि दीर्घ रोग पीड़ितजनों के लिए बना भोजन, वहलियाभत्तं - बर्दलिकाभक्त-वर्षा पीड़ितों के लिए बना भोजन, पाहुणभत्तं - प्राधूर्णकभक्त - आगन्तुकों - अतिथियों के लिए संपादित भोजन।

भावार्थ - ६. जो भिक्षु क्षत्रियकुलोत्पन्न, शुद्ध मातृ-पितृ वंशीय एवं मूर्धाभिषिक्त राजा के द्वारपालों, पशुओं, भृत्यों, सैनिकों, दास-दासियों, घोड़ों, हाथियों, जंगल के यात्रियों, दुर्भिक्ष-पीड़ितों, दुष्काल पीड़ितों, दीन-हीनों, दीर्घ रोग पीड़ितों, वर्षा पीड़ितों या आगन्तुकों - अतिथियों के निमित्त निष्पादित खाद्य सामग्री में से आहार ग्रहण करता है अथवा ग्रहण करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - इस सूत्र में राजा की ओर से अपने सेवकों, कर्मचारियों, उपयोग हेतु पालित पशुओं आदि के निमित्त भोज्य सामग्री तैयार कराए जाने के साथ-साथ जंगल के यात्रियों,

दुर्भिक्ष पीड़ितों, दुष्काल पीड़ितों, दीन हीनों, जीर्ण रोगियों, वर्षा पीड़ितों तथा अतिथियों के लिए भोज्य सामग्री तैयार कराने का जो उल्लेख हुआ है, उससे प्रकट होता है कि प्राचीनकाल के राजा जन-जन के कष्टों और असुविधाओं का विशेष रूप से ध्यान रखते थे। जिस प्रकार अपने यहाँ कार्य करने वाले अनेक प्रकार के कर्मचारियों के खान-पान की चिंता रखी जाती थी, उसी प्रकार अभावग्रस्तों, रुग्णजनों, अतिथियों और राहगीरों की भी चिंता की जाती थी। राजा अपना यह दायित्व या कर्तव्य मानता था कि उसके राज्य में रहने वाले अनाश्रित लोग भी कष्ट न पाएं।

महाकवि भवभूति रचित 'उत्तररामचरितम्' नामक नाटक में एक स्थान पर मर्यादापुरुषोत्तम राम कहते हैं :-

'स्नेहं दयां च सौख्यं च, यदि वा जानकीमपि।

आराधनाय लोकस्य, मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा ॥'

लोकाराधना के लिए - जन-जन के सुख के लिए, प्रसन्नता के लिए स्नेह, दया, अपना सुख तथा सीता को भी यदि छोड़ना पड़े तो मुझे कोई व्यथा नहीं होगी। राम की इस उदात्त, लोकहितैषिणी भावना और वृत्ति के कारण ही 'राम राज्य' को आदर्श राज्य कहा गया है। उत्तरवर्ती राजा भी यथासंभव मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम के आदर्शों का अनुसरण करते रहे। इसी कारण प्रजा का इनमें विश्वास और आदर रहा।

आगे चलते-चलते राजा स्वार्थान्ध तथा भोगलोलुप बनते गए। लोगों का दुःख दर्द मिटाने से उनका ध्यान हटता गया। उसी का यह परिणाम है कि राजतन्त्र आज विश्व में लगभग समाप्त हो चुका है।

अस्तु, उपर्युक्त सूत्र में भिक्षु के लिए राजा द्वारा निष्पादित विविध प्रकार की भोज्य सामग्री विषयक विविध व्यवस्थाओं में से आहार लेना जो प्रायश्चित्त योग्य बतलाया गया है, उसका कारण जैसा पहले सूचित किया गया है, हिंसामूलक आरम्भ-समारम्भ तथा जिनके लिए भोज्य सामग्री तैयार हुई हों, उनके लिए अंतराय होने की आशंका है।

राजा के कोष्ठागारादि के विषय में जानकारी बिना भिक्षार्थ जाने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं इमाइं छद्दोसाययणाइं अजाणिय अपुच्छिय अगवेसिय परं चउरायपंचरायाओ गाहावइकुलं

पिंडवायपडियाए णिक्खमइ वा पविसइ वा णिक्खमंतं वा पविसंतं वा साइजइ, तंजहा - कोट्टागारसालाणि वा भंडागारसालाणि वा पाणसालाणि वा खीरसालाणि वा गंजसालाणि वा महाणससालाणि वा ॥ ७ ॥

कठिन शब्दार्थ - इमाइ - इन, छहोसाययणाइ - छह दोष स्थान, परं - अनन्तर - अधिक, चउरायपंचरायाओ - चार-पाँच रात से, तंजहा - वे इस प्रकार हैं, कोट्टागारसालाणि-कोष्ठागारशाला - गेहूँ, चावल, चने, जो आदि के कोठार, भंडागारसालाणि - भाण्डागारशाला-सोना, चाँदी, जवाहिरात आदि के भण्डार, पाणसालाणि - पानशाला - विविध मद्यदि एवं पेय पदार्थ रखने के स्थान, खीरसालाणि - क्षीरशाला - दूध तथा उससे निष्पन्न दही, घृत, मक्खन आदि रखने के स्थान वर्तमान में दूध की डेरियाँ जैसे स्थान, गंजसालाणि - गंजशाला - विविध सामग्री-संग्रह-स्थान, महाणससालाणि - महानसशाला - पाकाशय या रसोईघर।

भावार्थ - ७. जो भिक्षु क्षत्रियकुलोत्पन्न, शुद्ध मातृ-पितृ वंशीय एवं मूर्धाभिषिक्त राजा के इन (आगे कथ्यमान) छह दोष-स्थानों के संबंध में चार-पाँच दिन के भीतर जानकारी, पूछताछ या गवेषणा किए बिना गाथापति कुलों की ओर भिक्षार्थ गमन करता है, उनके घर में-आवास-स्थानों में प्रवेश करता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

वे छः दोष-स्थान इस प्रकार हैं -

१. कोष्ठागारशाला, २. भाण्डागारशाला, ३. पानशाला, ४. क्षीर (दुग्ध-) शाला, ५. गंजशाला एवं ६. महानसशाला।

विवेचन - किसी राज्य में विहरणशील भिक्षु यदि संयोगवश राज्य के पाट-नगर या राजधानी में चला जाए तो उसे वहाँ चार-पाँच दिन के भीतर राजा के कोष्ठागार आदि छह दोषाविष्ट स्थानों के संबंध में भलीभाँति गवेषणा - जाँच-पड़ताल कर जानकारी प्राप्त करनी चाहिए। क्योंकि भिक्षु के लिए यह वांछित है कि वह उसी स्थान पर प्रवास करे जहाँ उसकी संयम साधना निरापद रहे, जहाँ का वातावरण धर्माधना के प्रतिकूल न हो।

यद्यपि आध्यात्मिक साधना का प्रमुख आधार तो साधक स्वयं है, उसकी आत्मा है, किन्तु बाह्य वातावरण की विपरीतता भी न रहे ऐसा भी अपेक्षित है। अत एव आन्तरिक जागरूकता हेतु भिक्षु के लिए सूत्रगत छह दोषाशंकित स्थानों की सम्यक् गवेषणा न कर वहाँ रुकना, प्रवास करना दोषपूर्ण एवं प्रायश्चित्त योग्य बतलाया गया है।

राजवैभव आदि परिदर्शन-विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं अङ्गच्छमाणाण वा णिग्गच्छमाणाण वा पयमवि चक्खुदंसणपडियाए अभिसंधारेइ अभिसंधारेतं वा साइज्जइ ॥ ८ ॥

जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं इत्थीओ सव्वालंकारविभूसियाओ पयमवि चक्खुदंसणपडियाए अभिसंधारेइ अभिसंधारेतं वा साइज्जइ ॥ ९ ॥

कठिन शब्दार्थ - अङ्गच्छमाणाण - आते हुए - नगर में प्रवेश करते हुए, णिग्गच्छमाणाण - निकलते हुए - नगर से निष्क्रमण करते हुए, पयमवि - कदमभर भी- एक कदम भी, चक्खुदंसणपडिवाए - आँखों से देखने की इच्छा से, अभिसंधारेइ - अभिसंधारण करता है - उधर जाने हेतु मन में विचारता है, सव्वालंकारविभूसियाओ - सर्वालंकारविभूषिता - सब प्रकार के आभूषणों से सुशोभित।

भावार्थ - ८. जो भिक्षु नगर में प्रवेश करते हुए या नगर से निकलते हुए - निष्क्रमण करते हुए क्षत्रियकुलोत्पन्न, शुद्ध मातृ-पितृ वंशीय एवं मूर्धाभिषिक्त राजा को नेत्रों से देखने हेतु एक कदम भी उधर रखने का विचार करता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

९. जो भिक्षु क्षत्रियकुलोत्पन्न, शुद्ध मातृ-पितृ वंशीय एवं मूर्धाभिषिक्त राजा की सब प्रकार के अलंकार से सुशोभित रानियों को नेत्रों से देखने की इच्छा लिए एक कदम भी उस ओर जाने का विचार करता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

ऐसा करने वाले भिक्षु को गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - राजतन्त्र के युग में लौकिक दृष्टि से राजा का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान था। जब भी वह बाहर से अपनी राजधानी में प्रवेश करता तो अत्यन्त साज-सज्जा और ठाट-बाट लिए होता। साथ में सेनापति आदि अधिकारियों सहित पैदल सेनाएँ चलतीं, हाथी, घोड़े, गाजे बाजे आदि होते। राजा की सवारी को देखने हेतु लोग उमड़ पड़ते, छतों पर चढ़ जाते, सड़कों पर खड़े रहते। राजा जब किसी प्रयोजन हेतु राजधानी से निष्क्रमण करता तब भी वही शान-शौकत एवं ठाट-बाट दिखलाई पड़ता।

राजतन्त्रात्मक शासन प्रणाली में राजा को सर्वोत्कृष्ट एवं सर्वातिशय युक्त प्रदर्शित करने का विशेष भाव उद्दिष्ट रहता ताकि प्रजा पर उसका भारी दबदबा और प्रभाव बना रहे।

वैराग्यातिशय युक्त, त्याग-तपोमय जीवन के धनी, संयमाराधना परायण भिक्षु के लिए बाह्य वैभव, ऐश्वर्य, सज्जा आदि का कोई महत्त्व नहीं होता। अत एव इन सूत्रों में राजा तथा रानियों को देखने हेतु एक कदम भी उधर जाने का विचार करना दोषपूर्ण, प्रायश्चित्त योग्य बतलाया गया है, क्योंकि बाह्य सत्ता, शक्ति, विभूति, सौन्दर्यसज्जा इत्यादि से आकृष्ट होना अपने साधनामय पथ से विचलित होना है। उन्हें देखकर मन में तदनुमुख भोगानुराजित भाव भी उत्पन्न हो सकते हैं, जिनसे भिक्षु की व्रताराधनामय, संवर-निर्जरा मूलक चर्या व्याहत हो सकती है।

आखेट हेतु निर्गत राजा से आहार-ग्रहण-विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं मंसखायाण वा मच्छखायाण वा छविखायाण वा बहिया णिग्गयाणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ ॥ १० ॥

कठिन शब्दार्थ - मंसखायाण - मांसखादक - खाद्य हेतु मांस प्राप्ति के प्रयोजनवश, मच्छखायाण - मत्स्यखादक - खाद्य हेतु मत्स्य - मछली प्राप्ति के प्रयोजनवश, छविखायाण- छविखादक - खाद्य हेतु चँवले, मूंग आदि की फलियाँ पाने के प्रयोजनवश, बहिया - बाहर, णिग्गयाणं - निर्गत - निकले हुए, गए हुए।

भावार्थ - १०. जो भिक्षु मांस, मछली या चँवले, मूंग आदि की फली - इन्हें भक्ष्य रूप में प्राप्त करने हेतु बाहर गए हुए क्षत्रियकुलोत्पन्न, शुद्ध मातृ-पितृ वंशीय राजा (राजा के यहाँ) से अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप चतुर्विध आहार ग्रहण करता है या ग्रहण करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - इस सूत्र में मांस, मछली तथा चँवले, मूंग आदि की फलियाँ भक्ष्यार्थ प्राप्त करने हेतु राजा के बाहर निर्गत होने या जाने का जो उल्लेख हुआ है, उससे राजाओं की आखेट-प्रियता सूचित होती है।

मांस प्राप्त करने हेतु वन में हिरण आदि का शिकार करना, मछलियाँ प्राप्त करने हेतु

नदी, तालाब, झील या समुद्र के तट पर जाना, उन्हें पकड़ना, खेत में जाकर फलियाँ तुड़वाना, प्राप्त करना आदि उपक्रम यहाँ संकेतित हैं।

आखेट पर गए हुए राजा का वन आदि में, नदों आदि के तट पर भोजन भी तैयार होने की तथा आमोद-प्रमोद के साथ खाने की परंपरा भी रही है। माँस, मछली आदि वहाँ पकाए ही जाते हैं। ऐसे स्थान से आहार लेना अहिंसात्मक भावना तथा भिक्षाचर्या के नियमोपनियमों के परिपालन की दृष्टि से आपत्तिजनक है, दोषयुक्त है, अत एव प्रायश्चित्त योग्य है।

राजसम्मनार्थ आयोजित भोज में आहार-ग्रहण-विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं अण्णयरं उववूहणियं समीहियं पेहाए तीसे परिसाए अणुट्टियाए अभिण्णाए अवोच्छिण्णाए जो तमण्णं (तं असणं पाणं वा खाइमं वा साइमं वा वा) पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ ॥ ११ ॥

कठिन शब्दार्थ - उववूहणियं - उपबृंहणीय - शरीर-पुष्टिकारक - पौष्टिक, समीहियं-समीहित - अभीप्सित - मनोभिलाषा के अनुरूप, पेहाए - प्रेक्षित कर - देखकर, तीसे परिसाए - उस परिषद् के, अणुट्टियाए - अनुत्थित होने पर - उठ जाने - समाप्त हो जाने से पूर्व ही, अभिण्णाए - बिखर जाने से पूर्व ही, अवोच्छिण्णाए - अविच्छिन्न - विच्छिन्न हो जाने से - उसमें भाग लेने वालों के वहाँ से चले जाने के पूर्व ही, तं - उस, अण्णं - अन्न - आहार को।

भावार्थ - ११. जो भिक्षु क्षत्रियकुलोत्पन्न, शुद्ध मातृ-पितृ वंशीय एवं मूर्धाभिषिक्त राजा को कहीं उत्तम, पौष्टिक खाद्य सामग्रीपूर्ण भोज दिया जा रहा हो, उसे देख कर उस परिषद् - भोज समारोह के उठने, बिखर जाने, अविच्छिन्न हो जाने से - समस्त लोगों के निकल जाने के पूर्व ही वहाँ से (अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप) आहार ग्रहण करता है या ग्रहण करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - प्राचीनकाल में सामन्तों, श्रेष्ठियों तथा विशिष्टजनों द्वारा राजाओं के सम्मान में भोज के आयोजन किए जाते रहे हैं। आज भी वह परंपरा मिटी नहीं है। राजाओं का स्थान राजनेताओं, मन्त्रियों आदि ने ले लिया है।

राजाओं के सम्मान में दिए जाने वाले भोजों में विविध प्रकार के स्वादिष्ट, पौष्टिक खाद्य पदार्थ तैयार किए जाते थे। उस प्रकार का कोई भोज समारोह हो तब संयोगवश भिक्षु उसे देखे तथा उस समारोह के समाप्त हो जाने के पूर्व ही वहाँ से आहार ग्रहण करे तो यह दोषयुक्त है।

उत्तमोत्तम भोज्य सामग्री को देखकर सामान्यजनों के मन में उसके प्रति अभीप्सा या लोलुपता उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि रसनेन्द्रिय को जीत पाना बहुत दुष्कर है। किन्तु त्याग-वैराग्यपूर्ण, संयम-जीवितव्य के संवाहक भिक्षु के मन में आहार के प्रति कभी लोलुपता नहीं होती, क्योंकि वह जानता है कि आहार तो देह को चलाने का मात्र एक साधन है। वह केवल शुद्ध एवं सादा हो, जिससे शरीर यात्रा का निर्वाह होता रहे।

मानवीय दुर्बलतावश भिक्षु के मन में स्वादिष्ट, पौष्टिक आहार प्राप्त करने की कभी उत्कण्ठा, अभिलाषा न हो एतदर्थ यह सूत्र प्रेरणा प्रदान करता है।

राजा के विश्रामस्थल (छावनी) आदि में ठहरने का प्रायश्चित्त

अह पुण एवं जाणेज्जा 'इहज्ज रायखत्तिए परिवुसिए' जे भिक्खू ताए गिहाए ताए पएसाए ताए उवासंतराए विहारं वा करेइ सञ्जायं वा करेइ असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आहारेइ उच्चारं वा पासवणं वा परिट्टवेइ अण्णयरं वा अणारियं मेहुणं अस्समणपाउग्गं कंहं कहेइ कहेतं वा साइज्जइ ॥ १२ ॥

कठिन शब्दार्थ - अह - अथ - इसके अनन्तर, पुण - पुनः - फिर, एवं - इस प्रकार, जाणेज्जा - जाने, इह - यहाँ, अज्ज - आज, रायखत्तिए - क्षत्रियवंशीय राजा, परिवुसिए - पर्युषित - प्रवास - निवास करता है - ठहरा हुआ है, ताए - उस, गिहाए - घर से, पएसाए - प्रदेश - स्थान से या छावनी से, उवासंतराए - अवकाशान्तर - तत् समीपवर्ती शुद्ध स्थान में।

भावार्थ - १२. जब यह जान ले या ज्ञात हो जाए कि यहाँ आज क्षत्रियवंशोत्पन्न राजा ठहरा हुआ है तो जो भिक्षु उस गृह से - जिसमें राजा रुका हो, उस भवन में (उस भवन के किसी विभाग या प्रकोष्ठ में), उस प्रदेश या छावनी से (छावनी के किसी भाग में) एवं उसके समीपवर्ती (निरवद्य) स्थान में ठहरता है, स्वाध्याय करता है, अशन-पान-खाद्य-

स्वाद्य रूप आहार करता है, मल-मूत्र परठता है या किसी दुःशीला या अनाचरण युक्ता स्त्री को मैथुन विषयक - अश्लील, साधु द्वारा अप्रायोग्य - प्रयोग न करने योग्य कामकथा कहता है - कामुकतापूर्ण वार्तालाप करता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - राजतन्त्र में राजा को सर्वाधिकार प्राप्त थे। अपने दायित्व का निर्वाह करने के लिए राजा के आवास में रक्षक, गुप्तचर, परामर्शक, संदेशवाहक - दूत आदि का पूरा जमाव रहता था ताकि राजा क्षण-क्षण घटित होने वाली स्थितियों से अवगत रह सके, अपना कर्तव्य निर्धारित कर सके। राजा के आवास में गुप्त मन्त्रणाएँ, गोष्ठियाँ या सभाएँ भी चलती रहती थीं। तात्पर्य यह है कि राजा का आवास राजनैतिक तन्त्र से आच्छन्न रहता था।

भिक्षु द्वारा वहाँ प्रवास किया जाना, स्वाध्याय आदि किया जाना इस सूत्र में जो वर्जित और प्रायश्चित्त योग्य कहा गया है, उसका कारण यह है कि वहाँ भिक्षु को अपनी साधुचर्या या समाचारी का सम्यक् निर्वाह करने में कदाचन बाधा उत्पन्न हो सकती है। वहाँ का वातावरण आध्यात्मिक साधनामय जीवन के अनुकूल भी नहीं होता। राजा के शासन, गोपनीय मन्त्रणा, व्यवस्था तथा राजनैतिक क्रिया-प्रक्रिया आदि में भी भिक्षु के वहाँ रहने से व्यवधान होना आशंकित है।

सूत्र में अनार्य नारी के साथ कामुकतापूर्ण वार्तालाप करने का जो उल्लेख हुआ है, वह तो और भी जघन्य कृत्य है। ब्रह्मचर्य की गौरवमयी साधना में प्राणपण से समर्पित भिक्षु ऐसा धिनौना कृत्य करे, यह सोचा भी नहीं जा सकता। यदि दुःसंयोगवश कुछ ऐसी स्थिति बन पड़े तो वह साधु के लिए सर्वथा अशोभनीय है। शास्त्र विहित प्रायश्चित्त द्वारा उसका परिमार्जन अपेक्षित (वाञ्छित-इच्छित) है।

इस सूत्र में राजा के लिए 'राज-क्षत्रिय' पद का प्रयोग हुआ है, जो उसके विशेषण युक्त पद का संक्षिप्त रूप है। यहाँ 'क्षत्रियकुलोत्पन्न' के साथ 'शुद्ध मातृ-पितृ वंशीय' तथा 'मूर्धाभिषिक्त' विशेषण भी योजनीय हैं।

युद्धादि हेतु संप्रस्थित-प्रतिनिवृत्त राजा के यहाँ आहार ग्रहण विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं बहिया जत्तासंपट्टियाणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइच्चइ ॥ १३ ॥

जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं बहिया जत्तापडिणियत्ताणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ ॥ १४ ॥

जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं णइजत्तासंपडियाणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ ॥ १५ ॥

जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं णइजत्ता-पडिणियत्ताणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ ॥ १६ ॥

जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं गिरिजत्तासंपडियाणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ ॥ १७ ॥

जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं गिरिजत्ता-पडिणियत्ताणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ ॥ १८ ॥

कठिन शब्दार्थ - जत्तासंपडियाणं - यात्रासंस्थित - युद्ध आदि हेतु यात्रा पर जाते हुए, जत्तापडिणियत्ताणं - यात्राप्रतिनिवृत्त - युद्ध आदि की यात्रा से वापस लौटे हुए, णइजत्तासंपडियाणं - नदी-यात्रा संप्रस्थित - नदी यात्रार्थ प्रस्थान किए हुए - रवाना हुए, णइजत्तापडिणियत्ताणं - नदी यात्रा से वापस लौटे हुए, गिरिजत्तासंपडियाणं - पर्वतीय यात्रा पर संप्रस्थित, गिरिजत्तापडिणियत्ताणं - पर्वतीय यात्रा से प्रति निवृत्त।

भावार्थ - १३. जो भिक्षु पर राज्य विजयार्थ आदि हेतु, युद्ध हेतु प्रस्थान किए हुए क्षत्रियकुलोत्पन्न, शुद्ध मातृ-पितृ वंशीय एवं मूर्धाभिषिक्त राजा के यहाँ से अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप आहार ग्रहण करता है अथवा ग्रहण करते हुए का अनुमोदन करता है।

१४. जो भिक्षु युद्ध आदि मूलक बहिर्यात्रा से वापस लौटे हुए क्षत्रियकुलोत्पन्न, शुद्ध मातृ-पितृ वंशीय एवं मूर्धाभिषिक्त राजा के यहाँ से अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप आहार ग्रहण करता है या ग्रहण करते हुए का अनुमोदन करता है।

१५. जो भिक्षु नदी यात्रा हेतु प्रस्थान किए हुए क्षत्रियकुलोत्पन्न, शुद्ध मातृ-पितृ वंशीय एवं मूर्धाभिषिक्त राजा के यहाँ से अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप आहार ग्रहण करता है अथवा ग्रहण करते हुए का अनुमोदन करता है।

१६. जो भिक्षु नदी यात्रा से वापस लौटे हुए क्षत्रियकुलोत्पन्न, शुद्ध मातृ-पितृ वंशीय एवं मूर्धाभिषिक्त राजा के यहाँ से अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप आहार ग्रहण करता है अथवा ग्रहण करते हुए का अनुमोदन करता है।

१७. जो भिक्षु पर्वतीय यात्रा हेतु प्रस्थान किए हुए क्षत्रियकुलोत्पन्न, शुद्ध मातृ-पितृ वंशीय एवं मूर्धाभिषिक्त राजा के यहाँ से अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप आहार ग्रहण करता है अथवा ग्रहण करते हुए का अनुमोदन करता है।

१८. जो भिक्षु पर्वतीय यात्रा से वापस लौटे हुए क्षत्रियकुलोत्पन्न, शुद्ध मातृ-पितृ वंशीय एवं मूर्धाभिषिक्त राजा के यहाँ से अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप आहार ग्रहण करता है अथवा ग्रहण करते हुए का अनुमोदन करता है।

इस प्रकार उपर्युक्त अविहित कार्य करने वाले भिक्षु को गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - इन सूत्रों में राजा द्वारा की जाने वाली तीन बहिर्यात्राओं का उल्लेख है।

पहली यात्रा का संबंध अन्य राज्य को जीतने आदि हेतु, तदर्थ युद्ध आदि में जाने के साथ है।

दूसरी यात्रा का संबंध आमोद-प्रमोद हेतु या लौकिक मंगलाभिषेकादि हेतु नदी तट पर जाने से है; जहाँ राजा द्वारा मनोरंजन, शुभ शकुन, मंगल संचयन आदि के निमित्त विविध लौकिक कृत्य आयोजित होते रहे हों।

पर्वतीय यात्रा का संबंध भ्रमण, पर्यटन, मनोरंजन, लौकिक मांगलिक कृत्य निर्वहण आदि से है।

जिन यात्राओं में राजा, सामन्त, सेनापति, उच्च अधिकारी आदि हेतु विविध प्रकार के पकवान, स्वादिष्ट भोज्य पदार्थ तैयार होते रहे हों, वहाँ से भिक्षा लेना आहार विषयक सात्त्विक चर्या के प्रतिकूल है। विविध आरम्भ-समारम्भ तो वहाँ होते ही हैं। अन्य मतानुयायियों द्वारा भिक्षु के आगमन को अमांगलिक माना जाना भी आशंकित है। वहाँ से आहार लेना ऐहिक एवं पारलौकिक (पारलौकिक एवं ऐहिक) - दोनों ही दृष्टियों से भिक्षु के लिए परिवर्जनीय तथा दूषणीय है।

राज्याभिषेकोत्सव के अवसर पर गमनागमन का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं महाभिसेयंसि
वट्टमाणंसि णिक्खमइ वा पविसइ वा णिक्खमंतं वा पविसंतं वा
साइज्जइ ॥ १९ ॥

कठिन शब्दार्थ - महाभिसेयंसि - महाभिषेक - राज्याभिषेक, वट्टमाणंसि - होने के अवसर पर।

भावार्थ - १९. जो भिक्षु क्षत्रियकुलोत्पन्न, शुद्ध मातृ-पितृ वंशीय एवं मूर्धाभिषिक्त - परंपरागत राज्य के उत्तराधिकारी राजा के राजतिलक के महोत्सव के अवसर पर वहाँ प्रवेश-निष्क्रमण - गमनागमन करता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - जब नए राजा का राजतिलक होता है, तब बहुत बड़ा उत्सव आयोजित होता है। बड़ी तैयारियाँ होती हैं, अनेक आरम्भ-समारम्भमूलक कार्य चलते रहते हैं। रास्ते (मार्ग) लोगों की भीड़ से भरे रहते हैं। नाच-गान, गाजे-बाजे आदि चलते रहते हैं, बड़ा ही कोलाहलपूर्ण वातावरण होता है। उसमें भिक्षु का जाना उसकी निर्मल, सात्त्विक, तटस्थ, आत्मस्थ दिनचर्या के विपरीत है। मंगल-अमंगल मान्यता विषयक आशंकाएँ भी बनी रहती हैं। अतः भिक्षु को वैसे समय में अपने स्थान में ही रहते हुए स्वाध्याय आदि में रत रहना चाहिए।

राजधानियों में गमनागमन विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं इमाओ दस
अभिसेयाओ रायहाणीओ उद्धिआओ गणियाओ वंजियाओ अंतो मासस्स दुक्खुत्तो
वा तिक्खुत्तो वा णिक्खमइ वा पविसइ वा णिक्खमंतं वा पविसंतं वा
साइज्जइ, तंजहा- चंपा महुरा वाणारसी सावत्थी साएयं कंपिल्लं कोसंबी
मिहिला हत्थिणापुरं रायगिहं ॥ २० ॥

कठिन शब्दार्थ - अभिसेयाओ - आभिषेक्य - राजा के अभिषेक के योग्य,
रायहाणीओ - राजधानियाँ, उद्धिआओ - उद्दिष्ट - कथित - प्रतिपादित, गणियाओ -

गणित - गिनी जाती हुई - मानी जाती हुई, वंजियाओ - व्यंजित - नाम से अभिव्यक्त - प्रकट या प्रसिद्ध, अंतो मासस्स - अन्तर्मास - एक मास के भीतर, दुक्खुत्तो - दो बार, तिक्खुत्तो - तीन बार।

भावार्थ - २०. जो भिक्षु क्षत्रियकुलोत्पन्न, शुद्ध मातृ-पितृ वंशीय एवं मूर्धाभिषिक्त राजा की इन दस राज्याभिषेक योग्य राजधानियों के रूप में कही गई, गिनी गई, मानी गई नगरियों में एक मास में दो बार या तीन बार गमनागमन करता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

वे राजधानियाँ इस प्रकार हैं - १. चंपा, २. मथुरा, ३. वाराणसी, ४. श्रावस्ती, ५. साकेतपुर, ६. कांपिल्य नगर, ७. कौशांबी, ८. मिथिला, ९. हस्तिनापुर एवं १०. राजगृह।

विवेचन - राजधानी राजा का मुख्य आवास होता है। वहाँ अनेक राजपुरुष एवं राज कर्मचारी रहते हैं, सेनापति, सेनाएँ, सामन्त, आरक्षीजन, गाथापति, उद्योगपति, श्रेष्ठी आदि निवास करते हैं। राजा द्वारा तथा राजधानीवासी अन्य उच्चपदासीन, संपत्तिशालीजनों द्वारा समय-समय पर उत्सव, भोज आदि आयोजित किए जाते हैं। संगीत, नृत्य, वाद्य-वादित्र आदि का जमघट बना रहता है। मार्गों में भीड़ तो इतनी अधिक होती है कि आवागमन करने वाले जन आपस में टकराते जाते हैं। ऐसे स्थानों में भिक्षु को अधिक बार गमनागमन नहीं करना चाहिए।

भौतिक वैभव एवं ऐश्वर्य से आपूर्ण समारोहों की आकर्षकता दुर्बलचेता पुरुष को मोह लेती है। इसलिए भिक्षु को एक बार से अधिक दो बार, तीन बार आदि नहीं जाना चाहिए, क्योंकि आकर्षक, मोहक एवं भोगप्रधान वातावरण कदाचित् मन में विकार भी उत्पन्न कर सकता है। ऐसे स्थान संयम के लिए बाधक, विघातक माने गए हैं। जहाँ जरा भी आध्यात्मिक हानि की आशंका हो, वैसे स्थान से भिक्षु को सदैव दूर रहना चाहिए। राजधानी एक वैसा ही स्थान है। इसलिए वहाँ विशेष आवश्यकतावश भिक्षु को राजधानी में जाना पड़े तो वह सामान्यतः मर्हाने में एक बार से अधिक न जाए। बहुत आवश्यक हो तो दूसरी बार भी जा सकता है, उसमें प्रायश्चित्त नहीं आता, किन्तु तीसरी बार यदि जाए तो अवश्य ही प्रायश्चित्त आता है।

अधिक बार जाने का निषेध करने का तात्पर्य यह है कि उससे लोगों के साथ अधिक निकटता बढ़ती है। उनके प्रति स्नेह या मोह, राग उत्पन्न होना आशंकित है, जो साधुत्व में प्रत्यवाय - विघ्न है। भिक्षु के बार-बार जाने-आने से राजपुरुषों के मन में उसके गुप्तचर या

भेदिया होने की आशंका उत्पन्न हो सकती है। इन अवांछित स्थितियों को टालने के लिए राजधानी में एकाधिक बार गमनागमन को प्रायश्चित्त योग्य बतलाया गया है।

वर्तमान में देश के व प्रांतों के महानगर (बड़े शहर) व राजधानियाँ उपर्युक्त रूप से समझे जा सकते हैं।

राज्याधिकारी कर्मचारी हेतु कृत आहार-ग्रहण-विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा परस्स णीहडं पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ, तंजहा - खत्तियाण वा राईण वा कुराईण वा रायसंसियाण वा रायपेसियाण वा ॥ २१ ॥

जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा परस्स णीहडं पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ, तंजहा - णडाण वा णट्टयाण वा कच्छुयाण वा जल्लण वा मल्लण वा मुट्टियाण वा वेलंबगाण वा कहगाण वा पवगाण वा लासगाण वा दोखलयाण वा छत्ताणुयाण वा (खेलाण वा छत्ताण वा) ॥ २२ ॥

जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा परस्स णीहडं पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ, तंजहा - आसपोसयाण वा हत्थिपोसयाण वा महिसपोसयाण वा वसहपोसयाण वा सीहपोसयाण वा वग्घपोसयाण वा अयपोसयाण वा पोयपोसयाण वा मिगपोसयाण वा सुण्हपोसयाण वा सूयरपोसयाण वा मेंढपोसयाण वा कुक्कुडपोसयाण वा (मक्कडपोसयाण वा) तित्तिरपोसयाण वा वट्टयपोसयाण वा लावयपोसयाण वा चीर(ल्लु)ल्लपोसयाण वा हंसपोसयाण वा मऊरपोसयाण वा सुयपोसयाण वा ॥ २३ ॥

जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं असणं वा पाणं

वा खाइमं वा साइमं वा परस्स णीहडं पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ, तंजहा - आस(मद्दा)दमगाण वा हत्थिदमगाण वा ॥ २४ ॥

जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा परस्स णीहडं पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ, तंजहा - आसमिंठाण वा हत्थिमिंठाण वा ॥ २५ ॥

जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा परस्स णीहडं पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ, तंजहा - आसरोहाण वा हत्थिरोहाण वा ॥ २६ ॥

जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा परस्स णीहडं पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ, तंजहा - सत्थवाहाण वा संवाहावयाण वा अब्भंगावयाण वा उव्वट्ठावयाण वा मज्जावयाण वा मंडावयाण वा छत्तग्गहाण वा चमरग्गहाण वा हडप्पग्गहाण वा परियट्ठयग्गहाण वा दीवियग्गहाण वा असिग्गहाण वा धणुग्गहाण वा सत्तिग्गहाण वा कोंतग्गहाण वा हत्थियग्गहाण वा हत्थिपत्तग्गहाण वा ॥ २७ ॥

जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा परस्स णीहडं पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ तंजहा - वरिसधराण वा कंचुइज्जाण वा दोवारियाण वा दं(डं)डारक्खियाण वा ॥ २८ ॥

जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा परस्स णीहडं पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ, तंजहा - खुजाण वा चिलाइयाण वा वामणीण वा वडभीण वा बब्बरीण वा प(पा)उसीण वा जोणियाण वा पल्हवियाण वा ईसणीण वा थारुगिणीण वा लउसीण वा लासीण वा दमिलीण वा सिंहलीण वा आरवीण वा पुलिंदीण

वा पक्कणीण वा बहलीण वा मुरंडीण वा सबरीण वा पारसीण वा । तं
सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारद्वाणं अणुग्घाइयं ॥ २९ ॥

॥ णिसीहज्झयणे णवमो उद्देशो समत्तो ॥ ९ ॥

कठिन शब्दार्थ - परस्स णीहडं - दूसरे के लिए निकाले गए - रखे गए, खत्तियाण-
क्षत्रिय - अंगरक्षक राजपुरुषों के लिए, राईण - अधीनस्थ मांडलिक राजाओं के लिए,
कुराईण - अपने राज्य के सीमावर्ती प्रदेश के शासकों के लिए, रायसंसियाण - राजाश्रितजनों
के लिए, रायपेसियाण - राजा के सेवकों के लिए, णडाण - नटों - नाट्यकारों के लिए,
णट्टयाण - नर्तकों के लिए, कच्छुयाण - रस्सी पर नाचने वालों के लिए, जल्लाण -
राजस्तुति पाठकों के लिए, मल्लाण - मल्लयुद्धकारकों - पहलवानों के लिए, मुट्टियाण -
मौष्टिकों - मुष्टियुद्ध कारकों के लिए, वेलंबगाण - भाण्डों की तरह मसखरी - मजाक
करने वालों के लिए, कहगाण - कथकों - राजसभा में कथाएँ कहने वालों के लिए,
पवगाण - प्लवकों - बन्दरों की तरह उछल-कूद करने वालों के लिए, लासगाण -
लसकों - यशोगाथा गायकों, बन्दीजनों के लिए, दोखलयाण - भुजाओं द्वारा खेल करने
वालों के लिए, छत्ताणुयाण - छत्र लेकर अनुगमन करने वालों के लिए, खेलाण - खेल
करने वालों के लिए, छत्ताण - छत्र धारण करने वालों के लिए, आसपोसयाण - घोड़े के
पोषकों - पालकों के लिए, हत्थिपोसयाण - हस्तिपोषकों के लिए, महिसपोसयाण - भैंसों
का पोषण करने वालों के लिए, वसहपोसयाण - वृषभपोषकों के लिए, सीहपोसयाण -
सिंहपोषकों के लिए, वग्घपोसयाण - व्याघ्रपोषकों के लिए, अयपोसयाण - अज -
बकरे-बकरियों का पोषण करने वालों के लिए, पोयपोसयाण - कपोत - कबूतर पोषकों के
लिए, मिगपोसयाण - मृग - हरिण पोषकों के लिए, सुणहपोसयाण - श्वानपोषकों के
लिए, सूयरपोसयाण - शूकरपोषकों के लिए, मेंढपोसयाण - मेष - मेंढे के पोषकों के
लिए, कुक्कुडपोसयाण - कुक्कुट - मुर्गे के पोषकों के लिए, मक्कडपोसयाण - मर्कट-
बंदरपोषकों के लिए, तित्तिरपोसयाण - तीतरपोषकों के लिए, वट्टयपोसयाण - बतखपोषकों
के लिए, लावयपोसयाण - लावकपोषकों के लिए, चीर(ल्लु)ल्लपोसयाण - चील्ह या
चील संज्ञक पक्षीपोषकों के लिए, हंसपोसयाण - हंसपोषकों के लिए, मऊरपोसयाण -
मयूरपोषकों के लिए, सुयपोसयाण - शुक - तोतेपोषकों के लिए, आस(महा)दमगाण -

घोड़ों को शिक्षित करने वालों के लिए, **हत्थिदमगाण** - हाथियों को शिक्षित करने वालों के लिए, **आसमिंठाण** - घोड़ों की देह का मार्जन करने वाले - उनके शरीर पर लगे रजकण आदि हटाने वालों के लिए, **हत्थिमिंठाण** - हाथियों की देह का मार्जन करने वालों के लिए, **आसरोहाण** - घोड़ों पर सवारी करने वालों के लिए, **हत्थिरोहाण** - हाथियों पर सवारी करने वालों के लिए, **सत्थवाहाण** - राजा के सचिव आदि अधिकारियों को राज-संदेश पहुँचाने वालों के लिए, **संवाहावयाण** - राजा आदि के शरीर को दबाने वाले - पगचंपी करने वालों के लिए, **अब्भंगावयाण** - तेल मालिश करने वालों के लिए, **उव्वट्टावयाण** - उबटन करने वालों के लिए, **मज्जावयाण** - राजा आदि को मज्जन - स्नान कराने वालों के लिए, **मंडावयाण** - मण्डकों के लिए - राजा आदि को मुकुट आदि पहनाकर मण्डित करने वालों के लिए, **छत्तग्गहाण** - राजा आदि के निमित्त छत्रधारकों के लिए, **चमरग्गहाण** - चँवरधारियों के लिए, **हडप्पग्गहाण** - आभूषणों का पात्र - मंजूषा रखने वालों के लिए, **परियट्टयग्गहाण** - वस्त्र आदि की पेटियाँ रखने वालों के लिए, **दीवियग्गहाण** - दीवट रखने वालों के लिए, **असिग्गहाण** - राजादि के लिए खड्ग - तलवार रखने वालों के लिए, **धणुग्गहाण** - धनुष रखने वालों के लिए, **सत्तिग्गहाण** - शक्ति नामक शस्त्र (त्रिशूल) विशेष रखने वालों के लिए, **कोंतग्गहाण** - कुन्त - भाले धारण करने वालों के लिए, **हत्थियग्गहाण** - हाथियों को लिए चलने वालों के लिए, **हत्थिपत्तग्गहाण** - हाथियों के अंकुशधारकों के लिए, **वरिसधराण** - वर्षधरों के लिए - अन्तःपुर रक्षक कृत्रिम नपुंसकों के लिए, **कंचुज्जाण** - कंचुकियों के लिए - अन्तःपुर रक्षक जन्मजात नपुंसकों के लिए, **दोवारियाण** - द्वारिकों के लिए - अन्तःपुर के द्वारपालों - पहरेदारों के लिए, **दं(डं)डारक्खियाण** - अन्तःपुर के दण्डधारी रक्षकों के लिए, **खुज्जाण** - कुब्जाओं के लिए - कुबड़ी दासियों के लिए, **चिलाइयाण** - किरात देशोत्पन्न दासियों के लिए, **वामणीण** - बौनी दासियों के लिए, **वडधीण** - वक्रार्थियों के लिए - आधी टेढी देहयुक्त दासियों के लिए, **बब्बरीण** - बर्बर देशोत्पन्न दासियों के लिए, **प(पा)उसीण** - बकुश देशोत्पन्न दासियों के लिए, **जोणियाण** - यवन (यूनान) देशोत्पन्न दासियों के लिए, **पल्हवियाण** - पल्हव देशोत्पन्न दासियों के लिए, **ईसणीण** - ईसीनिका देशोत्पन्न दासियों के लिए, **थारुगिणीण** - थार देशोत्पन्न दासियों के लिए, **लउसीण** - लकुश देशोत्पन्न दासियों के लिए, **लासीण** - लास (ल्हास) देशोत्पन्न दासियों के लिए, **दमिलीण** - द्रविड़ देशोत्पन्न

दासियों के लिए, **सिंहलीण** - सिंहल (लंका या सीलोन) देशोत्पन्न दासियों के लिए, **आरवीण** - अरब देशोत्पन्न दासियों के लिए, **पुलिंदीण** - पुलिंद देशोत्पन्न दासियों के लिए, **पक्कणीण** - पक्कण देशोत्पन्न दासियों के लिए, **बहलीण** - बाह्लीक देशोत्पन्न दासियों के लिए, **मुरंडीण** - मुरण्ड देशोत्पन्न दासियों के लिए, **सबरीण** - शबर देशोत्पन्न दासियों के लिए, **पारसीण** - फारस (ईरान) देशोत्पन्न दासियों के लिए।

भावार्थ - २१. जो भिक्षु क्षत्रियकुलोत्पन्न, शुद्ध मातृ-पितृ वंशीय एवं मूर्धाभिषिक्त राजा के क्षत्रियवंशी अंगरक्षकों, अधीनस्थ माण्डलिक राजाओं, अपने राज्य के सीमावर्ती प्रदेश के शासकों, राजाश्रितजनों या राजसेवकों के लिए तैयार कराए गए, रखे गए भोज्य पदार्थों में से अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप आहार ग्रहण करता है अथवा ग्रहण करते हुए का अनुमोदन करता है।

२२. जो भिक्षु क्षत्रियकुलोत्पन्न, शुद्ध मातृ-पितृ वंशीय एवं मूर्धाभिषिक्त राजा के नाट्यकारों, नर्तकों, रस्सी पर नाचने वालों, राजस्तुति पाठकों, मल्लयुद्धकरों - पहलवानों, मौष्टिक युद्धकरों, मसखरों, कथकों, बंदरों की तरह उछल-कूद करने वालों - उस प्रकार तमाशे दिखाने वालों, वन्दीजनों, भुजाओं द्वारा खेल करने वालों - करिश्मे दिखाने वालों या छत्रधारी अनुगामियों (क्रीडकों या छत्रधारकों) के लिए तैयार कराए गए, रखे गए भोज्य पदार्थों में से अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप आहार ग्रहण करता है अथवा ग्रहण करते हुए का अनुमोदन करता है।

२३. जो भिक्षु क्षत्रियकुलोत्पन्न, शुद्ध मातृ-पितृ वंशीय एवं मूर्धाभिषिक्त राजा के अश्वपालकों, हस्तिपालकों, महिषपालकों, वृषभपालकों, सिंहपालकों, व्याघ्रपालकों, अजपालकों, कपोतपालकों, मृगपालकों, श्वानपालकों, शूकरपालकों, मेषपालकों, कुक्कुटपालकों, (वानरपालकों), तीतरपालकों, बतखपालकों, लावक (पक्षी विशेष) पालकों, चील (चील्ह) पालकों, हंसपालकों, मोरपालकों, शुक (तोता) पालकों के लिए तैयार कराए गए, रखे गए भोज्य पदार्थों में से अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप आहार ग्रहण करता है अथवा ग्रहण करते हुए का अनुमोदन करता है।

२४. जो भिक्षु क्षत्रियकुलोत्पन्न, शुद्ध मातृ-पितृ वंशीय एवं मूर्धाभिषिक्त राजा के अश्वशिक्षकों या हस्तिशिक्षकों के लिए तैयार कराए गए, रखे गए भोज्य पदार्थों में से अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप आहार ग्रहण करता है अथवा ग्रहण करते हुए का अनुमोदन करता है।

२५. जो भिक्षु क्षत्रियकुलोत्पन्न, शुद्ध मातृ-पितृ वंशीय एवं मूर्धाभिषिक्त राजा के अश्वमार्जकों या हस्तिमार्जकों, उनके शरीर पर लगी रज आदि झाड़ने वालों के लिए तैयार कराए गए, रखे गए भोज्य पदार्थों में से अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप आहार ग्रहण करता है अथवा ग्रहण करते हुए का अनुमोदन करता है।

२६. जो भिक्षु क्षत्रियकुलोत्पन्न, शुद्ध मातृ-पितृ वंशीय एवं मूर्धाभिषिक्त राजा के अश्वारोहियों या गजारोहियों के लिए तैयार कराए गए, रखे गए भोज्य पदार्थों में से अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप आहार ग्रहण करता है अथवा ग्रहण करते हुए का अनुमोदन करता है।

२७. जो भिक्षु क्षत्रियकुलोत्पन्न, शुद्ध मातृ-पितृ वंशीय एवं मूर्धाभिषिक्त राजा के आह्वान विषयक संदेशवाहकों, देह-संवाहकों, तेलमर्दकों, उबटनकारकों, स्नापकों - स्नान कराने वालों, मुकुट आदि द्वारा मण्डनकारकों, छत्रधारियों, चँवरधारियों, अलंकार-पात्रधारियों, वस्त्र-पेटिकाधारियों, दीवटधारियों, राजा के निमित्त खड्गधारियों, धनुर्धारियों, शक्तिधारकों, कुन्त (भाला)धारियों, हाथियों को लिए चलने वालों या अंकुशधारियों - महावतों के लिए तैयार कराए गए, रखे गए भोज्य पदार्थों में से अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप आहार ग्रहण करता है अथवा ग्रहण करते हुए का अनुमोदन करता है।

२८. जो भिक्षु क्षत्रियकुलोत्पन्न, शुद्ध मातृ-पितृ वंशीय एवं मूर्धाभिषिक्त राजा के अन्तःपुर के वर्षधरों - कृत्रिम नपुंसकों, कंचुकियों - नैसर्गिक नपुंसकों, द्वारपालों या दण्डधर रक्षकों के लिए तैयार कराए गए, रखे गए भोज्य पदार्थों में से अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप आहार ग्रहण करता है अथवा ग्रहण करते हुए का अनुमोदन करता है।

२९. जो भिक्षु क्षत्रियकुलोत्पन्न, शुद्ध मातृ-पितृ वंशीय एवं मूर्धाभिषिक्त राजा की कुब्जा दासियों, किरात देशोत्पन्न दासियों, बौनी दासियों, वक्रार्ध देहयुक्त दासियों, बर्बर देशोत्पन्न, बकुश देशोत्पन्न, यवन (यूनान) देशोत्पन्न, पल्लव देशोत्पन्न, ईसीनिका देशोत्पन्न, थार देशोत्पन्न, लकुश देशोत्पन्न, लास (ल्हास) देशोत्पन्न, द्रविड़ देशोत्पन्न, सिंहल देशोत्पन्न, अरब देशोत्पन्न, पुलिंद देशोत्पन्न, पक्कण देशोत्पन्न, बाह्लीक देशोत्पन्न, मुरण्ड देशोत्पन्न, शबर देशोत्पन्न तथा फारस देशोत्पन्न दासियों के लिए तैयार कराए गए, रखे गए भोज्य पदार्थों में से अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप आहार ग्रहण करता है अथवा ग्रहण करते हुए का अनुमोदन करता है।

इन सूत्रों में वर्णित अविहित कर्म करने वाले भिक्षु को गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

इस प्रकार उपर्युक्त २९ सूत्रों में किए गए किसी भी प्रायश्चित्त स्थान का, तद्गत दोषों का सेवन करने वाले भिक्षु को अनुद्घातिक परिहार-तप रूप गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

इस प्रकार निशीथ अध्ययन (निशीथ सूत्र) में नवम उद्देशक परिसमाप्त हुआ।

विवेचन - इन सूत्रों तथा पीछे के सूत्रों में राजा के विशेषणों में जो **'मुद्गाभिषित्ताणं-मूर्धाभिषिक्तानाम्'** पद आया है, वह मूर्धाभिषिक्त का षष्ठी विभक्ति के बहुवचन का रूप है। मूर्धाभिषिक्त पद मूर्धा + अभिषिक्त के योग से बना है। **'मूर्ध्नि अभिषिक्तः, इति मूर्धाभिषिक्तः'** यह सप्तमी तत्पुरुष समास है। अभिषिक्त का अर्थ अभिषेक किया हुआ होता है। जब नया राजा राजसिंहासनारूढ होता था तब मांगलिक क्रिया कलाप तथा मंत्रोच्चार के साथ उसके मस्तक पर - ललाट पर केशर, चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्यों द्वारा अभिषेकपूर्वक तिलक किया जाता था। वृद्ध प्रपितामह, पितामह एवं पिता आदि से चले आते राज्य का स्वामी मूर्धाभिषिक्त राजा कहा जाता था।

राजा प्रायः क्षत्रिय वंशीय होते थे, किन्तु ब्राह्मण आदि शुद्ध मातृ-पितृ वंशीय राजा भी होते रहे हैं। उनके लिए **'मुदियाणं - मुदितानाम्'** पद का प्रयोग है, जो षष्ठी विभक्ति का बहुवचनान्त रूप है।

'मुदियाणं' का संस्कृत रूप **'मुदितानाम्'** भी होता है, जिसका अर्थ राजमुद्राधारी या विशेष राजचिन्ह धारक है।

यहाँ राजा के सहचर, अनुचर, परिचर, मनोरंजन आदि विविध प्रयोजनों हेतु नियुक्त भृत्य, सेवक आदि का जो वर्णन आया है, उससे यह प्रतीत होता है कि प्राचीनकाल में राजाओं का ठाठ-बाट बहुत रोबीला तथा शान-शौकत युक्त होता था। राजाओं में बाह्य सज्जा, प्रदर्शन और मनमौजीपन कितना अधिक था, इस वर्णन से अनुमेय है।

विविध प्रकार की, विविध देशोत्पन्न दासियों का जो वर्णन आया है, उससे ऐसा लगता है कि अन्तःपुर में बहुत धूम-धाम रहती थी। विविध देशोत्पन्न, विविध भाषा-भाषिणी दासियों का एक साथ रहना अपने आप में एक अजूबा था। प्राचीनकाल में न केवल भारत में ही वरन् विभिन्न देशों में दास-प्रथा कितनी व्यापक थी, वह यहाँ वर्णित दासियों के नामों से ज्ञात होता है। उन दास-दासियों का जीवन कितना पराश्रित और दयनीय रहा होगा, यह कल्पनातीत है।

समय-समय की बात है, ऐहिक-भौतिक लालसामय जीवन को अनुरंजित करने के लिए व्यक्ति न जाने किस-किस प्रकार के कार्य करता है। स्वच्छन्द विहरणशील पशुओं तथा गगनविहारी पक्षियों को जीवनभर के लिए केवल अपने मनोरंजन हेतु बंदी बना लेता है। यह न्याय नहीं है वरन् वैभवमय जीवन की विडम्बना है।

एक बात अवश्य है, प्राचीनकाल के राजा अपने सहयोगियों, सहचारियों, परिचारकजनों, सेवकों, भृत्यों तथा विनोदार्थ बंदीकृत पशु-पक्षियों की और उनके पोषक-पालकजनों के लिए खान-पान की यथेष्ट व्यवस्था रखते थे। परतंत्रता का भारी कष्ट तो उनको था ही किन्तु दैहिक दृष्टि से उनकी सुविधाओं का पूरा ध्यान रखते थे। 'स्वातन्त्र्यं परमं सुखम्, पातन्त्र्यं महद्दुःखम्' के अनुसार बेचारे वे तो यावज्जीवन व्यथित ही रहते थे।

अस्तु - प्रसंगोपात रूप में उपर्युक्त विवेचन किया गया है। मूल विषय तो यहाँ यह है कि भिक्षु राजा द्वारा उपर्युक्त रूप में अपने कर्मचारियों, सेवकों, नौकरों, दास-दासियों तथा पशु-पक्षी पालकों आदि के लिए तैयार कराए गए, रखे गए भोज्य-पदार्थों में से भिक्षु द्वारा आहार लिया जाना दोषपूर्ण है। यहाँ दोषापत्ति का सबसे मुख्य कारण उन लोगों के भोजन में आशंकित अन्तराय उत्पन्न होना है।

भिक्षु द्वारा आहार तभी ग्राह्य होता है, जब कोई दाता अपने लिए तैयार किए गए भोजन का कुछ भाग त्याग एवं दान की भावना से प्रसन्नतापूर्वक उसे देता है। बाकी बचे हुए भोजन से अपना काम चलाता है। भिक्षु को देने से कम हुए भोजन की पुनः पकाकर पूर्ति नहीं करता है। भिक्षु के लिए वही भोजन एषणीय और दोष वर्जित होता है।

इन सूत्रों में जिनके लिए भोजन बनाए जाने की चर्चा हुई है, उनके साथ यह तथ्य घटित नहीं होता।

अंतराय के अतिरिक्त उक्त स्थानों में आहार लेने हेतु जाने में, आहार लेने में और भी अनेक दोष आशंकित हैं।

॥ इति निशीथ सूत्र का नवम उद्देशक समाप्त ॥



दसमो उद्देशओ - दशम उद्देशक

आचार्य आदि के प्रति अविनय-आशातनादि का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू भदंतं आगाढं वयइ वयंतं वा साइज्जइ ॥ १ ॥

जे भिक्खू भदंतं फरुसं वयइ वयंतं वा साइज्जइ ॥ २ ॥

जे भिक्खू भदंतं आगाढं फरुसं वयइ वयंतं वा साइज्जइ ॥ ३ ॥

जे भिक्खू भदंतं अण्णयरीए अच्चासायणाए अच्चासाएइ अच्चासाएंत्तं वा साइज्जइ ॥ ४ ॥

कठिन शब्दार्थ - भदंतं - आचार्य भगवन्त को, आगाढं - रोष युक्त - अति कठोर, फरुसं - परुष - रूक्ष, कर्कश या स्नेह रहित, अच्चासायणाए - अतिआशातना - अति असंतोषजनक, अप्रिय, उपेक्षापूर्ण व्यवहार, अच्चासाएइ - अत्यन्त आशादित करता है - क्लेश पहुँचाता है।

भावार्थ - १. जो भिक्षु आचार्य भगवन्त (आदि) को रोषयुक्त - अति कठोर वचन बोलता है या बोलते हुए का अनुमोदन करता है।

२. जो भिक्षु आचार्य भगवन्त (आदि) को परुष - स्नेह रहित, कर्कश वचन बोलता है या बोलते हुए का अनुमोदन करता है।

३. जो भिक्षु आचार्य भगवन्त (आदि) को रोष सहित, स्नेह रहित - कठोर-रूक्ष वचन बोलता है या बोलते हुए का अनुमोदन करता है।

४. जो भिक्षु आचार्य भगवन्त (आदि) को किसी प्रकार की अति आशातना से - अत्यधिक मनः प्रतिकूल, अवहेलना युक्त व्यवहार से क्लेश पहुँचाता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

ऐसा करने वाले भिक्षु को गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - मानव जीवन में वाणी का अत्यन्त महत्त्व है। वाणी का सरल, सौम्य, मधुर, श्रद्धाविनय युक्त एवं सत्यानुप्राणित होना उत्तम प्रशस्त मानवता का सूचक है।

वाणी कठोर, कर्कश, रूक्ष नहीं होनी चाहिए, क्योंकि जिसके प्रति वह बोली जाती है, उसके मन में उससे पीड़ा होती है। किसी को पीड़ा पहुँचाना वचनमूलक हिंसा है।

साधु मन-वचन-काय से किसी को पीड़ा नहीं पहुँचाता। सभी के साथ उसका प्रशान्त भाव युक्त, शालीन वचन युक्त व्यवहार होता है।

आचार्य, उपाध्याय आदि पूज्य पुरुषों के प्रति तो साधु को अत्यन्त श्रद्धा, आदर, विनय और स्नेह के साथ बोलना चाहिए।

इन सूत्रों में आचार्य, उपाध्याय आदि के प्रति साधु द्वारा रोष युक्त, कठोर, आध्यात्मिक स्नेह वर्जित, रूक्ष वाणी बोला जाना दोषयुक्त, प्रायश्चित्त योग्य बतलाया गया है।

ऐसी वाणी आशातना दोष के अन्तर्गत स्वीकार की गई है। आशातना का तात्पर्य अनुचित, विपरीत वचन तथा व्यवहार द्वारा मानसिक खेद या क्लेश उत्पन्न करना है। दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र में आशातना के तैंतीस भेदों का वर्णन किया गया है। साधु की वाणी उन सब दोषों से विवर्जित, विरहित हो, यह वांछित है।

नीतिशास्त्र में कहा गया है :-

‘वाप्येका समलंकरोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते’ अर्थात् जो वाणी उत्तम संस्कार युक्त होती है, वह बोलने वाले व्यक्ति को अलंकृत करती है। अलंकारों, आभरणों की तरह उसे विभूषित, सुशोभित करती है।

इन सूत्रों में से प्रथम सूत्र में ‘आगाढ’ पद का प्रयोग हुआ है। यह ‘आ’ उपसर्ग और ‘गाढ’ विशेषण के योग से बना है। ‘आ’ उपसर्ग समन्तात् या अत्यर्थता का बोधक है। ‘गाढ’ शब्द कठोर का वाचक है। ‘अत्यर्थ गाढम् - आगाढम्’ - जो अत्यन्त कठोरतायुक्त होता है, उसे आगाढ कहा जाता है, जिसके मूल में रोष होता है।

इन सूत्रों में से चतुर्थ सूत्र में ‘आशातना’ पद का प्रयोग हुआ है। इसकी शाब्दिक व्युत्पत्ति इस प्रकार है :-

“आचार्यदिकं प्रति विनयवैयावृत्यादिकरणेन यत् फलं प्राप्यते, तत् फलमाशातयति विनाशयति, इति - आशातना। यद्वा ज्ञानादिगुणाः, आ - सामस्त्येन शात्यन्ते - अपध्वस्यन्ते यथा, सा आशातना।”

अर्थात् आचार्य आदि के प्रति विनय, वैयावृत्य - सेवा-परिचर्या आदि करने से जो उत्तम फल प्राप्त होता है, उसे जो शातित करती है, विनष्ट करती है, उसे आशातना कहा जाता है अथवा ज्ञान आदि गुण जिसके द्वारा विनष्ट, अपध्वस्त होते हैं, वह आशातना के रूप में अभिहित है।

अनन्तकाय संयुक्त आहार विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू अणंतकायसंजुत्तं आहारं आहारेइ आहारेतं वा साइज्जइ ॥ ५ ॥

कठिन शब्दार्थ - अणंतकायसंजुत्तं - अनंतकाय संयुक्त - मिश्रित।

भावार्थ - ५. जो भिक्षु अनन्तकाय संयुक्त आहार करता है या आहार करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - भिक्षु अपने अहिंसा महाव्रत, विशुद्ध भिक्षाचर्या, निरवद्य आहार के कारण सचित्त अनंतकाय का जानबूझकर कभी भी सेवन नहीं करता, किन्तु किसी अचित्त शुद्ध आहार में सचित्त कन्दमूल आदि के टुकड़े मिले हुए हों और भिक्षु को उसकी जानकारी न हो तथा वह आहार ले लिया जाए, सेवन किया जाए तो उसे 'अनन्तकाय संयुक्त आहार' कहा जाता है।

एक बात यहाँ और ज्ञातव्य है, किसी अचित्त आहार में लीलन-फूलन आ जाए, यह न जानता हुआ भिक्षु उसे ले ले तथा सेवन करने तक जानकारी न रहे, वैसा आहार अनन्त संयुक्त आहार के अन्तर्गत परिगणित किया जाता है।

इस सूत्र में प्रतिपादित दोष इससे संबद्ध है।

आधाकर्म आहार आदि ग्रहण विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू आहाकम्मं भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ६ ॥

कठिन शब्दार्थ - आहाकम्मं - आधाकर्म - औद्देशिक आहार - साधुओं को उद्दिष्ट कर तैयार किया हुआ।

भावार्थ - ६. जो भिक्षु आधाकर्मी आहार का भोग - सेवन करता है या सेवन करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - इस सूत्र में प्रयुक्त 'आहाकम्मं - आधाकर्म' पद की शाब्दिक व्युत्पत्ति एवं विग्रह इस प्रकार है :-

“आधानम् - आधा, चेतसि साधून् आधाय - मनसि निधाय, तन्निमित्तं षड्जीवनिकायोपमर्दनादिना कर्म - भक्तादि पाक क्रिया क्रियते, तद्योगाद् भक्ताद्यपि आधाकर्म।”

अर्थात् आधा का अर्थ आधान है। चित्त में साधु को आधानित - उद्दिष्ट कर अथवा मन में निहित कर, छह जीवनिकाय के उपमर्दन या हिंसापूर्वक जो भोजन पकाने आदि की

क्रिया या कर्म किया जाता है, उसे आधाकर्म कहा जाता है। उस पाकक्रिया से निर्मित संबद्ध आहार भी आधाकर्म, आधाकर्मिक या आधाकर्मों के रूप में अभिहित हुआ है।

इस सूत्र में यद्यपि केवल आधाकर्मों आहार सेवन के ही प्रायश्चित्त का निरूपण हुआ है। यहाँ वस्त्र, पात्रादि उपधि तथा शय्या भी उपलक्षित हैं। वे भी यदि साधु को उद्दिष्ट कर तैयार किए गए हों तो उन्हें गृहीत करना, उनका सेवन करना भी आधाकर्मों आहार की तरह प्रायश्चित्त योग्य है।

वर्तमान-भविष्य विषयक निमित्त कथन प्रायश्चित्त

जे भिक्खू पडुप्पणं णिमित्तं वागरेइ वागरेतं वा साइज्जइ ॥ ७ ॥

जे भिक्खू अणागयं णिमित्तं वागरेइ वागरेतं वा साइज्जइ ॥ ८ ॥

कठिन शब्दार्थ - णिमित्तं - सुख-दुःख, लाभ-अलाभ, जीवन-मरण विषयक वृत्तान्त, **पडुप्पणं** - प्रत्युत्पन्न - वर्तमान कालीन, **वागरेइ** - व्याकृत - प्रकाशित करता है - कथन करता है, **अणागयं** - अनागत - भविष्यकालीन।

भावार्थ - ७. जो भिक्षु वर्तमानकाल में संभूयमान या घटित हो रही घटनाएँ व्यक्त करता है - प्रकाशित करता है या बतलाता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

८. जो भिक्षु भविष्यकाल में होने वाले वृत्तान्तों - घटनाओं का प्रकाशन, प्रकटीकरण या कथन करता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

ऐसा करने वाले भिक्षु को गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - ज्योतिष, हस्तरेखा, पादरेखा, ललाटेरेखा, देह के चिह्न विशेष, जन्मकुण्डली, प्रश्नज्योतिष, देव सिद्धि इत्यादि कारणों से वर्तमान, भविष्य के वृत्तान्त या घटनाओं का कथन यहाँ निमित्त शब्द द्वारा अभिहित हुआ है।

इन-इन विषयों पर प्राकृत, संस्कृत आदि में अनेक ग्रन्थ प्राचीनकाल में रचे गए। उनमें से कतिपय आज भी उपलब्ध हैं। निमित्त कथन के मुख्य छह विषय हैं :-

१. सुख, २. दुःख, ३. लाभ, ४. अलाभ, ५. जीवन तथा ६. मृत्यु। इनके कारण निमित्त छह प्रकार का कहा गया है।

भिक्षु के लिए निमित्त कथन सर्वथा निषिद्ध है। कीर्ति, प्रभाव, प्रतिष्ठा, उत्तम आहार, वस्त्रादि की प्राप्ति हेतु यदि कोई भिक्षु किसी के वर्तमान के वृत्तान्त बताए, अनागत के लिए भविष्यवाणी करे तो दोषपूर्ण है, अत एव प्रायश्चित्त योग्य है।

ऐसा करने के पीछे एषणा, आकांक्षा या आसक्ति का भाव विद्यमान रहता है, जो भिक्षु के संयमजीवितव्य के लिए हानिप्रद है। भिक्षु का जीवन-नितांत स्वात्मापेक्षी, परमात्मापेक्षी होता है। इनकी वह जरा भी परवाह नहीं करता। वह तो आत्मरमण में लीन रहता है।

खान-पान की स्वादिष्टता, प्रियता का उसके जीवन में कोई महत्त्व नहीं होता। वह तो अस्वाद और अलौलुप वृत्तिपूर्वक सात्त्विक, शुद्ध, सीधा-साधा आहार लेता है।

अत एव चमत्कार प्रदर्शन द्वारा किसी को प्रभावित और विमोहित करना उसके लिए सर्वथा परिवर्जनीय एवं परिहेय है।

एक बात विशेष रूप से ज्ञातव्य है, यहाँ जो गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का उल्लेख हुआ है, वह वर्तमानकाल विषयक एवं भविष्यकाल विषयक निमित्त कथन पर ही लागू होता है। अतीतकाल विषयक निमित्त कथन के विषय में त्रयोदश उद्देशक में लघुचौमासी प्रायश्चित्त का कथन किया गया है।

अपर-शिष्य-अपहरणादि विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू सेहं अवहरइ अवहरंतं वा साइज्जइ ॥ ९ ॥

जे भिक्खू सेहं विप्परिणामेइ विप्परिणामेत्तं वा साइज्जइ ॥ १० ॥

कठिन शब्दार्थ - सेहं - शैक्ष - शिष्य, अवहरइ - अपहृत करता है, विप्परिणामेइ-परिणामों को - भावों या बुद्धि को व्यामोहित करता है - विपरीत रूप में परिवर्तित करता है।

भावार्थ - ९. जो भिक्षु किसी अन्य भिक्षु के शिष्य को अपहृत करता है - भगा ले जाता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

१०. जो भिक्षु किसी अन्य भिक्षु के शिष्य के परिणामों को विकृत, व्यामोहित या विपरिणत करता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

ऐसा करने वाले भिक्षु को गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - इन सूत्रों में प्रयुक्त 'सेहं' - शैक्ष शब्द शिक्षा से बना है। जैन परंपरा के अनुरूप शिक्षा का अर्थ धार्मिक शिक्षा और श्रमण दीक्षा है। तदनुसार दीक्षार्थी तथा नवदीक्षित दोनों के लिए ही 'शैक्ष' शब्द का प्रयोग होता है। यहाँ दीक्षित के अर्थ में यह प्रयुक्त हुआ है।

भिक्षु में किसी भी प्रकार की लोलुपता नहीं होनी चाहिए। लोलुपता से आत्मा का अधःपतन होता है। और तो क्या, भिक्षु में शिष्य प्राप्त करने की भी उत्कण्ठा, अभिलाषा या लिप्सा कदापि न रहे।

कदाचन किसी भिक्षु में शिष्य प्राप्त करने की लोलुपता जागृत हो जाए, उसे लक्षित कर उपर्युक्त सूत्रद्वय के अन्तर्गत प्रथम सूत्र में किसी अन्य के शिष्य को आकर्षित कर, बहकाकर अपहृत करना दोषपूर्ण, प्रायश्चित्त योग्य बतलाया गया है।

किसी का अपहरण बड़ा ही निन्दनीय कार्य है। भिक्षु के लिए तो वह अत्यंत निंदा योग्य, घृणा योग्य है।

किसी अन्य भिक्षु के शिष्य के मन में विपरीत परिणाम उत्पन्न कर, उसके गुरु के होते, न होते अवगुण बताकर, निन्दित कर उसमें अपने गुरु के या गच्छनायक के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न करना तथा अपने प्रति श्रद्धा या आदर का भाव उत्पन्न करना, जिससे वह स्वयं अपने गुरु को छोड़कर उसके पास आ जाए - ये बड़े ही हीन एवं निम्न कोटि के कृत्य हैं।

भिक्षु कभी भी इस प्रकार के कार्य न करे, एतदर्थ उन कार्यों को प्रायश्चित्त के योग्य बताया है।

दिशा - अपहारादि का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू दिसं अवहरइ अवहरंतं वा साइज्जइ ॥ ११ ॥

जे भिक्खू दिसं विप्परिणामेइ विप्परिणामेत्तं वा साइज्जइ ॥ १२ ॥

कठिन शब्दार्थ - दिसं - दिशा।

भावार्थ - ११. जो भिक्षु किसी नवदीक्षित साधु की दिशा का अपहार करता है या अपहार करते हुए का अनुमोदन करता है।

१२. जो भिक्षु किसी नवदीक्षित साधु की दिशा को विपरिणत करता है - विपरीत परिणामयुक्त बनाता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

ऐसा करने वाले भिक्षु को गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - दिशा या दिश शब्द 'दिश' धातु से बना है। दिश धातु का अर्थ दिखलाने, संकेतित करने या उपदेशित (उपदिष्ट) करने के अर्थ में है।

निशीथ चूर्णि में दिशा का तात्पर्य स्पष्ट करते हुए लिखा है - 'दिशा - इति व्यपदेशः, प्रव्रजनकाले - उपस्थापनकाले वा, यां आचार्य उपाध्यायो वा व्यपदिश्यते सा तस्स दिशा। तस्यापहारी - तं परित्यज्य अन्य आचार्य - उपाध्यायं वा प्रतिपद्यते इत्यर्थः।'

अर्थात् दिशा का तात्पर्य व्यपदेश या निर्देश है। प्रव्रज्या तथा उपस्थापन (बड़ी दीक्षा)

के समय नवदीक्षित को जिस आचार्य, उपाध्याय का निर्देश किया जाता है अर्थात् यह स्थापित किया जाता है कि 'तुम्हारे ये गुरु हैं', वह उसकी दिशा कही जाती है। उन आचार्य या उपाध्याय के व्यपदेश या निर्देश को छुड़ाकर अन्य आचार्य, उपाध्याय का कथन स्वीकरण करवाना उस शिष्य की दिशा का अपहरण करना कहा जाता है।

साध्वी के प्रसंग में जिस प्रवर्तिनी का व्यपदेश या निर्देश किया गया हो, उसके स्थान पर अन्य प्रवर्तिनी का व्यपदेश या निर्देश करना दिशापहरण है।

इस प्रकार व्यपदेश का अपहरण करना प्रथम सूत्र में दोष पूर्ण बतलाया गया है, क्योंकि इससे साधु समाचारी का उल्लंघन होता है। ऐसा करने के गर्भ में शिष्य लोलुपता का भाव छिपा रहता है, जो परित्याज्य है।

दूसरे सूत्र में दिशापहरण के स्थान पर दिशा को विपरिणत, विपरीत परिणाम युक्त या विकृत करने का उल्लेख है। यह भी वैसा ही वर्जनीय कृत्य है, क्योंकि किसी के परिणामों को प्रतिकूल कथन द्वारा परिवर्तित करना भी एक प्रकार से यथार्थ मानसिकता का अपहरण है।

सूत्र ९-१० में पूर्वदीक्षित शिष्य के अपहरण या भाव परिवर्तन का प्रायश्चित्त है और सूत्र ११-१२ में दीक्षार्थी के अपहरण या भाव परिवर्तन का प्रायश्चित्त है।

अपहरण और विपरिणमन ये दोनों भिन्न-भिन्न क्रियाएं हैं, जो व्यक्ति से संबंध रखती है। अतः "सेहं" का अर्थ दीक्षित शिष्य समझा जाता है, वैसे ही "दिस" दिशा जिसकी हो वह दिशावान् अर्थात् दीक्षार्थी। अतः "दिस" से दीक्षार्थी का अपहरण और विपरिणमन समझ लेना चाहिए।

अपरिचित भिक्षु को साथ में रखने का प्रायश्चित्त

जे भिक्षु बहियावासिथं आएसं परं तिरायाओ अविफालेत्ता संवसावेइ संवसावेतं वा साइज्जइ ॥ १३ ॥

कठिन शब्दार्थ - बहियावासिथं - बहिर्वासिक - अन्य गच्छवासी, आएसं - आगत या आए हुए, अविफालेत्ता - अविस्फालित - पूछ-ताछ या जांच-पड़ताल किए बिना, संवसावेइ - संवासित - करता है - साथ में रखता है।

भावार्थ - १३. जो भिक्षु किसी अन्य गच्छ से आए हुए साधु को पृच्छा-गवेषणा या पूछ-ताछ किए बिना तीन दिन-रात से अधिक अपने साथ रखता है या रखते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - इस सूत्र में “बहियावासियं” पद का जो प्रयोग हुआ है, उसका विग्रह या व्युत्पत्ति इस प्रकार है -

“बहिः - स्वगच्छाद् बहिर्वस्तु शीलं यस्य स बहिर्वासी - अन्यगच्छवासी।” अपने गच्छ से बाहर अन्य गच्छ में जो रहता रहा हो, उसे यहाँ बहिर्वासी कहा गया है।

किसी भिक्षु के पास उससे भिन्न गच्छ का भिक्षु आए और उसके साथ प्रवास करना चाहे तो उसका परिचय भलीभाँति जानना आवश्यक है। उसके विषय में अच्छी तरह पूछताछ करनी चाहिए। वैसा किए बिना तीन दिन से अधिक अपने साथ रखना दोषयुक्त है।

यहाँ तीन दिन की जो समयावधि संकेतित है, उसका तात्पर्य यह है कि आए हुए भिक्षु के हाव-भाव, विचार, मनोवृत्ति आदि द्वारा उसके वास्तविक स्वरूप को जानने में कुछ तो समय लग ही जाता है, किन्तु तीन दिन की सीमा का तो कदापि उल्लंघन न हो।

अपरिचित भिक्षु को रखने में अनेक बाधाएं, खतरे आशंकित हैं। पंचतंत्र में कहा गया है :-

‘अज्ञातकुलशीलस्य वासो देयो न कस्यचित्’ जिसके कुल और शील का ज्ञान या परिचय न हो, वैसे किसी भी व्यक्ति को वास - आश्रय नहीं देना चाहिए, अपने साथ नहीं रखना चाहिए।

अनुपशान्त-कलह-कषाय युक्त भिक्षु के साथ आहारादि संभोग विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू साहिगरणं अविओसवियपाहुडं अकडपायच्छित्तं परं तिरायाओ विप्फालिय अविप्फालिय संभुजइ संभुजंतं वा साइज्जइ ॥ १४ ॥

कठिन शब्दार्थ - साहिगरणं - साधिकरण - कषाय भाव युक्त, अविओसवियपाहुडं- अव्युपशमित प्राभृत - कलहोपशमन रहित - कलह को उपशांत किए बिना, अकडपायच्छित्तं- अकृत प्रायश्चित्त - प्रायश्चित्त किए बिना, विप्फालिय - पूछ-ताछ करके, अविप्फालिय - पूछ-ताछ किए बिना, संभुजइ - संभोग करता है - एक साथ आहारादि करता है।

भावार्थ - १४. जिसने अपने द्वारा किए गए कषाय भाव जनित कलह-क्लेश को उपशांत नहीं किया हो, उसका प्रायश्चित्त स्वीकार नहीं किया हो, वैसे भिक्षु के साथ जो

भिक्षु पूछ-ताछ करके या पूछ-ताछ किए बिना तीन दिन से अधिक आहारादि करने का संबंध रखता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - इस सूत्र में प्रयुक्त 'साहिगटणं - साधिकरण' पद 'स' एवं 'अधिकरण' के योग से बना है। 'अधिकरणेन सहितं साधिकरणम्' अधिकरण सहित को साधिकरण कहा जाता है। 'अधिक्रियते - वशीक्रियते येन जनः तत् अधिकरणं' जिसके द्वारा व्यक्ति अधिकृत या स्ववशगत कर लिया जाता है, उसे अधिकरण कहा जाता है। जैन शास्त्रीय परंपरा में अधिकरण शब्द कषाय का वाचक माना गया है। कषाय पर यह व्युत्पत्ति घटित होती है। कषाय व्यक्ति को अपने आपे में नहीं रहने देता, कषायोत्पन्न व्यक्ति अपने स्वरूप को भूल जाता है। क्रोध, मान, माया तथा लोभ रूप कषाय उसे जिधर खींचते हैं, वह उधर ही चलता जाता है। कषाय विजय का शास्त्रों में बड़ा महत्त्व स्वीकार किया गया है।

'कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव' अर्थात् कषायों से मुक्त होना - छूटना ही आवागमन से मुक्त होना है।

इस सूत्र में जो भिक्षु कषाय - कलुषित भिक्षु के साथ, जब तक वह अपने कलह-क्लेश पूर्ण भाव को उपशांत न कर सका हो, तदर्थ प्रायश्चित्त न ले चुका हो, तीन दिन-रात से अधिक पूछ-ताछ किए बिना किसी भी प्रकार आहारादि विषयक संभोग - समव्यवहार रखना दोषपूर्ण बतलाया गया है। क्योंकि वैसा भिक्षु अपना आपा खोए हुए होता है, आत्मिक, मानसिक दृष्टि से स्वस्थ नहीं होता। उसके साथ आहारादि का व्यवहार रखने में अनेक असुविधाएं, कठिनाइयाँ या दोषापत्तियाँ आशंकित हैं। आत्मज्ञ, विज्ञ भिक्षु को ऐसी स्थिति को सदैव टाले रहना चाहिए।

तीन दिन-रात की सीमा इसलिए दी गई है कि संभव है, वह इस अवधि में आत्मस्थ बन सके, कलह - कषाय पूर्ण भाव से रहित हो सके। यदि ऐसा न हो तो फिर पूछने - न पूछने का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता।

विपरीत प्रायश्चित्त विधान विषयक दोष

जे भिक्खू उग्घाइयं अणुग्घाइयं वयइ वयंतं वा साइज्जइ ॥ १५ ॥

जे भिक्खू अणुग्घाइयं उग्घाइयं वयइ वयंतं वा साइज्जइ ॥ १६ ॥

जे भिक्खू उग्घाइयं अणुग्घाइयं देइ देंतं वा साइज्जइ ॥ १७ ॥

जे भिक्खू अणुग्घाइयं उग्घाइयं देइ देंतं वा साइज्जइ ॥ १८ ॥

भावार्थ - १५. जो भिक्षु उद्घातिक - लघु प्रायश्चित्त स्थान को अनुद्घातिक - गुरु प्रायश्चित्त स्थान कहता है या वैसा कहते हुए का अनुमोदन करता है।

१६. जो भिक्षु अनुद्घातिक - गुरु प्रायश्चित्त स्थान को उद्घातिक - लघु प्रायश्चित्त स्थान कहता है या वैसा कहते हुए का अनुमोदन करता है।

१७. जो भिक्षु उद्घातिक - लघु प्रायश्चित्त स्थान का अनुद्घातिक - गुरु प्रायश्चित्त स्थान देता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

१८. जो भिक्षु अनुद्घातिक - गुरु प्रायश्चित्त स्थान का उद्घातिक - लघु प्रायश्चित्त स्थान देता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

उपर्युक्त रूप में आचरण करने वाले भिक्षु को गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - इन चार सूत्रों के अन्तर्गत प्रथम दो सूत्रों में लघु प्रायश्चित्त स्थान को गुरु प्रायश्चित्त स्थान कहने तथा गुरु प्रायश्चित्त स्थान को लघु प्रायश्चित्त स्थान कहने का जो वर्णन आया है, वह विपरीत प्ररूपणा का द्योतक है। लघु को लघु ही कहा जाना चाहिए और गुरु को गुरु ही कहा जाना चाहिए। विपरीत कथन या निरूपण भ्रान्ति उत्पन्न करता है। अत एव वह दोष युक्त है।

अन्त के दो सूत्रों में लघु प्रायश्चित्त के स्थान पर गुरु प्रायश्चित्त देने एवं गुरु प्रायश्चित्त के स्थान पर लघु प्रायश्चित्त देने का जो कथन हुआ है, वह विपरीत मानसिकता, द्वेष भावना या राग भावना का सूचक है। भिक्षु के मन में ऐसी अनाश्रयणीय भावना कदापि नहीं आनी चाहिए। उसका सदैव यही प्रयत्न रहे कि उसकी मानसिकता रागात्मकता या द्वेषात्मकता से सर्वथा निवृत्त रहे, समता एवं शुचिता से ओत-प्रोत रहे।

प्रायश्चित्त योग्य भिक्षु के साथ आहारादि संभोग विषयक दोष

जे भिक्खू उग्घाइयं सोच्चा णच्चा संभुंजइ संभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ १९ ॥

जे भिक्खू उग्घाइयहेउं सोच्चा णच्चा संभुंजइ संभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ २० ॥

जे भिक्खू उग्घाइयसंकप्पं सोच्चा णच्चा संभुंजइ संभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ २१ ॥

जे भिक्खू उग्घाइयं उग्घाइयहेउं वा उग्घाइयसंकप्पं वा सोच्चा णच्चा संभुंजइ संभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ २२ ॥



जे भिक्खू अणुग्घाइयं सोच्चा णच्चा संभुंजइ संभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ २३ ॥

जे भिक्खू अणुग्घाइयहेउं सोच्चा णच्चा संभुंजइ संभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ २४ ॥

जे भिक्खू अणुग्घाइयसंकप्पं सोच्चा णच्चा संभुंजइ संभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ २५ ॥

जे भिक्खू अणुग्घाइयं अणुग्घाइयहेउं वा अणुग्घाइयसंकप्पं वा सोच्चा णच्चा संभुंजइ संभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ २६ ॥

जे भिक्खू उग्घाइयं वा अणुग्घाइयं वा सोच्चा णच्चा संभुंजइ संभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ २७ ॥

जे भिक्खू उग्घाइयहेउं वा अणुग्घाइयहेउं वा सोच्चा णच्चा संभुंजइ संभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ २८ ॥

जे भिक्खू उग्घाइयसंकप्पं वा अणुग्घाइयसंकप्पं वा सोच्चा णच्चा संभुंजइ संभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ २९ ॥

जे भिक्खू उग्घाइयं वा अणुग्घाइयं वा उग्घाइयहेउं वा अणुग्घाइयहेउं उग्घाइयसंकप्पं वा अणुग्घाइयसंकप्पं वा सोच्चा णच्चा संभुंजइ संभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ३० ॥

कठिन शब्दार्थ - सोच्चा - सुनकर, णच्चा - जानकर, संभुंजइ - आहारादि का संभोग - व्यवहार रखता है, हेउं - हेतु, संकप्पं - संकल्प।

भावार्थ - १९. जो भिक्षु किसी साधु के लघु प्रायश्चित्त आने के संबंध में सुनकर तथा जानकर भी उसके साथ आहारादि का व्यवहार रखता है अथवा रखते हुए का अनुमोदन करता है।

२०. जो भिक्षु किसी साधु के लघु प्रायश्चित्त के हेतु - कारण को सुनकर तथा जानकर भी उसके साथ आहारादि का व्यवहार रखता है अथवा रखते हुए का अनुमोदन करता है।

२१. जो भिक्षु किसी साधु से संबद्ध लघु प्रायश्चित्त विषयक संकल्प को सुनकर तथा जानकर भी उसके साथ आहारादि का व्यवहार रखता है अथवा रखते हुए का अनुमोदन करता है।

२२. जो भिक्षु किसी साधु के लघु प्रायश्चित्त, उसके हेतु या तत् संबद्ध संकल्प को

सुनकर तथा जानकर भी उसके साथ आहारादि का व्यवहार रखता है अथवा रखते हुए का अनुमोदन करता है।

२३. जो भिक्षु किसी साधु के गुरु प्रायश्चित्त आने के संबंध में सुनकर तथा जानकर भी उसके साथ आहारादि का व्यवहार रखता है अथवा रखते हुए का अनुमोदन करता है।

२४. जो भिक्षु किसी साधु के गुरु प्रायश्चित्त के हेतु - कारण को सुनकर तथा जानकर भी उसके साथ आहारादि का व्यवहार रखता है अथवा रखते हुए का अनुमोदन करता है।

२५. जो भिक्षु किसी साधु संबद्ध गुरु प्रायश्चित्त विषयक संकल्प को सुनकर तथा जानकर भी उसके साथ आहारादि का व्यवहार रखता है अथवा रखते हुए का अनुमोदन करता है।

२६. जो भिक्षु किसी साधु के गुरु प्रायश्चित्त उसके हेतु या तत्संबद्ध संकल्प को सुनकर तथा जानकर भी उसके साथ आहारादि का व्यवहार रखता है अथवा रखते हुए का अनुमोदन करता है।

२७. जो भिक्षु किसी साधु के लघु या गुरु प्रायश्चित्त आने के संबंध में सुनकर तथा जानकर भी उसके साथ आहारादि का व्यवहार रखता है अथवा रखते हुए का अनुमोदन करता है।

२८. जो भिक्षु किसी साधु के लघु या गुरु प्रायश्चित्त के हेतु - कारण को सुनकर तथा जानकर भी उसके साथ आहारादि का व्यवहार रखता है अथवा रखते हुए का अनुमोदन करता है।

२९. जो भिक्षु किसी साधु से संबद्ध लघु या गुरु प्रायश्चित्त विषयक संकल्प को सुनकर तथा जानकर भी उसके साथ आहारादि का व्यवहार रखता है अथवा रखते हुए का अनुमोदन करता है।

३०. जो भिक्षु किसी साधु के लघु या गुरु प्रायश्चित्त उनके हेतु या तत्संबद्ध संकल्प को सुनकर तथा जानकर भी उसके साथ आहारादि का व्यवहार रखता है अथवा रखते हुए का अनुमोदन करता है।

इस प्रकार उपर्युक्त अविहित कार्य करने वाले भिक्षु को गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - इन सूत्रों में प्रायश्चित्त स्थान, तत्संबंधी हेतु एवं तद्विषयक संकल्प - इन तीन स्थितियों का वर्णन हुआ है।

यहाँ प्रयुक्त हेतु तथा संकल्प जैन पारिभाषिक शब्द हैं। हेतु का तात्पर्य - 'प्रायश्चित्त के अनन्तर आलोचना करने तक' का है। संकल्प का अभिप्राय - 'प्रायश्चित्त में स्थापित करने का जो दिन निर्धारित किया गया हो, तब तक' का है।

प्रायश्चित्त शुद्धिकरण की शास्त्रानुमोदित प्रक्रिया है, जब वह कृत, आलोचित और संकल्पित - त्रिविध रूप में परिसंपन्न हो जाती है तब उस प्रायश्चित्त का पर्यवसान माना जाता है। वैसा होने तक उसके साथ किसी अन्य साधु को आहारादि विषयक संब्यवहार करना वर्जित है। यदि कोई वैसा करता है तो वह प्रायश्चित्त का भागी होता है। यही तथ्य इन सूत्रों में वर्णित हुआ है।

सूर्यादय पूर्व - सूर्यास्तानन्तर वृत्तिलंघन - प्रायश्चित्त

जे भिक्खू उग्गयवित्तीए अणत्थमियसंकप्पे संथडिए णिव्वित्तिगिच्छा-समावण्णेणं अप्पाणेणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहेत्ता संभुंजमाणे, अह पुण एवं जाणेज्जा "अणुग्गए सूरिए अत्थमिए वा" से जं च (आसयंसि) मुहे जं च पाणिंसि जं च पडिग्गहे तं विगिंचिय विसोहिय तं परिट्ठवेमाणे (धम्मं) णाइक्कमइ, तं अप्पणा भुंजमाणे अण्णेसिं वा दलमाणे राइभोयणपडिसेवणपत्ते। जो तं भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ३१ ॥

जे भिक्खू उग्गयवित्तीए अणत्थमियसंकप्पे संथडिए वित्तिगिच्छाए समावण्णेणं अप्पाणेणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहेत्ता संभुंजमाणे, अह पुण एवं जाणेज्जा "अणुग्गए सूरिए अत्थमिए वा" से जं च मुहे जं च पाणिंसि जं च पडिग्गहे तं विगिंचिय विसोहिय तं परिट्ठवेमाणे णाइक्कमइ, तं अप्पणा भुंजमाणे अण्णेसिं वा दलमाणे राइभोयणपडिसेवणपत्ते। जो तं भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ३२ ॥

जे भिक्खू उग्गयवित्तीए अणत्थमियसंकप्पे असंथडिए णिव्वित्तिगिच्छा-समावण्णेणं अप्पाणेणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहेत्ता संभुंजमाणे, अह पुण एवं जाणेज्जा "अणुग्गए सूरिए अत्थमिए वा" से जं च मुहे जं च पाणिंसि जं च पडिग्गहे तं विगिंचिय विसोहिय तं परिट्ठवेमाणे

णाइक्कमइ, तं अप्पणा भुंजमाणे अण्णेसिं वा दलमाणे राइभोयण पडिसेवणपत्ते। जो तं भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ३३ ॥

जे भिक्खू उग्गयवित्तीए अणत्थमियसंकप्पे असंथडिए वित्तिगिच्छा-समावण्णेणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहेत्ता संभुंजमाणे, अह पुण एवं जाणेज्जा "अणुग्गए सूरिए अत्थमिए वा" से जं च मुहे जं च पाणिंसि जं च पडिग्गहे तं विगिंचिय विसोहिय तं परिट्ठवेमाणे णाइक्कमइ (तं अप्पणा भुंजमाणे अण्णेसिं वा दलमाणे राइभोयणपडिसेवणपत्ते)। जो तं भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ३४ ॥

कठिन शब्दार्थ - उग्गयवित्तीए - उद्गतवृत्तिक - सूर्योदय के पश्चात् आहारादि लाने, सेवन करने के वर्तन - व्यवहार से युक्त, अणत्थमियमणसंकप्पे - अनस्तमितमनःसंकल्प - सूर्यास्त से पूर्व आहार - विहारादि के मानसिक संकल्प से युक्त, संथडिए - संस्तृत - धीरज, बल एवं सहनशीलता युक्त - समर्थ या सशक्त, णिवित्तिगिच्छासमावण्णेणं - निर्विचिकित्सासमापन्न - संदेह रहित, अप्पणेणं - आत्मपरिणामपूर्वक, अणुग्गए सूरिए - सूर्य अनुदित होने पर - सूर्य नहीं उगा है, यह जानकर, अत्थमिए - सूर्य अस्त हो गया है, यह जानकर, से - अथ - तदनन्तर, जं - जो, आसयंसि - आस्य में - मुख में, मुहे - मुँह में, पाणिंसि - हाथ में, पडिग्गहे - ग्रहण किया हुआ - लिया हुआ हो, तं - उसको, विगिंचिय - विविकृत कर - निकालकर या हटाकर, विसोहिय - विशेष रूप से शुद्ध - स्वच्छ करके, परिट्ठवेमाणे - परठता हुआ, णाइक्कमइ - जिनाज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता, अप्पणा - स्वयं - खुद, भुंजमाणे - भोजन करता हुआ - खाता हुआ, अण्णेसिं-दूसरों को, दलमाणे - देता हुआ, राइभोयणपडिसेवणपत्ते - रात्रिभोजन प्रतिसेवन प्राप्त - सेवन करता हुआ, वित्तिगिच्छाए - विचिकित्सा - संदेह, असंथडिए - असंस्तृत - धृति, बल आदि रहित - असमर्थ या अशक्त।

भावार्थ - ३३. सूर्योदय के पश्चात् एवं सूर्यास्त से पूर्व आहारादि दैनंदिन प्रवृत्तियाँ करने के संकल्प से युक्त और तदनुकूल व्यवहरणशील जो समर्थ-सशक्त भिक्षु संदेह रहित आत्मपरिणामों से युक्त होता हुआ, अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप आहार ग्रहण करता हुआ, सेवन करता हुआ - खाता हुआ यदि ऐसा जाने कि "सूर्य उदित नहीं हुआ है या सूर्य अस्तमित हो गया है - छिप गया है" तो वह मुँह में, हाथ में एवं पात्र में जो आहार हो,

उसको वहाँ से निकालकर - हटाकर परठता हुआ, मुँह, हाथ तथा पात्र को स्वच्छ करता हुआ धर्म का - जिनाज्ञा का उल्लंघन नहीं करता। जो स्वयं उसको खाता है, औरों को खाने हेतु देता है, वह रात्रिभोजन का प्रतिसेवी होता है। इस प्रकार जो उसका भोग - सेवन करता है अथवा सेवन करते हुए का अनुमोदन करता है।

३२. सूर्योदय के पश्चात् एवं सूर्यास्त से पूर्व आहारादि दैनंदिन प्रवृत्तियाँ करने के संकल्प से युक्त और तदनुकूल व्यवहरणशील जो समर्थ - सशक्त भिक्षु संदेह सहित आत्मपरिणामों से युक्त होता हुआ, अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप आहार ग्रहण करता हुआ, सेवन करता हुआ - खाता हुआ यदि ऐसा जाने कि "सूर्य उदित नहीं हुआ है या सूर्य अस्तमित हो गया है - छिप गया है" तो वह मुँह में, हाथ में तथा पात्र में जो आहार हो उसको वहाँ से निकालकर - हटाकर, परठता हुआ, मुँह, हाथ एवं पात्र को स्वच्छ करता हुआ जिनाज्ञा का अतिक्रमण - उल्लंघन नहीं करता। जो स्वयं उसको खाता है, औरों को खाने हेतु देता है, वह रात्रिभोजन का प्रतिसेवी होता है। इस प्रकार जो उसका भोग-सेवन करता है अथवा सेवन करते हुए का अनुमोदन करता है।

३३. सूर्योदय के पश्चात् और सूर्यास्त से पूर्व आहारादि दैनंदिन प्रवृत्तियाँ करने के संकल्प से युक्त एवं तदनुकूल व्यवहरणशील जो असमर्थ - अशक्त भिक्षु संदेह रहित आत्मपरिणामों से युक्त होता हुआ, अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप आहार ग्रहण करता हुआ, सेवन करता हुआ - खाता हुआ यदि ऐसा जाने कि "सूर्य उदित नहीं हुआ है या सूर्य अस्तमित हो गया है - छिप गया है" तो वह मुँह में, हाथ में तथा पात्र में जो आहार हो, उसको वहाँ से निकाल कर - हटाकर परठता हुआ, मुँह, हाथ और पात्र को स्वच्छ करता हुआ जिनाज्ञा का अतिक्रमण - उल्लंघन नहीं करता। जो स्वयं उसको खाता है, औरों को खाने हेतु देता है, वह रात्रिभोजन का प्रतिसेवी होता है। इस प्रकार जो उसका भोग - सेवन करता है अथवा सेवन करते हुए का अनुमोदन करता है।

३४. सूर्योदय के पश्चात् तथा सूर्यास्त से पूर्व आहारादि दैनंदिन प्रवृत्तियाँ करने के संकल्प से युक्त एवं तदनुकूल व्यवहरणशील जो असमर्थ - अशक्त भिक्षु संदेह सहित आत्मपरिणामों से युक्त होता हुआ, अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप आहार ग्रहण करता हुआ, सेवन करता हुआ - खाता हुआ यदि ऐसा जाने कि "सूर्य उदित नहीं हुआ है या सूर्य अस्तमित हो गया है - छिप गया है" तो वह मुँह में, हाथ में और पात्र में जो आहार हो, उसको वहाँ से निकालकर - हटाकर परठता हुआ, मुँह, हाथ तथा पात्र को स्वच्छ करता

हुआ जिनाज्ञा का अतिक्रमण - उल्लंघन नहीं करता। (जो स्वयं उसको खाता है, औरों को खाने हेतु देता है, वह रात्रिभोजन का प्रतिसेवी होता है) इस प्रकार जो उसका भोग-सेवन करता है अथवा सेवन करते हुए का अनुमोदन करता है।

उपर्युक्त रूप में आचरण करने वाले भिक्षु को गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - आर्हत सिद्धान्त प्रतिपादित भिक्षुचर्या के अनुसार भिक्षु के लिए सूर्योदय के पश्चात् और सूर्यास्त से पूर्व ही अपने आहारादि समस्त दैनिक कृत्य पूर्ण कर लेना आवश्यक है। सूर्योदय से पूर्व एवं सूर्यास्त के बाद ऐसा करना निषिद्ध है, दोषयुक्त है।

उपर्युक्त सूत्रों में संस्तृत, असंस्तृत, निर्विचिकित्स तथा सविचिकित्स भिक्षु के रूप में चतुर्भंगात्मक वर्णन है।

‘संस्तारेण - धृति-बलादि सामर्थ्येन युक्तः - संस्तृतः।’ दैहिक शक्ति, प्रतिकूल परिस्थितियों को सहने की क्षमता, स्वस्थता आदि से युक्त भिक्षु को यहाँ संस्तृत कहा गया है, जो उसकी सशक्तता का द्योतक है।

लम्बी विहार यात्रा की परिश्रान्ति, रोगादि, तपस्यादि जनित दुर्बलता से युक्त भिक्षु को यहाँ असंस्तृत कहा गया है।

समर्थ भिक्षु सूर्योदय और सूर्यास्त के संबंध में प्रायः संदेहशील नहीं होता, क्योंकि उसे आहारादि लेने की शीघ्रता नहीं होती, वह सहिष्णु होता है। असमर्थ में उसकी अपेक्षा आहारादि लेने की शीघ्रता होती है, प्रतीक्षा करने का धैर्य कम होता है।

दोनों ही प्रकार के भिक्षुओं के लिए यदि असंदिग्धावस्था या संदिग्धावस्था में आहार लेने का प्रसंग बन गया हो और वे आहार करने लगे हो, तब यदि उनके ध्यान में आए कि सूरज नहीं उगा है अथवा सूरज छिप गया है तो वे तत्काल मुँह और हाथ में लिया हुआ आहार का कौर तथा पात्र में स्थित आहार को मुँह से, हाथ से एवं पात्र से निकालकर परठ दें और मुँह, हाथ तथा पात्र को भलीभाँति स्वच्छ कर लें तो उन्हें कोई दोष नहीं लगता। मन में वैसी प्रतीति होते हुए भी यदि वे, उस आहार का सेवन करते हों या औरों को तदर्थ आहार देते हों तो उन्हें रात्रिभोजन सेवन का दोष लगता है, क्योंकि सूरज के छिपने से लेकर उसके उगने तक का काल रात्रि माना जाता है।

रात्रिभोजन का जैन धर्म में सर्वथा निषेध है। पाँच महाव्रतों के विवेचन के अनन्तर उसे पृथक्तया विशेष रूप से व्याख्यात किया गया है। वह एक अपेक्षा से छोटे महाव्रत का रूप ले लेता है।

वैदिक परंपरा में भी रात्रिभोजन के वर्जन के संदर्भ में एक उक्ति बहुत प्रसिद्ध है, जो निम्नांकित है :-

“अस्तंगते दिवानाथे, आपो रुधिरमुच्यते।

भोजनं मांसवत् प्रोक्तं, मार्कण्डेय-महर्षिणा ॥”

अर्थात् सूर्य के अस्त हो जाने पर जल आदि पान रक्तपान है तथा खाद्य पदार्थ सेवन मांस के तुल्य है, मार्कण्डेय महर्षि ने ऐसा कहा है।

इन सूत्रों में प्राकृत निर्विचिकित्सा समापन शब्द का जो प्रयोग हुआ है, उसका विग्रह इस प्रकार है - विचिकित्सा शब्द संशय या संदेह का वाचक है। ‘निर्’ उपसर्ग तथा ‘विचिकित्सा’ शब्द के योग से निर्विचिकित्सा बनता है। ‘निर्गता विचिकित्सा यत्र सा निर्विचिकित्सा’ इस विग्रह के अनुसार संदेह रहित या संशय वर्जित भाव को निर्विचिकित्सा कहा जाता है। ‘निर्विचिकित्सया सम्यक् आपनः समायुक्तः, इति निर्विचिकित्सा समापन्नः’ जो निर्विचिकित्सा या संदेहशून्यता से युक्त होता है, संदेह रहित होता है, उसे निर्विचिकित्सा समापन्न कहा जाता है। ‘विचिकित्सा-समापन्न’ का आशय - ‘स्वयं संदेहशील होने पर भी प्रतिष्ठित पुरुषों के द्वारा कहने पर संदेह रहित बना हुआ’ इस प्रकार समझना चाहिये।

आए हुए अन्न जल सहित उद्गार को वापस निगलने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू राओ वा वियाले वा सपाणं सभोयणं उग्गालं आगच्छेज्जा तं विगिंचमाणे वा विसोहेमाणे वा णाइक्कमइ तं उग्गिलित्ता पच्चोगिलमाणे राइभोयणपडिसेवणपत्ते, जो तं पच्चोगिलइ पच्चोगिलितं वा साइज्जइ ॥ ३५ ॥

कठिन शब्दार्थ - सपाणं सभोयणं - आहार समय खाए पीए गए अन्न जल सहित, उग्गालं - उद्गार - खाए-पीए आहार का पुनः मुँह में आना, आगच्छेज्जा - आए, विगिंचमाणे - बाहर निकालता हुआ, विसोहेमाणे - विशुद्ध - स्वच्छ करता हुआ, उग्गिलित्ता- आए हुए उद्गार को, पच्चोगिलमाणे - वापस निगलता हुआ - गिटता हुआ।

भावार्थ - ३५. जो भिक्षु रात में या संध्याकाल में मुँह में आए हुए अन्न-जल सहित उद्गार को मुँह से बाहर निकाल देता है (यतनापूर्वक अचित्त स्थान पर थूक देता है) फिर अपने मुँह को भलीभाँति स्वच्छ कर लेता है वह जिनाज्ञा का अतिक्रमण - उल्लंघन नहीं

मुँह में आए हुए उद्गार को जो वापस निगल जाता है, गिट लेता है, वह रात्रिभोजन का प्रतिसेवी होता है। जो उसे वापस निगल लेता है अथवा निगलते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - जैन धर्म सम्मत जीवनवृत्ति या चर्या में सर्वत्र बहुत ही सूक्ष्मता परिलक्षित होती है। यह सूत्र उसी का प्रमाण है।

जैन भिक्षु जैसा पहले व्याख्यात किया गया है, रात्रिभोजन का सर्वथा त्यागी होता है। इस नियम का वह प्राणपण से पालन करता है। प्राण भी चले जाए तो भी वह रात में आहार-पानी नहीं लेता। इसी का एक सूक्ष्म रूप इस सूत्र में परिदर्शित है।

अधिक भोजन किए जाने पर या भोजन का पाचन न होने पर मुँह में अन्न-जल सहित उद्गार आ सकता है। वहाँ दो स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं। एक तो उसे यथाविधि बाहर थूक देने की, दूसरी वापस निगल जाने की।

यदि दिन में उद्गार आए तो दोनों ही स्थितियों में कोई दोष नहीं लगता। क्योंकि दिवा भोजन का भिक्षु को सामान्यतः त्याग या प्रत्याख्यान नहीं होता।

रात्रि में या संध्या के समय यदि उद्गार आए तो उसे बाहर निकाल देना आवश्यक है, उचित है। यदि भिक्षु उसे वापस निगल जाता है तो उसे रात्रिभोजन का दोष लगता है। क्योंकि उसे निगल जाना एक प्रकार से रात्रिभोजन का ही प्रतिसेवन है।

आमाशय से बाहर मुख में आए हुए अन्न-जल के कणों को वापस निगलना चाहे अति सूक्ष्म ही सही किन्तु है तो एक प्रकार से अन्न जल का सेवन ही। अतः उसे वापस कदापि नहीं निगलना चाहिए, यथाविधि यतनापूर्वक अचित्त स्थान में थूकना चाहिए, परिष्ठापित करना चाहिए।

यहाँ इतना और ज्ञातव्य है, यदि उद्गार कण्ठ या गले तक आकर वापस आमाशय में चला जाए तो वहाँ भिक्षु को कोई दोष नहीं लगता, क्योंकि वैसा होने में उसका कोई प्रयत्न नहीं है, सहज रूप में वैसा होता है।

इस सूत्र से यह भी प्रतिबोध्य है कि भिक्षु को आहार उतनी ही मात्रा में करना चाहिए, जितना उसका आमाशय सहजतया आसानी से पचा सके।

निशीथ भाष्य एवं चूर्ण में इस संबंध में बड़ा ही सुन्दर उल्लेख हुआ है। वहा कहा गया है - जैसे गर्म तवे पर पानी की बूंद डालते ही तत्काल वह अस्तित्व हीन हो जाती है उसी प्रकार साधु उतना ही भोजन करे जो जठराग्नि द्वारा यथासमय नैसर्गिक रूप में पचाया जा सके।

ग्लान के वैयावृत्य में प्रमाद का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू गिलाणं सोच्चा ण गवेसइ ण गवेसंतं वा साइज्जइ ॥ ३६ ॥

जे भिक्खू गिलाणं सोच्चा उम्मगं वा पडिपहं वा गच्छइ गच्छंतं वा साइज्जइ ॥ ३७ ॥

जे भिक्खू गिलाणवेयावच्चे अब्भुट्टियस्स सएण लाभेण असंथरमाणस्स जो तस्स ण पडितप्पइ ण पडितप्पंतं वा साइज्जइ ॥ ३८ ॥

जे भिक्खू गिलाणवेयावच्चे अब्भुट्टिए गिलाणपाउग्गे दव्वजाए अलब्भमाणे जो तं ण पडियाइक्खइ ण पडियाइक्खंतं वा साइज्जइ ॥ ३९ ॥

कठिन शब्दार्थ - गिलाणं - ग्लान - रोगांतक पीड़ित, उम्मगं - उन्मार्ग - दूसरा रास्ता, पडिपहं - प्रतिपथ - विपरीत पथ, अब्भुट्टियस्स - अभ्युत्थित - उपस्थित, सएण - अपने द्वारा किए गए, लाभेण - प्रयत्न से लाभ, असंथरमाणस्स - यथेष्ट या पर्याप्त न होने पर, तस्स - उसके प्रति, ण पडितप्पइ - परिताप - खेद प्रकट नहीं करता, गिलाणपाउग्गे - ग्लान के लिए उपयोग करने योग्य, दव्वजाए - द्रव्यजात - अनुकूल षडार्थ या वस्तुएँ, अलब्भमाणे - नहीं प्राप्त करता हुआ, पडियाइक्खइ - प्रत्याख्यात करता है - आकर कहता है।

भावार्थ - ३६. जो भिक्षु ग्लान साधु के संबंध में सुनकर उसकी गवेषणा - खोज नहीं करता या पता नहीं लगाता अथवा गवेषणा न करने वाले का अनुमोदन करता है।

३७. जो भिक्षु ग्लान साधु के विषय में सुनकर, जहाँ वह होता है, उससे भिन्न रास्ते से निकल जाता है या जिधर से आ रहा हो, वापस उधर ही लौट जाता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

३८. जो भिक्षु ग्लान साधु की सेवा में अवस्थित होता हुआ अपने द्वारा किए गए प्रयत्न से उसके रोगादि में यथेष्ट, पर्याप्त लाभ न होने पर उसके समक्ष परिताप या खेद प्रकट नहीं करता अथवा खेद प्रकट नहीं करने वाले का अनुमोदन करता है।

३९. जो भिक्षु ग्लान साधु की अवस्थित हो, यदि उसे ग्लान के लिए उपयोग में लेने

योग्य पदार्थ प्राप्त न हों तो वह यदि ग्लान के पास वैसा आख्यात न कहे - न कहे अथवा वैसा न कहते हुए का अनुमोदन करता है।

उपर्युक्त रूप में आचरण करने वाले भिक्षु को गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - भिक्षु जीवन में पारस्परिक वैयावृत्य या सेवा का अत्यन्त महत्त्व है। वह तन-मन से भलीभाँति की जाए यह अपेक्षित है, क्योंकि भिक्षु संसार त्यागी होते हैं। न कोई उनके पारिवारिक होते हैं, न बन्धु-बान्धव ही। उनकी जीवन यात्रा आत्मनिर्भरता तथा पारस्परिक सहयोगिता पर अवस्थित होती है। रोग-आतंक आदि से पीड़ित भिक्षु की सेवा में जरा भी असावधानी, अरुचि और ग्लानि न हो, इस दृष्टि से इन सूत्रों में आया हुआ वर्णन अतीव प्रेरणाप्रद है।

ज्यों ही कोई भिक्षु किसी साधु के रोगादि कष्ट के संबंध में सुने, तत्काल उसे उसका पता लगाना चाहिए और उसके पास अविलम्ब पहुँचना चाहिए, उसकी यथावश्यक सेवा में यथावत् जुट जाना चाहिए। धार्मिक दृष्टि से तो इसका महत्त्व है ही। निर्जरा के बारह भेदों में वैयावृत्य नववाँ भेद है। वैयावृत्य से कर्मों की निर्जरा होती है, आत्मा निर्मल, उज्ज्वल बनती है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी वैयावृत्य या सेवा का अत्यन्त महत्त्व है, क्योंकि क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। जब किसी एक व्यक्ति में सेवा का अनन्य भाव होता है तो दूसरे में भी वैसा ही उत्पन्न होता है। इससे समग्र समुदाय में, संघ में सेवामय वातावरण निष्पन्न होता है, जिसके परिणामस्वरूप सभी परस्पर आश्वस्त होते हैं, भविष्य में आशंकित, रोगादि से चिंतित नहीं होते। वे जानते हैं कि समय पर उनकी यथायोग्य सेवा-व्यवस्था बनती रहेगी।

सेवा केवल खाने-पीने के पदार्थ, पथ्य, औषधि आदि द्वारा ही पूर्ण नहीं होती, ग्लान या रुग्ण के मन में शान्ति उपजाना भी आवश्यक होता है। यदि की जा रही सेवा, चिकित्सा आदि से ग्लान को यथेष्ट लाभ न हो तो वैयावृत्यकारी को ग्लान के समक्ष आकर खेद प्रकट करना चाहिए कि क्या किया जाए, मेरे बहुत प्रयत्न करने पर भी आपको पर्याप्त लाभ नहीं हो रहा है, जिसका मुझे दुःख है।

ग्लान के लिए अपेक्षित, आवश्यक औषधि, पथ्य आदि पदार्थ लाने का प्रयत्न करने पर भी यदि वे न मिल पाए तो वैयावृत्यकारी उसके पास जाकर यह प्रकट करे कि मैंने बहुत चेष्टा की, किन्तु वांछित वस्तुएं प्राप्त नहीं हो सकी, कृपया क्षमा करे।

इस प्रकार के सौहार्दमय एवं सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार से ग्लान साधु को शान्ति प्राप्त होती है।

उपर्युक्त सूत्रों में इन स्थितियों के विपरीत आचरण करने वाले भिक्षु को प्रायश्चित्त योग्य बतलाया है, क्योंकि उस प्रकार के उपेक्षापूर्ण व्यवहार से साधु संघ में पारस्परिक वैयावृत्य, सेवा की भावना एवं मानसिकता क्षीण होती है।

योगीराज भर्तृहरि ने भी सेवा का बड़ा महत्त्व बतलाया है - 'सेवाधर्मो परमगहनो योगिनामप्यगम्यः' सेवा रूप धर्म अत्यन्त गहन, कठिन एवं महान है, योगियों के लिए भी उसे साध पाना अगम्य है।

इसीलिए महापुरुषों का वचन है कि वे धन्य हैं जो वैयावृत्य या सेवा में तन्मय रहते हुए आनन्दानुभूति करते हैं।

वर्षाकाल में विहार करने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू पढमपाउसम्मि गामाणुगामं दूड्ज्जइ दूड्ज्जंतं वा साइज्जइ ॥ ४० ॥

जे भिक्खू वासावासं पज्जोसवियंसि गामाणुगामं दूड्ज्जइ दूड्ज्जंतं वा साइज्जइ ॥४१ ॥

कठिन शब्दार्थ - पढमपाउसम्मि - प्रथम प्रावृट्काल में - वर्षावास के प्रथम काल चातुर्मास के ५० दिनों में, वासावासं - वर्षावास में, पज्जोसवियंसि - पर्युषण संवत्सरी के अनन्तर।

भावार्थ - ४०. जो भिक्षु प्रथम प्रावृट्काल में - पर्युषण से पूर्ववर्ती चातुर्मास्यकाल में ग्रामानुग्राम विहार करता है या विहार करते हुए का अनुमोदन करता है।

४१. जो भिक्षु वर्षावास में पर्युषण के अनन्तर ग्रामानुग्राम विहार करता है या विहार करते हुए का अनुमोदन करता है।

ऐसा करने वाले भिक्षु को गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - प्रावृट्काल या वर्षाकाल चार मास का होता है। पर्युषण से पहले का समय पूर्वकाल तथा पर्युषण के बाद का समय पश्चात्काल या उत्तरकाल कहा जाता है।

वर्षावास में भिक्षु को एक ही स्थान पर रहना कल्पता है। वह उसमें विहार नहीं करता। चातुर्मास के अनन्तर मासकल्प के नियमानुसार वह विहरणशील होता है।

इन सूत्रों के अनुसार वर्षाकाल के पूर्व भाग और उत्तरभाग दोनों में ही विहार करना निषिद्ध है, प्रायश्चित्त योग्य है।

वर्षावास के चार मास में एक ही स्थान पर प्रवास करने की परंपरा सदा से प्रचलित है। बिना किसी अति अनिवार्य हेतु के वह अखण्डनीय है। भिक्षु इस परंपरा का अनुसरण करते ही हैं। इसमें कोई विच्छेद न आ पाए इस दृष्टि से जागरूक करने हेतु इन सूत्रों में वर्षावास के अन्तर्गत विहार करना प्रायश्चित्त योग्य बतलाया गया है।

पर्युषण विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू अपज्जोसवणाए पज्जोसवेइ पज्जोसवेतं वा साइज्जइ ॥ ४२ ॥

जे भिक्खू पज्जोसवणाए ण पज्जोसवेइ ण पज्जोसवेतं वा साइज्जइ ॥ ४३ ॥

कठिन शब्दार्थ - अपज्जोसवणाए - अपर्युषण काल में, पज्जोसवेइ - पर्युषण करता है।

भावार्थ - ४२. जो भिक्षु अपर्युषणकाल में - पर्युषण के लिए अनिर्धारित, अनियत काल में पर्युषण करता है या पर्युषण करते हुए का अनुमोदन करता है।

४३. जो भिक्षु पर्युषण के नियत काल में पर्युषण नहीं करता या पर्युषण न करते हुए का अनुमोदन करता है।

ऐसा करने वाले भिक्षु को गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - पहले व्याख्यात हो चुका है कि प्रावृत्काल एवं वर्षावास में भिक्षु श्रावण से लेकर कार्तिक पर्यन्त चार महीने एक ही स्थान में प्रवास करता है। तत्पश्चात् मासकल्प के नियमानुसार उसका विहारण होता है।

चातुर्मासिक प्रतिक्रमण के अनन्तर एक मास और बीस दिन (पच्चासवें दिन) पर्युषणकाल-सांवत्सरिक पर्व नियत है।

निशीथ चूर्णि की गाथा सं.-३१५२-५३ की व्याख्या में एक मास बीस दिन का इस संदर्भ में उल्लेख हुआ है।

इसी तथ्य का समवायांग सूत्र के ७०वें समवाय में भी कथन किया गया है। समवायांग सूत्र की टीका में भी - संवत्सरी के लिए - 'भाद्रपद मास की शुक्ल पक्ष की पंचमी' को करने का वर्णन आया है।

निशीथ चूर्णि की गाथा सं. ३१४६ एवं ३१५३ में भाद्रपद मास के शुक्लपक्ष की पंचमी का पर्युषणकाल - सांवत्सरिक दिवस के रूप में प्रतिपादन हुआ है।

उपर्युक्त आगमों आदि के प्रमाणों से संवत्सरी (पर्युषण) के लिए-आगमोक्त निश्चित दिवस तो 'भाद्रपद सुदी पञ्चमी' का ही था और है। उससे भिन्न किसी भी दिन पर्युषण करने पर प्रायश्चित्त आता है। यही इन दो सूत्रों का आशय समझना चाहिए।

आगमों में अनेक स्थलों पर अधिक मास को 'काल चूला' समझ कर नगण्य (गौण) किया गया है। अर्थात् - वह अधिक मास (प्रथम माह का शुक्लपक्ष व द्वितीय माह का कृष्ण पक्ष अर्थात् अमावस्या से अमावस्या तक) धार्मिक कार्यों एवं सांसारिक मांगलिक कार्यों में उपयोगी नहीं होता है। आगमों में सर्वत्र इसी पद्धति का अनुसरण किया गया है। ऐसा करने से लौकिक (पञ्चांगों) एवं लोकोत्तर (आगमिक) गणित दोनों का पूर्ण रूप से सामंजस्य हो जाने से किसी भी प्रकार के विरोध को अवकाश ही नहीं रहता है।

लौकिक पञ्चांगों में अधिक मास को 'मल मास, पुटुषोत्तम मास' आदि कह कर उसे मंगल कार्यों में अनुपयोगी बताया है।

अतः आगमकारों के वर्णन की शैली को देखते हुए आगमकारों के द्वारा महिनों आदि को गिनने की पद्धति सुस्पष्ट हो जाती है। 'संवत्सरी' पर्व सम्बन्धी आगमिक सभी वर्णनों का पूर्वापर समायोजन होने पर - संवत्सरी (पर्युषण) भाद्रपद सुदी पञ्चमी को ही करने का आगमकारों को मान्य है - यह सुनिश्चित हो जाता है। अनाग्रह बुद्धि से तटस्थता पूर्वक इस प्रकार आगमिक विधानों का पर्यालोचन करने पर यह बात अच्छी तरह से समझ में आ सकती है।

संघ से प्रकाशित 'समवायाङ्ग-सूत्र के ७० वें समवाय के विवेचन में एवं समर्थ समाधान भाग २ (प्रथमावृत्ति) के पृष्ठ ३५ वें से ४६ वें तक में - संवत्सरी सम्बन्धी विस्तृत विवेचन किया गया है।' जिज्ञासुओं को वे स्थल द्रष्टव्य है।

पर्युषणकाल में लोच न करने एवं उपवास न रखने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू पज्जोसवणाए गोलोमाइं पि वा(बा)लाइं उवाइणावेइ उवाइणावेतं वा साइज्जइ ॥ ४४ ॥

जे भिक्खू पज्जोसवणाए इत्तिरियं पि आहारं आहारेइ आहारेंतं वा साइज्जइ ॥ ४५ ॥

कठिन शब्दार्थ - गोलोमाइं - गाय के रोम, वा(बा)लाइं - बाल - केश, उवाइणावेइ-धारण करता है - रखता है, इत्तिरियं - इत्वरिक - अल्प या थोड़ा, पि - अपि - भी।

भावार्थ - ४४. जो भिक्षु पर्युषण के दिन गाय के रोमों जितने भी बाल रखता है या रखते हुए का अनुमोदन करता है।

४५. जो भिक्षु पर्युषण के दिन थोड़ा भी - जरा भी आहार करता है या आहार करते हुए का अनुमोदन करता है।

ऐसा करने वाले भिक्षु को गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - जैन भिक्षु के जीवन के सभी क्रिया कलाप संयमानुप्राणित और तपोवर्धक हों, यह वांछित है। अपनी कठोर चर्या के अन्तर्गत जैन भिक्षु अपने मस्तक आदि के केशों को बढ़ जाने पर यथासमय स्वयं अपने हाथों से उत्पादित करते हैं या अपने किसी सहवर्ती भिक्षु से वैसा करवाते हैं। बालों को काटने या हटाने में उस्तरे आदि किसी उपकरण का वे उपयोग नहीं करते।

बालों को उखाड़ना बहुत पीड़ाजनक होता है। भिक्षु उस पीड़ा को आत्मपरिणामों की दृढ़ता, सहिष्णुता के साथ सुस्थिर भावपूर्वक सहन करता है, जो तपश्चरण का एक रूप है, कर्म निर्जरण का हेतु है।

पर्युषणकाल में करणीय या अनुसरणीय विषयों में केशलुंचन (केश-लोच) का विशेष रूप से विधान हुआ है। यहाँ आए दो सूत्रों में से पहले सूत्र में इसी तथ्य का वर्णन है। संवत्सरी के दिन गाय के रौओं जितने छोटे भी मस्तक और दाढी-मूँछ के बाल नहीं रहने चाहिए। अर्थात् उनका पूरी तरह लोच कर लेना चाहिए। वैसा नहीं करने वाला प्रायश्चित्त का भागी होता है।

उपर्युक्त सूत्र में जो 'गोलोमाई' पाठ आया है - उसका आशय - 'नीरोग एवं जवान गायों के पूंछ एवं सींग के पास के रोमों को छोड़कर शेष रोमों की जो ऊंचाई है वह गायों के शरीर पर दिखाई देती है - उन्हें यहां पर गोलोम शब्द से समझना चाहिए।' उनकी ऊंचाई सेन्टीमीटर के लगभग होने की संभावना है।

संवत्सरी के दिन चौविहार - चतुर्विध आहार त्याग रूप उपवास करना भी आवश्यक है। अहिंसा और अध्यात्म के प्रकर्ष की दृष्टि से इस दिवस का जैन परंपरा में बड़ा ऐतिहासिक महत्त्व है। यह दिवस हिंसाप्रधान जीवनचर्या से निकलकर अहिंसाप्रधान जीवन शैली स्वीकार करने के घटनाक्रम के स्मारक के रूप में प्रसिद्ध है।

अन्यतीर्थिक एवं गृहस्थ को पर्युषणाकल्प सुनाने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू अण्णउत्थियं वा गारत्थियं वा पज्जोसवेइ पज्जोसवेतं वा साइज्जइ ॥ ४६ ॥

भावार्थ - ४६. जो भिक्षु अन्यतीर्थिक या गृहस्थ को पर्युषणाकल्प सुनाता है या उनके साथ सांवत्सरिक प्रतिक्रमण करता - करवाता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - पर्युषणाकल्प के अन्तर्गत साधु समाचारी का विशद, विस्तृत वर्णन है।

पर्युषणा के दिन सायंकालीन प्रतिक्रमण के अनन्तर सभी भिक्षु 'पज्जोसवणाकल्प - पर्युषणाकल्प' अध्ययन का सामूहिक उच्चारण करें अथवा कोई एक विशिष्ट भिक्षु उच्चारण करे तथा अन्य सभी सामूहिक रूप में श्रवण करें। उसमें वर्णित साधु - समाचारी का प्रावृत्कालीन चातुर्मास में और अपने मासकल्पानुरूप विहरणकाल में सम्यक् अनुसरण करें, पालन करें।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि दशाश्रुतस्कन्ध की अष्टम दशा का नाम 'पज्जोसवणाकल्प' है। उसमें वर्षावास की साधु समाचारी का विस्तार से कथन है।

निशीथ चूर्णि में स्वाध्यायकाल का प्रतिलेखन कर इस अध्ययन का श्रवण कर समाप्ति का कायोत्सर्ग करना इत्यादि का इस संदर्भ में उल्लेख हुआ है।

उपर्युक्त सूत्र में पर्युषणाकल्प अन्यतीर्थिक या गृहस्थ को सुनाने का निषेध किया गया

है। इससे यह अनुमेय है कि रात्रिकाल में साधु परिषद् में ही इसका श्रवण करना - कराना विहित है।

‘पञ्जोसवणाकण्ठ’ के अध्ययन की परंपरा आज उपलब्ध नहीं है, अज्ञातकाल से विच्छिन्न है।

इसे अन्यतीर्थिक या गृहस्थ को सुनाने का जो निषेध किया गया है, उसका आशय यह है कि वे आर्हत परंपरा से सम्यक् अवगत, परिचित न होने के कारण रहस्यभूत तथ्यों को स्वायत्त करने में असमर्थ रहते हैं। उन द्वारा उन्हें विपरीत या अन्यथा रूप में गृहीत किया जाना भी आशंकित है। उन गहन, गम्भीर तथ्यों के साथ आत्म संस्फूर्ति-जनक सूक्ष्म चिन्तन-मननमूलक भाव संपृक्त हों। अत एव असंबद्ध, अयोग्य, अविज्ञान उनके श्रवण के अधिकारी नहीं माने गए, क्योंकि उससे लाभ के स्थान पर अलाभ की अधिक आशंका रहती है। अतः सार्वजनीन रूप में उद्घाटित न कर योग्य, विज्ञ जनों तक सीमित रखना आवश्यक है।

इस सूत्र में आये हुए ‘पञ्जोसवेड’ पाठ का अर्थ गुरु परम्परा से ‘सांवत्सरिक प्रतिक्रमण कराना’ किया जाता है।

वर्षाकाल में पात्र-वस्त्र ग्रहण करने का प्रायश्चित्त

जे भिक्षू पढमसमोसरणुद्देसे पत्ताइं चीवराइं पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ। तं सेवमाणे आवज्जइ आउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ॥ ४७ ॥

॥ णिसीहउज्झयणे दसमो उद्देसो समत्तो ॥ १० ॥

कठिन शब्दार्थ - पढमसमोसरणुद्देसे - प्रथम समवसरणोद्देश - चातुर्मास्य काल रूप प्रथम समवसरण के प्रारम्भ हो जाने पर, पत्ताइं - प्राप्त, चीवराइं - वस्त्र।

भावार्थ - ४७. जो भिक्षु चातुर्मास प्रारम्भ हो जाने पर भी प्राप्त वस्त्र ग्रहण करता है या ग्रहण करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

इस प्रकार उपर्युक्त ४७ सूत्रों में किए गए किसी भी प्रायश्चित्त स्थान का तद्गत दोषों का सेवन करने वाले भिक्षु को अनुद्घातिक परिहारतप रूप गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

इस प्रकार निशीथ अध्ययन (निशीथ सूत्र) में दशम उद्देशक परिसमाप्त हुआ।

विवेचन - 'सम्' तथा 'अव' उपसर्ग और 'भ्वादिगण' एवं 'जुहोत्यादिगण' में कथित, परस्मैपदी 'सृ' धातु के योग से समवसरण पद बनता है। 'सृ' धातु गमन, प्रसरण आदि के अर्थ में है। तदनुसार समवसरण का अर्थ सम्यक् अवसृत होना, गतिशील होना अथवा गतिशीलता, सक्रियता पूर्वक अपने आपको व्यक्त करना, प्रकट करना, सम उपस्थित करना है, तदनुरूप स्वभावानुकूल कार्यकलाप को समुदित करना है।

भिक्षु के लिए एक वर्ष में वर्षाकाल, हेमन्तकाल एवं ग्रीष्मकाल के रूप में चार-चार मास के तीन समवसरण माने गए हैं। आगमों में इनका उल्लेख हुआ है। इसका अभिप्राय यह है कि भिक्षु इस समयावधि विभाजन के अन्तर्गत जो प्रावृत्कालीन चातुर्मास कल्प तथा एक मास कल्प के रूप में वर्णित है, स्वकल्याण और परकल्याण की दृष्टि से समुद्यत, सत्कार्यशील रहता है। स्वाध्याय, ध्यान एवं तपश्चरण स्वकल्याण के साधक हैं और जन-जन के लिए धर्मोपदेश तथा आध्यात्मिक प्रेरणा परकल्याण या लोककल्याण के हेतु हैं।

इस सूत्र में प्रथम समवसरण में अर्थात् चातुर्मास के प्रारम्भ में वस्त्र ग्रहण करने का, लेने का निषेध किया गया है।

यहाँ प्रयुक्त 'पत्ताई' पद की संस्कृत छाया 'प्राप्तानि' तथा 'पात्राणि' दो रूपों में बनती है। 'प्राप्तानि' का अर्थ यथाकाल, यथाक्षेत्र का विधिवत् प्राप्त होना है। 'पात्राणि' का अर्थ पात्र है। कतिपय विद्वानों ने इस संदर्भ में 'पत्ताई' का अर्थ पात्र स्वीकार करते हुए पात्र और वस्त्र दोनों लेना प्रायश्चित्त योग्य कहा है।

यहाँ प्राप्तानि अर्थ ही अधिक संगत है। क्योंकि यदि पात्र और वस्त्र दोनों को प्रायश्चित्त योग्य बताना होता तो 'पत्ताई' के बाद 'वा' का प्रयोग आवश्यक था, क्योंकि आगम में इसी विधा से सर्वत्र वर्णन हुआ है।

बृहत्कल्प सूत्र के अन्तर्गत तृतीय उद्देशक में चातुर्मास में वस्त्र ग्रहण करने का निषेध हुआ है और इस सूत्र में वस्त्र ग्रहण विषयक प्रायश्चित्त कहा गया है। अतः यहाँ 'पत्ताई' का 'पात्र' विषयक अर्थ संगत नहीं होता।

॥ इति निशीथ सूत्र का दशम उद्देशक समाप्त ॥

एक्कारसमो उद्देशओ - एकादश उद्देशक

निषिद्ध पात्र निर्माण-धारण-परिभोग विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू अयपायाणि वा तंबपायाणि वा तउयपायाणि सीसगपायाणि वा कंसपायाणि वा रुप्यपायाणि वा सुवण्णपायाणि वा जायरूवपायाणि वा मणिपायाणि वा काय(कणग)पायाणि वा दंतपायाणि वा सिंगपायाणि वा चम्मपायाणि वा चेलपायाणि वा सेलपायाणि वा अंकपायाणि वा संखपायाणि वा वडरपायाणि वा करेइ करेतं वा साइज्जइ ॥ १ ॥

जे भिक्खू अयपायाणि वा तंबपायाणि वा तउयपायाणि सीसगपायाणि वा कंसपायाणि वा रुप्यपायाणि वा सुवण्णपायाणि वा जायरूवपायाणि वा मणिपायाणि वा कायपायाणि वा दंतपायाणि वा सिंगपायाणि वा चम्मपायाणि वा चेलपायाणि वा सेलपायाणि वा अंकपायाणि वा संखपायाणि वा वडरपायाणि वा धरेइ धरेतं वा साइज्जइ ॥ २ ॥

जे भिक्खू अयपायाणि वा तंबपायाणि वा तउयपायाणि वा सीसगपायाणि वा कंसपायाणि वा रुप्यपायाणि वा सुवण्णपायाणि वा जायरूवपायाणि वा मणिपायाणि वा कायपायाणि वा दंतपायाणि वा सिंगपायाणि वा चम्मपायाणि वा चेलपायाणि वा सेलपायाणि वा अंकपायाणि वा संखपायाणि वा वडरपायाणि वा परिभुंजइ परिभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ३ ॥

जे भिक्खू अयबंधणाणि वा तंबबंधणाणि वा तउयबंधणाणि वा सीसगबंधणाणि वा कंसबंधणाणि वा रुप्यबंधणाणि वा सुवण्णबंधणाणि वा जायरूवबंधणाणि वा मणिबंधणाणि वा काय(कणग)बंधणाणि वा दंतबंधणाणि वा सिंगबंधणाणि वा चम्मबंधणाणि वा चेलबंधणाणि वा सेलबंधणाणि वा अंकबंधणाणि वा संखबंधणाणि वा वडरबंधणाणि वा करेइ करेतं वा साइज्जइ ॥ ४ ॥

जे भिक्खू अयबंधणाणि वा तंबबंधणाणि वा तउयबंधणाणि वा सीसगबंधणाणि वा कंसबंधणाणि वा रुप्पबंधणाणि वा सुवण्णबंधणाणि वा जायरूवबंधणाणि वा मणिबंधणाणि वा कायबंधणाणि वा दंतबंधणाणि वा सिंगबंधणाणि वा चम्मबंधणाणि वा चेलबंधणाणि वा सेलबंधणाणि वा अंकबंधणाणि वा संखबंधणाणि वा वडरबंधणाणि वा धरेइ धरेंतं वा साइज्जइ ॥ ५ ॥

जे भिक्खू अयबंधणाणि वा तंबबंधणाणि वा तउयबंधणाणि वा सीसगबंधणाणि वा कंसबंधणाणि वा रुप्पबंधणाणि वा सुवण्णबंधणाणि वा जायरूवबंधणाणि वा मणिबंधणाणि वा कायबंधणाणि वा दंतबंधणाणि वा सिंगबंधणाणि वा चम्मबंधणाणि वा चेलबंधणाणि वा सेलबंधणाणि वा अंकबंधणाणि वा संखबंधणाणि वा वडरबंधणाणि वा परिभुंजइ परिभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ६ ॥

कठिन शब्दार्थ - अयपायाणि - लोहे के पात्र, तंबपायाणि - ताँबे के पात्र, तउयपायाणि - रांगे के पात्र, सीसगपायाणि - शीशे के पात्र, कंसपायाणि - कांसी के पात्र, रुप्पपायाणि - चाँदी के पात्र, सुवण्णपायाणि - सोने के पात्र, जायरूवपायाणि - जातरूप संज्ञक उत्तम स्वर्ण विशेष के पात्र, मणिपायाणि - मणिपात्र, काय(कणग)पायाणि- कनक संज्ञक स्वर्ण विशेष के पात्र, दंतपायाणि - दाँत के पात्र, सिंगपायाणि - सींग के पात्र, चम्मपायाणि - चर्म के पात्र, चेलपायाणि - कपड़े के पात्र, सेलपायाणि - पत्थर के पात्र, अंकपायाणि - स्फटिक के पात्र, संखपायाणि - शंख के पात्र, वडरपायाणि - हरी के पात्र, अयबंधणाणि - लोहे के बन्धन।

भावार्थ - १. जो भिक्षु लोहा, ताम्बा, रांगा, शीशा, कांसी, चाँदी, स्वर्ण, जातरूप, मणि, कनक, दाँत, सींग, चर्म, वस्त्र, पत्थर, स्फटिक, शंख या हीरा - इनके पात्र स्वयं निर्मित करता है, तैयार करता है अथवा निर्माण करते हुए का अनुमोदन करता है।

२. जो भिक्षु लोहा, ताम्बा, रांगा, शीशा, कांसी, चाँदी, स्वर्ण, जातरूप, मणि, कनक, दाँत, सींग, चर्म, वस्त्र, पत्थर, स्फटिक, शंख या हीरा - इनसे निर्मित वस्त्र धारण करता है - रखता है अथवा धारण करते हुए का अनुमोदन करता है।

३. जो भिक्षु लोहा, ताम्बा, रांगा, शीशा, कांसी, चाँदी, स्वर्ण, जातरूप, मणि, कनक, दाँत, सींग, चर्म, वस्त्र, पत्थर, स्फटिक, शंख या हीरा - इनसे निर्मित पात्रों का परिभोग या उपयोग करता है अथवा परिभोग करते हुए का अनुमोदन करता है।

४. जो भिक्षु पात्र पर लोहा, ताम्बा, रांगा, शीशा, कांसी, चाँदी, स्वर्ण, जातरूप, मणि, कनक, दाँत, सींग, चर्म, वस्त्र, पत्थर, स्फटिक, शंख या हीरा - इनके बंधन लगाता है अथवा बंधन लगाते हुए का अनुमोदन करता है।

५. जो भिक्षु लोहा, ताम्बा, रांगा, शीशा, कांसी, चाँदी, स्वर्ण, जातरूप, मणि, कनक, दाँत, सींग, चर्म, वस्त्र, पत्थर, स्फटिक, शंख या हीरा - इनके बंधनों से युक्त पात्र धारण करता है - रखता है अथवा धारण करते हुए का अनुमोदन करता है।

६. जो भिक्षु लोहा, ताम्बा, रांगा, शीशा, कांसी, चाँदी, स्वर्ण, जातरूप, मणि, कनक, दाँत, सींग, चर्म, वस्त्र, पत्थर, स्फटिक, शंख या हीरा - इनके बंधनों से युक्त पात्र का परिभोग या उपयोग करता है अथवा परिभोग करते हुए का अनुमोदन करता है।

इन सूत्रों में वर्णित दोष-स्थानों में से किसी भी दोष-स्थान का सेवन करने वाले भिक्षु को गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - भिक्षु के पाँच महाव्रतों में अन्तिम अपरिग्रह है। अपरिग्रह का तात्पर्य शास्त्रानुमोदित सीमित अतिसाधारण अल्प मूल्य युक्त वस्त्र, पात्र आदि शारीरिक निर्वाह के लिए अनिवार्य उपकरणों के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार का साम्प्रतिक संग्रह न करना, न रखना है। पात्र, वस्त्र आदि भी बहुमूल्य, चमकीले, भड़कीले नहीं होने चाहिए, क्योंकि वैसा होना विलासिता का रूप है।

इन सूत्रों में उन पात्रों की चर्चा है, जो भिक्षु के लिए बहुमूल्यता, भारवत्ता, सौन्दर्य प्रदर्शनवत्ता आदि के कारण अनिर्मेय, अग्राह्य एवं अप्रयोज्य हैं।

बहुमूल्य पात्रों को रखने में चोर, दस्यु आदि का भी भय रहता है, जिससे संकट उत्पन्न हो सकते हैं।

आचारांग सूत्र* तथा स्थानांग सूत्र** के अनुसार भिक्षुओं के लिए केवल तीन ही प्रकार के - तुम्बे, काठ और मिट्टी से निर्मित पात्रों को ही लेने एवं धारण करने का विधान है।

* आचारांग सूत्र - २.६.१

** स्थानांग सूत्र - तृतीय स्थान

इन सूत्रों में आए हुए पात्र विषयक वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीनकाल में भारतवर्ष में समृद्धि, वैभव और संपत्ति का अत्यधिक प्राचुर्य था। रजत और स्वर्ण की तो बात ही क्या, रत्नों, मणियों तथा हीरों जैसी बहुमूल्य वस्तुओं से भी पात्र तैयार होते थे। इसी कारण भारत को सोने की चिड़िया कहा जाता था तथा उसी के लोभ में भारतवर्ष पर अनेक वैदेशिक आक्रान्ताओं ने आक्रमण किए, लूटपाट की।

ऐसे वैभव, विलासमय, संपत्तिबहुल सामाजिक लौकिक वातावरण में रहते हुए भी जैन भिक्षु भौतिक वैभव से, परिग्रह से सर्वथा अलिप्त रहते थे। उनकी वह अलिप्तता बरकरार रहे, इस दृष्टिकोण से ये सूत्र बड़े प्रेरक रहे हैं और रहेंगे।

पात्र हेतु अर्धयोजनमर्यादालंघन विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू परं अद्धजोयणमेराओ पायवडियाए गच्छइ गच्छंतं वा साइज्जइ ॥७॥

जे भिक्खू परमद्धजोयणमेराओ सपच्चवायंसि पायं अभिहडं आहट्टु दिज्जमाणं पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ ॥ ८ ॥

कठिन शब्दार्थ - अद्धजोयणमेराओ - आधे योजन की मर्यादा से, पायवडियाए - पात्र ग्रहण करने की इच्छा से, गच्छइ - जाता है, सपच्चवायंसि - सप्रत्यवाय - विघ्नयुक्त, पायं - पात्र, अभिहडं - अभिहत कर - लेकर, आहट्टु - आहत्य - लाकर, दिज्जमाणं - दिए हुए।

भावार्थ - ७. जो भिक्षु पात्र ग्रहण करने की इच्छा से आधे योजन की मर्यादा को लंघित कर आगे जाता है अथवा जाते हुए का अनुमोदन करता है।

८. जो भिक्षु प्रत्यवाय - विघ्न या बाधायुक्त मार्ग के कारण आधे योजन की मर्यादा को लांघकर लाए हुए, दिए जाते हुए पात्र को ग्रहण करता है अथवा ग्रहण करते हुए का अनुमोदन करता है।

ऐसा करने वाले भिक्षु को गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - भिक्षु का जीवन अनुशासन, मर्यादा और नियमबद्धता से युक्त होता है। अनुशासनहीन, मर्यादावर्जित एवं नियमविरहित जीवन उच्छृंखल बन जाता है। संयमी साधक के लिए उच्छृंखलता उसके व्रताराधनामय जीवन में अतीव बाधक है।

भिक्षु के लिए पात्र एक अनिवार्य उपकरण है। अपरिग्रह एवं अकांचिन्यपूर्ण चर्या के कारण भिक्षु पात्र भी गृहस्थ से भिक्षा के रूप में स्वीकार करता है।

पात्र की आवश्यकता हो जाए, समीपवर्ती स्थान में प्राप्त न हो सके तो भिक्षु आधे योजन तक पात्र की गवेषणा हेतु जा सकता है, उस सीमा के अन्तर्गत निर्दोष एवं निरवद्य विधि से वह पात्र ले सकता है। इस सीमा से आगे जाने में मर्यादा-लंघन का दोष है, अतः एव वैसा करना प्रायश्चित्त योग्य है।

यदि पात्र की आवश्यकतावश भिक्षु गवेषणा हेतु जाने को उद्यत हो, किन्तु जिस दिशा में पात्र प्राप्त होने की संभावना हो, उस ओर का मार्ग सिंह, उन्मत्त हाथी तथा सर्प आदि हिंसक, घातक जन्तुओं के कारण आशंकित या अवरुद्ध हो अथवा उस मार्ग में पानी एकत्रित होने से वहाँ से निकलने में रूकावट उत्पन्न हो गई हो तो वैसी स्थिति में भिक्षु के लिए पात्र की अत्यधिक आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए यदि कोई आधे योजन की मर्यादा के अन्तर्गत उसे लाकर दे, वैसी स्थिति में भिक्षु उसे गृहीत कर सकता है, ऐसा करना सूत्र वर्णित दोषयुक्त नहीं है। किन्तु यदि आधे योजन की मर्यादा को लंघित कर वैसा किया जाए तो पात्र ग्रहण करना दोषयुक्त है, प्रायश्चित्त योग्य है। आधे योजन की मर्यादा से भी उपर्युक्त कारणों से पात्र को ग्रहण करता है तो उसका भी लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त तो समझना ही चाहिए।

इन सूत्रों में साधु जीवन के लिए मर्यादा की महत्ता एवं अनुलंघनीयता का विशेष रूप से सूचन है।

धर्म की निंदा करने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू धम्मस्स अवण्णं वयइ वयंतं वा साइज्जइ ॥ ९ ॥

कठिन शब्दार्थ - धम्मस्स - धर्म का, अवण्णं - अवर्णवाद - निंदा।

भावार्थ - ९. जो भिक्षु धर्म का अवर्णवाद बोलता है - निंदा करता है या निंदा करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - निंदा कुत्सित वृत्ति है, मानसिक विकार है। भिक्षु किसी की भी निंदा नहीं करता। वह तो आत्म-गुणों के रमण में लीन रहता है, दूसरों के अवगुण लक्षित कर उनका बखान करना उसका कार्य नहीं है।

धर्म की निंदा करना तो भिक्षु के लिए अत्यन्त जघन्य और हीन कोटि का कार्य है। जिनश्रुत-चारित्रमूलक धर्म में - ज्ञान, दर्शन, चारित्र की आराधना में वह अधिष्ठित होता है, उन्हीं की यदि वह निंदा करने लग जाए तो उसके लिए कितनी बुरी बात है। उसे तो ज्ञान का, चारित्र का सदा आदर करना चाहिए, गुण-कीर्तन करना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र में धर्म की निंदा को प्रायश्चित्त योग्य बतलाया गया है। भिक्षु जीवन में दीक्षित, धर्माराधना में समर्पित व्यक्ति धर्म की निंदा करे, यह कल्पना ही कैसे की जा सकती है? धर्म तो उसका जीवनीय तत्त्व है, प्राण है, मानव-मन बड़ा चंचल है, यदि वह आत्मगुणोपेत हो तो सुस्थिर एवं सत्संकल्पनिष्ठ रहता है, यदि वह बहिर्गामी हो तो अपने स्वरूप को भूल जाता है, जिन सिद्धान्तों पर उसका जीवन समर्पित है, उनके संबंध में भी अकीर्तिकर, निंदास्पद वचन बोलने लगता है। भिक्षु के जीवन में वैसी स्थिति कदापि न आए, यह इस सूत्र का सार है।

अधर्म की प्रशंसा करने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू अधम्मस्स वण्णं वयइ वयंतं वा साइज्जइ ॥ १० ॥

कठिन शब्दार्थ - अधम्मस्स - अधर्म का, वण्णं - वर्णवाद - प्रशंसा, कीर्ति।

भावार्थ - १०. जो भिक्षु अधर्म की प्रशंसा करता है या प्रशंसा करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - जिस प्रकार भिक्षु को धर्म की अवहेलना, निंदा नहीं करनी चाहिए, उसी प्रकार उसे अधर्म की प्रशंसा, श्लाघा नहीं करनी चाहिए। हिंसा एवं असत्य आदि का प्रतिपादन करने वाले सिद्धान्त, शास्त्र तथा हिंसा, असत्य और परिग्रह आदि पर आश्रित तथाकथित धार्मिक चर्या, उस पर गतिशील तापस, गृहस्थ आदि की प्रशंसा करना, गुण-कीर्तन करना अधर्म का वर्णवाद है।

भिक्षु ने असत् सिद्धान्तों एवं सावद्य कार्यों का जीवनभर के लिए तीन करण, तीन योगपूर्वक परित्याग किया है, उन्हीं की वह यदि प्रशंसा करे तो कितनी विपरीत बात है। उसे वैसा कदापि नहीं करना चाहिए। वैसी प्रतिकूल, दूषित मानसिकता से भिक्षु अपने को सर्वथा बचाए रखे, इस सूत्र का यह अभिप्राय है।

अन्यतीर्थिक या गृहस्थ के पाद आमर्जनादि विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू अण्णउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा पाए आमज्जेज्ज वा पमज्जेज्ज वा आमज्जंतं वा पमज्जंतं वा साइज्जइ। एवं तइयउद्देसगगमेण पोयव्वं जाव जे भिक्खू गामाणुगामं दूइज्जमाणे अण्णउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा सीसदुवारियं करेइ, करेत्तं वा साइज्जइ ॥ ११-६६ ॥

भावार्थ - ११-६६. जो भिक्षु अन्यतीर्थिक या गृहस्थ के पैरों का एक बार या अनेक बार आमर्जन करता है अथवा करने वाले का अनुमोदन करता है। इस प्रकार तीसरे उद्देशक के (सूत्र १६ से ७१) के समान अलापक जान लेने चाहिए यावत् जो भिक्षु ग्रामानुग्राम विहार करते समय अन्यतीर्थिक या गृहस्थ का मस्तक ढांकता है या ढांकने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है)

विवेचन - इन (११-६६) सूत्रों में अन्यतीर्थिक तथा गृहस्थ के विविध परिकर्म विषयक प्रायश्चित्त का वर्णन हुआ है। भिक्षु द्वारा वैसा किया जाना साधु समाचारी के प्रतिकूल है, उससे संयम की विराधना होती है।

ऐसी त्याज्य और परिहेय प्रवृत्तियों में भिक्षु तभी संलग्न होता है, जब वह अन्तरात्म-भाव से पृथक् होकर बहिरात्म-भाव में संलग्न होता है। वासना, काम-कौतुहल बाह्य सज्जा, भौतिक हर्षोल्लास, कुत्सित अन्तर्वृत्तियों का परिपोषण, बाह्य भोगात्मक मानसिकता की अभिव्यक्ति इत्यादि के कारण ऐसे धिनौने कृत्य में भिक्षु का प्रवृत्त होना अत्यन्त लज्जास्पद एवं दुःखास्पद है। स्वाध्याय, ध्यान, तप, सधर्मचर्या आदि में भिक्षु के जीवन का क्षण-क्षण बीतना चाहिए। यदि ऐसे कृत्यों में उसका समय और उद्यम लगता है तो यह बड़ी ही उपाहासास्पद स्थिति है। भिक्षु के जीवन में वैसा कदापि घटित न हो, इन सूत्रों से यही प्रेरणा प्राप्त होती है। क्योंकि दोष तथा प्रायश्चित्त का भय भिक्षु का आत्मस्थ रहने में सहायक होता है।

स्व-पर विभीतिकरण विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू अप्पाणं बीभावेइ बीभावेतं वा साइज्जइ ॥ ६७ ॥

जे भिक्खू परं बीभावेइ बीभावेतं वा साइज्जइ ॥ ६८ ॥

कठिन शब्दार्थ - अप्पाणं - अपने आपको, बीभावेइ - विभापत - भयभीत करता है।

भावार्थ - ६७. जो भिक्षु अपने आपको विभीत - विशेष रूप से भययुक्त करता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

६८. जो भिक्षु दूसरे को भयभीत करता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

ऐसा करने वाले भिक्षु को गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - समग्र सांसारिक सुखों, सुविधाओं एवं अनुकूलताओं का परित्याग कर पंचमहाव्रतात्मक संयम-साधनामय जीवन को स्वीकार करना बड़े ही साहस, आत्मबल और पुरुषार्थ का कार्य है। ऐसे जीवन को स्वीकार करने वाला साधक सदैव निर्भीक रहता है। वह

आध्यात्मिक रसानुभूति में इतना तन्मय होता है कि बाह्य प्रतिकूलता, अनुकूलता आदि का उसे कोई भान ही नहीं रहता।

भूत, प्रेत, पिशाच, यक्ष, राक्षस, चोर, दस्यु, सर्प, सिंह, व्याघ्र आदि से जनित भयोत्पादक स्थितियों से भिक्षु कभी डरता नहीं। जिसको अपने साधनामय पावन पथ पर गतिशील रहते हुए मृत्यु तक का भय नहीं होता, वह क्यों, कब, किससे डरे? किन्तु जब मन में दैहिक मोह का भाव उभर आता है, तब वह उपर्युक्त स्थितियों में भय का अनुभव करने लगता है, जो आत्मदुर्बलता का सूचक है। उसे वैसी किसी भी भयोत्पादक स्थिति में अपने आपको स्थिर एवं सुदृढ़ बनाए रखना चाहिए, क्योंकि ये विपरीत स्थितियाँ उसकी आत्मा का तो कुछ भी बुरा नहीं कर सकती। ऐसी स्थितियों में भयान्वित हो जाना साधु के लिए दोषपूर्ण है, प्रायश्चित्त योग्य है।

निशीथ भाष्य में इस संदर्भ में एक विशेष सूचना की गई है -

जब उपर्युक्त भयानक, भयजनक स्थितियों का अस्तित्व हो, अर्थात् ये विद्यमान हों, समक्ष हों तो उनसे यदि भिक्षु अपने आपको भयभीत बनाता है तो उसे लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

यदि वैसी स्थितियाँ वास्तव में न हों, केवल तद्विषयक आशंकावश भिक्षु यदि अपने को भयभीत बना ले तो उसे गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

उपर्युक्त भयोत्पादक स्थितियों से दूसरों में भय उपजाना भी दोषयुक्त है, प्रायश्चित्त योग्य है।

वैसे भयावह प्रसंग में औरों को सावधान करना, जागरूक करना दोष नहीं है। किन्तु आतुरता, आकुलता या कुतूहलवश औरों में भय उत्पन्न करना दोषयुक्त है।

भयोद्विग्न व्यक्ति अस्थिर एवं धृतिविहीन हो जाता है। उसे अपने आपे का ध्यान नहीं रहता है। वैसी मनोदशा में वह अकरणीय कार्य भी कर बैठता है, आत्म-परिणामों में अस्थिरता आने से भिक्षु की धार्मिक वृत्ति व्याहत होती है, जिससे असंयताचरण भी आशंकित है।

स्व-पर विस्मापन विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू अप्पाणं विम्हावेइ विम्हावेतं वा साइज्जइ ॥ ६९ ॥

जे भिक्खू परं विम्हावेइ विम्हावेतं वा साइज्जइ ॥ ७० ॥

कठिन शब्दार्थ - विम्हावेइ - विस्मापित करता है - विस्मित या आश्चर्यान्वित बनाता है।

भावार्थ - ६९. जो भिक्षु अपने आपको विस्मित बनाता है या विस्मित बनाते हुए का अनुमोदन करता है।

७०. जो भिक्षु दूसरे को विस्मित बनाता है या विस्मित बनाते हुए का अनुमोदन करता है। ऐसा करने वाले भिक्षु को गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - विशिष्ट विद्या, मंत्र, तंत्र, तपश्चरणजनित लब्धि - सिद्धि विशेष, इन्द्रजाल (जादूगरी), निमित्त ज्ञान, ज्योतिष तथा सामुद्रिक शास्त्र - हस्तरेखा आदि द्वारा वर्तमान, भूत एवं भविष्य विषयक कथन, यौगिक सिद्धि द्वारा अन्तर्धान - ये चमत्कार उत्पन्न करने के माध्यम या साधन हैं, जिन्हें देखकर लोग विस्मित, आश्चर्यान्वित, चकित हो जाते हैं। इनसे आत्मा का कोई हित सिद्ध नहीं होता। बाह्य मनोरंजन, विनोद या अर्थ प्राप्ति आदि के रूप में ये लौकिक स्वार्थ के ही पूरक हैं। भिक्षु के लिए ये सर्वथा त्याज्य हैं, भिक्षु तो सावद्य वर्जित, लौकिक स्वार्थ विहीन, अध्यात्म-मार्ग का पथिक होता है। ये सभी, जो लोकैषणा तथा वित्तैषणा आदि से संबद्ध हैं, जिनसे भिक्षु को सदैव विमुक्त रहना चाहिए। वह तो मुमुक्षा - मोक्षाभिवाञ्छा का ही लक्ष्य लिए जीवन में सर्वथा, सर्वदा उद्यमशील रहे।

इन सूत्रों में इसी कारण चामत्कारिक स्थितियों द्वारा स्वयं विस्मयान्वित होना तथा अन्य को आश्चर्यान्वित करना और वैसा करते हुए का अनुमोदन करना दोषयुक्त, प्रायश्चित्त योग्य बतलाया गया है।

स्व-पर-विपर्यासकरण - प्रायश्चित्त

जे भिक्खू अप्पाणं विप्परियासेइ विप्परियासेंतं वा साइज्जइ ॥ ७१ ॥

जे भिक्खू परं विप्परियासेइ विप्परियासेंतं वा साइज्जइ ॥ ७२ ॥

कठिन शब्दार्थ - विप्परियासेइ - विपर्यस्त - विपरीत करता है।

भावार्थ - ७१. जो भिक्षु अपने स्वयं का - अपने वास्तविक स्वरूप का विपर्यास करता है - उसको विपरीत करता है या बनाता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

७२. जो भिक्षु दूसरे का - उसके वास्तविक स्वरूप का विपर्यास करता है या विपरीत करता है, बनाता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

ऐसा करने वाले भिक्षु को गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - 'वि' एवं 'परि' उपसर्ग तथा भ्वादिगण में कथित उभयपदी 'अस्' धातु

और 'घञ्' प्रत्यय के योग से विपर्यास शब्द निष्पन्न होता है। उसका अर्थ वैपरीत्य, व्यतिक्रम या जो जैसा है, उससे विपरीत, भिन्न रूप में प्रकटीकरण है।

स्त्री, पुरुष, बाल, वृद्ध, युवा, सारोगरुण या अस्वस्थ, नीरोग - स्वस्थ, सुरूप - सुन्दर रूप युक्त, कुरूप - कुत्सित रूप युक्त आदि जैसी भी अवस्था हो, उससे विपरीत, भिन्न अवस्था निष्पादित करना, व्यक्त करना स्वरूप का विपर्यास है। ऐसा करने के पीछे माया, कुतूहल, आकर्षण, प्रदर्शन तथा भ्रमोत्पादन आदि कारण संभावित हैं, जो अध्यात्म - साधना के प्रतिकूल हैं, आत्म-श्रेयस् में बाधक हैं, प्रवंचना या छलना के द्योतक हैं।

भिक्षु कभी भी अपने को विपर्यस्त रूप में व्यक्त, प्रकट या प्रदर्शित न करे। अपने स्वरूप को आवृत कर, दूसरे प्रकार से व्यक्त करना सत्य का वैपरीत्य है।

भिक्षु अन्य का भी स्वरूप विपर्यास न करे, विपरीत रूप में निष्पादित, व्यक्त न करे, न अनुमोदन ही करे, क्योंकि ऐसा करता हुआ भिक्षु अपने शुद्ध, स्वच्छ, निर्मल, निर्द्वन्द्व साधना पथ से विचलित होता है।

परमत प्रशंसन विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू मुहवण्णं करेइ करेतं वा साइज्जइ ॥ ७३ ॥

कठिन शब्दार्थ - मुहवण्णं - मुखवर्ण - आर्हत मत से अन्य मत की प्रशंसा।

भावार्थ - ७३. जो भिक्षु जिनेश्वर देव भाषित भिन्न - अन्य मत की प्रशंसा करता है या प्रशंसा करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - इस सूत्र में प्रयुक्त 'मुहवण्णं' पद बहुत महत्वपूर्ण है। मुह - मुख तथा वण्ण - वर्ण - इन दो शब्दों के योग से यह बना है। मुख के खाना, पीना, बोलना आदि कई कार्य हैं। उनमें बोलना सबसे मुख्य है, क्योंकि उसकी सृष्टि, अभिव्यक्ति में मुख की सर्वाधिक क्रियाशीलता रहती है।

अभिधा शक्ति के अनुसार उसका सामान्य अर्थ वागिन्द्रिय जनित वाणी, वाक्य विन्यास या शब्द समवाय है।

लक्षणा शक्ति के अनुसार इसका अर्थ वाणी द्वारा विशिष्टता व्यक्त करना, अतिशय दिखलाना आदि होता है। ऐसा करने में प्रशंसा की दृष्टि से जैसा मन में आए, वैसा बोल देना संभावित है। इस परिप्रेक्ष्य में जिनेन्द्र देव भाषित सिद्धान्त युक्त मत या धर्म से भिन्न मत

या धर्म संप्रदाय अध्याहत होते हैं। अर्थात् जिन मत से भिन्न मतवादों की प्रशंसा करना यहाँ फलित होता है।

अपने धर्म सिद्धान्तों में अटल आस्थायुक्त, विश्वास युक्त भिक्षु परमत की प्रशंसा करे, यह उचित, विहित नहीं है, क्योंकि अपने द्वारा स्वीकृत सद्धर्म की गरिमा भीतर ही भीतर मंद होती है। किसी अन्य मतवादी को अथवा उसके अनुयायियों को प्रभावित करने हेतु, अनुकूल बनाने हेतु, उनसे किसी प्रकार का लाभ लेने हेतु भिक्षु अपने मन में उनके मत को अयथार्थ - सत्य न मानता हुआ भी यदि प्रशंसा करे तो यह एक प्रकार से आत्म-विडम्बना का रूप है। अपने शुद्ध, सिद्धान्तनिष्ठ, आचारनिष्ठ धर्म की महिमा का एक प्रकार से अपनोदन है। अत एव उपर्युक्त सूत्र में उसे प्रायश्चित्त योग्य बतलाया गया है।

विरोध युक्त राज्य में गमनागमन विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू वेरज्जविरुद्धरज्जंसि सज्जं गमणं सज्जं आगमणं सज्जं गमणागमणं करेइ करेत्तं वा साइज्जइ ॥ ७४ ॥

कठिन शब्दार्थ - वेरज्जविरुद्धरज्जंसि - द्वैराज-विरुद्ध राज्य - दो राजाओं के पारस्परिक विरोध युक्त राज्य में, सज्जं - सद्य - तत्काल या वर्तमान काल में, गमणं - गमन - जाना, आगमणं - आगमन - आना, गमणागमण - गमनागमन - जाना-आना।

भावार्थ - ७४. जो भिक्षु दो राजाओं के पारस्परिक विरोध युक्त राज्य में जाता है, आता है या जाना-आना करता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - इस सूत्र में 'वेरज्जविरुद्धरज्जंसि' पद का विशेष रूप से प्रयोग हुआ है, जिसका संस्कृत रूप द्वैराज-विरुद्ध राज्य बनता है। प्राकृत व्याकरण के अन्तर्गत संक्षिप्तीकरण की प्रक्रिया के अनुसार वेरज्ज शब्द में 'द्वे' के अन्तर्वर्ती 'द कार' का लोप हो गया है केवल 'वे' बच गया है। इस प्रकार 'द्वैराज' पद बनता है। इसमें द्विगु समास है। तदनुसार दो राजाओं का समाहार इस पद से सूचित है, जो अपने उत्तरार्द्ध में आने वाले विरुद्धरज्जंसि - विरुद्ध राज्य से संबद्ध है। उसका तात्पर्य उस राज्य से है, जिस पर दो राजाओं का परस्पर विरोध हो, जिसे दोनों अपना-अपना बताते हों तथा युद्ध, विग्रह एवं संघर्ष आदि विषम परिस्थितियाँ आशंकित रहती हों।

ऐसे राज्य में भिक्षु का जाना-आना जो प्रायश्चित्त योग्य बतलाया गया है, उसका

आशय यह है कि वहाँ ऐसी विपरीत परिस्थितियाँ उत्पन्न हो सकती हैं, जहाँ भिक्षु के लिए अपनी विशुद्ध, संयमानुप्राणित चर्या का अनुसरण, अनुपालन करने में बाधाएँ हों।

दिवाभोजन निंदा एवं रात्रिभोजन प्रशंसा विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू दियाभोयणस्स अवण्णं वयइ वयंतं वा साइज्जइ ॥ ७५ ॥

जे भिक्खू राइभोयणस्स वण्णं वयइ वयंतं वा साइज्जइ ॥ ७६ ॥

कठिन शब्दार्थ - दियाभोयणस्स - दिन के भोजन की, राइभोयणस्स - रात के भोजन की।

भावार्थ - ७५. जो भिक्षु दिवा भोजन की निंदा करता है या निंदा करते हुए का अनुमोदन करता है।

७६. जो भिक्षु रात्रिभोजन की प्रशंसा करता है या प्रशंसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

ऐसा करने वाले भिक्षु को गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - भिक्षु को रात्रिभोजन का तीन योग एवं तीन करण (मन-वचन-काय तथा कृत-कारित-अनुमोदित रूप) से प्रत्याख्यान होता है। वह केवल दिवाभोजी ही होता है। ऐसी स्थिति में दिवा भोजन की निंदा और रात्रि भोजन की प्रशंसा करना उसके आचार के सर्वथा प्रतिकूल है। ऐसा करने से रात्रिभोजन का अनुमोदन होता है, जिससे दोष लगता है। अत एव इन सूत्रों में उसे प्रायश्चित्त का भागी कहा गया है।

चर्या विपरीत भोजन विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू दिया असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहेत्ता भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ७७ ॥

जे भिक्खू दिया असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहेत्ता रत्तिं भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ७८ ॥

जे भिक्खू रत्तिं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहेत्ता दिया भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ७९ ॥

जे भिक्खू रत्तिं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहेत्ता रत्तिं भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ८० ॥

कठिन शब्दार्थ - रत्ति - रात्रि में।

भावार्थ - ७७. जो भिक्षु दिन में अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप आहार प्राप्त कर (उसको रात्रि में रखता हुआ) दूसरे दिन सेवन करता है या सेवन करते हुए का अनुमोदन करता है।

७८. जो भिक्षु दिन में अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप आहार प्राप्त कर उसका रात में सेवन करता है या सेवन करते हुए का अनुमोदन करता है।

७९. जो भिक्षु रात्रि में अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप आहार प्राप्त कर उसका दिन में सेवन करता है या सेवन करते हुए का अनुमोदन करता है।

८०. जो भिक्षु रात्रि में अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप आहार प्राप्त कर उसका रात्रि में सेवन करता है या सेवन करते हुए का अनुमोदन करता है।

उपर्युक्त अविहित कार्य करने वाले भिक्षु को गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - जैसा पहले वर्णित हुआ है, भिक्षु किसी भी स्थिति में रात में आहार-पानी का सेवन नहीं कर सकता, न वैसा करने वाले का अनुमोदन ही करता है। रात्रिभोजन त्याग का नियम महाव्रतों की तरह सर्वथा पालन करने योग्य है। वह किसी भी प्रकार से बाधित नहीं होना चाहिए।

भिक्षु के लिए यह नियम है कि वह दिन में ही भिक्षाचर्या द्वारा आहार-पानी प्राप्त करे और यथासमय दिन में ही उसका सेवन करे - खाए-पीए। रात में भोजन का एक कण भी रखना दोषयुक्त है।

इस आहारचर्या का विशुद्ध एवं निर्बाध रूप में परिपालन हो, इस दृष्टि से उपर्युक्त सूत्रों में चार भंगों द्वारा आहार विषयक दोषपूर्ण, प्रायश्चित्त योग्य चर्या का वर्णन किया गया है, जिससे भिक्षु अपनी चर्या के यथावत् अनुसरण में सर्वदा जागरूक एवं सावधान रहे।

अनागाढ स्थिति में रात्रि में आहार रखने आदि का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अणागाढे परिवासेइ परिवासंतं वा साइज्जइ ॥ ८१ ॥

जे भिक्खू परिवसियस्स असणस्स वा पाणस्स वा खाइमस्स वा साइमस्स वा तयप्पमाणं वा भूइप्पमाणं वा बिंदुप्पमाणं वा आहारं आहारेइ आहारंतं वा साइज्जइ ॥ ८२ ॥

कठिन शब्दार्थ - अणागाढे - अनागाढ स्थिति में, परिवासेइ - पर्युषित करता है - रात में परिस्थापित करता है - रखता है, परिवासियस्स - रात्रि में रखे हुए का, तयप्पमाणं-त्वक्प्रमाण - चुटकीभर भी, भुइप्पमाणं - भूतिप्रमाण - राख के कण जितना भी, बिंदुप्पमाणं-बिन्दुप्रमाण - बूँद मात्र भी।

भावार्थ - ८१. जो भिक्षु अनागाढ स्थिति में अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप आहार को बासी रखता है - रात में रखता है अथवा बासी रखते हुए का अनुमोदन करता है।

८२. जो भिक्षु अनागाढ स्थिति में - रात बासी रखे हुए अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप आहार का चुटकीभर भी, राख के कण सदृश भी या जल की बूँद जितना भी सेवन करता है या सेवन करते हुए का अनुमोदन करता है।

ऐसा करने वाले भिक्षु को गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - जिस प्रकार आगमों में रात में भोजन करने का निषेध किया गया है, उसी प्रकार रात में आहार-पानी लाकर रखने का भी निषेध किया गया है। भिक्षु के लिए आहारादि का संग्रह सर्वथा परिवर्जनीय है। यही कारण है कि रात में भिक्षु रुग्णावस्था में भी औषधि तक अपने पास नहीं रख सकता। आवश्यकतानुरूप गृहस्थ से याचित औषध आदि वह सूर्यास्त से पहले वापस लौटा देता है। ऐसा करना उसकी अपरिग्रही, असंग्रही वृत्ति का परिचायक है।

यहाँ विशेष रूप से ज्ञातव्य है, जैन दर्शन ऐकान्तवादी नहीं है, वह अनेकान्तवादी है। विभिन्न अपेक्षाओं और पक्षों को दृष्टि में रखते हुए कर्तव्य-अकर्तव्य, विधान-निषेध आदि का प्रतिपादन किया जाता है।

यहाँ प्रयुक्त 'अनागाढ' शब्द इसी दृष्टि से विचारणीय है। 'अनागाढ' शब्द 'आगाढ' का अभावसूचक है।

भिक्षु द्वारा सायंकाल भिक्षा लाने के पश्चात् यदि महावात - आंधी, तूफान सहित पानी बरसने लगे, अंधेरा फैल जाए, वैसी स्थिति में आहार न किया जा सके, पुनश्च (उसके बाद) सूर्य अस्त हो जाए, वर्षा न रुके, आहार को परठने का अवकाश या अनुकूलता न हो सके, लाए हुए आहार को रात बासी रखना पड़े तो वह आगाढ स्थिति है।

आहार अधिक मात्रा में आ गया हो, उसे परठना आवश्यक हो, उस समय यदि अकस्मात् मूसलधार वर्षा होने लगे, जो सूर्यास्त के बाद रात तक चलती रहे। इस प्रकार परठना संभव न हो सके, आहार को रात बासी रखना पड़े तो वह भी आगाढ स्थिति है।

इन सूत्रों का आशय यह है कि आगाढ स्थिति में आहार रात में रखा तो जा सकता है, किन्तु उसमें से कण मात्र भी सेवन करना दोषयुक्त है।

आहारलिप्सा से अन्यत्र रात्रिप्रवास विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू मंसाइयं वा मच्छाइयं वा मंसखलं वा मच्छखलं वा आहेणं वा पहेणं वा संमेलं वा हिंगोलं वा अण्णयरं वा तहप्पगारं विरूवरूवं हीरमाणं पेहाए ताए आसाए ताए पिवासाए तं रयणिं अण्णत्थ उवाइणावेइ उवाइणावेतं वा साइज्जइ ॥८३॥

कठिन शब्दार्थ - मंसाइयं - मांसादिक - जहाँ प्रारम्भ में मांस परोसा जाता हो, बाद में ओदनादि - भात आदि पदार्थ, मच्छाइयं - मत्स्यादिक - जहाँ प्रारम्भ में मछली परोसी जाती हो, बाद में ओदनादि, मंसखलं - जहाँ मांस सुखाया जाता हो उसका ढेर, मच्छखलं - जहाँ मछलियाँ सुखाई जाती हो उसका ढेर, आहेणं - वधू के घर से वर के घर जो भोजन ले जाया जाता हो, पहेणं - वर के घर से वधू के घर जो भोजन ले जाया जाता हो, संमेलं - वैवाहिक आदि प्रसंगों में निर्मित भोजन, हिंगोलं - मृतभक्त - मरे हुए व्यक्ति को उद्दिष्ट कर निर्मित भोज्य पदार्थ, विरूवरूवं - विरूपरूप - विविध प्रकार का भोजन, हीरमाणं - हीयमाण - ले जाया जाता हुआ, पेहाए - प्रेक्षित कर - देखकर, ताए - उसे, आसाए - पाने की आशा - आकांक्षा से, पिवासाए - पिपासा - प्राप्त करने की लिप्सा - उत्कंठा से, अण्णत्थ - अन्यत्र - शय्यातर से अन्य स्थान (उपाश्रय आदि) में, उवाइणावेइ-व्यतीत करता है, बितता है।

भावार्थ - ८३. जो भिक्षु मांसादिक, मत्स्यादिक, मांस पाकाशय, मत्स्य पाकाशय, आहेणक, प्रहेणक, वैवाहिक आदि भोज, मृतभोज या इसी प्रकार किसी अन्य प्रसंग से लाए ले जाते विविध प्रकार के भोज्य पदार्थ देखकर उन्हें - उनमें से प्राप्त करने की इच्छा से, पिपासा से - लिप्सा, तीव्रतम उत्कंठा से शय्यातर से अन्यत्र किसी दूसरे स्थान (उपाश्रय आदि) में रात्रि व्यतीत करता है अथवा रात्रि व्यतीत करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - इस सूत्र में भोज्य पदार्थ विषयक जो उल्लेख हुआ है, वह वैसे प्रसंगों से संबंधित है, जो हिंसादि दोष, लौकिक, सावद्य प्रदर्शन, स्व-परितोषण, उत्कट परिभोगेच्छा आदि से संबद्ध है। वैसे अवसरों पर मनस्तुष्टि एवं लोकरंजन हेतु विविध प्रकार के स्वादिष्ट

भोज्य पदार्थ तैयार होते हैं। उनका लाना, ले जाना देखकर सामान्यतः एक साधारण मनुष्य के मन में यह वांछा जागृत होती है, कितना अच्छा हो, मुझे भी ये प्राप्त हो सके। यह जिह्वा लोलुपता युक्त मानसिकता का व्यक्त रूप है।

भिक्षु भी है तो आखिर एक मानव ही। उसके मन में कभी भी जिह्वालोलुपता उत्पन्न न हो जाए, इस हेतु से इस सूत्र में प्रायश्चित्त विधान हुआ है।

जब मन आहारादि विषयक लुब्धता से ग्रस्त हो जाता है, तब व्यक्ति उसे पाने हेतु सत्पथ का परित्याग कर देता है, अपने द्वारा स्वीकृत सत्यानुगत सिद्धान्तों से मुँह मोड़ लेता है। भिक्षु द्वारा विशिष्ट स्वादिष्ट भोज्य पदार्थों को पाने की लिप्सा से शय्यातर से अन्यत्र रात्रि वास करने का जो कथन हुआ है, वह इसी आशय का सूचक है। क्योंकि जब स्वाद लोलुपता उभर आती है, तब ऐसा हो जाना आशंकित है।

अध्यात्म रस के अनुपम आस्वादन में संलीन भिक्षु कभी भी उक्त विध भोज्य लोलुपता अपने मन में न आने दे।

देवादि नैवेद्य सेवन विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू णिवेयणपिंडं भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ८४ ॥

कठिन शब्दार्थ - णिवेयणपिंडं - निवेदन पिण्ड - देव आदि का नैवेद्य - प्रसाद या चढावा।

भावार्थ - ८४. जो भिक्षु देव आदि के नैवेद्य - चढावे के रूप में निवेदित, समर्पित भोज्य पदार्थ का परिभोग - सेवन करता है अथवा सेवन करने वाले का अनुमोदन करता है, उसे गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - वर्तमान की तरह प्राचीनकाल में भी लौकिक मान्यता एवं लाभ आदि की आशा से देव, यक्ष, व्यन्तर आदि की पूजा, उपासना तथा उन्हें भोज्य पदार्थ निवेदित, समर्पित करने की प्रथा रही है। उन्हें अर्पित हेतु जो पदार्थ तैयार किए जाते थे, आज भी किए जाते हैं, उन्हें नैवेद्य कहा जाता है। लोक भाषा में उन्हें देव प्रसाद या देवताओं का चढावा कहा जाता है।

प्रस्तुत सूत्र में नैवेद्य के लिए 'णिवेयणपिंडं - निवेदनपिण्ड' का प्रयोग हुआ है। "निवेदनाय - देवादिभ्यः समर्पणाय कृतं पिण्डम् - निवेदनपिण्डम्" यह चतुर्थी तत्पुरुष समास है। इसके अनुसार देवताओं को चढाने के लिए निर्मित भोज्य पदार्थ इस संज्ञा - नाम से अभिहित होते हैं।

आगमों में नैवेद्य पिण्ड के दो प्रकार बतलाए गए हैं - १. भिक्षु निश्राकृत एवं २. भिक्षु अनिश्राकृत।

साधु को भिक्षा में देने की मनोभावना लिए हुए जो देव नैवेद्य तैयार किया जाता है, वह साधु निश्रित कहा जाता है। देने वाले के मन में देवता को चढाने के अनन्तर उस नैवेद्य में से साधु को भी दान में देना उद्दिष्ट रहता है। इस प्रकार के भिक्षु निश्रित नैवेद्यपिण्ड को लेने से भिक्षु को गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

जहाँ किसी नगर या गाँव में भिक्षु हो या न हो, स्वाभाविक रूप में देवों को समर्पित करने हेतु नैवेद्य पिण्ड बना हो, दान में देने हेतु रखा हो, वह अनिश्रित भिक्षु पिण्ड कहा जाता है। क्योंकि उसके निर्माण में साधु को देना उद्दिष्ट नहीं रहा है।

अकस्मात् यदि कोई भिक्षु वहाँ आ जाए और उसमें से ले ले तो वह दानपिण्ड ग्रहण से संबद्ध दोष है। इसी (निशीथ) सूत्र के दूसरे उद्देशक में आए हुए दानपिण्ड विषयक दोषों में यह वर्णित है, जिसका लघुमासिक प्रायश्चित्त कहा गया है।

स्वेच्छाचारी की प्रशंसा एवं वन्दना का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू अहाछंदं पसंसइ पसंसंतं वा साइज्जइ ॥ ८५ ॥

जे भिक्खू अहाछंदं वंदइ वंदंतं वा साइज्जइ ॥ ८६ ॥

कठिन शब्दार्थ - अहाछंदं - स्वच्छन्द - स्वेच्छाचारी, पसंसइ - प्रशंसा करता है, वंदइ - वंदना करता है।

भावार्थ - ८५. जो भिक्षु स्वेच्छाचारी या स्वच्छंद आचरण युक्त भिक्षु की प्रशंसा करता है या प्रशंसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

८६. जो भिक्षु स्वेच्छाचारी या स्वच्छंद आचरण युक्त भिक्षु को वंदना करता है अथवा वंदना करते हुए का अनुमोदन करता है।

ऐसा करने वाले भिक्षु को गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - इन सूत्रों में 'अहाछंदं - यथाछंदं' पद का प्रयोग उस भिक्षु के लिए हुआ है, जो जैसा मन में आए, वैसा ही आचरण करे। कुछ भी करते समय अपनी चर्या के नियमोपनियमों के उल्लंघन की परवाह न करे।

“स्वस्य छन्दः - अभिप्रायः, तदनुसारेण प्ररूपयति करोति स यथाछन्दः” छन्द का तात्पर्य अभिप्राय है। जिसके मन में जैसा भी विचार आए, उसके

औचित्य-अनौचित्य का जरा भी ध्यान न रखता हुआ जो उसी के अनुसार प्ररूपणा करे, कार्य करे, उसे यथाछन्द कहा जाता है। ऐसा करना उच्छृंखलता और उद्दंडता के अन्तर्गत आता है, जो भिक्षु के लिए सर्वथा परिहेय एवं परित्याज्य है।

भिक्षु अनुशासनप्रिय, संयताचारी तथा नियमोपनियमजीवी होता है। मनमानी प्ररूपणा करना, आचरण करना सर्वथा वर्जित है।

इस प्रकार के स्वेच्छाचारी, अनुशासनविहीन भिक्षु की प्रशंसा करना, उसको वन्दना करना प्रस्तुत सूत्रों में गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त योग्य कहा गया है। वैसा करने से उसकी स्वेच्छाचारिता को प्रोत्साहन मिलता है, अनुशासनहीनता की वृद्धि होती है, अनुशासन प्रधान धार्मिक वातावरण दूषित होता है।

अयोग्य प्रव्रज्या विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू णायगं वा अणायगं वा उवासगं वा अणुवासगं वा अणलं पव्वावेइ पव्वावेतं वा साइज्जइ ॥ ८७ ॥

जे भिक्खू णायगं वा अणायगं वा उवासगं वा अणुवासगं वा अणलं उवट्ठावेइ उवट्ठावेतं वा साइज्जइ ॥ ८८ ॥

कठिन शब्दार्थ - णायगं - ज्ञातक - स्वजन - पारिवारिक व्यक्ति, अणायगं - अज्ञातक - अन्यजन, उवासगं - उपासक - श्रावक, अणुवासगं - अनुपासक - श्रावकेतर अन्यतीर्थिक, अणलं - अपर्याप्त - दीक्षा के अयोग्य, पव्वावेइ - प्रव्रजित - दीक्षित करता है, उवट्ठावेइ - उपस्थापित करता है - छेदोपस्थापनीय चारित्र में उपस्थापित करता है।

भावार्थ - ८७. जो भिक्षु दीक्षा के लिए अयोग्य स्वजन, परजन, उपासक या अनुपासक को प्रव्रजित करता है - दीक्षित करता है अथवा प्रव्रजित करते हुए का अनुमोदन करता है।

८८. जो भिक्षु दीक्षा के लिए अयोग्य स्वजन, परजन, उपासक या अनुपासक को छेदोपस्थापनीय चारित्र में उपस्थापित करता है अथवा उपस्थापित करते हुए का अनुमोदन करता है।

इस प्रकार उपर्युक्त रूप में आचरण करने वाले भिक्षु को गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - जो जिस कार्य या क्षेत्र के लिए योग्य होता है, वही उसमें सफल हो सकता है। भिक्षु-प्रव्रज्या या श्रमण दीक्षा एक ऐसा कठोर व्रताराधनामय क्षेत्र है, जिसमें

प्रविष्ट होने वाले व्यक्ति में आत्मबल, धृति, सहिष्णुता, तितिक्षा एवं विरक्ति जैसे उज्ज्वल भाव हों, वैसा पुरुष ही महाव्रतों की आराधना में, संयम साधना में सफल होता है, अपना तथा औरों का कल्याण करता है। अतः यह आवश्यक है कि दीक्षार्थी का भलीभाँति परीक्षण-निरीक्षण करते हुए, उसकी योग्यता-अयोग्यता को परखते हुए उसे योग्य जानकर ही प्रव्रजित करना चाहिए। अयोग्य दीक्षार्थी संसार पक्षीय दृष्टि से चाहे अपने परिवार का हो, परिवार से भिन्न हो, श्रावक हो, श्रावकेतर अन्यतीर्थिक हो - कोई भी क्यों न हो, उसे प्रव्रजित नहीं करना चाहिए। वैसा करना दोषयुक्त है, प्रायश्चित्त योग्य है।

परीक्षण-निरीक्षण करने पर भी यदि दीक्षार्थी की किसी अयोग्यता की ओर ध्यान न जाए तथा उसे दीक्षित कर लिया गया हो एवं बाद में यह ज्ञात हो कि दीक्षित व्यक्ति योग्य नहीं है तो उसे बड़ी दीक्षा नहीं देनी चाहिए। यदि कोई भिक्षु ऐसा करता है तो वह प्रायश्चित्त का भागी होता है।

साधु जीवन में संप्रविष्ट अयोग्य व्यक्ति अपना तो अहित करता ही है, साधु संघ की भी उससे अपकीर्ति होती है, पवित्र धार्मिक वातावरण कलुषित होता है।

अयोग्य से वैयावृत्य कराने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू णायगेण वा अणायगेण वा उवासएण वा अणुवासएण वा अणलेण वेयावच्चं कारावेइ कारावेतं वा साइज्जइ ॥ ८९ ॥

भावार्थ - ८९. जो भिक्षु अयोग्य स्वजन या परजन, उपासक या अनुपासक दीक्षित भिक्षु से वैयावृत्य - सेवा-परिचर्या कराता है या कराते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - इस सूत्र में अयोग्य से सेवा कराना दोषयुक्त, प्रायश्चित्त योग्य बतलाया गया है। यहाँ प्रयुक्त अयोग्य शब्द एक विशेष भाव का द्योतक है, जो साधुचर्या के नियमों को तो भलीभाँति योग्यतापूर्वक पालता है, किन्तु वैयावृत्य या सेवा-परिचर्या के लिए जैसी योग्यता, कुशलता, सक्षमता चाहिए, वैसी उसमें नहीं होती। उसे वैयावृत्य की दृष्टि से अयोग्य कहा जाता है।

जो भिक्षु सेवा की दृष्टि से योग्य नहीं होता, उससे वैयावृत्य कराना, सेवा लेना अपने लिए और उसके लिए - दोनों के लिए ही असुविधाजनक एवं कष्टप्रद होता है। सेवा लेने वाले को समचित्त सेवा प्राप्त नहीं होती तथा देने वाले के मन में आकुलता उत्पन्न होती है।

निशीथ भाष्य में अयोग्यता का संबंध विशेषतः भिक्षाचर्या के साथ प्रतिपादित किया है। तदनुसार - जिसने पिंडैषणा का अध्ययन न किया हो, जिसकी वैयावृत्य में रुचि न हो, श्रद्धा न हो, जिसने उसका परमार्थ - महत्त्वपूर्ण आशय, अभिप्राय स्वायत्त न किया हो एवं जो दोषों का परिहार करने में अक्षम हो, वैयावृत्य की दृष्टि से वह अयोग्य है।

साधु-साधियों के एकत्र संवास विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू सचेले सचेलगाणं मज्जे संवसइ संवसंतं वा साइज्जइ ॥ ९० ॥

जे भिक्खू सचेले अचेलगाणं मज्जे संवसइ संवसंतं वा साइज्जइ ॥ ९१ ॥

जे भिक्खू अचेले सचेलगाणं मज्जे संवसइ संवसंतं वा साइज्जइ ॥ ९२ ॥

जे भिक्खू अचेले अचेलगाणं मज्जे संवसइ संवसंतं वा साइज्जइ ॥ ९३ ॥

कठिन शब्दार्थ - सचेले - सवस्त्र - स्थविरकल्पी, सचेलगाणं मज्जे - स्थविरकल्पी साधियों के मध्य - साथ, संवसइ - वास करता है, अचेलगाणं मज्जे - अचेलक (वस्त्ररहित) साधियों के मध्य, अचेले - निर्वस्त्र साधुओं के।

भावार्थ - ९०. जो स्थविरकल्पी भिक्षु स्थविरकल्पी साधियों के साथ वास करता है या वास करते हुए का अनुमोदन करता है।

९१. जो स्थविरकल्पी भिक्षु अचेलक साधियों के साथ वास करता है या वास करते हुए का अनुमोदन करता है।

९२. जो अचेलक भिक्षु स्थविरकल्पी साधियों के साथ वास करता है या वास करते हुए का अनुमोदन करता है।

९३. जो अचेलक भिक्षु अचेलक साधियों के साथ वास करता है या वास करते हुए का अनुमोदन करता है।

इस प्रकार उपर्युक्त अविहित कार्य करने वाले भिक्षु को गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - ब्रह्मचर्य की अखण्ड, अविचल आराधना की दृष्टि से जैन आगमों में साधु-साधियों के लिए एक साथ संवास करने का, एक ही स्थान पर ठहरने का, रहने का निषेध किया गया है।

यद्यपि साधु तथा साध्वी अपनी व्रताराधना में संकल्पनिष्ठता एवं दृढतायुक्त होते हैं, किन्तु उनके जीवन में कभी भी ऐसा प्रसंग न बन पड़े, जिससे उनकी ब्रह्मचर्याराधना में दोष का अवसर आ जाए। इस कारण से साधु साध्वी के अचेल होने पर (चोरादि के द्वारा

वस्त्रापहरणादि हो जाने पर) वैसी स्थिति में संवास की प्रायः विधि निशीथ सूत्र के ११ वें उद्देशक के इन सूत्रों में बताई है। ठाणांग सूत्र के पांचवें ठाणे में बताये हुए पाँच कारणों को छोड़ कर शेष कारणवश साधु साध्वी के साथ में रहने का गुरु चौमासी प्रायश्चित्त बताया है। चोरादि के द्वारा वस्त्रापहरण होने पर साधु साध्वी अचेलक हो सकते हैं। यही धारणा है। जिनकल्पी साधु एवं भिन्न समाचारी वाले साधु ऐसा अर्थ श्री घासीलालजी म. सा. की प्रति में मिलता है। परंतु निशीथ चूर्ण एवं भाष्य (जो कि १३००-१४०० वर्ष प्राचीन है उस) में उपरोक्त अर्थ ही मिलता है, एवं यही अर्थ संगत लगता है। (पुराने टर्कों में भी यही अर्थ मिलता है।)

रात में रखे पीपर आदि के सेवन का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू पारियासियं पिप्पलिं वा पिप्पलिंचुण्णं वा सिंगबेरं वा सिंगबेरचुण्णं वा बिलं वा लोणं उब्भियं वा लोणं आहारेइ आहारेंतं वा साइज्जइ ॥ ९४ ॥

कठिन शब्दार्थ - पारियासियं - पर्युषित - रात्रि में रखा हुआ, पिप्पलिं - पीपर, पिप्पलिंचुण्णं - पीपर का चूर्ण, सिंगबेरं - शुष्क अदरक - सोंठ, सिंगबेरचुण्णं - सोंठ का चूर्ण, बिलं वा लोणं - बिड़ संज्ञक लवण विशेष, उब्भियं वा लोणं - उद्भिद्लवण - अन्य प्रकार से शस्त्र परिणत नमक।

भावार्थ - ९४. जो भिक्षु रात में रखे हुए पीपर, पीपर का चूर्ण, सोंठ, सोंठ का चूर्ण, बिड़ नमक या उद्भिद् नमक का सेवन करता है - खाता है अथवा सेवन करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - भिक्षु के लिए रात्रि के समय किसी प्रकार के खाद्य-पेय आदि के सेवन का सर्वथा निषेध है। रात के समय इन्हें अपने पास रखना भी दोषपूर्ण है।

इस सूत्र में पीपर, सोंठ और बिड़ एवं उद्भिद् नामक नमक रात में रखने और सेवन करने का प्रायश्चित्त कहा गया है।

यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब समग्र खाद्य, पेय आदि का सर्वथा निषेध है तब पृथक् रूप में इनके प्रायश्चित्त का प्रसंग क्यों आवश्यक माना गया?

भोज्य एवं पेय पदार्थ भूख तथा प्यास को मिटाते हैं। यहाँ वर्णित (अचित्त) पीपर, सोंठ तथा नमक का भूख प्यास को मिटाने से संबंध नहीं है। ये पाचन - आस्वादन आदि से

संबद्ध हैं, यों सोचते हुए इनको आहार-पानी से पृथक् मानकर कोई भिक्षु रात को इन्हें अपने पास रख न ले, इनका सेवन न कर ले, इस आशंका से इस सूत्र में इन्हें रात्रि में रखना, इनका सेवन करना - चखना खाना प्रायश्चित्त योग्य बताना आवश्यक माना गया।

खाद्य, पेय, लेह्य, चूर्ण, चौष्य, आस्वाद्य आदि सभी पदार्थ भोज्यत्व के अन्तर्गत हैं। केवल क्षुधा-पिपासा-निवारण तक ही भोज्यत्व की सीमा नहीं है। पाचन-आस्वादन आदि से संबद्ध पदार्थ भी तो भोज्यादि विषयक विशेष लिप्सा से पृथक् नहीं हैं।

यहाँ बिड़ और उद्भिद् - इन दो प्रकार के नमक का उल्लेख हुआ है। प्राचीन व्याख्याओं के अनुसार जिस स्थान या क्षेत्र में नमक पैदा नहीं होता वहाँ ऊपर - अनुपजाऊ मिट्टी के या बालु के कणों को एक विशेष प्रक्रिया से पकाकर जो पदार्थ तैयार किया जाता है, उसे बिड़ नमक कहा जाता है।

जो स्वाभाविक रूप में उत्पन्न होता है, पर्वतीय या पथरीले आदि स्थान में प्राप्त होता है, वह उल्भिर्ण - उद्भिद् नमक कहा जाता है। अथवा उल्भिर्ण वा लोर्ण - अन्य शस्त्रपरिणत नमक।

ये दोनों प्रकार के नमक अचित्त हैं। आगम में सचित्त नमक के साथ इन दो प्रकार के नमक का नाम नहीं आता है। दशवैकालिक अ. ३ गा. ८ में ६ प्रकार के सचित्त नमक ग्रहण करने व खाने को अनाचार कहा है। यथा -

“सोवच्चले सिंधवे लोणे, रोमालोणे य आमए।

सामुद्धे पंसुखारे य, काला लोणे य आमए॥ ८॥”

आचारांग श्रु. २ अ. १ उ. १० में इन दो प्रकार के नमक को खाने का विधान है। दशवैकालिक अ. ६ गा. १८ में इन दो के संग्रह का निषेध है और प्रस्तुत सूत्र में रात्रि में रखे हुए को खाने का प्रायश्चित्त है। इन स्थलों के वर्णन से यही स्पष्ट होता है कि उपरोक्त ६ प्रकार के सचित्त नमक में से कोई नमक अग्नि पक्व हो तो उसे बिडलत्तया कहते हैं और अन्य शस्त्रपरिणत हो तो उसे उद्भिद् कहते हैं।

बाल मरण प्रशंसा विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू गिरिपडणाणि वा मरुपडणाणि वा भिगुपडणाणि वा तरुपडणाणि वा गिरिपक्खंदणाणि वा मरुपक्खंदणाणि वा भिगुपक्खंदणाणि वा तरुपक्खंदणाणि वा जलपवेसाणि वा जलणपवेसाणि वा जलपक्खंदणाणि

वा जलणपक्खंदणाणि वा विसभक्खणाणि वा सत्थोपाडणाणि वा वलयमरणाणि वा वसड्डाणि वा तब्भवाणि वा अंतोसल्लणाणि वा वेहाणसाणि वा गिद्धपिड्डाणि वा जाव अण्णयराणि वा तहप्पगाराणि बालमरणाणि पसंसइ पसंसंतं वा साइज्जइ। तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्टाणं अणुग्घाइयं ॥ १५ ॥

॥ गिसीहऽज्जयणे एक्कारसमो उद्देशो समत्तो ॥ ११ ॥

कठिन शब्दार्थ - गिरिपडणाणि - गिरिपतन - पर्वत की चोटी से गिरना अथवा ऐसे उच्च स्थान से गिरना जहाँ से गिरता हुआ व्यक्ति दिख सकता हो, मरुपडणाणि - मरुपतन-मरुस्थलीय ऊपर भूमि में या बालू भूमि में गिर पड़ना अथवा ऐसे स्थान से गिरना जहाँ से गिरता हुआ व्यक्ति दिखाई न दे, भिगुपडणाणि - भृगुपतन - नदी के तट से (नदी में) गिरना अथवा खड्डे आदि में गिरना, तरुपडणाणि - तरुपतन - पेड़ की शाखा से गिरना, गिरिपक्खंदणाणि - गिरिप्रस्खंदन - पर्वत से छलांग लगाकर गिरना, मरुपक्खंदणाणि - मरुप्रस्खंदन - मरुभूमि में ऊँचे स्थान से कूदकर गिरना, भिगुपक्खंदणाणि - भृगुप्रस्खंदन - नदी तट अथवा खड्डे आदि में छलांग लगाकर कूदना, तरुपक्खंदणाणि - तरुप्रस्खंदन - वृक्ष से कूदकर गिरना, जलपवेशाणि - जलप्रवेश - नदी, कूप, सरोवर आदि में प्रवेश, जलणपवेशाणि - ज्वलनप्रवेश - अग्नि में प्रवेश, जलपक्खंदणाणि - जलप्रस्खंदन - छलांग लगाकर जल में गिरना, जलणपक्खंदणाणि - ज्वलन प्रस्खंदन - छलांग लगाकर आग में कूद पड़ना, विसभक्खणाणि - विषभक्षण - जहर खाना, सत्थोपाडणाणि - शस्त्रोत्पातन - उच्च स्थान से शस्त्र (तलवार) आदि पर गिर पड़ना, वलयमरणाणि - वलयमरण - गले में वस्त्र, रस्सी आदि से फाँसी लगाकर मरना, वसड्डाणि - वशार्त्तमरण - विषयभोगों में अत्यधिक आसक्तिवश उनकी अप्राप्ति में दुःखित, व्यथित होकर मरना, तब्भवाणि - तद्भवमरण - पुनः उसी भव को प्राप्त करने के निदान द्वारा मरण, अंतोसल्लणाणि - अन्तोशल्यमरण - तीर-भाले आदि की तीक्ष्ण नोक से मरना या दोषों के अनालोचन से पश्चात्तापपूर्वक मरण, वेहाणसाणि - आकाश में विस्तीर्ण वृक्ष आदि की शाखा से लटककर प्राणान्त करना, गिद्धपिड्डाणि - गृद्ध आदि से शरीर को नुचवाकर, भक्षण करवाकर मरना, पसंसइ - प्रशंसा करता है।

भावार्थ - ९५. जो भिक्षु पर्वत की चोटी से गिरने, मरुभूमि में गिरने, नदी या खड्डे में गिरने, पेड़ की शाखा से गिरने, पर्वत के शिखर से छलांग लगाकर गिरने, मरुभूमि में ऊँचे स्थान से कूदकर गिरने, नदीतट या गर्त में छलांग लगाकर कूदने, वृक्ष से कूदकर गिरने, नदी, कूप आदि में प्रवेश करने, अग्नि में प्रवेश करने, नदी, कूप, सरोवर या अग्नि में कूदकर प्रवेश करने, जहर लेने, उच्च स्थान से शस्त्र (तलवार आदि) पर गिर पड़ने, गले में वस्त्र, रस्सी आदि से फाँसी लगाकर मरने, पुनः उसी भव को प्राप्त करने हेतु निदानपूर्वक मरने, तीर, भाले आदि हथियार की तीक्ष्ण नोक से मरने या मिथ्यादर्शन शल्य आदि दोषों के अनालोचन से पश्चात्तापपूर्वक मरने, आकाशस्थ वृक्ष आदि की शाखा से लटककर (फंदा लगाकर) मरने, गिद्ध आदि मांसलुब्ध प्राणियों से स्वयं को नुचवा कर मरने यावत् इसी प्रकार के अन्यान्य उपक्रम युक्त बालमरण की प्रशंसा करता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

इस प्रकार उपर्युक्त ९५ सूत्रों में किए गए किसी भी प्रायश्चित्त स्थान का, तद्गत दोषों का सेवन करने वाले भिक्षु को अनुद्घातिक परिहार-तप रूप गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

इस प्रकार निशीथ अध्ययन (निशीथ सूत्र) में एकादश उद्देशकं परिसमाप्त हुआ।

विवेचन - जीवन में अत्यधिक मानसिक पीड़ा, व्यथा, निराशा व्याप्त होने से तीव्र मोहोदयवश व्यक्ति अपने जीवन को सर्वथा निस्सार, निरर्थक मानता हुआ स्वयं मौत को स्वीकार करने का दुष्क्रम अपनाता है, जो आत्मदौर्बल्य का, कायरता का परिचायक है। जैन शास्त्रों में ऐसी मौत को बालमरण कहा गया है। वहाँ बाल और पण्डित - इन दो शब्दों का विशेष रूप से प्रयोग हुआ है। बाल शब्द अज्ञता का तथा पण्डित शब्द विज्ञता - विशिष्ट ज्ञानवत्ता का द्योतक है।

इस सूत्र में जो बालमरण के प्रकार बतलाए गए हैं, उससे प्रकट होता है कि जैसे उपक्रम प्रचलित और समर्थित रहे हैं।

यथार्थ तो यह है कि आत्मा के उदात्त, उच्च, पवित्र परिणामों द्वारा मानसिक व्याकुलता, आतुरता तथा पीड़ा का सामना करते हुए व्यक्ति आत्मस्थ - स्वस्थ बने। आत्मपराक्रम, पुरुषार्थ एवं सदुद्यम का यही तकाजा है कि जब कभी किन्हीं कारणों से हताशा, निराशामय भाव मन में उठें तो व्यक्ति अपने सत्, चित्, आनंदमय स्वरूप का चिन्तन करे, अन्तरात्मभाव

में परिणत होता हुआ, बहिरात्मभाव से स्वयं को पृथक् करे। ऐसा न कर पूर्वोक्त उपक्रमों से मरण प्राप्त करने की इच्छा करना, मन में वैसी भावना लाना आत्मपराभव या पराजय है।

भिक्षु के जीवन में ऐसा कदापि न हो, वह किसी भी मानसिक विपन्नतायुक्त स्थिति में आत्मस्वरूप से विचलित, स्खलित होता हुआ अकाल मृत्यु को प्राप्त कर दुर्गति का भाजन न बने, इस हेतु इस सूत्र में इस प्रकार के प्रयत्नों द्वारा स्वयं मृत्यु का वरण करना प्रायश्चित्त योग्य बतलाया गया है।

उपर्युक्त रूप में मृत्यु को प्राप्त करने वाले के आत्मपरिणाम इतने दूषित, मलिन और निम्न हो जाते हैं, जिससे उसके घोर कर्मबंध होता है, अधोगति को प्राप्त करता है।

सूत्र में प्रयुक्त कठिन शब्दों के अर्थ स्पष्ट कर दिए गए हैं फिर भी गिरिपतन और गिरिप्रखंडन के रूप में जो दो बार प्रयोग हुआ है उसका तात्पर्य क्रमशः नैराश्यपूर्ण भावों की सामन्यता एवं तीव्रता से है।

‘आत्मघाती महापापी’ के अनुसार आत्महत्या करने वाला महापापी माना गया है। उपर्युक्त मृत्यु विषयक दूषित उपक्रम भी आत्महत्या के ही प्रकार हैं। शारीरिक दृष्टि से तीव्रतम कष्ट, रोग, पीड़ा आदि के आने पर उनसे छुटकारा पाने हेतु जो प्राणत्याग करता है, वह महामोहनीय कर्म का बंध करता है।

शास्त्रों में कहा गया है - जो पीड़ा, दुःख और वेदना को आत्मबल के सहारे सहन करता है, आत्मनिर्जरा करता है। जो वैसी स्थिति में रुदन, क्रंदन करता है, वह नवीन कर्मों को संचित करता है। उनसे घबराकर मरण प्राप्त करना तो अत्यधिक निन्द्य, परित्याज्य है ही, वैसा सोचना तक दोष है।

व्याख्याप्रज्ञप्ति तथा स्थानांग सूत्र में भी आत्महत्यामूलक इन मरण विषयक उपक्रमों को दोषयुक्त एवं परिहेय बतलाया गया है।

इस प्रसंग में यह ज्ञातव्य है - यदि शील एवं संयमरक्षा हेतु स्वयं मृत्यु का वरण करना पड़े तो वह आत्महत्या या दोष नहीं है। क्योंकि वैसा करने में मन में संयम पालन के उत्कृष्ट भाव सन्निहित रहते हैं।

॥ इति निशीय सूत्र का एकादश उद्देशक समाप्त ॥

बारसमो उद्देसओ - द्वादश उद्देशक

त्रस-प्राणी-बंधन-विमोचन विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू कोलुणपडियाए अण्णयरिं तसपाणजाइं तणपासएण वा मुंजपासएण वा कट्टपासएण वा चम्मपासएण वा वेत्तपासएण वा सुत्तपासएण वा रज्जुपासएण वा बंधइ बंधंतं वा साइज्जइ ॥ १ ॥

जे भिक्खू कोलुणपडियाए अण्णयरिं तसपाणजाइं तणपासएण वा मुंजपासएण वा कट्टपासएण वा चम्मपासएण वा वेत्तपासएण वा सुत्तपासएण वा रज्जुपासएण वा बद्धेल्लयं मुंच(मुय)इ मुंचं(यं)तं वा साइज्जइ ॥ २ ॥

कठिन शब्दार्थ - कोलुणपडियाए - करुणाभाव (दीनताभाव - मोहभाव) से, तणपासएण - तृणपाश से, मुंज - मूँज, कट्ट - काष्ठ, चम्म - चर्म - चमड़ा, वेत्त - वेत्र - बेंत, सुत्त - सूत्र - सूत, रज्जु - रस्सी, बंधइ - बांधता है, बंधंतं - बांधते हुए का, बद्धेल्लयं - बंधे हुए को।

भावार्थ - १. जो भिक्षु करुणाभाव से किसी त्रस प्राणी को तृण, मूँज, काष्ठ, चमड़े, बेंत, सूत्र या रज्जु के पाश या फंदे से बांधता है या बांधते हुए का अनुमोदन करता है।

२. जो भिक्षु करुणावश तृण, मूँज, काष्ठ, चर्म, बेंत, सूत्र या रज्जु के पाश से बंधे हुए त्रस प्राणी को बंधन मुक्त करता है या ऐसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

ऐसा करने वाले भिक्षु को लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - भिक्षु का जीवन मोक्षलक्षी होता है। उसके समस्त कार्य, प्रवृत्तियाँ उसी प्रकार की होती हैं, जिनसे वह मोक्षमार्ग पर उत्तरोत्तर अग्रसर होता जाए। अत एव भिक्षुचर्या की विशेष मर्यादाएँ और सिद्धान्त हैं। वह ऐहिक नहीं वरन् पारलौकिक जीवन जीता है। ऐहिकता का उसके जीवन के साथ उतना ही संबंध है कि संयम के उपकरणभूत शरीर का निर्वाह हो सके। जब शरीर की संयमोपवधकता, साधकता नहीं रहती तब उसे भी वह अन्ततः समाधिपूर्वक विसर्जन कर देता है, जिसे शास्त्रों में पण्डित मरण कहा गया है।

यहाँ पर त्रस जीवों में गाय आदि के बछड़े आदि बड़े जीव समझना चाहिये तथा शय्यातर कहता हो कि - 'यहाँ पर आप उतरें किन्तु इन बछड़ों आदि को जंगल से आने पर बांध देना अथवा समय होने पर खोल देना' तो ये सब कार्य गृहस्थों के होने से साधुओं को इस प्रकार

नहीं करना चाहिये, किन्तु उस शय्यातर से कह देना चाहिये कि - हम तुम्हारे घर में रहे हुए स्तम्भ की तरह इस प्रकार का (बछड़ों को खोलने, बांधने का) कोई भी कार्य नहीं करेंगे। क्योंकि इस प्रकार खोलने से बछड़ा आदि दूध पी जाय तो गृहस्थ का उपालंभ और जंगल आदि में दौड़ कर चला जाय और उसे व्याघ्रादि हिंसक पशु खा जाय तो जीव विराधना होती है तथा बांधने पर बछड़े को अन्तराय तथा सर्पादि आकर उसे काट जाय तो जीव विराधना होती है। अतः अनुकम्पा वाले मुनि बछड़े आदि को बांधना, खोलना नहीं करते हैं। यदि कोई करे तो उपर्युक्त दोषों का कारण होने से उसे चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

यदि उसके गले में बंधन का फासा आ गया हो जिससे वह तड़फ रहा हो अथवा अग्नि आदि लग गई हो (तथा गड्ढे, कुएं आदि में गिरने के भय से) इत्यादि कारणों से उसके बंधन खोल दिये हों इसका प्रायश्चित्त नहीं समझना चाहिये (इत्यादि विस्तृत विवेचन इसके भाष्य में आया है।)

इससे संबंधित विशेष विवेचन - संघ से प्रकाशित 'समर्थ समाधान भाग २ के पृष्ठ १५० से १५४ तक वर्णित है।' जिज्ञासुओं को वह स्थल द्रष्टव्य है।

उपर्युक्त सूत्रों में त्रस प्राणियों के बंधन-विमोचन विषय के संदर्भ में जो चर्चा आई है, वे लौकिक कार्य हैं, जिन्हें लोग अपनी सुविधा, अनुकूलता एवं भावना के अनुरूप करते रहते हैं। यदि भिक्षु ऐसे कार्यों में संलग्न होने लगे, रुचि लेने लगे तो उसका संवर-निर्जरामय साधना पक्ष क्रमशः गौण और उपेक्षित होने लगता है। उसे तो आत्मभाव में - अपने स्वरूप में इतना स्थिर रहना चाहिए कि बाह्य कारुण्य-निष्कारुण्य का उसे भान ही न रहे। निःस्पृह साधनारत साधक में ऐसा होता ही है। अत एव उसकी भूमिका, कार्यविधा तथा समाचारी गृहस्थों से भिन्न कही गई है। गृहस्थों के लिए जो करणीय है, वह सब साधु के लिए करणीय नहीं होता। यहाँ महाकवि कालिदास की -

अल्पस्य हेतोर्बहुहातुमिच्छन्, विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम्।

(दिखने वाले थोड़े से लाभ के लिए बहुत कुछ गँवा देना कोई बुद्धिमत्ता नहीं है।) यह उक्ति चरितार्थ होती है।

उत्तराध्ययन सूत्र में नमिराजर्षि द्वारा उद्धोषित निम्नांकित उक्ति द्रष्टव्य है -

मिथिलाए डज्झमाणीए ण मे डज्झइ किंचण।

(मिथिलायां डहमानायां ण मे दहति किंचन।)

अर्थात् मिथिला जल रही है, मेरा क्या जल रहा है?

आशय यह है - अध्यात्म साधना निष्णात पुरुष अपने स्वरूप में इतना तन्मय होता है कि बहिर्जगत् की ओर उसकी दृष्टि ही नहीं जाती। यदि जाती है तो आध्यात्मिक दृष्टि से उसकी दुर्बलता है। दुर्बलता वरेण्य नहीं है, दोष है। अत एव उपर्युक्त प्रवृत्तियाँ प्रायश्चित्त योग्य बतलाई गई हैं।

प्रत्याख्यान भंग करने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू अभिक्खणं अभिक्खणं पच्चक्खाणं भंजइ भंजंतं वा साइज्जइ ॥ ३ ॥

कठिन शब्दार्थ - अभिक्खणं - बार-बार, भंजइ - भंग करता है, भंजंतं - भंग करने वाले का।

भावार्थ - ३. जो भिक्षु प्रत्याख्यान-स्वीकृत त्याग बार-बार भंग करता है या भंग करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - प्रत्याख्यान का अभिप्राय आत्मा का अकल्याण करने वाले कर्मों अथवा सावद्य कर्मों के परित्याग का संकल्प, उद्घोषण या आख्यान है। साधनामय जीवन में प्रत्याख्यान का सर्वोपरि महत्त्व है। प्रत्याख्यान द्वारा गृहीत व्रत या प्रतिज्ञा का यावज्जीवन, संपूर्णतः परिपालन करना चाहिए। इसी दृष्टि से यहाँ प्रत्याख्यान भंग को दोषयुक्त बतलाया गया है। निशीथ भाष्य में पुनः-पुनः को तीन बार तक सीमित किया है। उसके पश्चात् विहित प्रायश्चित्त आता है।

दशाश्रुतस्कंध में इसे शबल दोष कहा गया है, जिससे संयम के शुद्ध स्वरूप पर मालिन्यपूर्ण धब्बे लगते हैं, वह विद्रूप हो जाता है।

निशीथ भाष्य में प्रत्याख्यान भंग करने से होने वाले दोषों का विशद् वर्णन हुआ है, जो पठनीय है।

प्रत्येक काययुक्त-आहार सेवन विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू परित्तकायसंजुत्तं आहारं आहारेइ आहारंतं वा साइज्जइ ॥ ४ ॥

कठिन शब्दार्थ - परित्तकाय - प्रत्येककाय - प्रत्येककायिक वनस्पति, संजुत्तं - संयुक्त।

भावार्थ - ४. जो भिक्षु प्रत्येक काय (वनस्पति) संयुक्त आहार करता है या करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - वनस्पतिकाय के साधारण एवं प्रत्येक के रूप में दो भेद किए गए हैं। जहाँ एक शरीर में अनन्त जीव होते हैं, उसे 'साधारण' कहा जाता है। जहाँ एक शरीर में एक ही जीव होता है, उसे 'प्रत्येक' कहा जाता है।

धान्य एवं बीजयुक्त प्रत्येक वनस्पतिकाययुक्त आहार लेने का प्रायश्चित्त चतुर्थ उद्देशक में आ चुका है।

प्रसंगोपात रूप में यहाँ प्रत्येक काय मिश्रित आहार का तात्पर्य निम्नांकित है -

१. शस्त्र-अपरिणत नमकयुक्त आहार।
२. सचित्त जल युक्त तक्र (छाछ) या आम्र रस आदि (शस्त्र - अपरिणत)।
३. पके हुए, चूल्हे से नीचे उतारे हुए व्यंजन में धनिया पत्ती आदि का ऊपर से सम्मिश्रण।

यदि भिक्षु को यह ज्ञात हो जाए तो उसे उस आहार को नहीं लेना चाहिए। यदि ग्रहण करने के पश्चात् मालूम पड़े तो उस आहार का सेवन न कर परठना विहित है।

रोमयुक्त चर्म रखने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू सलोमाइं चम्माइं धरेइ धरेंतं वा साइज्जइ ॥ ५ ॥

कठिन शब्दार्थ - धरेइ - रखता है।

भावार्थ - ५. जो भिक्षु (उपयोग हेतु) रोमयुक्त चर्म रखता है एवं रखने वाले का अनुमोदन करता है, उसे लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - उत्सर्गमार्गापेक्षया भिक्षु को चर्म रखना नहीं कल्पता। अत एव यहाँ उसे प्रायश्चित्त योग्य बतलाया गया है। किन्तु वृद्धत्व, दौर्बल्ययुक्त विशेष दैहिक अवस्था तथा रुग्णता इत्यादि स्थितियों में अपवाद रूप में सरोम चर्म रखना निषिद्ध नहीं है क्योंकि इसके उपयोग से मांस-मज्जा आदि की न्यूनता से कृश शरीर को सोने बैठने आदि में कुछ आराम मिल सकता है।

इस आपवादिक विधान में भी यह ज्ञातव्य है कि यदि चर्म रोम रहित हो, कटा हुआ हो तो उसे साधु-साध्वियों द्वारा समय विशेष तक रखा जाना कल्प्य है।

साध्वी के लिए सरोमचर्म रखना सर्वथा निषिद्ध है। क्योंकि उसके स्पर्श से विपरीत लैंगिकता का आभास होता है।

रोम युक्त चर्म में सूक्ष्म प्राणी उत्पन्न हो जाते हैं, प्रतिलेखन में असुविधा होती है, वर्षा ऋतु में लीलन-फूलन आदि उत्पन्न हो जाती है तथा उसे धूप में रखने से तद्गत सूक्ष्म जीवों की विराधना होती है अतः सरोम चर्म-उपयोग प्रायश्चित्त योग्य कहा गया है।

यहाँ इतना और जानना चाहिए, यदि रोमयुक्त चर्म लाना पड़े तो यथासंभव कुम्हार या लुहार के यहाँ से लाना अधिक उपयुक्त है। उसे रातभर काम में लेकर प्रातःकाल लौटा देना चाहिए। कुम्हार, लुहार द्वारा दिनभर उपयोग में लेते रहने से उसमें जीवोत्पत्ति होना कम संभावित है तथा एक रात्रि तक उसमें जीव उत्पन्न होने की भी संभावना कम रहती है।

गृहस्थ के वस्त्र से ढके पीठे पर बैठने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू तणपीढगं वा पलालपीढगं वा छगणपीढगं वा कट्टुपीढगं वा वेत्तपीढगं वा परवत्थेणोच्छण्णं अहिट्टेइ अहिट्टेंतं वा साइज्जइ ॥ ६ ॥

कठिन शब्दार्थ - पलाल - पराल (पुआल या भूसा), छगण - शुष्क गोबर, परवत्थेणोच्छण्णं - परवस्त्रेणाच्छन्न - दूसरे (गृहस्थ) के वस्त्र से आच्छन्न, अहिट्टेइ - अधिष्ठित होता है - बैठता है।

भावार्थ - ६. जो भिक्षु गृहस्थ के वस्त्र से ढके हुए तृण (घास-फूस), पुआल, शुष्क गोबर, काठ या बेंत से निर्मित पीठे पर बैठता है अथवा बैठने वाले का अनुमोदन करता है, उसे लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - इस सूत्र में 'अहिट्टेइ - अधितिष्ठति' क्रिया पद प्रयुक्त हुआ। 'अधि' उपसर्ग और 'स्था' धातु के उपयोग से अधितिष्ठति शब्द बनता है, जो वर्तमान बोधक लट्लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन का रूप है। इसका अर्थ अधिष्ठित होना - खड़े होना, सोना, बैठना, स्थित होना इत्यादि रूप में प्रयुक्त होता है। यहाँ पीठे की आसक्ति - संभोग या सहचरिता के कारण इसका अर्थ यहाँ बैठना संगत है।

सूत्र में वैसे पीठे पर बैठना दोषयुक्त कहा गया है जिस पर गृहस्थ का कपड़ा बिछा हुआ हो।

गृहस्थ वस्त्र रहित उपर्युक्तविध पीठे (कोई एक) को बैठने के प्रयोग में लेना निषिद्ध नहीं है। इतना अवश्य है, वह झुसिर दोषयुक्त नहीं होना चाहिए। झुसिर का तात्पर्य सधनता, रहितता अथवा परमाणु स्कन्धों का परस्पर सटा हुआ न होना है। क्योंकि वैसी स्थिति में जीवोत्पत्ति, जीव-विराधना आशंकित है।

जे भिक्खू णिग्गंथीए संघाडिं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा सिव्वावेइ
सिव्वावेतं वा साइज्जइ ॥ ७ ॥

कठिन शब्दार्थ - संघाडिं - शाटिका, सिव्वावेइ - सिलवाता है।

भावार्थ - ७. जो भिक्षु अन्यतीर्थिक या गृहस्थ से साध्वी की शाटिका सिलवाता है या सिलवाने वाले का अनुमोदन करता है, उसे लघुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - साधु समाचारी के अनुसार साध्वी की शाटिका या चद्दर एक खण्डीय अथवा तीन प्रमाण (४ हाथ, ३ हाथ, २ हाथ) भी हो सकती है। त्रिखंडीय शाटिका का सिलाया जाना आवश्यक है। जैसा कि यथास्थान विवेचन हुआ है, जैन साधु-साध्वियों का जीवन स्वावलम्बितापूर्ण होता है। वे अपने सभी कार्य स्वयं करते हैं अथवा संघीय व्यवस्था के अनुरूप सांभोगिक - परस्पर व्यवहार-साहचर्य युक्त साधु-साध्वियों से करवा सकते हैं। औरों से करवाना परावलम्बिता का द्योतक है। इसीलिए इस सूत्र में अन्यतीर्थिक या गृहस्थ से शाटिका सिलवाने का प्रायश्चित्त बतलाया गया है।

जैन साधु-साध्वियों का आध्यात्मिक उद्बोधन और धार्मिक उपदेश देने की दृष्टि से श्रावक-श्राविकाओं से संबंध है किन्तु अपनी जीवनचर्या से संबद्ध विविध कार्यों के संदर्भ में वे औरों से सहयोग नहीं ले सकते। क्योंकि इससे ऐहिक संपर्क बढ़ता है, जिससे संयमजीवितव्य में लाभ के स्थान पर हानि ही आशंकित है।

साधु द्वारा साध्वी की शाटिका अन्यतीर्थिक या गृहस्थ से सिलवाने पर और भी आशंकाएँ घटित हो सकती हैं। जिससे सिलवाया जाए उसके मन में साधु और साध्वी की घनिष्ठता की शंका उत्पन्न हो सकती है। वशीकरण आदि मंत्रप्रयोग द्वारा साध्वी के शील में विघ्न या व्याघात उत्पन्न किया जा सकता है क्योंकि मात्रिकजन वस्त्र के आधार पर जिसका वह है, उसे प्रभावित, अभिभूत कर सकता है।

ऐसी आशंकित दुष्कृतियों के निवारण की दृष्टि से उपर्युक्त कार्य प्रायश्चित्त योग्य बतलाया गया है।

स्थावरकाय हिंसा विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू पुढवीकायस्स वा आउक्कायस्स वा अगणिकायस्स वा
वाउकायस्स वा वणप्फइकायस्स वा कलमायमवि समा(रं)रभइ समारभंतं
वा साइज्जइ ॥ ८ ॥

कठिन शब्दार्थ - कलमायमवि - कलाय संज्ञक कृताकार दाने (मटर) जितना भी - जरा भी, समा(रं)रभइ - समारंभ - विराधना करता है।

भावार्थ - ८. जो भिक्षु पृथ्वीकाय, अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय या वनस्पतिकाय की जरा भी हिंसा करता है, विराधना करता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - जब मुमुक्षु दीक्षार्थी प्रव्रज्या या दीक्षा स्वीकार करता है तभी वह 'सर्वं सावर्ज्यं जोगं पच्चवस्वामि' - इस प्रतिज्ञा वाक्य के अन्तर्गत सभी स्थावर, त्रस (जंगम) प्राणियों की विराधना, हिंसा से मन, वचन, काय एवं कृत, कारित, अनुमोदित पूर्वक विरत हो जाता है।

सामान्यतः त्रस प्राणी तो हिलते-डुलते, त्रस पाते प्रतीयमान हैं किन्तु 'तिष्ठन्तीति स्थावराः' - सर्वथा स्थितिशील जीव इस रूप में प्रतीत नहीं होते। प्रतीयमानता, अप्रतीयमानता गौण है। वैसा हो या न हो, हिंसा सर्वथा वर्जित है। क्योंकि -

“सत्वे पाणा वि इच्छन्ति जीवियुं ण मरिज्जिउं।

तम्हा पाणिवहं घोरं, णिग्गंथा वज्जयंति णं॥”

के अनुसार छोटे-बड़े सभी प्राणी जीना चाहते हैं, सभी में जिजीविषा है कोई मरना नहीं चाहता। अतः प्राणियों का वध, हिंसन, उत्पीड़न निर्ग्रन्थों के लिए सदैव वर्जित है।

जैन आगमों में यह स्वर पुनः-पुनः मुखरित है कि साधु या भिक्षु अपनी संयम यात्रा में जरा भी विचलित न होता हुआ उत्तरोत्तर मोक्षाभिमुख लक्ष्य की ओर बढ़ता जाए। इसलिए पूर्व प्रतिज्ञात या संकल्पित व्रतों, प्रतिज्ञाओं को सदैव याद दिलाया जाता है। बारम्बार उनके वर्जन का विधान किया जाता है। आत्मश्रेयस् की दृष्टि से उसे पुनरुक्ति नहीं माना जा सकता, वे तो जागरण वाक्य हैं, जितनी ही बार आएँ उतनी ही बार प्रेरक सिद्ध होते हैं। इसीलिए इस सूत्र में स्थावर प्राणियों की हिंसा को प्रायश्चित्त योग्य बतलाया गया है।

साधुओं की भिक्षाचर्या, विहारचर्या, शयन, आसन, उच्चार-प्रस्त्रवण, परिष्ठापन एवं अन्यान्य दैहिक दैनंदिन क्रियाओं में आशंकित हिंसाजन्य दोषों का पूर्व छेद सूत्रों में अनेक रूपों में विस्तारपूर्वक वर्णन आ चुका है, उसे अध्याहत करते हुए यहाँ यह ज्ञातव्य है कि स्थावर जीवों की भी, जो सामान्यतः पीड़ा पाते अनुभूत नहीं किए जा सकते, हिंसा, विराधना कदापि नहीं करनी चाहिए।

सचित्त वृक्ष पर चढ़ने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू सचित्तरुक्खं दुरूहइ दुरूहंतं वा साइज्जइ ॥ ९ ॥

कठिन शब्दार्थ - रुक्खं - वृक्ष, दुरूहइ - दुरारोहण करता है - चढ़ता है।

भावार्थ - ९. जो भिक्षु सचित्त वृक्ष पर दुरारोहण करता है - चढ़ने का दुस्साहस करता है या दुरारोहण करने वाले का अनुमोदन करता है, उसे लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - यहाँ प्रयुक्त 'दुरूहइ' 'दुरोहति' क्रिया पद 'दुर' उपसर्ग तथा 'रूह' धातु के योग से बना है जिसका अर्थ चढ़ने का दुष्प्रयास या दुस्साहस करना है। चढ़ने के अर्थ में 'दुरोहति' का प्रयोग साधु द्वारा किए जाने वाले अवांछित, अनुचित उपक्रम का द्योतक है क्योंकि सचित्त पदार्थ का संस्पर्श ही जब उसके लिए दोषपूर्ण है फिर सचित्त वृक्ष पर चढ़ना तो उसके स्कंध (तना) शाखा, पत्र, पुष्प आदि सभी के लिए कष्टप्रद है, विराधनाजनक है।

कोई साधु वृक्ष पर चढ़े यह प्रसंग बने ही कैसे?

अतिवृष्टि, बाढ़, चोर, दस्यु, अनार्यजन या सिंह, व्याघ्र, शूकरादि हिंसक पशुओं के भय से आशंकित होने पर संयमोपवर्धक देह या प्राणों की रक्षा हेतु साधु के लिए मजबूरी में वृक्ष पर चढ़ना आवश्यक हो जाता है, फिर भी एक मात्र त्याग और संयम के वाहक साधु के लिए यह प्रायश्चित्त तो आता ही है। पुनः-पुनः वैसा दुष्प्रयास करने पर या कुतूहलवश चढ़ने पर यह प्रायश्चित्त और अधिक हो जाता है।

जैन सिद्धान्त और तत्प्रसूत क्रियाकलाप कितनी सूक्ष्मता और गहराई तक पहुँचते हैं, पूर्वोक्त वर्णनों से स्पष्ट है। सामान्यतः ऐसा होता नहीं, सोचा भी नहीं जा सकता किन्तु आशंकित तो है ही। क्योंकि साधु वनों, दुर्गम स्थानों में होता हुआ विहार करता है जहाँ जनसंकुल नहीं होते, बियावान होते हैं।

शास्त्रों में तीन प्रकार के सचित्त वृक्ष कहे गए हैं -

१. संख्यात जीवयुक्त - ताड़ वृक्षादि।
२. असंख्यात जीवयुक्त - आम्रवृक्ष आदि।
३. अनंत जीवयुक्त - स्नुही (थोर) आदि।

वृक्ष पर चढ़ने से और भी दोष या संकटापन्न स्थितियाँ आशंकित हैं -

१. देह के खरौंच आना।

२. गिर पड़ने से अंगोपांग का टूट जाना या अन्य प्राणियों की विराधना होना।
३. लोक व्यवहार में अनुचित, अशोभन प्रतीत होना आदि।

गृहस्थों के पात्र में आहार करने का प्रायश्चित्त

जे भिक्षू गिहमत्ते भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ ॥ १० ॥

कठिन शब्दार्थ - गिहमत्ते - गृहस्थ का पात्र।

भावार्थ - १०. जो भिक्षु गृहस्थ के पात्र में आहार करता है या आहार करने वाले का अनुमोदन करता है, उसे लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - भिक्षु संयमित, व्यवस्थित, अपरिग्रहयुक्त जीवन जीता है। शास्त्रविहित वस्त्र, पात्रादि सीमित उपकरण रखता है। इससे इच्छाओं का संयमन होता है। ऐहिक, भौतिक आसक्ति का सहज ही परिवर्जन होता है। अत एव वह अपने ही पात्र में भिक्षा लेता है, अपने ही पात्र में खाता है, विधिपूर्वक निरवद्य रूप में पात्र का प्रक्षालन, स्वच्छीकरण करता है।

गृहस्थ के पात्र में भोजन करना इसलिए वर्जित है कि उसमें पूर्वकृत और पश्चात्कृत दोनों ही दोषों का आसेवन होता है। गृहस्थ के पात्रादि तैयार होने में आरंभ-समारंभमूलक हिंसा होती है जो पूर्वकृत दोष में परिगणित है। साधु के आहार करने के पश्चात् गृहस्थ द्वारा सचित्त जल से साफ किया जाना एवं असावधानी से पानी को फेंका जाना आदि से जीवों की विराधना आशंकित है, जो पश्चात्कृत दोष में आती है।

दशवैकालिक सूत्र में यह स्पष्ट रूप में उल्लेख है कि कांस्य, मिट्टी आदि किसी भी प्रकार के गृहस्थ के पात्रों में आहार करता हुआ भिक्षु अपने आचार से भ्रष्ट हो जाता है ७।

उपर्युक्त सूत्र में जो 'भुंजइ' शब्द आया है। वह संस्कृत की 'भुजि' धातु से बना हुआ रूप है। जिसका अर्थ है - 'भुजिपालनाभ्य व्यवहारयो' अर्थात् 'भुज' धातु-पालन करने और उपयोग में लेने के अर्थ में आती है। इसलिए यहाँ अर्थ होता है - गृहस्थ के पात्र (बर्तन) को अपने उपयोग में लाना। जैसा कि दशवैकालिक सूत्र के दूसरे अध्ययन की दूसरी गाथा में बताया गया है कि -

‘वत्थगंध मलकांटे, इत्थीओ सयणाणि य।

अच्छंदा जे ण भुंजति ण से चाइति वुच्चइ ॥ २ ॥’

७ दशवैकालिक सूत्र अध्ययन ६, गाथा - ५१-५३.

अर्थ - वस्त्र, गंध, अलंकार, स्त्रियाँ और शय्या को पराधीनता से जो उपयोग (काम) में नहीं लेता है, वह त्यागी नहीं कहा जाता है।

वहाँ 'भुज्जति' शब्द का प्रयोग किया गया है। ये सब वस्तुएं उपयोग में ली जाती हैं। खाने के काम में नहीं आती। इसलिए 'भुज्जति' या 'भुज्ज' शब्द का अर्थ सिर्फ खाना ही नहीं है किन्तु उपयोग में लेना भी है। तथा जैसा कि - पूज्य श्री घासीलालजी म. सा. ने अपने दशवैकालिक सूत्र के छठे अध्ययन की ५१ वीं गाथा (कंसेसुपरिभस्सइ) के अर्थ में लिखा है कि मुनि गृहस्थ के कुण्डा (चाहे वह मिट्टी का हो या धातु का हो) आदि को कपड़ा धोने, गरम पानी को ठण्डा करने आदि के काम में ले तो दोष लगता है और वह मुनि आचार से भ्रष्ट हो जाता है। इसलिए गृहस्थ के कुण्डे तथा कुण्डे के आकार के ढीबरा आदि को काम में लेना अर्थात् - उनमें वस्त्र आदि धोना मुनि को नहीं कल्पता है।

यहाँ पर भी 'भुज्ज' शब्द का अर्थ 'उपयोग में लेना' समझना चाहिए।

अर्थात् गृहस्थ के यहाँ से लाये हुए प्रातिहारिक पात्र (बर्तन आदि) में मुनि खाना, वस्त्र धोना आदि कोई भी कार्य नहीं कर सकता है।

आगमों में साधु के लिए आठ वस्तुओं को 'अपडिहारी' (पुनः नहीं लौटाने योग्य) बताया है। उनमें 'पात्र' को भी बताया है। अतः पात्र (बर्तन) को साधु-साध्वी पडिहारा (पुनः लौटाने योग्य) ग्रहण नहीं करते हैं। ग्रहण करने पर जिनाज्ञा भंग होने से प्रायश्चित्त आता है। वही आशय उपर्युक्त सूत्र का भी समझना चाहिए।

गृहस्थ के वस्त्र के उपयोग का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू गिहिवत्थं परिहेइ परिहेतं वा साइज्जइ ॥ ११ ॥

कठिन शब्दार्थ - गिहिवत्थं - गृहस्थ का वस्त्र, परिहेइ - पहनता है।

भावार्थ - ११. जो भिक्षु गृहस्थ के वस्त्र को पहनता है या पहनने वाले का अनुमोदन करता है, उसे लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - भिक्षु खाद्य, पेय आदि पदार्थों की तरह वस्त्र भी शास्त्र मर्यादारूप गृहस्थों से लेता है, जब तक वे फट न जायं, उनका उपयोग करता है। 'वस्त्र' पाट, बाजोट की तरह प्रातिहारिक रूप में प्रयुक्त नहीं होते। अर्थात् गृहीत कर वापस नहीं लौटाए जा सकते। ऐसा करना साधु समाचारी के विपरीत है, नियमानुबद्ध, समीचीन व्यवस्थाश्रित जीवन के प्रतिकूल है, इससे चर्यात्मक अनुशासन विखंडित होता है, सुव्यवस्थित जीवन प्रत्याहत होता है। अतएव ऐसा करना प्रायश्चित्त का भागी माना गया है।

यहाँ यह भी ज्ञातव्य है - जिस प्रकार गृहस्थ के पात्र का उपयोग करने से पूर्वकृत, पश्चात्कृत दोष आशंकित हैं, उसी प्रकार वस्त्र का उपयोग कर लौटाने में भी दोषों की संभावना रहती है।

गृहस्थ के आसन-शय्यादि के उपयोग का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू गिहिणसेज्जं वाहेइ वाहेतं वा साइज्जइ ॥ १२ ॥

कठिन शब्दार्थ - गिहिणसेज्जं - गृहस्थ की निषद्या - बैठने-सोने आदि का आसन, वाहेइ - उपयोग करता है।

भावार्थ - १२. जो भिक्षु गृहस्थ की निषद्या - आसन, शय्या आदि का उपयोग करता है या उपयोग करने वाले का अनुमोदन करता है, उसे लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - इस सूत्र में प्रयुक्त 'गिसेज्जं' या निषद्या कृदन्त पद 'नि' उपसर्ग और 'सद्' धातु के योग से बना है। सद् धातु के पूर्व इकारान्त तथा उकारान्त उपसर्ग हो तो सद् का दन्त्य सकार मूर्धन्य षकार में परिवर्तित हो जाता है। इस प्रकार 'निषीदति' क्रिया पद बनता है।

'निषीदितुं योग्यं निषद्यां निषद्या वा' - जो निषीदन के योग्य होता है, उसे निषद्य या निषद्या (स्त्रीलिंग में) कहा जाता है। साधारणतः इसका अर्थ बैठने के अर्थ में है किन्तु उपलक्षण से बैठना, सोना आदि भी विहित है।

भिक्षु अपनी ही निषद्या का उपयोग करता है। प्रतिलेखन आदि द्वारा वह उसकी निरवधता बनाए रखता है।

गृहस्थ की निषद्या के उपयोग में पात्र, वस्त्र आदि की ज्यों पूर्वकृत, पश्चात्कृत दोषों का लगना आशंकित है।

निषद्या के अन्तर्गत पर्यक, शय्या, पाट, बाजोट आदि का समावेश है। ये काष्ठ के हों तो प्रातिहारिक रूप में याचना कर लिये जा सकते हैं, किन्तु वे झुषिर नहीं होने चाहिये, सुप्रतिलेख्य होने पर ही ग्राह्य है।

जे भिक्खू गिहितेइच्छं करेइ करेतं वा साइज्जइ ॥ १३ ॥

कठिन शब्दार्थ - तेइच्छं - चिकित्सा।

भावार्थ - १३. जो भिक्षु गृहस्थ की चिकित्सा करता है या करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - साधु शास्त्र सम्मत मर्यादाओं की संवाहकता के साथ धार्मिक जीवन जीता है। अपने सांभोगिक साधुओं सहित साधु संघीय जीवन ही उसका अपना आध्यात्मिक किं वा धार्मिक साधनामय क्षेत्र है। शास्त्रानुमोदित वस्त्र, पात्र, उपधि ग्रहण के अतिरिक्त वह कोई दूसरी प्रकार का अवलम्बन, सहारा गृहस्थ से नहीं लेता। गृहस्थ के प्रति उसका दायित्व धार्मिक उद्बोधन प्रदान करना है, जो उसके आध्यात्मिक विकास का पूरक है।

गृहस्थ की ऐहिक आदि किसी प्रकार की सेवा-परिचर्या करना साधुचर्या से बहिर्गत है। इसीलिए यहाँ गृहस्थ की चिकित्सा करने का निषेध किया गया है।

उत्तराध्ययन सूत्र, दशवैकालिक सूत्र आदि में स्पष्ट रूप में साधु द्वारा गृहस्थ की चिकित्सा करने का निषेध है, क्योंकि -

१. अनेकविध चिकित्साओं में किसी न किसी रूप में सावद्य प्रवृत्तियों का योग बना रहता है।

२. रुग्ण व्यक्ति को शीघ्र आरोग्य लाभ हेतु सावद्य प्रवृत्तियों के सेवन का परामर्श दिया जाता है, समर्थन या अनुमोदन भी होता है।

३. चिकित्सा में यदि निरवद्यता भी रहे तो लाभ होने पर लोगों का परिचय बढ़ता है, आवागमन बढ़ता है, जो संयमाराधना में बाधक है।

४. यदि रुग्ण व्यक्ति को कुछ हानि हो जाय, चिकित्सा का विपरीत फल आए तो अपयश होता है, लोकनिंदा होती है।

इन सभी कारणों की अपेक्षा से इस सूत्र में गृहस्थों की चिकित्सा करना प्रायश्चित्त योग्य कहा गया है।

पूर्वकर्मकृत दोषयुक्त आहार-ग्रहण-प्रायश्चित्त

जे भिक्खू पुराकम्मकडेण हत्थेण वा मत्तेण वा द(व्वि)व्वीएण वा भायणेण वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ ॥ १४ ॥

कठिन शब्दार्थ - पुराकम्मकडेण - पूर्वकृत कर्म दोषयुक्त।

भावार्थ - १४. जो भिक्षु पूर्वकृत कर्म दोषयुक्त हाथ, बर्तन, कुड़छी - चम्मच या पात्र से अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य रूप चतुर्विध आहार ग्रहण करता है अथवा ग्रहण करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - भिक्षु की आहारचर्या नितांत शुद्ध एवं सावद्य वर्जित हो, यह आवश्यक है। अत एव सचित्त पदार्थ का संश्लेष, संस्पर्श आदि किसी भी रूप में होना वर्जित है। तत्संश्लेष आहार अग्राह्य है।

किन्ही-किन्हीं परिवारों में हाथ, पात्र, दर्वी (चम्मच) आदि धोकर, साफ कर भिक्षा देने की परंपरा होती है। सामान्यतः सावद्य जल द्वारा ऐसा किया जाता है। यो सचित्त जल आदि से संशक्त या लिप्त आर्द्र, हाथ, कुड़छी, पात्र आदि द्वारा जो आहार दिया जाता है, वह पूर्वकृत कर्म दोषयुक्त कहलाता है। अर्थात् यह आहार देने से पूर्व किया गया दोष है तथा यह सचित्त-आर्द्रता या दोष आहार दिए जाने तक संशक्त रहता है। इसीलिए यह 'एषणा' के 'दायक' दोष में समाविष्ट है।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि यदि हाथ आदि का प्रक्षालन अचित्त जल से हो तो यह दोष नहीं लगता। किन्तु उसमें भी यतना आदि की पूर्ण सावधानी रखनी चाहिये। अन्यथा उससे भी जीव विराधना हो सकती है।

सचित्त पात्र आदि से आहार-ग्रहण-प्रायश्चित्त

जे भिक्खू गिहत्थाण वा अण्ण(उ)त्तिथियाण वा सीओदगपरिभोगेण हत्थेण वा मत्तेण वा दब्बीएण वा भायणेण वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ ॥ १५ ॥

कठिन शब्दार्थ - सीओदगपरिभोगेण - सचित्त जल से आर्द्र।

भावार्थ - १५. जो भिक्षु सचित्त जल से भीगे हुए हाथ, (मिट्टी के) पात्र, कुड़छी, धातु पात्र आदि से अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य रूप चतुर्विध आहार ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है, उसे लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - इससे पूर्वतन सूत्र में सचित्त जल से हस्तादि प्रक्षालित कर दिया जाता आहार लेना प्रायश्चित्त योग्य बतलाया गया है। प्रस्तुत सूत्र में इतना सा अन्तर है, यदि किसी के हाथ पानी से भीगे हों या पात्र आदि सचित्त जल से आर्द्र हों, तत्काल जल लिए जाने से गीले हों तो उनसे आहार ग्रहण करना दोषयुक्त है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि किसी कार्य में संलग्नतावश सचित्त जल से आर्द्र हाथ, पात्र आदि से आहार देने के पश्चात् देने वाला यदि पुनः उसी काम में लग जाए तो अप्काय आदि जीवों की विराधना होती है। अतः यहां पश्चात् कर्म दोष भी आशंकित है।

साधु की भिक्षाचर्या आदि में कहीं भी, किसी भी रूप में दोष न लगे, उसकी सभी प्रवृत्तियाँ निर्दोष एवं निरवद्य हों, इस दृष्टि से एक ही विषय के अलग-अलग पहलुओं को पृथक्-पृथक् सूत्रों में वर्णित किया गया है। क्योंकि संयम एक अमूल्य रत्न है, जिसका परिरक्षण अत्यंत सावधानी और जागरूकता के साथ किया जाना चाहिए।

भौतिक आकर्षण-आसक्ति-विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू वप्पाणि वा फलिहाणि वा उप्पलाणि वा पल्ललाणि वा उज्झराणि वा णिज्झराणि वा वावीणि वा पोक्खराणि वा दीहियाणि वा गुंजालियाणि वा सराणि वा सरपंतियाणि वा सरसरपंतियाणि वा चक्खुदंसणपडियाए अभिसंधारेइ अभिसंधारेतं वा साइज्जइ ॥ १६ ॥

कठिन शब्दार्थ - वप्पाणि - वप्र - खेत, फलिहाणि - परिखा - खाई, उप्पलाणि - नीलकमलयुक्त जलाशय, पल्ललाणि - छोटे तालाब, उज्झराणि - जल प्रपात, णिज्झराणि - निर्झर, वावीणि - वापी - बावड़ी, पोक्खराणि - कमलयुक्त छोटे तालाब, दीहियाणि - दीर्घिका - चौकोर बावड़ी, गुंजालियाणि - गुजालिका - वापी विशेष, सराणि - सरोवर, सरपंतियाणि - सरोवरों की पंक्ति, सरसरपंतियाणि - प्रणालिका संबद्ध सरोवरों की पंक्तियाँ, चक्खुदंसणपडियाए - नेत्रों द्वारा देखने की इच्छा से, अभिसंधारेइ - मन में निश्चय करता है।

भावार्थ - १६. जो भिक्षु खेत, खाई, नीलकमलयुक्त जलाशय, छोटे तालाब, जलप्रपात, निर्झर, बावड़ी, कमलयुक्त छोटे तालाब, चतुष्कोण युक्त बावड़ी, वापी विशेष, सरोवर, सरोवरों की पंक्ति, प्रणालिका संबद्ध सरोवरों की पंक्तियों को नेत्रों से देखने की इच्छा से मन में निश्चय करता है अथवा निश्चय करने वाले का अनुमोदन करता है, उसे लघुचौतुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

जे भिक्खू कच्छाणि वा गहणाणि वा णूमाणि वा वणाणि वा वणविदुग्गाणि वा पव्वयाणि वा पव्वयविदुग्गाणि वा चक्खुदंसणपडियाए अभिसंधारेइ अभिसंधारेतं वा साइज्जइ ॥ १७ ॥

कठिन शब्दार्थ - कच्छाणि - जल बहुल प्रदेश, गहणाणि - सघन वृक्ष युक्त वन, णूमाणि - नूमानि (देशी शब्द) वृक्षाधिक्य के कारण छाया हुआ गुप्त वन प्रदेश,

वणाणि - एक जातीय वृक्ष युक्त वन, वणविदुग्गाणि - विविध वृक्ष समुदाय युक्त वन, पव्वयाणि - पर्वत, पव्वयविदुग्गाणि - पर्वतों के समूह युक्त स्थान को।

भावार्थ - १७. जो भिक्षु जल बहुल प्रदेश, सघन वृक्ष युक्त वन, गुप्तवन प्रदेश, वन, विविध वृक्षमय वन, पर्वत या पर्वत समूह - इनको नेत्रों से देखने की इच्छा से मन में भावना करता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

जे भिक्खू गामाणि वा णगराणि वा खेडाणि वा कब्बडाणि वा मडंबाणि वा दोणमुहाणि वा पट्टणाणि वा आगराणि वा संवाहाणि वा सण्णिवेसाणि वा चक्खु-दंसणपडियाए अभिसंधारेइ अभिसंधारेतं वा साइज्जइ ॥ १८ ॥

कठिन शब्दार्थ - खेडाणि - धूल के परकोटे से घिरा स्थान, कब्बडाणि - कर्बट - कुत्सित नगर, दोणमुहाणि - जल एवं स्थल युक्त नागरिक निवास, पट्टणाणि - पत्तन - समस्त भौतिक वस्तुओं के प्राप्ति स्थल, आगराणि - आकर - स्वर्ण आदि धातुओं की खान, संवाहाणि - संवाह - धान्य रक्षा के लिए बनाए गए दुर्गम स्थान, सण्णिवेसाणि - सन्निवेश - सार्थवाह आदि के आगमन युक्त स्थान।

भावार्थ - १८. जो भिक्षु ग्राम, नगर, खेत, कर्बट, मडंब, द्रोणमुख, पत्तन, खान (स्वर्ण आदि की), संवाह, सन्निवेश इत्यादि को नेत्रों से देखने की इच्छा से मन में निश्चय करता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

जे भिक्खू गाममहाणि वा णगरमहाणि वा खेडमहाणि वा कब्बडमहाणि वा मडंबमहाणि वा दोणमुहमहाणि वा पट्टणमहाणि वा आगरमहाणि वा संवाहमहाणि वा सण्णिवेसमहाणि वा चक्खुदंसणपडियाए अभिसंधारेइ अभिसंधारेतं वा साइज्जइ ॥१९ ॥

कठिन शब्दार्थ - गाममहाणि - ग्राममहान् - गाँव का उत्सव - मेला।

भावार्थ - १९. जो भिक्षु ग्राम, नगर, खेत, कर्बट, मडंब, द्रोणमुख, पत्तन, खान, संवाह, सन्निवेश इत्यादि में आयोजित होने वाले उत्सव या मेले आदि को आँखों से देखने की इच्छा से मन में भावना करता है अथवा ऐसा करने वाले का अनुमोदन करता है, उसे लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

जे भिक्खू गामवहाणि वा णगरवहाणि वा खेडवहाणि वा कब्बडवहाणि

वा मडंबवहाणि वा दोणमुहवहाणि वा पट्टणवहाणि वा आगरवहाणि वा संवाहवहाणि वा सणिवेसवहाणि वा चक्खुदंसणपडियाए अभिसंधारेइ अभिसंधारेतं वा साइज्जइ ॥२० ॥

कठिन शब्दार्थ - गामवहाणि - ग्रामवधान - गाँव में वध या घात को (बहुवचन) ।

भावार्थ - २०. जो भिक्षु गाँव, नगर, खेट, कर्बट, मडंब, द्रोणमुख, पत्तन, आकर (खान), संवाह, सन्निवेश इत्यादि में घात - वध आदि विनाश को नेत्रों से देखने की इच्छा से मन में निश्चय करता है अथवा ऐसा करने वाले का अनुमोदन करता है, उसे लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

जे भिक्खू गामपहाणि वा णगरपहाणि वा खेडपहाणि वा कब्बडपहाणि वा मडंबपहाणि वा दोणमुहपहाणि वा पट्टणपहाणि वा आगरपहाणि वा संवाहपहाणि वा सणिवेसपहाणि वा चक्खुदंसणपडियाए अभिसंधारेइ अभिसंधारेतं वा साइज्जइ ॥२१ ॥

कठिन शब्दार्थ - पहाण - पथान् - मार्गों को ।

भावार्थ - २१. जो भिक्षु ग्राम, नगर, खेट, कर्बट, मडंब, द्रोणमुख, पत्तन, आकर (खान), संवाह, सन्निवेश इत्यादि के मार्गों को आँखों से देखने की इच्छा से मन में भावना करता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

जे भिक्खू गामदाहाणि वा जाव सणिवेसदाहाणि वा चक्खुदंसणपडियाए अभिसंधारेइ अभिसंधारेतं वा साइज्जइ ॥ २२ ॥

कठिन शब्दार्थ - दाहाणि - अग्नि से जलते हुए को ।

भावार्थ - २२. जो भिक्षु अग्नि में धधकते हुए ग्राम यावत् सन्निवेश को नेत्रों से देखने की मन में इच्छा या निश्चय करता है अथवा ऐसा करने वाले का अनुमोदन करता है, उसे लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

जे भिक्खू आसकरणाणि वा हत्थिकरणाणि वा उट्टकरणाणि वा गोणकरणाणि वा महिसकरणाणि वा सूयरकरणाणि वा चक्खुदंसणपडियाए अभिसंधारेइ अभिसंधारेतं वा साइज्जइ ॥ २३ ॥

जे भिक्खू आसजुद्धाणि वा हत्थिजुद्धाणि वा उट्टजुद्धाणि वा गोणजुद्धाणि

वा महिसजुद्धाणि वा सूयरजुद्धाणि वा चक्खुदंसणपडियाए अभिसंधारेइ
अभिसंधारेतं वा साइज्जइ ॥ २४ ॥

जे भिक्खू गाउज्जुहिय(ट्टा) ठाणाणि वा हयजुहियठाणाणि वा
गयजुहियठाणाणि वा चक्खुदंसणपडियाए अभिसंधारेइ अभिसंधारेतं वा
साइज्जइ ॥ २५ ॥

कठिन शब्दार्थ - आसकरणाणि - अश्वकरणानि - अश्वों को क्रीड़ा आदि
हेतु शिक्षित करने के स्थान, हत्थि - हाथी, उट्ट - ऊँट, महिस - भैंसा, सूयर - सूअर,
जुहिय - यूथ - समूह।

भावार्थ - २३. जो भिक्षु अश्व, हाथी, ऊँट, वृषभ, महिष, सूअर इत्यादि को क्रीड़ा हेतु
प्रशिक्षित करने के स्थान को नेत्रों से देखने की इच्छा से मन में भावना करता है या वैसा
करते हुए का अनुमोदन करता है।

२४. जो भिक्षु अश्व, हाथी, ऊँट, वृषभ, महिष, सूअर इत्यादि के युद्ध को आँखों से
देखने की इच्छा से मन में निश्चय करता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

२५. जो भिक्षु गाय, अश्व, हाथी आदि के समूह स्थानों को नेत्रों से देखने की इच्छा से
मन में भावना करता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

इस प्रकार उपर्युक्त अविहित कार्य करने वाले भिक्षु को लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त
आता है।

जे भिक्खू अभिसेयठाणाणि वा अक्खाइयठाणाणि वा माणुम्माणिय-
यप्पमाणिय-ठाणाणि वा महया हयणट्टगीयवाइयतंती-तलतालतुडिय-
पडुप्पवाइयठाणाणि वा चक्खुदंसणपडियाए अभिसंधारेइ अभिसंधारेतं वा
साइज्जइ ॥ २६ ॥

कठिन शब्दार्थ - अभिसेयठाणाणि - अभिषेक स्थान - राज्याभिषेक के स्थान,
अक्खाइयठाणाणि - जहाँ कथाएँ होती हैं, माणुम्माणिययप्पमाणियठाणाणि - मान
(प्रमाण युक्त पात्र विशेष से मापना), उन्मान (तराजू आदि से तोलकर देना), प्रमाण (हाथ,
अंगुल आदि से मापना) के स्थान, महया - जोर से, हय - थापपूर्वक (मुरज आदि पर),
णट्ट - नृत्य, वाइय - वादित - बजाए जाते हुए, तंती - तन्तुवाद्य, पडुप्पवाइय -
कुशलतापूर्वक बजाए जाते हुए।

भावार्थ - २६. जो भिक्षु राज्याभिषेक के स्थान, कथास्थान, मान-उन्मान प्रमाण के स्थान या कुशलतापूर्वक जोर से बजाए जाते हुए वाद्य - तंत्री-तल-ताल-त्रुटित तथा तदनुरूप नृत्य, गायन आदि को आंखों से देखने की इच्छा से मन में निश्चय करता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

जे भिक्खू कट्टकम्माणि वा चित्तकम्माणि वा पोत्थकम्माणि वा (लेवकम्माणि वा) दंतकम्माणि वा मणिकम्माणि वा सेलकम्माणि वा गंथिमाणि वा वेढिमाणि वा पूरिमाणि वा संघाइमाणि वा पत्तच्छेज्जाणि वा विविहाणि वा वेहिमाणि वा चक्खुदंसणपडियाए अभिसंधारेइ अभिसंधारेंतं वा साइज्जइ ॥ २७ ॥

जे भिक्खू डिम्बाणि वा डमराणि वा खाराणि वा वेराणि वा महाजुद्धाणि वा महासंगामाणि वा कलहाणि वा बोलाणि वा चक्खुदंसणपडियाए अभिसंधारेइ अभिसंधारेंतं वा साइज्जइ ॥ २८ ॥

कठिन शब्दार्थ - कट्टकम्माणि - काष्ठ कर्म - काष्ठ निर्मित प्रतिकृति आदि, चित्तकम्माणि - चित्रकर्म - चित्रांकित आकृतियाँ, पोत्थकम्माणि - पुस्तकमाणि - वस्त्रखंडों पर अंकित, पुस्तकाकार में योजित चित्र आदि, (लेवकम्माणि - लेपकर्म - मृत्तिका आदि के लेप पर उकेरे हुए आकार विशेष) दंतकम्माणि - दन्तकर्म - हाथी दाँत से निर्मित वस्तुएँ, मणिकम्माणि - मणियों से निर्मित आभरण आदि, सेलकम्माणि - शैलकर्म - पाषाण निर्मित प्रतिमा आदि, गंथिमाणि - ग्रंथिम - गूँथ कर बनाई गई आकृति विशेष, वेढिमाणि-वेष्टिम - वस्त्रादि को लपेट कर बनाई गई प्रतिकृति आदि, पूरिमाणि - पूरिम चावल आदि से पूरित - निर्मित स्वस्तिकादि आकार विशेष, संघाइमाणि - संघातिम - अनेक वस्त्र-खंडों को योजित कर बनाई गई आकृति, पत्तच्छेज्जाणि - पत्रछेदक - कदली(केले)आदि के पत्तों को वेधित छेदित कर बनाए गए आकार विशेष, विविहाणि - विविध - अनेक प्रकार के, वेहिमाणि - वैधिकानि - पत्र, काष्ठ आदि पर उकेरे हुए चित्र आदि, डिम्बाणि - राष्ट्र विप्लव - विरोध आदि के स्थान, डमराणि - राष्ट्र के बाह्य-आध्यंतर उपद्रव स्थान, खाराणि - पारस्परिक अन्तर्कलह के स्थान, वेराणि - वंश परंपरागत वैरोत्पन्न कलहपूर्ण स्थान, महाजुद्धाणि - घोर युद्ध (व्यूह रहित), महासंगामाणि - महासंग्राम - चतुरंगिणी

सेनाओं द्वारा किए जाते युद्ध (व्यूह सहित), कलहाणि - कलह स्थान, बोलाणि - परस्पर वैरानुबद्ध निम्नवचन प्रयोग के स्थान।

भावार्थ - २७. जो भिक्षु काष्ठकर्म, चित्रकर्म, पुस्तकर्म, लेप्यकर्म, दन्तकर्म, मणिकर्म, शैलकर्म या ग्रंथिम, वेष्टिम, पूरिम, संघातिम आदि विविध विधियों से बनी पुतलियों या आकार विशेषों अथवा पत्र-काष्ठ आदि पर उकेरे हुए चित्र आदि को नेत्रों से देखने की इच्छा से मन में निश्चय करता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

२८. जो भिक्षु राष्ट्र विप्लव, बाह्य-आभ्यंतर उपद्रव, पारस्परिक अन्तर्कलह, वंशपरंपरागत वैर, घोर युद्ध, महासंग्राम, कलह या निम्न वचनप्रयोग के स्थानों में चक्षुदर्शन की भावना से मन में निश्चय करता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

इस प्रकार उपर्युक्त रूप में आचरण करने वाले भिक्षु को लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

जे भिक्खू विरूवरूवेसु महुस्सवेसु इत्थीणि वा पुरिसाणि वा श्थेराणि वा मज्झिमाणि वा डहराणि वा अणलंकियाणि वा सुअलंकियाणि वा गायंताणि वा वायंताणि वा णच्चंताणि वा हंसंताणि वा रमंताणि वा मोहंताणि वा विउलं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा परिभायंताणि वा परिभुंजंताणि वा चक्खुदंसणपडियाए अभिसंधारेइ अभिसंधारंतं वा साइज्जइ ॥ २९ ॥

जे भिक्खू इहलोइएसु वा रूवेसु परलोइएसु वा रूवेसु दिट्ठेसु वा रूवेसु अदिट्ठेसु वा रूवेसु सुएसु वा रूवेसु असुएसु वा रूवेसु विण्णाएसु वा रूवेसु अविण्णाएसु वा रूवेसु सज्जइ रज्जइ गिज्जइ अज्झोववज्जइ सज्जंतं रज्जंतं गिज्जंतं अज्झोववज्जंतं वा साइज्जइ ॥ ३० ॥

कठिन शब्दार्थ - विरूवरूवेसु - अनेक प्रकार के, महुस्सवेसु - महोत्सवों में, श्थेराणि - वृद्धजन, मज्झिमाणि - मध्यम - अर्धे उम्र के लोग, डहराणि - अल्पवयस्क-बच्चे के, अणलंकियाणि - अलंकार रहित, सुअलंकियाणि - अलंकार सहित, गायंताणि - गाते हुए, वायंताणि - बजाते हुए, णच्चंताणि - नाचते हुए, रमंताणि - अनेक प्रकार की क्रीड़ा करते हुए (रमण करते हुए), मोहंताणि - मोहकता पैदा करते हुए, इहलोइएसु - इस लोक में, परलोइएसु - परलोक में, रूवेसु - रूप आदि में, दिट्ठेसु - दृष्ट पदार्थों में, अदिट्ठेसु - अदृष्ट देवादि में, सुएसु - श्रुत - श्रवण आदि में, असुएसु - न सुने हुए,

विण्णाएसु - विज्ञात - वर्तमान काल में ज्ञात, सज्जइ - आसक्त होता है, रज्जइ - अनुरंजित होता है, गिज्जइ - लोलुप होता है, अज्जोववज्जइ - अध्युपपन्न - अत्यन्त आसक्त होता है।

भावार्थ - २९. अनेक प्रकार के महोत्सवों में जिनमें स्त्री, पुरुष, वृद्ध, अधेड़, बच्चे सामान्य वस्त्राभूषणों या विशेष अलंकार सज्जित होकर गाते हुए, बजाते हुए, नाचते हुए, हँसते हुए, क्रीड़ा करते हुए, मोहित करते हुए या विपुल अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप चतुर्विध आहार परस्पर बाँट कर खाते हुए हों, वहाँ जो भिक्षु इन्हें आँखों से देखने की इच्छा से मन में भावना करता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

३०. जो भिक्षु ऐहिक, पारलौकिक, दृष्ट या अदृष्ट, सुने-अनसुने, ज्ञात-अज्ञात रूपों को देखने की इच्छा करता है, उनमें लोलुप बनता है या अत्यन्त आसक्त होता है अथवा इन्हें देखने की इच्छा करने वाले, लोलुप होने वाले या अत्यन्त आसक्त होने वाले का अनुमोदन करता है।

इस प्रकार इन दोष-स्थानों में से किसी भी दोष-स्थान का सेवन करने वाले भिक्षु को लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - भिक्षु की मानसिकता सदैव अध्यात्म की दिशा में संलग्न रहे, यह वांछनीय है। "मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो" - के अनुसार विषयाभिकांक्षा पहले मन में जागती है, फिर वह वाणी और काय को प्रभावित करती है। इसीलिए "मनसा चिन्तयति, वचसा वदति, कायेन करोति" - यह सर्वप्रचलित है। इन्द्रियाँ मनोवृत्ति के अनुसार अपने-अपने विषयों में संसक्त होती हैं। उनमें चक्षुरिन्द्रिय का सबसे अधिक महत्त्व इसलिए है कि अन्य इन्द्रियों के ग्राह्य विषय उनका संस्पर्श करते हैं तब वे उनमें अभिरत, संलग्न होती हैं, किन्तु चक्षुरिन्द्रिय जो कि दर्शनप्रवण है, स्वयं पदार्थों को, विषयों को गृहीत करती है और उनकी मोहकता में आसक्त हो जाती है। उसके आकृष्ट होने पर अन्य इन्द्रियाँ भी तद्गत विषयों के सेवन में अग्रसर होती हैं।

यही कारण है कि उपर्युक्त सूत्रों में सभी भौतिक विषयों के रूपदर्शन से आकृष्ट होने का, उस ओर मन लगाने का निषेध किया गया है, प्रायश्चित्त योग्य बतलाया गया है।

इन सूत्रों में वर्णित विविध विषयों से ऐसा प्रतीत होता है कि पुराकाल में भारतवर्ष जहाँ आध्यात्मिक तथा साधनामूलक दृष्टि से शिखर पर था वैसे ही सुख, समृद्धि, जीवन के विभिन्न लौकिक पक्षों में विकास इत्यादि की दृष्टि से वह चरमोत्कर्ष पर था। स्थापत्य,

मनोविनोद के साधन, युद्ध आदि के प्रदर्शन, महोत्सव आयोजन इत्यादि का वर्णन समाज की मेधाविता का परिचय कराता है।

यह सब होते हुए भी प्रबुद्ध लोगों की मानसिकता इनमें यावज्जीवन आसक्त न रह कर, अन्ततः संयम और साधना का पथ अपनाने की रही है। उपासकदशाङ्ग सूत्र में वर्णित दसों ही श्रावकों का जीवन समृद्धि, श्री एवं सुख-संपन्नता की दृष्टि से बहुत उन्नत था, किन्तु अंततः सभी ने अपना जीवन व्रतमय आराधना में लगाया और पंडितमरण को प्राप्त हुए।

भिक्षु का जीवन वर्षाकाल के चार माह के अतिरिक्त पर्यटनशील जीवन है। वह बहुविध स्थानों पर जाता है। अनेक दृश्य देखता है। वह कहीं भी रागान्वित न हो जाए, इस दृष्टि से जितने भी संभावित दृश्य हैं, उन्हें वह रागाभिभूत हो कर न देखे। इन सूत्रों का यही हार्द है।

आहार विषयक कालमर्यादा के उल्लंघन का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू पढमाए पोरिसीए असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहेत्ता पच्छिमं पोरिसिं उवाइणावेइ उवाइणावेतं वा साइज्जइ ॥ ३१ ॥

कठिन शब्दार्थ - पढमाए - प्रथम, पोरिसीए - पोरसी में, पच्छिमं पोरिसिं - अन्तिम पोरसी (पौरुषी) में, उवाइणावेइ - अतिक्रान्त करता है।

भावार्थ - ३१. जो भिक्षु पहली पोरसी में अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य रूप आहार प्रतिगृहीत कर अन्तिम पोरसी तक रखता है, यों भिक्षाचार्या हेतु कालमर्यादा का उल्लंघन करता है या उल्लंघन करने वाले का अनुमोदन करता है, उसे लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - भिक्षु का रात्रि-दिवस का कार्यक्रम नियमानुबद्ध, व्यवस्थानुगत एवं अनुशासनयुक्त होता है। वैसा करता हुआ वह अपनी संयम यात्रा में सफलतापूर्वक अग्रसर होता रहता है। दैहिक जीवन की दैनंदिन आवश्यकताओं में आहार का सर्वाधिक महत्त्व है। अतः जैनागमों में भिक्षुओं के लिए आहार विषयक मर्यादाओं एवं नियमों का विस्तार से उल्लेख हुआ है। कोई भिक्षु चाहे जब भिक्षा ले आए और जब चाहे ग्रहण कर ले ऐसा नहीं होता।

उत्तराध्ययन सूत्र के २६ वें अध्ययन की १२ वीं गाथा में यह बतलाया गया है कि भिक्षु दिन के तृतीय प्रहर में भिक्षा लाए। यह भिक्षा लाने का सामान्य नियम है।

देश, काल, क्षेत्रादि के कारण, रुग्णता आदि के कारण यदि तीसरे प्रहर से पहले भी भिक्षा लानी पड़े तो आपवादिक रूप में लाई जा सकती है। किन्तु आनीत भिक्षा को तीन प्रहर से अधिक समय तक रखना वर्जित है, दोषयुक्त है।

निशीथ भाष्य एवं चूर्ण में कालातिक्रमण के कारण होने वाली दोषपूर्ण स्थितियों की ओर संकेत करते हुए कहा गया है -

१. लम्बे समय तक आहार रखने से चींटियाँ आदि उसमें प्रवेश कर सकती हैं, जिससे उन्हें पुनः निकालने में उनकी विराधना होती है।

२. कुत्ते आदि से भी आहार को बचाए रखना आवश्यक होता है। अर्थात् भिक्षु का उस और विशेष ध्यान रहता है जो संयमाराधना में विघ्न स्वरूप है।

मर्यादित क्षेत्र से बाहर आहार ले जाने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू परं अद्धजोयणमेराओ परेणं असर्णं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा उवाइणावेइ उवाइणावेतं वा साइज्जइ ॥ ३२ ॥

कठिन शब्दार्थ - अद्धजोयणमेराओ - दो कोस की मर्यादा से आगे।

भाष्यार्थ - ३२. जो भिक्षु दो कोस (अद्धजोयण) की मर्यादा से आगे अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप आहार को ले जाता है, इस प्रकार क्षेत्र मर्यादा का उल्लंघन करता है या उल्लंघन करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - परिग्रह, आसक्ति, अभिकांक्षा, लिप्सा - ये भिक्षु के लिए सर्वथा त्याज्य हैं। उसका प्रत्येक कार्य इनसे विरहित होना चाहिए। शास्त्र-मर्यादा के अनुरूप उसे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करनी चाहिए। इसी मर्यादा-बद्धता में आहार विषयक क्षेत्र मर्यादा का समावेश है। आहार के संदर्भ में आगे मिलने न मिलने की चिन्ता न रखते हुए भिक्षु को कभी उसे संग्रहित कर मर्यादोपरान्त रखना निषिद्ध है।

अतः यहाँ दो कोस से अधिक आहार न ले जाने का कहा गया है। वैसा करने में संग्रहवृत्ति के साथ-साथ और भी कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। वह वस्त्र, पात्र आदि का स्वयं वहन करता है। अतः उसकी सारी सामग्री न्यूनातिन्यून होती है ताकि उसे वहन करना दुःखद न हो जाए। आहार को साथ लिए चलने में पानी भी लेना होगा, जिससे विहार यात्रा कष्टपूर्ण होगी। व्यावहारिक दृष्टि से भी यह समीचीन प्रतीत नहीं होगा। इससे आहार-लिप्सा का भाव झलकता है। भिक्षु की तितिक्षामयी छवि धूमिल होती है। उसका तो अन्तर्बाह्य इतना

उज्ज्वल, विशुद्ध परिलक्षित होना चाहिए, जिससे जन-जन को उसके देखने मात्र से वैराग्य की प्रेरणा प्राप्त हो।

क्षेत्र विषयक प्रमाण -

अर्द्धयोजन = २ कोस

एक कोस = ३.६ कि. मी. (२.३ मील)

दो कोस = ७.२ कि. मी.

यहाँ यह ज्ञातव्य है, साधु जहाँ अवस्थित हो, उससे चतुर्दिक् (किसी भी ओर) दो कोस (अर्द्ध योजन) से अधिक अहार आदि को लेकर नहीं जाना चाहिए।

जे भिक्खू दिया गोमयं पडिग्गाहेत्ता दिया कायंसि वणं आलिंपेज्ज वा विलिंपेज्ज वा आलिंपंतं वा विलिंपंतं वा साइज्जइ ॥ ३३ ॥

जे भिक्खू दिया गोमयं पडिग्गाहेत्ता रत्तिं कायंसि वणं आलिंपेज्ज वा विलिंपेज्ज वा आलिंपंतं वा विलिंपंतं वा साइज्जइ ॥ ३४ ॥

जे भिक्खू रत्तिं गोमयं पडिग्गाहेत्ता दिया कायंसि वणं आलिंपेज्ज वा विलिंपेज्ज वा आलिंपंतं वा विलिंपंतं वा साइज्जइ ॥ ३५ ॥

जे भिक्खू रत्तिं गोमयं पडिग्गाहेत्ता रत्तिं कायंसि वणं आलिंपेज्ज वा विलिंपेज्ज वा आलिंपंतं वा विलिंपंतं वा साइज्जइ ॥ ३६ ॥

जे भिक्खू दिया आलेवणजायं पडिग्गाहेत्ता दिया कायंसि वणं आलिंपेज्ज वा विलिंपेज्ज वा आलिंपंतं वा विलिंपंतं वा साइज्जइ ॥ ३७ ॥

जे भिक्खू दिया आलेवणजायं पडिग्गाहेत्ता रत्तिं कायंसि वणं आलिंपेज्ज वा विलिंपेज्ज वा आलिंपंतं वा विलिंपंतं वा साइज्जइ ॥ ३८ ॥

जे भिक्खू रत्तिं आलेवणजायं पडिग्गाहेत्ता दिया कायंसि वणं आलिंपेज्ज वा विलिंपेज्ज वा आलिंपंतं वा विलिंपंतं वा साइज्जइ ॥ ३९ ॥

जे भिक्खू रत्तिं आलेवणजायं पडिग्गाहेत्ता रत्तिं कायंसि वणं आलिंपेज्ज वा विलिंपेज्ज वा आलिंपंतं वा विलिंपंतं वा साइज्जइ ॥ ४० ॥

कठिन शब्दार्थ - गोमयं - गोबर, वणं - व्रण - घाव, आलिंपेज्ज - आलेपन करे, विलिंपेज्ज - विलेपन करे, आलेवणजायं - विलेपन द्रव्य।

भावार्थ - ३३. जो भिक्षु दिन में गोबर प्रतिगृहीत कर (उसे रात में रखता हुआ दूसरे) दिन शरीर पर हुए घाव पर आलेपन-विलेपन करता है (पुन-पुनः लगाता है) या आलेपन-विलेपन करते हुए का अनुमोदन करता है।

३४. जो भिक्षु दिन में गोबर प्रतिगृहीत कर उसे रात्रि में शरीर पर हुए घाव पर आलेपन विलेपन करता है अथवा आलेपन-विलेपन करते हुए का अनुमोदन करता है।

३५. जो भिक्षु रात्रि में गोबर प्रतिगृहीत कर दिन में शरीर के व्रण पर (उसका) आलेपन विलेपन करे या आलेपन-विलेपन करते हुए का अनुमोदन करे।

३६. जो भिक्षु रात्रि में गोबर प्रतिगृहीत कर रात्रि में शरीर के व्रण पर (उसका) आलेपन-विलेपन करे अथवा आलेपन-विलेपन करते हुए का अनुमोदन करे।

३७. जो भिक्षु दिन में आलेपन द्रव्य प्रतिगृहीत कर (रात में रखता हुआ दूसरे) दिन शरीर के व्रण पर उनका आलेपन-विलेपन करे या आलेपन-विलेपन करते हुए का अनुमोदन करे।

३८. जो भिक्षु दिन में आलेपन द्रव्य प्रतिगृहीत कर रात्रि में शरीर के व्रण पर उनका आलेपन-विलेपन करे अथवा आलेपन-विलेपन करते हुए का अनुमोदन करे।

३९. जो भिक्षु रात्रि में आलेपन द्रव्य प्रतिगृहीत कर दिन में शरीर के व्रण पर उनका आलेपन-विलेपन करे या आलेपन-विलेपन करते हुए का अनुमोदन करे।

४०. जो भिक्षु रात्रि में आलेपन द्रव्य प्रतिगृहीत कर रात्रि में शरीर के व्रण पर उनका आलेपन-विलेपन करे अथवा आलेपन-विलेपन करते हुए का अनुमोदन करे।

इस प्रकार उपर्युक्त अविहित कार्य करने वाले भिक्षु को लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - इन सूत्रों में व्रण आदि पर गोबर तथा विलेपन द्रव्यों के प्रयोग की चर्चा है। गाय का गोबर आयुर्वेदिक दृष्टि से अनेक दोषों का परिहारक माना गया है। घाव के दोष निवारण एवं भरने में भी उसकी उपयोगिता है। इसके अतिरिक्त अनेक लेप-विलेप के पदार्थ हैं, जिनका व्रणों पर लेपन आदि के रूप में प्रयोग किया जाता है। इन्हें दिन में ही प्रतिगृहीत कर लेप-विलेप करने का आगमों में विधान है। दिन में लेकर रात में लगाना, रात में लेकर दिन में लगाना इत्यादि उपयोगात्मक पक्षों के निषेध क्रम का चतुर्भंगी के रूप में उल्लेख हुआ है।

गोबर को दिन में लेकर रात में लगाने से या रात में लेकर दिन में लगाने से जीवोत्पत्ति

की आशंका है। वह सुप्राप्य है, अतः वैसा करना आवश्यक भी नहीं है। आलेपन-विलेपन संबंधी पदार्थों को रात-बासी न रखने का जो उल्लेख हुआ है, उसका संबंध मुख्यतः भिक्षु की असंग्रहवृत्ति का सूचक है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि उनकी संघोटन आदि की प्रक्रिया में समय एवं श्रम साध्यता हो तथा प्रयोग करना आवश्यक हो तो भी मर्यादाप्रतिकूल उपयोग करने पर लघु चौमासी प्रायश्चित्त का विधान किया गया है।

भिक्षु जीवन इतना मर्यादाबद्ध होता है कि दैहिक रुग्णतादि जनित आवश्यकताओं में भी साधु समाचारी का उल्लंघन वहाँ स्वीकृत नहीं है।

गृहस्थ से उपधि-वहन का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा उवहिं वहावेइ वहावेतं वा साइज्जइ ॥४१॥

जे भिक्खू तण्णीसाए असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा देइ देतं वा साइज्जइ ॥ ४२ ॥

कठिन शब्दार्थ - उवहिं - उपधि का, वहावेइ - वाहयति - वहन कराता है, तण्णीसाए - उपधि आदि वहन करने वाले को।

भावार्थ - ४१. जो भिक्षु अन्यतीर्थिक या गृहस्थ से उपधि - स्वकीय वस्त्र-पात्रादि का वहन करवाता है या करवाने वाले का अनुमोदन करता है।

४२. जो भिक्षु वाहक को (उपधि वहन करवाने के निमित्त से) अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य रूप आहार देता है या देने वाले का अनुमोदन करता है।

ऐसा करने वाले भिक्षु को लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - जैसा कि यथाप्रसंग पहले व्याख्यात हुआ है, साधु स्वावलम्बी जीवन जीता है। किसी भी प्रकार से वह ही लेता है, जो उसके लिए न बना हो। स्वयं के खाने में संकोच कर दिया गया हो।

साधु वस्त्र, पात्र आदि उतने ही रखता है, जितने वह आसानी से ले कर चल सके। गृहस्थ द्वारा अपने सामान का वहन करवाना परावलंबन का द्योतक है। इससे साधु पराश्रित हो जाता है। पराश्रय संयम में बाधक है। इसके अतिरिक्त और भी अनेक व्यावहारिक कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं, जो आध्यात्मिक और ऐहिक - दोनों दृष्टियों से हानिकारक हैं।

गृहस्थ साधु की उपधि लेकर चलता है तब जीवों की जो विराधना होती है,

उसका साधु को भी दोष लगता है क्योंकि उसकी गति का मुख्य कारण साधु की उपधि का वहन है।

उपधिवाहक यदि चलने में असावधानीवश उपधि नीचे गिरा दे तब भी जीव विराधना आशंकित है। किसी वस्त्र विशेष के प्रति वाहक के मन में लालच उत्पन्न हो जाए तथा वह लेकर भाग जाए तो उससे असमाधि उत्पन्न होती है।

यदि साधु का औपधिक भार अधिक हो, जिससे गृहस्थ के द्वारा ले कर चलने में कष्ट हो तो उसका भी साधु को दोष लगता है। उबड़-खाबड़, कष्टकर भूमि में चलने से वाहक को चोट लग जाए या बीमार हो जाए तो साधु को उसकी चिकित्सा की व्यवस्था करवाने में अनेक दोषों की आशंका रहती है।

भारवाहक गृहस्थ की मार्ग में भोजन व्यवस्था न हो सके तो साधु के मन में उसे खिलाने के संदर्भ में संकल्प-विकल्प उत्पन्न होते हैं तथा गवेषणा कर स्वयं लाए आहार में से देने का भाव भी उत्पन्न हो सकता है।

यदि पारिश्रमिक या मजदूरी देकर उपधिवाहक रखा जाए तो अपरिग्रह महाव्रत खंडित होता है।

यदि अध्येतव्य ग्रंथों का भार अधिक हो जाए, उन्हें साथ में रखना आवश्यक हो अथवा साधु स्वयं किसी प्रकार से शारीरिक दृष्टि से उपधि ले जाने में असमर्थ हो जाए तो वैसे में गृहस्थ से उपधि वहन करवाने की परिस्थिति में उसे सूत्रोक्त प्रायश्चित्त लेना होता है।

जैन आगमों में साधु की आवश्यक सामग्री के लिए उपधि शब्द का प्रयोग होता रहा है। यह शब्द 'उप' उपसर्ग और 'धा' धातु के योग से बना है। 'उप' उपसर्ग सामीप्य द्योतक है तथा 'धा' धातु धारण करने, वहन करने या ढोने के अर्थ में है। जिस सामान को अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु अपने पास रखा जाता है, उसे 'उपधि' कहा जाता है।

महानदी पार करने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू इमाओ पंच महण्णवाओ महाणईओ उद्दिट्ठाओ गणियाओ वंजियाओ अंतो मासस्स दुक्खुत्तो वा तिक्खुत्तो वा उत्तरइ वा संतरइ वा उत्तरंतं वा संतरंतं वा साइज्जइ, तंजहा-गंगा जउणा सरऊ एरावई मही। तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ॥ ४३ ॥

॥ णिसीहउज्जयणे बारसमो उद्देसो समत्तो ॥ १२ ॥

कठिन शब्दार्थ - महण्णवाओ - महार्णव - समुद्र के तुल्य, उद्दिट्ठाओ - कही गई, गणियाओ - परिगणित - गिनी गई, वंजियाओ - प्रकटित - प्रतिपादित, अंतो मासस्स - एक मास में, दुक्खुत्तो - दो बार, तिक्खुत्तो - तीन बार, उत्तरइ - पैरों से पार करता है, संतरइ - नाव आदि से पार करता है, सेवमाणे - सेवन करते हुए को, आवज्जइ - आता है।

भावार्थ - ४३. जो भिक्षु समुद्र के सदृश कथित, परिगणित एवं प्रतिपादित इन पाँच महानदियों को एक मास में दो बार या तीन बार तैरकर या नाव आदि से पार करता है अथवा तैरने या पार करने वाले का अनुमोदन करता है, उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

गंगा, यमुना, सरयू, ऐरावती और माही - ये पाँच महानदियाँ कही गई हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त ४३ सूत्रों में किए गए किसी भी प्रायश्चित्त स्थान का, तद्गत दोषों का सेवन करने वाले भिक्षु को अनुद्घातिक परिहार-तप रूप लघुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

इस प्रकार निशीथ अध्ययन (निशीथ सूत्र) में द्वादश उद्देशक परिसमाप्त हुआ।

विवेचन - सामान्यतः भिक्षु भूमि पर ही पदयात्रा करता है। जलमार्ग से नहीं जाता, क्योंकि वैसा करने में अप्काय के जीवों की तथा अनेकविध त्रसकायिक जीवों की विराधना होती है। किन्तु यदि साधर्मिक सेवा आदि विशिष्ट कारणों से जहाँ जाना हो वहाँ यदि स्थल मार्ग से न पहुँचा जा सके, आगे कोई बड़ी नदी हो तो आगमों में मासकल्प विहार के नियमानुसार एक मास में एक बार नदी पार किया जाना शास्त्रविहित है। उसमें इतनी और सुविधा है, चातुर्मास के अतिरिक्त आठ महीनों में नौ बार तक बड़ी नदी को पार करना कहा गया है।

यहाँ इतना और ज्ञातव्य है कि प्रथम मास में दो बार तथा शेष मासों में एक-एक बार पार उतरना कल्पनीय है।

नदी और महानदी का अन्तर यह है कि नदियाँ वर्षभर बहती भी हैं और सूखती भी हैं, किन्तु जिन्हें महानदियाँ कहा गया है, वे अथाह जल राशि युक्त होती हैं, कभी सूखती नहीं। उनमें मत्स्य, कच्छप, मकर आदि अनेकानेक छोटे-बड़े जल-जीव होते हैं।

उत्सर्ग मार्गानुसार तो भिक्षु को जल का स्पर्श करना भी नहीं कल्पता किन्तु यहाँ किया गया विधान आपवादिक है।

॥ इति निशीथ सूत्र का द्वादश उद्देशक समाप्त ॥

तेरहमो उद्देसओ - त्रयोदश उद्देशक

सचित्त पृथ्वी आदि पर स्थित होने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू अणंतरहियाए पुढवीए ठाणं वा सेज्जं वा णिसीहियं वा चेइए
चेएंतं वा साइज्जइ ॥ १ ॥

जे भिक्खू ससिणिद्धाए पुढवीए ठाणं वा सेज्जं वा णिसीहियं वा चेइए
चेएंतं वा साइज्जइ ॥ २ ॥

जे भिक्खू ससरक्खाए पुढवीए ठाणं वा सेज्जं वा णिसीहियं वा चेइए
चेएंतं वा साइज्जइ ॥ ३ ॥

जे भिक्खू मट्टियकडाए पुढवीए ठाणं वा सेज्जं वा णिसीहियं वा चेइए
चेएंतं वा साइज्जइ ॥ ४ ॥

जे भिक्खू चित्तमंताए पुढवीए ठाणं वा सेज्जं वा णिसीहियं वा चेइए
चेएंतं वा साइज्जइ ॥ ५ ॥

जे भिक्खू चित्तमंताए सिलाए ठाणं वा सेज्जं वा णिसीहियं वा चेइए
चेएंतं वा साइज्जइ ॥ ६ ॥

जे भिक्खू चित्तमंताए लेलूए ठाणं वा सेज्जं वा णिसीहियं वा चेइए
चेएंतं वा साइज्जइ ॥ ७ ॥

जे भिक्खू कोलावासंसि वा दारुए जीवपइट्टिए सअंडे सपाष्णे सब्बीए
सहरिए सओस्से सउदए सउत्तिंग-पणग-दग-मट्टियमक्कडा-संताणगंसि ठाणं
वा सेज्जं वा णिसीहियं वा चेइए चेएंतं वा साइज्जइ ॥ ८ ॥

कठिन शब्दार्थ - अणंतरहियाए - अनन्तजीवरहित, असंख्यात जीव युक्त - सचित्त
पृथ्वी के निकट की भूमि, चेइए - (जानता हुआ) करता है, ससिणिद्धाए - सचित्त जल
युक्त, ससरक्खाए - सचित्त रजयुक्त, मट्टियकडाए - मृत्तिकाकृता - सचित्त मिट्टी के लेप
युक्त, चित्तमंताए - सूक्ष्म त्रसजीवयुक्त, सिलाए - महापाषाणखण्ड - बड़ी शिला, लेलूए-
मिट्टी का ढेला, कोलावासंसि - घुणों के आवास से युक्त, दारुए - काष्ठ, जीवपइट्टिए -

जीवप्रतिष्ठित - जीवयुक्त, सहरिए - अंकुरित बीज युक्त, सओस्से - ओस युक्त, सउदए - सचित्त जलयुक्त काष्ठ आदि, सउत्तिंग-पणग-दग-मट्टियमक्कडा-संताणगंसि - कीट विशेष, पनक जीव, कीचड़ युक्त मृत्तिका, सचित्त मृत्तिका, मकड़ी का जाला।

भावार्थ - १. जो भिक्षु असंख्यात जीव युक्त - सचित्त पृथ्वी के निकट की भूमि पर (जानता हुआ भी) खड़े रहना, सोना, बैठना आदि क्रियाएँ करता है या ऐसा करने वाले का अनुमोदन करता है।

२. जो भिक्षु सचित्त जल युक्त पृथ्वी पर (जानता हुआ भी) खड़े रहना, सोना, बैठना आदि क्रियाएँ करता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

३. जो भिक्षु सचित्त रजयुक्त पृथ्वी पर (जानता हुआ भी) खड़े रहना, सोना, बैठना आदि क्रियाएँ करता है या ऐसा करने वाले का अनुमोदन करता है।

४. जो भिक्षु सचित्त मिट्टी के लेप युक्त स्थान पर (जानता हुआ भी) खड़े रहना, सोना, बैठना आदि क्रियाएँ करता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

५. जो भिक्षु सूक्ष्म त्रसजीवयुक्त पृथ्वी पर (जानता हुआ भी) खड़े रहना, सोना, बैठना आदि क्रियाएँ करता है या ऐसा करने वाले का अनुमोदन करता है।

६. जो भिक्षु सूक्ष्म त्रसजीवयुक्त पाषाण खण्ड पर (जानता हुआ भी) खड़े रहना, सोना, बैठना आदि क्रियाएँ करता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

७. जो भिक्षु सूक्ष्म त्रसजीवयुक्त मिट्टी के ढेले पर (जानता हुआ भी) खड़े रहना, सोना, बैठना आदि क्रियाएँ करता है या ऐसा करने वाले का अनुमोदन करता है।

८. जो भिक्षु घुणों के आवास युक्त, जीव, अण्डे, द्वीन्द्रिय जीव आदि युक्त काष्ठ अथवा सचित्त बीज, अंकुरित बीज, ओस, सचित्त जल, कीट विशेष, पनक जीव, कीचड़, सचित्त मृत्तिका या मकड़ी के जालों से युक्त स्थान में (जानता हुआ भी) खड़े रहना, सोना, बैठना आदि क्रियाएँ करता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

इस प्रकार उपर्युक्त अविहित कार्य करने वाले भिक्षु को लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - जैन भिक्षु अपने अहिंसा महाव्रत के अन्तर्गत सभी प्रकार के स्थावर, त्रस जीवों की हिंसा का परित्याग करता है। अत एव वह ऐसा कोई कार्य नहीं करता जिससे किसी भी सजीव प्राणी को क्लेश पहुँचे। इसलिए वह उठने, बैठने, सोने आदि दैनंदिन क्रियाओं में यह ध्यान रखता है कि सचित्त मृत्तिका, कर्दम आदि का स्पर्श न हो।

दैनिक क्रियाओं में जरा भी असावधानी हो जाए तो सूत्रोक्त प्राणी उत्क्लेशित, उत्पीड़ित, आहत होते हैं। एदद्विषयक जागरूकता हेतु इस सूत्र में 'दुर्बद्धं सुबद्धं भवति' के अनुसार पुनः साधु को हिंसा से सदैव पृथक् रहने की प्रेरणा दी है।

अनावृत उच्च स्थान पर खड़े रहने आदि का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू थूणंसि वा गिहेलुयंसि वा उसु(का)यालंसि वा कामजलंसि वा दुब्बद्धे दुण्णिक्खित्ते अणिकंपे चलाचले ठाणं वा सेज्जं वा णिसीहियं वा चेइए चेएंतं वा साइज्जइ ॥ ९ ॥

जे भिक्खू कुलियंसि वा भित्तिसि वा सिलंसि वा लेलुंसि वा अंतरिक्खजायंसि वा दुब्बद्धे दुण्णिक्खित्ते अणिकंपे चलाचले ठाणं वा सेज्जं वा णिसीहियं वा चेइए चेएंतं वा साइज्जइ ॥ १० ॥

जे भिक्खू खंधंसि वा फलिहंसि वा मंचंसि वा मंडवंसि वा मालंसि वा पासायंसि वा हम्मतलंसि वा अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि अंतरिक्खजायंसि वा दुब्बद्धे दुण्णिक्खित्ते अणिकंपे चलाचले ठाणं वा सेज्जं वा णिसीहियं वा चेइए चेएंतं वा साइज्जइ ॥ ११ ॥

कठिन शब्दार्थ - थूणंसि - स्तंभ, गिहेलुयंसि - देहली, उसु(का)यालंसि - ऊखल, कामजलंसि - स्नानादि में प्रयोक्तव्य पीठ, फलक आदि, दुब्बद्धे - दुर्बद्धं - भलीभाँति न बंधा हुआ, दुण्णिक्खित्ते - सम्यक् स्थापित न किया हुआ, अणिकंपे - निष्कंप रहित - कंपनयुक्त, चलाचले - अस्थिर, कुलियंसि - तृणादि से निर्मित अस्थायी दीवार (बाड़ आदि), अंतरिक्खजायंसि - अंतरिक्षजात - आकाशीय अनावृत स्थल मंच आदि, खंधंसि - स्कंध - कोट, पीठिका या स्तम्भगृह आदि, मालंसि - गृह के ऊपर स्थित खुले तल आदि पर, हम्मतलंसि - पुरानी हवेली के तल पर (ऊपरी स्थान)।

भावार्थ - ९. जो भिक्षु भलीभाँति नहीं बंधे हुए, सम्यक् स्थापित न किए हुए, कंपनयुक्त या अस्थिर स्तंभ, देहली, ऊखल, पीठ (फलक) आदि पर (जानते हुए भी) खड़े होने, सोने या बैठने आदि क्रियाएँ करता है अथवा ऐसा करने वाले का अनुमोदन करता है।

१०. जो भिक्षु भलीभाँति नहीं बंधे हुए, अस्थापित, कंपनयुक्त या अस्थिर तृणादि निर्मित दीवार, भित्तिका, शिलाखण्ड, पत्थर के ढेले आदि अनावृत स्थान (मंच आदि) पर (जानते

हुए भी) खड़े होने, सोने या बैठने आदि क्रियाएँ करता है अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

११. जो भिक्षु भलीभाँति नहीं बंधे हुए, सम्यक् स्थापित न किए हुए कंपनयुक्त, अस्थिर स्कंध, फलक, मंच, मंडप, घर के ऊपरवर्ती खुले तल, प्रासाद, जीर्ण हवेली या अन्य इसी प्रकार के खुले आकाशीय स्थानों पर (जानते हुए भी) खड़े होने, सोने या बैठने आदि क्रियाएँ करता है अथवा ऐसा करने वाले का अनुमोदन करता है।

इस प्रकार उपर्युक्त रूप में आचरण करने वाले भिक्षु को लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - 'सव्वओ पमत्तस्स भयं सव्वओ अप्पमत्तस्स णत्थि भयं' - इस उक्ति के अनुसार प्रमाद, असावधानी, अजागरूकतायुक्त व्यक्ति को सर्वत्र भय ही भय है। प्रमादशून्य को कहीं भी भय नहीं। यह सूत्रवाक्य बड़ा महत्त्वपूर्ण है। भिक्षु इसे स्मृति में रखता हुआ, कार्मिक दृष्टि से इसका अनुसरण करता हुआ समुद्यत रहे, यह आवश्यक है। वैसा करता हुआ वह अपनी संयमयात्रा का निर्वाह बड़ी ही शान्ति, सुख और अन्तस्तुष्टि के साथ कर सकता है। वैसा होने में जो भी बाधकताएँ आशंकित हैं, उन्हें ध्यान में रखते हुए आगमों में स्थान-स्थान पर सावधानी बरतने का निर्देश किया गया है।

उपर्युक्त सूत्रों में ऐसे ही विषयों को लेते हुए भिक्षु के लिए अनावृत - आवरण रहित विविध प्रकार के ऊँचे स्थानों पर खड़े होना आदि को दोषपूर्ण बताया गया है, क्योंकि ऐसा करने के पीछे कोई विशेष धार्मिक प्रयोजन नहीं होता। यह तो मात्र कुतूहलजनक प्रतीत होता है, जिसे हास्यास्पद से भिन्न नहीं कहा जा सकता।

वैसा करता हुआ भिक्षु थोड़ी भी असावधानी होने पर नीचे गिर सकता है, जिससे पृथ्वीकाय आदि जीवों की विराधना होती है, जिससे उसका अहिंसा महाव्रत व्याहत होता है।

उच्च स्थान से गिर पड़ने पर उसे स्वयं भी चोट लग सकती है, अस्थिभंग (Fracture) हो सकता है, जिससे संयम जीवितव्य निरापद नहीं रहता।

शिल्पकलादि शिक्षण विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू अण्णउत्थियं वा गारत्थियं वा सिप्यं वा सिलोगं वा अट्ठावयं वा कक्कडगं वा वुग् (गा) गहंसि वा सलाहं वा सलाहत्थयंसि वा सिक्खावेइ सिक्खावेतं वा साइज्जइ ॥ १२ ॥

कठिन शब्दार्थ - सिष्यं - शिल्प, सिलोगं - श्लोक, अद्वावयं - अष्टापद - द्यूत क्रीड़ा का पासा, कक्कडगं - कर्कट - कौड़ियों से क्रीड़ा - खेल अथवा न्याय (हेतु) शास्त्र, वुग(गा)गहंसि - युद्धकला, सलाहं - श्लाघा - गुणवर्णन रूप काव्य रचना, सलाहत्थयंसि - प्रशंसात्मक कथा - वर्णन, सिक्खावेइ - सिखाता है।

भावार्थ - १२. जो भिक्षु अन्यतीर्थिक या गृहस्थ को शिल्प, श्लोक रचना, द्यूतक्रीड़ा, कर्कट, (जय-विजय रूप) युद्ध कला, गुणवर्णन रूप काव्य रचना, प्रशंसात्मक कथा आदि सिखलाता है या सिखाने वाले का अनुमोदन करता है, उसे लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - भिक्षु के जीवन का परम लक्ष्य मन, वचन और काय का उन्हीं सत्प्रवृत्तियों में विनियोग करना है, जो संयम का समुपवर्धन करें, त्याग-वैराग्य को बढ़ाएँ, साधना को बल प्रदान करें। उनके विपरीत सभी मनोविनोद, भौतिक तुष्टि, कीर्तिकांक्षा, लौकैषणा इत्यादि से संबद्ध हैं। अत एव इन सूत्रों में शिल्प, काव्यकला, युद्धकला, लौकिक गुण कीर्तन रूप प्रशंसात्मक वाग्विलास आदि को दोषपूर्ण बतलाया गया है। क्योंकि इनसे आत्मशुद्धिमूलक लक्ष्य फलित नहीं होता, केवल शारीरिक, मानसिक तुष्टि मात्र होती है।

अत एव गृहस्थों तथा अन्यतीर्थिकों को वैसा शिक्षण प्रदान करना यहाँ दोषपूर्ण एवं प्रायश्चित्त योग्य बतलाया गया है।

अन्यतीर्थिक आदि को कटुवचन कहने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू अण्णउत्थियं वा गारत्थियं वा आगाढं वयइ वयंतं वा साइज्जइ ॥१३॥

जे भिक्खू अण्णउत्थियं वा गारत्थियं वा फरुसं वयइ वयंतं वा साइज्जइ ॥१४॥

जे भिक्खू अण्णउत्थियं वा गारत्थियं वा आगाढं फरुसं वयइ वयंतं वा साइज्जइ ॥ १५ ॥

जे भिक्खू अण्णउत्थियं वा गारत्थियं वा अण्णयरीए अच्चासायणाए अच्चासाएइ अच्चासाएंतं वा साइज्जइ ॥ १६ ॥

कठिन शब्दार्थ - आगाढं - क्रोधयुक्त वचन, फरुसं - कठोर, अच्चासायणाए - विशेष रूप से आशातना करना, अच्चासाएइ - पीड़ित करता है - सताता है।

जे भिक्खू अण्णउत्थियाण वा गारत्थियाण वा भूइकम्मं करेइ करेतं वा साइज्जइ ॥ १८ ॥

जे भिक्खू अण्णउत्थियाण वा गारत्थियाण वा पसिणं करेइ करेतं वा साइज्जइ ॥ १९ ॥

जे भिक्खू अण्णउत्थियाण वा गारत्थियाण वा पसिणापसिणं करेइ करेतं वा साइज्जइ ॥ २० ॥

जे भिक्खू अण्णउत्थियाण वा गारत्थियाण वा तीयं णिमित्तं कहेइ कहेतं वा साइज्जइ ॥ २१ ॥

जे भिक्खू अण्णउत्थियाण वा गारत्थियाण वा लक्खणं कहेइ कहेतं वा साइज्जइ ॥ २२ ॥

जे भिक्खू अण्णउत्थियाण वा गारत्थियाण वा वंजणं कहेइ कहेतं वा साइज्जइ ॥ २३ ॥

जे भिक्खू अण्णउत्थियाण वा गारत्थियाण वा सुमिणं कहेइ कहेतं वा साइज्जइ ॥ २४ ॥

जे भिक्खू अण्णउत्थियाण वा गारत्थियाण वा विज्जं पउंजइ पउंजंतं वा साइज्जइ ॥ २५ ॥

जे भिक्खू अण्णउत्थियाण वा गारत्थियाण वा मंतं पउंजइ पउंजंतं वा साइज्जइ ॥ २६ ॥

जे भिक्खू अण्णउत्थियाण वा गारत्थियाण वा जोगं पउंजइ पउंजंतं वा साइज्जइ ॥ २७ ॥

कठिन शब्दार्थ - कोउगकम्मं - कौतुक - नजर आदि न लगने हेतु स्नानोपरांत औपचारिक कर्म (तिलक आदि के रूप में), भूइकम्मं - भूतिकर्म - शरीर रक्षा हेतु राख आदि की अभिमंत्रित पोटली का प्रयोग, पसिणं - प्रश्न - दर्पण में देवता का आह्वान कर शुभाशुभ फलपृच्छा करना, पसिणापसिणं - प्रश्न-प्रश्न - बार-बार प्रश्न करना, तीयं - अतीत, लक्खणं - लक्षण, वंजणं - मश, तिल आदि के आधार पर शुभाशुभ फल कहना,

सुमिर्णा - स्वप्न, विग्जं - विद्या - मारण-मोहन-वशीकरण-उच्चाटन रूप विद्या, पठंजइ - प्रयुक्त करता है, मंत्र - मंत्र, जोगं - योगकरण - अनेक वस्तुओं के संयोग से निर्मित चूर्ण आदि के प्रक्षेप से अनेकानेक आदि प्रयोग करना।

भावाय - १७. जो भिक्षु अन्यतीर्थिक या गृहस्थ के लिए कौतुककर्म करता है अथवा करने वाले का अनुमोदन करता है।

१८. जो भिक्षु अन्यतीर्थिक या गृहस्थ के लिए भूतिकर्म करता है अथवा करते हुए का अनुमोदन करता है।

१९. जो भिक्षु अन्यतीर्थिक या गृहस्थ के लिए प्रश्न कार्य (देवता से शुभाशुभ फल पृच्छा रूप कार्य) करता है अथवा करने वाले का अनुमोदन करता है।

२०. जो भिक्षु अन्यतीर्थिक या गृहस्थ के लिए देवादि से बार-बार प्रश्न करता है अथवा करते हुए का अनुमोदन करता है।

२१. जो भिक्षु अन्यतीर्थिक या गृहस्थ को विगत (अतीत) के निमित्त फल बतलाता है या ऐसा करने वाले का अनुमोदन करता है।

२२. जो भिक्षु अन्यतीर्थिक या गृहस्थ के शारीरिक लक्षणों के आधार पर भविष्य आदि कहता है या कहने वाले का अनुमोदन करता है।

२३. जो भिक्षु अन्यतीर्थिक या गृहस्थ को तिल, मशा आदि चिह्नों के अनुसार शुभाशुभ फल कहता है या कहने वाले का अनुमोदन करता है।

२४. जो भिक्षु अन्यतीर्थिक या गृहस्थ को स्वप्नों का शुभाशुभ फल बतलाता है या बतलाते हुए का अनुमोदन करता है।

२५. जो भिक्षु अन्यतीर्थिक या गृहस्थ के हिताहित के लिए विद्या (कुत्सित विद्या) प्रयुक्त करता है अथवा प्रयुक्त करने वाले का अनुमोदन करता है।

२६. जो भिक्षु अन्यतीर्थिक या गृहस्थ के हिताहित के लिए मंत्र प्रयुक्त करता है अथवा प्रयुक्त करने वाले का अनुमोदन करता है।

२७. जो भिक्षु अन्यतीर्थिक या गृहस्थ के हिताहित के लिए योग प्रयुक्त करता है अथवा प्रयुक्त करने वाले का अनुमोदन करता है।

इस प्रकार उपर्युक्त दोष-स्थानों में से किसी भी दोष-स्थान का सेवन करने वाले भिक्षु को लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - कौतुक कर्म आदि शब्दों का अर्थ इस प्रकार समझना चाहिए -

कौतुक कर्म - मृतवत्सा आदि को श्मशान या चौराहे आदि में स्नान करना। सौभाग्य आदि के लिये धूप, होम आदि करना। दृष्टि दोष से रक्षा के लिये काजल का तिलक करना।

भूतीकर्म - शरीर आदि की रक्षा के लिये विद्या से अभिमंत्रित राख से रक्षा पोटली बनाना या भस्मलेपन करना।

पसिर्ण - मन्त्र या विद्या बल से दर्पण आदि में देवता का आह्वान करना व प्रश्न पूछना।

पसिणापसिण - मन्त्र या विद्या बल से स्वप्न में देवता के आह्वान द्वारा जाना हुआ शुभाशुभ फल का कथन करना।

लक्षण - पूर्व भव में उपार्जित अंगोपांग आदि शुभ नामकर्म के उदय से शरीर हाथ-पांव आदि में सामान्य मनुष्य के ३२, बलदेव वासुदेव के १०८ तथा चक्रवर्ती या तीर्थंकर के १००८ बाह्य लक्षण होते हैं, अन्य अनेक आंतरिक लक्षण भी हो सकते हैं। ये लक्षण रेखा रूप में या अंगोपांग की आकृति रूप होते हैं तथा ये लक्षण स्वर एवं वर्ण रूप में भी हो सकते हैं। शरीर का मान उन्मान व प्रमाण ये भी शुभ लक्षण रूप होते हैं।

व्यंजन - उपयुक्त लक्षण तो शरीर के साथ उत्पन्न होते हैं और बाद में उत्पन्न होने वाले व्यंजन कहे जाते हैं। यथा - तिल, मस, अन्य चिह्न आदि।

विद्यामन्त्र - जिस मन्त्र की अधिष्ठायिका देवी हो वह 'विद्या' कहलाती है और जिस मन्त्र का आधिष्ठायक देव हो वह 'मन्त्र' कहलाता है। अथवा विशिष्ट साधना से प्राप्त हो वह 'विद्या' और केवल ज्ञाप करने से जो सिद्ध हो वह 'मंत्र' कहा गया है।

योग - वंशीकरण, पादलेप, अंतर्धान होना आदि 'योग' कहे जाते हैं। ये योग विद्यायुक्त भी होते हैं और विद्या के बिना भी होते हैं।

साधनामूलक विद्या के दो रूप हैं। एक का लक्ष्य कर्मक्षयपूर्वक बहिरात्मभाव से अन्तरात्मभाव में होते हुए परमात्मभाव का अधिगम करना है। वह सात्त्विक, उज्ज्वल या पावन विद्या है। दूसरा वह रूप है, जिसका लक्ष्य कुत्सित, सावध, मलीमस प्रयोगों द्वारा अपना भौतिक अभीसिप्त साधना है। मंत्र, तंत्र, यंत्र आदि सभी कर्ममार्गी उपक्रम इसमें सम्मिलित हैं। इसको अविद्या कहा गया है। वह विद्या तो है किन्तु आत्म का पतन कराती है, इसलिए अविद्या है। सद्गृहस्थ को भी ऐसी विद्या की साधना नहीं करनी चाहिए क्योंकि वैसा पुरुष नरकगामी होता है।

जैन साधु का जीवन तो बहुत उच्च होता है। उसके संदर्भ में तो ऐसी कल्पना भी नहीं की जा सकती। ये मंत्रादि प्रयोग भोग, वासना, कीर्ति, राग, द्वेष, रोष, प्रतिशोध - इत्यादि हेतु किए जाते हैं, जिनसे जैन भिक्षु का तो दूर तक का प्रयोजन नहीं होता। किन्तु जैन साधु है तो एक मानव ही। कदाचन यशोभिलाषा, धर्मप्रभावना एवं मानसिक दौर्बल्यवश कामादिकांक्षा के वशीभूत होकर साधु ऐसे कृत्यों में न पड़ जाए एतदर्थ तदानीन्तन (उस समय की) कलुषित विद्याओं के वैविध्यपूर्ण रूपों का वर्णन कर उनमें लगना प्रायश्चित्त योग्य बतलाया गया है।

मार्गादि बताने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू अण्णउत्थियाण वा गारत्थियाण वा णट्ठाणं मूढाणं विप्परियासियाणं वा मग्गं वा पवेएइ संधिं वा पवेएइ (मग्गाओ वा संधिं पवेएइ) संधीओ वा मग्गं पवेएइ पवेएतं वा साइज्जइ ॥ २८ ॥

कठिन शब्दार्थ - णट्ठाणं - पथभ्रष्टों को, मूढाणं - दिङ्मूढ - दिशा भटके हुए, विप्परियासियाणं - विपरीत मार्ग में गए हुए, मग्गं - मार्ग, पवेएइ - प्रवेदयति - बतलाता है, संधिं - दो या अनेक मार्गों के मिलने का स्थान।

भावार्थ - २८. जो भिक्षु पथभ्रष्ट हुए, दिशा भटके हुए या विपरीत मार्ग में गए हुए अन्यतीर्थिक या गृहस्थ को मार्ग या संधि - मार्गों के मिलने का स्थान बतलाता है (अथवा मार्ग से संधि बतलाता है), संधि से मार्ग बतलाया है या बतलाने वाले का अनुमोदन करता है, उसे लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - जैन भिक्षु का ऐहिक, लौकिक कार्यों में सांसारिकजनों के साथ कोई संबंध नहीं होता। वे क्या कर रहे हैं, कहाँ जा रहे हैं, इससे उसका कोई प्रयोजन नहीं होता। क्योंकि दोनों के मार्ग भिन्न-भिन्न हैं। इसीलिए यहाँ जैन भिक्षु द्वारा अन्यतीर्थिकों या गृहस्थों को उन द्वारा मार्ग के विषय में पूछे जाने पर कुछ भी कहना कल्पनीय नहीं कहा गया है। यदि प्रसंगवश कहना भी पड़े तो हित-अहित के चिंतनपूर्वक मार्ग या संधि बतानी चाहिए।

यहाँ जो निषेध किया गया है, उसका कारण यह है कि यदि मार्ग बताने में भूल हो जाए तो उस पर जाने वाले भटक सकते हैं, उन्हें संकट उत्पन्न हो सकता है। यदि जाने वाले दस्यु आदि हों तो वे उधर जाकर जो पापात्मक कृत्य करते हैं, उनका दोष उसे लगता है। इसके अलावा भिक्षु द्वारा रास्ता बताने में उनके गमन का अनुमोदन है जो यतनापूर्वक न होने से सावध है।

अतः शास्त्रों में (आचारांग आदि) ऐसा विधान है कि भिक्षु ऐसे प्रसंग में मौन रहे तथा अपेक्षापूर्वक तटस्थ भाव रखे।

धातु एवं निधि बताने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू अण्णउत्थियाण वा गारत्थियाण वा धाउं पवेएइ पवेएंतं वा साइज्जइ ॥२९॥

जे भिक्खू अण्णउत्थियाण वा गारत्थियाण वा णिहिं पवेएइ पवेएंतं वा साइज्जइ ॥ ३० ॥

कठिन शब्दार्थ - धाउं - धातु, णिहिं - निधि - खजाना।

भावार्थ - २९. जो भिक्षु अन्यतीर्थिक या गृहस्थ को धातु बताता है अथवा बताते हुए का अनुमोदन करता है।

३०. जो भिक्षु अन्यतीर्थिक या गृहस्थ को खजाना बताता है अथवा बताते हुए का अनुमोदन करता है।

विवेचन - 'धा' धातु और 'तुन्' प्रत्यय के योग से धातु शब्द निष्पन्न होता है। धातु शब्द के अनेक अर्थ हैं। व्याकरण में क्रिया के मूल रूप को धातु कहा जाता है। रस, रक्त, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा तथा शुक्र - देह के ये सात निर्मापक, संस्थापक तत्त्व भी धातु कहे जाते हैं। लोहा, ताँबा, रांगा, सीसा, चाँदी, सोना आदि खनिज पदार्थ भी धातु कहे जाते हैं। पारस पत्थर भी धातु ही माना जाता है, जिसके स्पर्श से लोहा सोना बन जाता है, ऐसी पुरानी मान्यता है।

यहाँ धातु शब्द से स्वर्ण, रजत आदि बहुमूल्य खनिज पदार्थों का सूचन है। भिक्षु को यदि अपने विशिष्ट ज्ञान या विद्या द्वारा यह ज्ञात हो कि अमुक स्थान में भूमि के नीचे अमुक धातु प्राप्य है तो वह गृहस्थ आदि को नहीं बताता। क्योंकि बताने पर वे उस धातु को प्राप्त करने हेतु भूमि का खनन आदि करते हैं, जिससे पृथ्वीकायिक आदि अनेक जीवों की विराधना होती है।

उसी प्रकार भिक्षु को यदि जमीन में गड़े खजाने का ज्ञान हो जाए तो वह किसी को उसके संबंध में नहीं बताता, क्योंकि बताने पर वहाँ भी खजाने के लोभ में व्यक्ति खुदाई आदि करते हैं, जो हिंसा का हेतु है। मूल बात तो यह है, जो निरन्तर आत्मोपासना, साधना एवं संयम में निरत होता है, उसे धातु, निधि आदि बताने की आवश्यकता ही क्या है? किन्तु

मन में द्रव्य आदि के प्रति आसक्ति उत्पन्न हो जाए तो लालच में पड़कर विज्ञ भिक्षु भी ऐसे जंजाल में फंस जाता है। भिक्षु के जीवन में वैसा अवांछित प्रसंग कभी न आए, इस दृष्टि से इन सूत्रों में धातु और निधि बताना प्रायश्चित्त योग्य निरूपित हुआ है।

भिक्षु का जीवन तो इतना त्यागमय होता है कि वह खाने, पीने के पात्र भी धातु के नहीं रखता, काष्ठ या तुम्बिका के पात्र का प्रयोग करता है।

पात्रादि में अपना प्रतिबिम्ब देखने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू मत्तए अ (प्य)त्ताणं देहइ देहंतं वा(पलोएइ पलोएंतं वा) साइज्जइ ॥ ३१ ॥

जे भिक्खू अद्दाए अप्पाणं देहइ देहंतं वा साइज्जइ ॥ ३२ ॥

जे भिक्खू असीए अप्पाणं देहइ देहंतं वा साइज्जइ ॥ ३३ ॥

जे भिक्खू मणीए अप्पाणं देहइ देहंतं वा साइज्जइ ॥ ३४ ॥

जे भिक्खू कुंडपाणिए अप्पाणं देहइ देहंतं वा साइज्जइ ॥ ३५ ॥

जे भिक्खू तेल्ले अप्पाणं देहइ देहंतं वा साइज्जइ ॥ ३६ ॥

जे भिक्खू महुए अप्पाणं देहइ देहंतं वा साइज्जइ ॥ ३७ ॥

जे भिक्खू सप्पिए अप्पाणं देहइ देहंतं वा साइज्जइ ॥ ३८ ॥

जे भिक्खू फाणिए अप्पाणं देहइ देहंतं वा साइज्जइ ॥ ३९ ॥

जे भिक्खू मज्जाए अप्पाणं देहइ देहंतं वा साइज्जइ ॥ ४० ॥

जे भिक्खू वसाए अप्पाणं देहइ देहंतं वा साइज्जइ ॥ ४१ ॥

कठिन शब्दार्थ - मत्तए - पात्र में, अ(प्य)त्ताणं - अपने आपको - अपने मुख आदि की आकृति को, प्रतिबिम्ब या परछाई को, देहइ - देखता है, पलोएइ - प्रलोकित करता है - विशेष रूप से अवलोकन करता है, अद्दाए - दर्पण में, असीए - तलवार में, मणीए - मणि में, कुंडपाणिए - कुण्ड या सरोवर आदि के पानी में, तेल्ले - तेल में, महुए - मधु - शहद में, सप्पिए - सर्पि - घृत में, फाणिए - गीले गुड़ में या गुड़ आदि घोलित मिश्रित जल में, मज्जाए - मद्य-मदिरा में, वसाए - वसा - चर्बी में।

भावार्थ - ३१. जो भिक्षु पात्र में अपने मुख आदि की आकृति को - प्रतिबिम्ब या

परछाई को प्रेक्षित करता है - देखता है (प्रलोकित करता है - विशेष रूप से अवलोकन करता है अथवा प्रलोकन करने वाले) देखने वाले का अनुमोदन करता है।

३२. जो भिक्षु दर्पण में अपने मुख आदि की आकृति को देखता है अथवा देखने वाले का अनुमोदन करता है।

३३. जो भिक्षु तलवार में अपने मुख आदि की आकृति को देखता है या देखते हुए का अनुमोदन करता है।

३४. जो भिक्षु मणि में अपने मुख आदि की आकृति को देखता है अथवा देखने वाले का अनुमोदन करता है।

३५. जो भिक्षु कुण्ड या सरोवर आदि के पानी में अपने मुख आदि की आकृति को देखता है या देखते हुए का अनुमोदन करता है।

३६. जो भिक्षु तेल में अपने मुख आदि की आकृति को देखता है अथवा देखने वाले का अनुमोदन करता है।

३७. जो भिक्षु मधु - शहद में अपने मुख आदि की आकृति को देखता है या देखते हुए का अनुमोदन करता है।

३८. जो भिक्षु सर्पि - घृत में अपने मुख आदि की आकृति को देखता है या देखने वाले का अनुमोदन करता है।

३९. जो भिक्षु गीले गुड़ या गुड़ आदि घोलित जल में अपने मुख आदि की आकृति को देखता है अथवा देखते हुए का अनुमोदन करता है।

४०. जो भिक्षु मद्य - मदिरा में अपने मुख आदि की आकृति को देखता है या देखने वाले का अनुमोदन करता है।

४१. जो भिक्षु वसा - चर्बी में अपने मुख आदि की आकृति को देखता है अथवा देखते हुए का अनुमोदन करता है।

इस प्रकार उपर्युक्त अविहित कार्य करने वाले भिक्षु को लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - भिक्षु कभी भी मनोरंजन, मनोविनोद, कुतूहल आदि के वशीभूत होकर ऐसे कार्य न करें, जो उपाहासास्पद हों।

इन सूत्रों में ग्यारह पदार्थों या वस्तुओं का उल्लेख करते हुए भिक्षु द्वारा उनमें अपना प्रतिबिम्ब देखा जाना प्रायश्चित्त योग्य बतलाया गया है। प्रतिबिम्ब उन्हीं पदार्थों में दृष्टिगोचर

होता है, जो निर्मल हों, स्निग्ध तथा विशेष आभायुक्त हों। उनके सामने देखने पर अपनी आकृति उनमें प्रतिबिम्बित होती है। यह असाधुजनोचित क्रिया है। व्यक्तित्व के छिछलेपन की द्योतक है। जिन पदार्थों का इन सूत्रों में वर्णन हुआ है, उनमें बहुत से ऐसे हैं, जो भिक्षु को भिक्षा में प्राप्त होते हैं। तलवार, दर्पण, मणि, मदिरा और वसा ऐसी वस्तुएँ हैं, जिन्हें भिक्षु ग्रहण नहीं करता, उनका उपयोग नहीं करता। अतः यदि भिक्षा हेतु गृहस्थ के यहाँ जाए तो उसे वहाँ इन पदार्थों को देखने का अवसर प्राप्त हो जाता है। वह उनमें अपनी परछाई कदापि न देखे।

अपनी परछाई देखना विवेकशून्य एवं बचकाना कार्य है, मन की चंचलवृत्ति का सूचक है, जिसमें भिक्षु को कभी भी ग्रस्त नहीं होना चाहिए। धार्मिक दृष्टि से यह कर्मबन्ध का हेतु है, लौकिक दृष्टि से भी परिहास योग्य है।

त्याग-वैराग्य की जिस ऊँची भूमिका में भिक्षु स्थित होता है, वह अपने साधनाशील जीवन की गरिमा को जानता हुआ कदापि ऐसा नहीं करता। यदि करता है तो वह प्रायश्चित्त का भागी होता है।

वमन आदि हेतु औषधप्रयोग विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू वमणं करेइ करेतं वा साइज्जइ ॥ ४२ ॥

जे भिक्खू विरेयणं करेइ करेतं वा साइज्जइ ॥ ४३ ॥

जे भिक्खू वमणविरेयणं करेइ करेतं वा साइज्जइ ॥ ४४ ॥

जे भिक्खू अरोगियपडिकम्मं करेइ करेतं वा साइज्जइ ॥ ४५ ॥

कठिन शब्दार्थ - वमणं - वमन, विरेयणं - विरेचन, वमणविरेयणं - वमन विरेचन, अरोगियपडिकम्मं - आरोग्यप्रतिकर्म - रोग आने से पूर्व ही उससे बचाव हेतु औषध सेवन करना।

भावार्थ - ४२. जो भिक्षु वमन करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

४३. जो भिक्षु विरेचन करता है अथवा करते हुए का अनुमोदन करता है।

४४. जो भिक्षु वमन और विरेचन करता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

४५. जो भिक्षु आरोग्य प्रतिकर्म (रोग नहीं होने पर भी उपचार) करता है अथवा करने वाले का अनुमोदन करता है।

इस प्रकार उपर्युक्त रूप में आचरण करने वाले भिक्षु को लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - भिक्षु जीवन में वही ग्राह्य है, जो संयमोपवर्धन में सहायक हो, बाधा निवारक हो। शरीर की इसीलिए उपयोगिता है कि संवर-निर्जरामय साधनाक्रम में वह उपकरणभूत है। अत एव उसके रुग्ण, अस्वस्थ हो जाने पर शास्त्रमर्यादारूप औषध सेवन एवं चिकित्सा विहित है। किन्तु बिना किसी रोग के वमन, विरेचन, तत्पूर्वक पौष्टिक औषधि सेवन साधु के लिए अविहित है। यहाँ वमन-विरेचन का जो उल्लेख है, वह आयुर्वेद सम्मत पंचकर्म की ओर संकेत है।

आयुर्वेद में वमन, विरेचन, स्नेहन, स्वेदन, अनुवासन के रूप में पाँच कर्मों का उल्लेख है। उससे दैहिक शुद्धि कर शक्तिवर्धक औषधि लेना अधिक गुणकारी होता है। उससे शरीर में शक्ति संचयन होता है। भिक्षु के लिए ऐसा करना निषिद्ध है क्योंकि ऐसा करने में आध्यात्मिकता गौण हो जाती है जबकि लक्ष्य अध्यात्म है, देह नहीं। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि ऋतु विशेष में वात, पित्त, कफादि जनित रोग आशंकित हों तथा पूर्व में तत्प्रतिरोधक औषधि लेने से उनके होने की संभावना क्षीण हो जाए तो भिक्षु मर्यादारूप निर्वद्यतया औषध सेवन करे तो दोष नहीं है। किन्तु औषध ऐसी न हो जो शक्तिवर्धक, बलोत्तेजक या पुष्टिकर हो। क्योंकि दैहिक शक्ति या पुष्टि का अतिरेक कामादि कलुषित भावों का संवर्धन करता है।

व्यावहारिक दृष्टि से वमन, विरेचन आदि में और भी अनेक बाधाएँ रहती हैं। इनके अधिक होने से मृत्यु तक हो जाती है। जैसा कि आयुर्वेद में कहा है -

मलायत्तं हि बलं पुंसाम्, मलायत्तं हि जीवितम्।

शरीर में मल की विद्यमानता अपनी ऊष्मा के कारण जीवनीय शक्ति का कार्य करती है। वमन-विरेचन द्वारा इसका सर्वथा निष्कासन हो जाने से कुछ भी दुर्घटित होने की संभावना रहती है।

वमन-विरेचन आदि के वेगाधिक्य से यदि समक्ष गृहस्थ आदि हों तो उनका अवरोध करना पड़ता है, जो हानिकर है।

“न वेगान् धारयेत् धीमान्”

बुद्धिमान व्यक्ति मल-मूत्र आदि के वेग को धारण न करें, न रोकें। आयुर्वेदशास्त्र की यह उक्ति इसी भाव को व्यक्त करती है।

इन्हीं सब कारणों को दृष्टिगत रखते हुए इस संदर्भ में यहाँ प्रायश्चित्त की ओर संकेत किया गया है।

पार्श्वस्थ आदि की वंदना-प्रशंसा करने का प्रायश्चित्त

- जे भिक्खू पासत्थं वंदइ वंदंतं वा साइज्जइ ॥ ४६ ॥
जे भिक्खू पासत्थं पसंसइ पसंसंतं वा साइज्जइ ॥ ४७ ॥
जे भिक्खू कुसीलं वंदइ वंदंतं वा साइज्जइ ॥ ४८ ॥
जे भिक्खू कुसीलं पसंसइ पसंसंतं वा साइज्जइ ॥ ४९ ॥
जे भिक्खू ओसण्णं वंदइ वंदंतं वा साइज्जइ ॥ ५० ॥
जे भिक्खू ओसण्णं पसंसइ पसंसंतं वा साइज्जइ ॥ ५१ ॥
जे भिक्खू संसत्तं वंदइ वंदंतं वा साइज्जइ ॥ ५२ ॥
जे भिक्खू संसत्तं पसंसइ पसंसंतं वा साइज्जइ ॥ ५३ ॥
जे भिक्खू णितियं वंदइ वंदंतं वा साइज्जइ ॥ ५४ ॥
जे भिक्खू णितियं पसंसइ पसंसंतं वा साइज्जइ ॥ ५५ ॥
जे भिक्खू काहियं वंदइ वंदंतं वा साइज्जइ ॥ ५६ ॥
जे भिक्खू काहियं पसंसइ पसंसंतं वा साइज्जइ ॥ ५७ ॥
जे भिक्खू पासणियं वंदइ वंदंतं वा साइज्जइ ॥ ५८ ॥
जे भिक्खू पासणियं पसंसइ पसंसंतं वा साइज्जइ ॥ ५९ ॥
जे भिक्खू मामगं वंदइ वंदंतं वा साइज्जइ ॥ ६० ॥
जे भिक्खू मामगं पसंसइ पसंसंतं वा साइज्जइ ॥ ६१ ॥
जे भिक्खू संपसारियं वंदइ वंदंतं वा साइज्जइ ॥ ६२ ॥
जे भिक्खू संपसारियं पसंसइ पसंसंतं वा साइज्जइ ॥ ६३ ॥

कठिन शब्दार्थ - पासत्थं - पार्श्वस्थ - बाह्य परिवेश के बावजूद ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य रूप धर्म में अनाचरणशील, कुसीलं - दुराचरणसेवी, पसंसइ - प्रशंसा करता है, ओसण्णं- अवसन्न - साधु समाचारी के पालन में अवसाद युक्त, संसत्तं - संसक्त - चारित्र्य विराधना

करने वाले दोषों में संलग्न, णितियं - नित्यपिण्डभोजी - नित्यप्रति एक ही घर से आहार ग्रहण करने वाला, काहियं - काथिक - अशनादि प्राप्त करने हेतु कथा करने वाला, पासणियं - प्रश्नज्योतिषकर्ता - प्रश्नज्योतिष के अनुसार शुभाशुभ फल बतलाने वाला, मामगं - अपनी उपधि में ममत्वयुक्त, संपसारियं - गृहस्थों के कार्यों का परामर्श आदि द्वारा संप्रसार करना।

भावार्थ - ४६. जो भिक्षु पार्श्वस्थ को वंदन करता है या वंदन करने वाले का अनुमोदन करता है।

४७. जो भिक्षु पार्श्वस्थ की प्रशंसा करता है अथवा प्रशंसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

४८. जो भिक्षु दुराचरणसेवी को वंदन करता है या वंदन करने वाले का अनुमोदन करता है।

४९. जो भिक्षु दुराचरणसेवी की प्रशंसा करता है अथवा प्रशंसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

५०. जो भिक्षु अवसादयुक्त को वंदन करता है या वंदन करने वाले का अनुमोदन करता है।

५१. जो भिक्षु अवसादयुक्त की प्रशंसा करता है अथवा प्रशंसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

५२. जो भिक्षु संसक्त को वंदन करता है या वंदन करने वाले का अनुमोदन करता है।

५३. जो भिक्षु संसक्त की प्रशंसा करता है अथवा प्रशंसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

५४. जो भिक्षु नैतिक को वंदना करता है या वंदना करने वाले का अनुमोदन करता है।

५५. जो भिक्षु नैतिक की प्रशंसा करता है अथवा प्रशंसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

५६. जो भिक्षु कथावाचक को वंदना करता है या वंदना करने वाले का अनुमोदन करता है।

५७. जो भिक्षु कथावाचक की प्रशंसा करता है अथवा प्रशंसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

५८. जो भिक्षु प्रश्नज्योतिषकर्ता को वंदना करता है या वंदना करने वाले का अनुमोदन करता है।

५९. जो भिक्षु प्रश्नज्योतिषकर्ता की प्रशंसा करता है अथवा प्रशंसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

६०. जो भिक्षु उपधि आदि में आसक्त को वंदन करता है या वंदन करने वाले का अनुमोदन करता है।

६१. जो भिक्षु उपधि आदि में आसक्त की प्रशंसा करता है अथवा प्रशंसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

६२. जो भिक्षु संप्रसारक को वंदना करता है या वंदना करने वाले का अनुमोदन करता है।

६३. जो भिक्षु संप्रसारक की प्रशंसा करता है अथवा प्रशंसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

इस प्रकार उपर्युक्त रूप में आचरण करने वाले भिक्षु को लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - पार्श्वस्थ आदि शब्दों का अर्थ इस प्रकार समझना चाहिए -

१. **पार्श्वस्थ** - दर्शन, ज्ञान, चरित्र, तप और प्रवचन में जिन्होंने अपनी आत्मा को स्थापित किया है ऐसे उद्यत विहारियों का जो पार्श्वविहार है अर्थात् उनके समान आचार-पालन नहीं करता है उसे पार्श्वस्थ जानना चाहिए।

२. **अवसन्न** - संयम समाचारी से विपरीत आचरण करने वाला अवसन्न कहा जाता है। जो अवसन्न होता है वह आवससही (आवश्यक) आदि दस प्रकार की समाचारियों को कभी करता है, कभी नहीं करता है, कभी विपरीत करता है। इस प्रकार स्वाध्याय आदि भी नहीं करता है या दूषित आचरण करता है तथा शुद्ध पालन के लिए गुरुजनों द्वारा प्रेरणा किये जाने पर उनके वचनों की अपेक्षा या अवहेलना करता है। वह अवसन्न कहा जाता है।

३. **कुशील** - जो निन्दनीय कार्यों में अर्थात् संयम जीवन में नहीं करने योग्य कार्यों में लगा रहता है वह कुशील कहा जाता है।

४. **संसक्त** - जो जैसे साधुओं के साथ रहता है वह वैसा ही हो जाता है। अतः वह संसक्त कहा जाता है। जो पासत्थ अहाच्छंद कुशील और ओसण्ण के साथ मिलकर वैसा

ही बन जाता है तथा प्रियधर्मी के साथ रहता हुआ प्रियधर्मी बन जाता है इस तरह की प्रवृत्ति करने वाला संसक्त कहलाता है।

५. **नित्यक** - जो मासकल्प व चातुर्मासिक कल्प की मर्यादा का उल्लंघन करके निरंतर एक ही क्षेत्र में रहता है वह कालातिक्रान्त - नित्यक कहलाता है, आचारांग श्रुतस्कन्ध २ अ० २ उ० २ में कही गई उपस्थान क्रिया का तथा कालातिक्रान्त क्रिया का सेवन करने वाला नित्यक कहलाता है अथवा जो अकारण सदा एक स्थान पर ही स्थिर रहता है, विहार नहीं करता है वह नित्यक कहा जाता है।

६. **काथिक** - स्वाध्याय आदि आवश्यक कृत्यों की छोड़ करके जो देशकथा आदि कथा करता रहता है, वह काथिक कहा जाता है। आहार वस्त्र पात्र यश या पूजा-प्रतिष्ठा प्राप्ति के लिए जो धर्मकथा करता ही रहता है वह काथिक कहा जाता है।

७. **प्रेक्षणिक** - जनपद आदि अनेक दर्शनिय स्थलों का या नाटक नृत्य आदि का जो प्रेक्षण करता है वह संयम लक्ष्य तथा जिनाज्ञा की उपेक्षा करने से पासणिय - प्रेक्षणिक कहा जाता है।

८. **मामक** - जो आहार में आसक्ति रखता है संविभाग नहीं करता है, निमंत्रण नहीं देता है, उपकरणों में अधिक ममत्व रखता है, किसी को अपनी उपधि के हाथ नहीं लगाने देता है, शरीर में ममत्व रखता है, कुछ भी कष्ट परीषह सहने की भावना न रखते हुए सुखैषी रहता है, वह मामक कहलाता है।

९. **संप्रसारिक** - गृहस्थ के कार्यों में अल्प या अधिक भाग लेने वाला या सहयोग देने वाला संप्रसारिक कहा जाता है। जो साधु संसारिक कार्यों में प्रवृत्त होकर गृहस्थों के पूछने पर या बिना पूछे ही अपनी सलाह देवे कि 'ऐसा करो' 'ऐसा मत करो' 'ऐसा करने से बहुत नुकसान होगा', 'मैं कहूँ वैसा ही करो', इस प्रकार कथन करने वाला संप्रसारिक कहा जाता है।

अर्हत् परंपरा में वंदनीयता का आधार सच्चारित्र्य है। यह साधुत्व का मूल गुण है। "छिन्ने मूले नैव शाखा न पत्रम्" - के अनुसार यदि मूल छिन्न हो जाय तो शाखा, पत्र, पुष्प, फलादि कुछ भी नहीं रहते। यदि कृत्रिम रूप में वे दिखते भी हैं तो निस्तथ्य हैं।

अनादर किसी का नहीं करना चाहिए किन्तु शास्त्रीय विधि से वंदन उन्हीं को करना विहित है, जो पाँच महाव्रतों का तीन योग और तीन करण पूर्वक पालन करते हैं। साधु का

वेश रखते हुए भी जो साधुत्व में आचरणशील नहीं हैं, संयम पालन में अवसाद युक्त, शिथिल बने रहते हैं, तत्परता पूर्वक यथावत् पालन नहीं करते, सदैव एक ही घर से भोजन प्राप्त कर आहार ग्रहण करते हैं, आसक्ति युक्त होते हैं, अच्छा आहार एवं यशादि प्राप्त करने हेतु जो सुंदर रूप में कथाएं कहते हैं, शुभाशुभ फल कथन रूप सावद्य कार्यों में निरत रहते हैं, अपने वस्त्र, पात्रादि उपधि में ममत्व युक्त होते हैं, भौतिक लोभवश गृहस्थों के सावद्य कार्यों में परामर्शक होते हैं। ऐसे व्यक्ति साधुत्व की गरिमा को मिटाते हैं। वे धार्मिक दृष्टि से वंदना के पात्र नहीं होते। वैसे जनों को वंदन, प्रशंसन करने से इन अयोग्यजनों की प्रतिष्ठा बढ़ती है, जिससे अनाचरण का पोषण, अनुमोदन होता है।

वस्तुतः प्रतिष्ठा तो उनकी बढ़नी चाहिए जो त्याग, वैराग्यमूलक, संयमानुप्राणित जीवन विद्या के संवाहक हों।

निशीथ भाष्य में वंदना के अयोग्यजनों का वर्णन करते हुए लिखा है -

मूलगुणे उत्तरगुणे, संथरमाणा विजे पमाएति।

ते ह्येतद्वंदणिजा, तद्गणारोवणा चउरो॥४३६७॥

सक्षम होते हुए भी जो चारित्र के मूल गुणों या उत्तरगुणों के परिपालन में प्रमाद करते हैं, संयम में दोष लगाते हैं, पार्श्वस्थ आदि स्थानों का सेवन करते हैं, वे वंदना के योग्य नहीं हैं।

इस कसौटी पर कसने से सूत्रोक्त सभी व्यक्ति अवंदनीय की श्रेणी में आते हैं।

जो व्यक्ति नम्रता, मृदुभाषिता, वाग्मिता, सद्व्यावहारिकता, मेधाविता आदि में निपुण हों किन्तु चारित्र गुणों में हीन हो तो इन सभी योग्यताओं के बावजूद वह धार्मिक दृष्टि से वंदनीय नहीं होता।

धातृपिंडादि सेवन करने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू धा(इ)ईपिंडं भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ६४ ॥

जे भिक्खू दूईपिंडं भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ६५ ॥

जे भिक्खू णिमित्तपिंडं भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ६६ ॥

● निशीथ भाष्य, गाथा - ४३६७

- जे भिक्खू आजीवियपिंडं भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ६७ ॥
जे भिक्खू वणीमगपिंडं भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ६८ ॥
जे भिक्खू तिगिच्छापिंडं भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ६९ ॥
जे भिक्खू को(ह)वपिंडं भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ७० ॥
जे भिक्खू माणपिंडं भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ७१ ॥
जे भिक्खू मायापिंडं भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ७२ ॥
जे भिक्खू लोभपिंडं भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ७३ ॥
जे भिक्खू विजापिंडं भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ७४ ॥
जे भिक्खू मंतपिंडं भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ७५ ॥
जे भिक्खू चुण्णयपिंडं भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ७६ ॥
जे भिक्खू अंतद्वाणपिंडं भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ७७ ॥
जे भिक्खू जोगपिंडं भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ । तं सेवमाणे आवज्जइ
चाट्ठमासियं परिहारद्वाणं उग्घाइयं ॥ ७८ ॥

॥ णिसीहऽज्जयणे तेरहमो उद्देशो समत्तो ॥ १३ ॥

कठिन शब्दार्थ - धाईपिंडं - धातुपिण्ड - घर के शिशुओं के लालन-पालन क्रीड़ादि हेतु नियुक्त व्यक्ति को देने हेतु बना भोजन, दूईपिंडं - दूतपिण्ड - गृहस्थ के ग्राम-ग्रामान्तर संदेशवाहकजन को देने हेतु बना भोजन, णिमित्तपिंडं - निमित्तपिण्ड - भूत, भविष्य एवं वर्तमान काल विषयक शुभ-अशुभ कथन कर ग्रहण किया जाने वाला आहार, आजीवियपिंडं- आजीविक पिण्ड - अपने भोग, उग्र आदि विशिष्ट वंशों का कथन कर जीवन निर्वाह हेतु गृहीत आहार, वणीमगपिंडं - वनीपकपिण्ड - दैन्यपूर्ण वचन कह कर प्राप्त आहार, तिगिच्छापिंडं - चिकित्सापिण्ड - गृहस्थ के रोग शमन हेतु औषधादि बतलाकर प्राप्त आहार, को(ह)वपिंडं - क्रोधपिण्ड - क्रोधपूर्वक गृहीत आहार, माणपिंडं - मानपिण्ड - अभिमान पूर्वक गृहीत आहार, मायापिंडं - मायापिण्ड - कपट सहित, असत्यादि भाषण पूर्वक प्राप्त आहार, लोभपिंडं - लोभपिण्ड - लोभ - लोलुपता वश प्राप्त उत्तम, सरस

आहार, विज्ञापिंड - विद्यापिण्ड - रोहिणी आदि स्त्रीदेवताधिष्ठित विद्या या चामत्कारिक प्रयोग द्वारा प्राप्त आहार, मंत्रपिंड - मंत्रपिण्ड - पुरुषदेवताधिष्ठित मरण-मोहन-वशीकरण-उच्चाटन रूप मंत्र प्रभाव से प्राप्त आहार, चूर्णपिंड - चूर्ण पिण्ड - मंत्राभिषिक्त विविध वस्तुओं के चूर्ण - वशीकरण - भस्मप्रक्षेपण - भुरकी के प्रभाव से प्राप्त आहार, अंतर्द्धानपिंड- अंतर्द्धानपिण्ड - अपने आपको मंत्रादि प्रयोग द्वारा अन्तर्हित कर - अदृश्य बना कर प्राप्त भोजन, योगपिंड - योगपिण्ड वशीकरण पादलेप, अन्तर्धान आदि योग इत्यादि मंत्र योग पूर्वक प्राप्त आहार।

भावार्थ - ६४. जो भिक्षु धातृपिण्ड भोगता है या भोगने वाले का अनुमोदन करता है।

६५. जो भिक्षु दूतपिण्ड भोगता है अथवा भोगते हुए का अनुमोदन करता है।

६६. जो भिक्षु निमित्तपिण्ड भोगता है या भोगने वाले का अनुमोदन करता है।

६७. जो भिक्षु आजीविकपिण्ड भोगता है अथवा भोगते हुए का अनुमोदन करता है।

६८. जो भिक्षु वनीपकपिण्ड भोगता है या भोगने वाले का अनुमोदन करता है।

६९. जो भिक्षु चिकित्सापिण्ड भोगता है अथवा भोगते हुए का अनुमोदन करता है।

७०. जो भिक्षु कोपपिण्ड भोगता है या भोगने वाले का अनुमोदन करता है।

७१. जो भिक्षु मानपिण्ड भोगता है अथवा भोगते हुए का अनुमोदन करता है।

७२. जो भिक्षु मायापिण्ड भोगता है या भोगने वाले का अनुमोदन करता है।

७३. जो भिक्षु लोभपिण्ड भोगता है अथवा भोगते हुए का अनुमोदन करता है।

७४. जो भिक्षु विद्यापिण्ड भोगता है या भोगने वाले का अनुमोदन करता है।

७५. जो भिक्षु मंत्रपिण्ड भोगता है अथवा भोगते हुए का अनुमोदन करता है।

७६. जो भिक्षु चूर्णपिण्ड भोगता है या भोगने वाले का अनुमोदन करता है।

७७. जो भिक्षु अन्तर्द्धानपिण्ड भोगता है अथवा भोगते हुए का अनुमोदन करता है।

७८. जो भिक्षु योगपिण्ड भोगता है या भोगने वाले का अनुमोदन करता है।

ऐसा करने वाले भिक्षु को लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

इस प्रकार उपर्युक्त ७८ सूत्रों में किए गए किसी भी प्रायश्चित्त का, तद्गत दोषों का सेवन करने वाले भिक्षु को उद्घातिक परिहार-तप रूप लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

इस प्रकार निशीथ अध्ययन (निशीथ सूत्र) में त्रयोदश उद्देशक परिसमाप्त हुआ।

विवेचन - जैसा पहले यथा स्थान विवेचन हुआ है, जीवनीय कार्यों में आहार या भोजन का बहुत महत्त्व है। भिक्षु के वस्त्र पात्र आदि तो एक बार लिए हुए लम्बे समय तक चलते हैं, किन्तु तपश्चरण के अतिरिक्त भोजन तो सामान्यतः प्रतिदिन किया जाता है। भोजन संयम पालन हेतु देह की निर्वाहकता, साधुचर्योपयोगी कार्य करने में सक्षमता आदि के लिए आवश्यक है। अतः जैन आगमों में भोजन या आहार चर्चा के संबंध में अनेक मर्यादाओं और नियमों का विधान है, जिससे आहारचर्या में आशंकित दोष न लगे।

भिक्षु अपने स्वाभाविक, संयमानुप्राणित जीवन में संस्थित रहते हुए सहज रूप में जो शुद्ध भिक्षा प्राप्त होती है, उसे लेता है। जिह्वा लोलुपतावश वह उत्तम, सरस, स्वादिष्ट भोजन प्राप्त करने हेतु किसी भी प्रकार के सावद्य उपक्रम का सहारा नहीं लेता। मंत्र, विद्या, चिकित्सा, भस्मप्रेक्षण - भुरकी आदि मंत्र-तंत्रादि सम्मत प्रयोग कदापि नहीं करता, न वह निमित्त ज्ञान या ज्योतिष आदि द्वारा भूत, भविष्य, वर्तमान विषयक शुभाशुभ फल ही बताता है, वह अभीप्सित भोजन प्राप्त करने हेतु माया, प्रवंचना, छल, कपट युक्त अलीक वचन आदि का कभी प्रयोग नहीं करता। क्योंकि ये सावद्य कार्य हैं, जिनका भिक्षु को जीवनभर के लिए प्रत्याख्यान होता है।

जो भिक्षु आहार के लेने में इनमें से किसी भी दूषित उपक्रम का सहारा लेता है, वह प्रायश्चित्त का भागी होता है।

भिक्षु द्वारा अनेक दूषित प्रवृत्ति पूर्वक आहार लिया जाना उत्पादन दोष कहा गया है। पिंडनिर्युक्ति में वैसे सोलह दोषों की चर्चा है। इन सूत्रों में वर्णित पन्द्रह दोषों में से अन्तर्धान को छोड़कर बाकी के चवदह दोष पिण्डनिर्युक्ति में वर्णित दोषों के अनुरूप हैं।

निशीथ चूर्ण में तथा पिण्ड निर्युक्ति में धाई पिण्ड आदि दोषों उदाहरण सहित विस्तृत वर्णन किया गया है।

॥ इति निशीथ सूत्र का त्रयोदश उद्देशक समाप्त ॥



चउदससो उद्देसओ - चतुर्दश उद्देशक

पात्र क्रयादि विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू पडिग्गहं किणइ किणावेइ कीयमाहडु दिज्जमाणं पडिग्गहेइ पडिग्गहेंतं वा साइज्जइ ॥ १ ॥

जे भिक्खू पडिग्गहं पामिच्चेइ पामिच्चावेइ पामिच्चमाहडु दिज्जमाणं पडिग्गहेइ पडिग्गहेंतं वा साइज्जइ ॥ २ ॥

जे भिक्खू पडिग्गहं परियट्टेइ परियट्टावेइ परियट्टियमाहडु दिज्जमाणं पडिग्गहेइ पडिग्गहेंतं वा साइज्जइ ॥ ३ ॥

जे भिक्खू पडिग्गहं अच्छिज्जं अणिसिट्ठं अभिहडमाहडु दिज्जमाणं पडिग्गहेइ पडिग्गहेंतं वा साइज्जइ ॥ ४ ॥

कठिन शब्दार्थ - किणइ - क्रय करता है - खरीदता है, किणावेइ - खरीदवाता है, कीयमाहडु - खरीद कर, दिज्जमाणं - दिया जाता हुआ, पामिच्चेइ - उधार लेता है, पामिच्चावेइ - उधार लिवाता है, पामिच्चमाहडु - उधार ले कर, परियट्टेइ - परिवर्तित करता है - बदलता है, परियट्टावेइ - बदलवाता है, परियट्टियमाहडु - बदलवा कर, अच्छिज्जं- आच्छिन्न कर - छीन कर - दूसरे से बल पूर्वक जबरदस्ती ले कर दिया जाता हुआ, अणिसिट्ठं - अनिश्रित - सम्पूर्णतः स्वाधिकार रहित, अनेकजनों के अधिकार से युक्त, अनेक स्वामित्व वाले।

भावार्थ - १. जो भिक्षु पात्र खरीदता है, खरीदवाता है, खरीद कर दिया जाता हुआ प्रतिगृहीत करता है - लेता है या लेते हुए का अनुमोदन करता है।

२. जो भिक्षु पात्र उधार लेता है, उधार लिवाता है, उधार ले कर दिया जाता हुआ लेता है अथवा लेते हुए का अनुमोदन करता है।

३. जो भिक्षु गृहस्थ के पात्र से अपना पात्र बदलता है, बदलवाता है, बदल कर दिया जाता हुआ लेता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है।

४. जो भिक्षु छीन कर लिए हुए, अनेक स्वामियों के अधिकार से युक्त तथा सामने ला कर दिए जाते हुए पात्र को लेता है अथवा लेने वाले का अनुमोदन करता है।

इस प्रकार उपर्युक्त अविहित कार्य करने वाले भिक्षु को लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - भिक्षु के अपने खान-पान के लिए स्वनिश्रित काठ, तुम्बिका आदि के पात्र होते हैं, जिन्हें वह गृहस्थ से भिक्षा के रूप में प्राप्त करता है। उन्हीं पात्रों से वह अपने खान-पान आदि सभी कार्य संचालित करता है। उसका जीवन संतोषयुक्त होता है। किसी वस्तु के प्रति मन में लालसा, आकांक्षा नहीं होती। केवल अनिवार्य आवश्यकतापूर्ति का ही भाव होता है। इसलिए पात्रों की सुन्दरता, बहुमूल्यता आदि की ओर उसका जरा भी ध्यान नहीं होता। क्योंकि वैसा होते ही उसके संयताचरण में अनेक दोष लगते हैं।

भिक्षु के मन में पात्रों के प्रति कभी कोई आकर्षण या मोह उत्पन्न न हो जाए, इस हेतु इन सूत्रों में पात्रों के क्रयादि करने, कराने आदि को प्रायश्चित्त योग्य कहा गया है।

यद्यपि भिक्षु के पास किसी वस्तु का क्रय करने हेतु कोई नगद राशि नहीं होती, किन्तु यदि उसके मन में पात्रादि वस्तु के प्रति आकर्षण उत्पन्न हो जाए तो वह अपने प्रति अनुराग रखने वाले गृहस्थ को कहकर विक्रेता को उसका मूल्य दिला देता है, पात्र स्वयं ले लेता है।

इसी प्रकार पात्र उधार लेने और बदलने आदि के प्रसंग हैं।

इन तीनों दोषों के लगने में भिक्षु कारण रूप है, ये अपरिग्रह महाव्रत के अतिचार रूप हैं।

भिक्षु के प्रति अनुरागवश किसी अन्य व्यक्ति से छीनकर लाए हुए, जिस पात्र पर अनेक व्यक्तियों का स्वामित्व हो, उनकी स्वीकृति बिना, घर आदि से लाए हुए - यों दिए जाते हुए पात्र को जो भिक्षु लेता है, उसे लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

छीन कर लाए हुए पात्र को लेना प्रथम अहिंसा महाव्रत का तथा तृतीय अचौर्य महाव्रत का अतिचार रूप दोष है।

अनिश्रित - अनेक स्वामियों के पात्र को उनसे पूछे बिना किसी एक व्यक्ति द्वारा दिए जाते हुए को लेना तृतीय - अचौर्य महाव्रत का अतिचार रूप दोष है।

अभिहत - घर आदि से ला कर दिए जाते हुए पात्र को लेना प्रथम अहिंसा महाव्रत का अतिचार रूप दोष है क्योंकि घर आदि से उपाश्रय आदि से ला कर देने में अनेक जीवों की विराधना, हिंसा होती है।

इन तीनों दोषों के लगने में प्राथमिक कारणता गृहस्थाश्रित है।

ये छहों दोष ऐषणा समिति के उद्गम दोष प्रतिपादित हुए हैं।

गणि की आज्ञा बिना अतिरिक्त पात्र अन्य को देने का प्रायश्चित्त

जे भिक्षु अइरेगपडिग्गहं गणिं उद्दिसिय गणिं समुद्दिसिय तं गणिं अणापुच्छिय अणामंतिय अणमण्णस्स वियरइ वियरंतं वा साइज्जइ ॥ ५ ॥

कठिन शब्दार्थ - अइरेग पडिग्गहं - प्रमाण से अधिक पात्र, गणिं - गणि - गणाधिपति को, उद्दिसिय - उद्दिष्ट - लक्षित कर, समुद्दिसिय - समुद्दिष्ट कर, अणापुच्छिय-पूछे बिना, अणामंतिय - परामर्श किए बिना, वियरइ - वितरित करता है - देता है।

भावार्थ - ५. जो भिक्षु गणि को उद्दिष्ट, समुद्दिष्ट कर गृहीत किया हुआ अतिरिक्त - प्रमाण से अधिक पात्र गणि को पूछे बिना, उनसे मंत्रणा या परामर्श किए बिना अन्य (साधु) को देता है अथवा देने वाले का अनुमोदन करता है, उसे लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - जैसा पहले व्याख्यात हुआ है, भिक्षु को धातु के पात्र रखना नहीं कल्पता। वह काठ, तुम्बिका या मिट्टी के पात्र ही ले सकता है। इसमें भी मुख्यतः काठ के और तुम्बिका के पात्र ही काम में आते हैं। क्योंकि उठाने ले जाने आदि में वे हल्के होते हैं। मिट्टी के पात्र भी प्रयोग में लिए जाते हैं, किन्तु कम।

काठ और तुम्बी के पात्र सर्वत्र सुलभ नहीं होते, क्योंकि गृहस्थ इनका विशेष प्रयोग नहीं करते, बहुत ही कम काम में लेते हैं।

आवश्यकता वश यदि गणाधिपति का निर्देश हो तो भिक्षु प्रमाण से अधिक पात्र भी ले सकता है। तब उसके लिए यह आवश्यक है कि वह गणि को निवेदित करे, उनके समक्ष पात्र प्रस्तुत करे। उनसे परामर्श किए बिना, उनका आदेश पाए बिना वह अन्य किसी साधु को पात्र न दे। यह गण की अनुशासनात्मक व्यवस्था है। गणी को पूछे बिना स्वयं अपनी इच्छा से अन्य को पात्र देना गण की नियमानुवर्तिता को भंग करना है।

उपर्युक्त सूत्र में आए हुए उद्देश, समुद्देश आदि शब्दों का आशय इस प्रकार समझना चाहिए एक गच्छ में अनेक आचार्य, अनेक वाचनाचार्य, प्रवाजनाचार्य आदि हों तो सामान्य रूप से आचार्य का निर्देश करके पात्र लाना उद्देश है तथा किसी आचार्य का नाम निर्देश करके पात्र लाना समुद्देश है।

अतिरिक्त लाये गए पात्र आचार्य की सेवा में समर्पित करना, देना है और निमंत्रण करना, निमंत्रण है। अन्य किसी को देना हो तो उसके लिए आज्ञा प्राप्त करना पृच्छना है।

अतिरिक्त पात्र देने, न देने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू अइरेगं पडिग्गहं खुड्डुगस्स वा खुड्डियाए वा थेरगस्स वा थेरियाए वा अहत्थच्छिण्णस्स अपायच्छिण्णस्स अणासाच्छिण्णस्स अकण्णच्छिण्णस्स अणोड्डुच्छिण्णस्स सक्कस्स देइ देतं वा साइज्जइ ॥ ६ ॥

जे भिक्खू अइरेगं पडिग्गहं खुड्डुगस्स वा खुड्डियाए वा थेरगस्स वा थेरियाए वा हत्थच्छिण्णस्स पायच्छिण्णस्स णासाच्छिण्णस्स कण्णच्छिण्णस्स ओड्डुच्छिण्णस्स असक्कस्स ण देइ ण देतं वा साइज्जइ ॥ ७ ॥

कठिन शब्दार्थ - खुड्डुगस्स - क्षुल्लक - बाल साधु के लिए, खुड्डियाए - क्षुल्लिका-बाल साध्वी के लिए, थेरगस्स - स्थविर - वृद्ध साधु के लिए, थेरियाए - स्थविरा - वृद्ध साध्वी के लिए, अहत्थच्छिण्णस्स - अहस्तच्छिन्न - जिसके हाथ कटे हुए न हो, अपायच्छिण्णस्स - अपादच्छिन्न - जिसके पैर कटे हुए न हो, अणासाच्छिण्णस्स - अनासाच्छिन्न - जिसका नाक कटा हुआ न हो, अकण्णच्छिण्णस्स - अकर्णच्छिन्न - जिसके कान कटे हुए न हो, अणोड्डुच्छिण्णस्स - अनोष्टच्छिन्न - जिसके होंठ कटे हुए न हो, सक्कस्स - शक्त - शक्ति युक्त या समर्थ।

भावार्थ - ६. जो भिक्षु बाल साधु-साध्वी या वृद्ध साधु-साध्वी को, जिनके हाथ पैर, नाक, कान एवं होंठ कटे हुए न हों, जो सशक्त- शारीरिक दृष्टि से शक्तियुक्त या समर्थ हों, अतिरिक्त पात्र देता है अथवा देने वाले का अनुमोदन करता है।

७. जो भिक्षु बाल साधु-साध्वी या वृद्ध साधु-साध्वी को, जिनके हाथ, पैर, नाक, कान एवं होंठ कटे हुए हों, जो अशक्त - शारीरिक दृष्टि से शक्ति हीन या असमर्थ हों, अतिरिक्त पात्र नहीं देता अथवा न देने वाले का अनुमोदन करता है।

ऐसा करने वाले भिक्षु को लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - इन सूत्रों में बाल साधु-साध्वी और स्थविर साधु-साध्वी का उल्लेख हुआ है। जैन परंपरानुसार नौ वर्ष की आयु से सोलह वर्ष की आयु तक के साधु-साध्वी बाल शब्द द्वारा अभिहित किए जाते हैं। साठ वर्ष या उससे अधिक आयु के साधु-साध्वी स्थविर कहे जाते हैं।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि आगमों में वय स्थविर, ज्ञान स्थविर तथा दीक्षा (संयम)-स्थविर के रूप में स्थविर तीन प्रकार के कहे गए हैं।

जिनकी आयु ६० वर्ष से कम होती है किन्तु जो ज्ञान में, आगमों, शास्त्रों के अध्ययन में बड़े-चढ़े हों, वे 'ज्ञान स्थविर' कहे जाते हैं। अवस्था कम होते हुए भी जिनका दीक्षा-पर्याय दीर्घ या लम्बा होता है, वे 'दीक्षा स्थविर' कहे जाते हैं। यहाँ प्रयुक्त स्थविर शब्द वयस्थविर के लिए हैं।

यह सर्व विदित है कि जैन साधु या साध्वी का जीवन स्वावलम्बन पर आधारित होता है। इसलिए दीक्षा देते समय आचार्य, उपाध्याय आदि यह ध्यान रखते हैं कि दीक्षार्थी विकलांग न हो, दैहिक दृष्टि से अशक्त न हो, अपने स्वयं के कार्य करने में असमर्थ न हो, रुग्ण न हो। किन्तु दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् कोई विकलांग, अशक्त या रोगांतक युक्त हो जाए तो सहवर्ती साधु उसके कार्यों में सहयोग करते हैं, जो आवश्यक है। इसी संदर्भ में इन सूत्रों में यह कहा गया है कि बाल, वृद्ध, विकलांग, अशक्त साधु-साध्वी को अतिरिक्त पात्र देने के रूप में जो सहयोग नहीं किया जाता, वह दोष पूर्ण है, प्रायश्चित्त योग्य है।

ऐसे साधु-साध्वियों को जिनमें ये कमियाँ न हों, उन्हें अतिरिक्त पात्र दिया जाना दोषयुक्त है, प्रायश्चित्त योग्य है।

यहाँ यह विशेष रूप से जानने योग्य है कि उपर्युक्त दोनों सूत्रों की दो प्रकार से व्याख्या की जाती है -

बाल साधु-साध्वी या वृद्ध साधु-साध्वी, जो विकलांग हो या अशक्त हो उन्हें अतिरिक्त पात्र दिया जा सकता है, किन्तु अविकलांग, सशक्त बाल-वृद्ध साधु-साध्वी तथा तरुण साधु-साध्वी को अतिरिक्त पात्र नहीं दिया जा सकता। व्याख्या का यह पहला प्रकार है।

व्याख्या का दूसरा प्रकार यह है - शब्द प्रयोग परंपरा के अनुसार आदि और अन्त के कथन से मध्य का अध्याहार हो जाता है। अतः बाल, वृद्ध या तरुण कोई भी साधु-साध्वी विकलांग या शारीरिक दृष्टि से अशक्त हो तो उसे अतिरिक्त पात्र दिया जा सकता है।

जैन दर्शन अनेकान्तवाद पर आधारित है। वहाँ किसी भी बात पर एकान्त रूप में आग्रह नहीं रखा जाता, विभिन्न अपेक्षाओं को, पक्षों को ध्यान में रखते हुए वस्तु तत्त्व का निरूपण होता है।

अनुपयोगी पात्र रखने एवं उपयोगी पात्र न रखने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू पडिग्गहं अणलं अशिरं अधुवं अधारणिज्जं धरेइ धरेतं वा साइज्जइ ॥ ८ ॥

जे भिक्खू पडिग्गहं अलं थिरं धुवं धारणिज्जं ण धरेइ ण धरेतं वा साइज्जइ ॥ ९ ॥

कठिन शब्दार्थ - अणलं - अनलम् - कार्य के लिए अयथेष्ट - अयोग्य, अशिरं - अस्थिर - अदृढ़ - बेटिकाऊ, अधुवं - अधुव - अदीर्घकालभावी - लम्बे समय तक काम में न आने योग्य, अधारणिज्जं - अधारणीय - रखने के अयोग्य।

भावार्थ - ८. जो भिक्षु उपयोग के लिए अयथेष्ट - अपर्याप्त, अदृढ़ लम्बे समय तक काम में न आने योग्य तथा न रखने योग्य पात्र को धारण करता है - रखता है या रखने वाले का अनुमोदन करता है।

९. जो भिक्षु उपयोग के लिए यथेष्ट - पर्याप्त, सुदृढ़, लम्बे समय तक काम में आने योग्य और रखने योग्य पात्र को धारण नहीं करता है- नहीं रखता है अथवा नहीं रखने वाले का अनुमोदन करता है।

ऐसा करने वाले भिक्षु को लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - भिक्षु का जीवन संकल्प निष्ठा, यथार्थवादिता, यथार्थ कारिता और तथ्यपरक प्रज्ञाशीलता पर टिका होता है। विवेक वर्जित भावुकता का उसमें कोई स्थान नहीं होता। इसी दृष्टि से यहाँ उपयोगी, अनुपयोगी पात्र को रखने, न रखने के संबंध में प्रायश्चित्त विषयक निरूपण हुआ है। भिक्षु के लिए कोई भी पात्र तभी तक रखे जाने योग्य होता है, जब तक वह भलीभाँति उपयोग में आ सके। उदाहरणार्थ पात्र टूट-फूट जाए, काम के लायक न रह पाए तो भिक्षु भावुकतावश यों सोचते हुए कि 'यह मेरे दीक्षा पर्याय स्वीकार करने के समय का पात्र है, एक यादगार है, स्मृति चिह्न है इसे क्यों न रखूं' उसे रखता है तो वह प्रायश्चित्त का भागी होता है। इस तरह अन्य प्रकार की ममत्वपूर्ण आकांक्षाएँ, भावनाएँ संभावित हैं, जो त्याज्य हैं।

इसके विपरीत एक अन्य बात यह है - पात्र कार्य के लिए उपयोगी, दृढ़, टिकाऊ तथा लम्बे समय तक चलने योग्य, धारण करने योग्य है, किन्तु नवाभिनव पात्र लेने की उत्कण्ठा

से उसे धारण न करना, उसे न रखना भी प्रायश्चित्त योग्य है, क्योंकि जब तक कोई भी उपधि, वस्तु उपयोग में लेने योग्य हो, उसका उपयोग किया जाना चाहिए।

पात्र-वर्ण-परिवर्तन विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू वण्णमंतं पडिग्गहं विवण्णं करेइ करेतं वा साइज्जइ ॥ १० ॥

जे भिक्खू विवण्णं पडिग्गहं वण्णमंतं करेइ करेतं वा साइज्जइ ॥ ११ ॥

कठिन शब्दार्थ - वण्णमंतं - वर्णमान - उत्तम वर्ण युक्त, विवण्णं - विवर्ण - कुत्सित वर्ण युक्त।

भावार्थ - १०. जो भिक्षु उत्तम - श्रेष्ठ वर्ण युक्त पात्र को कुत्सित वर्ण युक्त बनाता है या बनाते हुए का अनुमोदन करता है।

११. जो भिक्षु कुत्सित वर्ण युक्त पात्र को उत्तम वर्णयुक्त बनाता है अथवा बनाने वाले का अनुमोदन करता है।

विवेचन - प्रयुज्यमान पात्रादि के प्रति भिक्षु की मानसिकता सदैव सुस्थिर बनी रहे, यह आवश्यक है। पात्रादि तो उसके संयम के साहाय्यभूत शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हैं। वे उपयोग में आने योग्य हों, उनसे भिक्षु का अपेक्षित कार्य चलता रहे, पात्र के संबंध में इतना ही चिंतन यथेष्ट है। उनकी शोभनता, अशोभनता, सुन्दरता, असुन्दरता इत्यादि को लेकर भिक्षु के मन में किसी भी प्रकार के संकल्प-विकल्प उत्पन्न न हों, यह वांछनीय है।

कभी मन में भौतिक पदार्थों के विषय में आसक्ति उत्पन्न न हो जाए, इस दृष्टि से पात्र के वर्ण परिवर्तन विषयक ये दोनों सूत्र बड़े ही प्रेरणास्पद हैं।

यदि भिक्षु को सहज रूप में कोई ऐसा पात्र प्राप्त हो जाए, जो रंग आदि में सुन्दर दिखाई पड़ता हो तो भिक्षु मन में ऐसा संकल्प-विकल्प करते हुए कि मुझसे आचार्य, उपाध्याय आदि स्वयं न ले लें, कोई सांभोगिक साधु मांग न ले या कोई व्यक्ति उसकी सुन्दरता से आकृष्ट होकर उसे चुरा न ले, उसे विवर्ण या विद्रूप बनाता है, उस पर काला, नीला आदि रंग पोतता है, जिससे उसकी आकर्षकता मिट जाए तो भिक्षु प्रायश्चित्त का भागी होता है।

यदि भिक्षु को कोई ऐसा पात्र प्राप्त हो जाय, जो उसके अपेक्षित कार्यों के लिए उपयोगी तो हो, किन्तु वर्ण आदि की दृष्टि से देखने में असुन्दर या भद्दा लगता हो तो वह

उसे सुन्दर, सुहावना या आकर्षक बनाने का उपक्रम न करें, उस पर सुन्दर रंग आदि न पोते, क्योंकि ऐसा करना भिक्षु की पात्र के संबंध में आसक्ति या ममत्व का द्योतक है, जो संयम में बाधक है। भिक्षु द्वारा ऐसा किया जाना प्रायश्चित्त योग्य है।

पात्र परिकर्म (सजा) विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू णो णवए मे पडिग्गहे लद्धेत्तिकट्टु तेल्लेण वा घएण वा वसाए वा णवणीएण वा मक्खेज्ज वा भिलिंगेज्ज वा मक्खेंटं वा भिलिंगंतं वा साइज्जइ ॥ १२ ॥

जे भिक्खू णो णवए मे पडिग्गहे लद्धेत्तिकट्टु लोद्धेण वा कक्केण वा चुण्णेण वा वण्णेण वा उच्छोलेज्ज वा उव्वलेज्ज वा उच्छोलेंतं वा उव्वलेंतं वा साइज्जइ ॥ १३ ॥

जे भिक्खू णो णवए मे पडिग्गहे लद्धेत्तिकट्टु सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा पधोएज्ज वा उच्छोलेंतं वा पधोएंतं वा साइज्जइ ॥ १४ ॥

जे भिक्खू णो णवए मे पडिग्गहे लद्धेत्तिकट्टु बहु(दि)देवसिएण(वा) तेल्लेण वा घएण वा वसाए वा णवणीएण वा मक्खेज्ज वा भिलिंगेज्ज वा मक्खेंटं वा भिलिंगंतं वा साइज्जइ ॥ १५ ॥

जे भिक्खू णो णवए मे पडिग्गहे लद्धेत्तिकट्टु बहुदेवसिएण लोद्धेण वा कक्केण वा चुण्णेण वा वण्णेण वा उल्लोलेज्ज वा उव्वलेज्ज वा उल्लोलेंतं वा उव्वलेंतं वा साइज्जइ ॥ १६ ॥

जे भिक्खू णो णवए मे पडिग्गहे लद्धेत्तिकट्टु बहुदेवसिएण सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा पधोएज्ज वा उच्छोलेंतं वा पधोएंतं वा साइज्जइ ॥ १७ ॥

जे भिक्खू सुब्धिगंधे पडिग्गहे लद्धेत्ति कट्टु दुब्धिगंधे करेइ ॥ १८ ॥

जे भिक्खू दुब्धिगंधे पडिग्गहे लद्धेत्ति कट्टु सुब्धिगंधे करेइ ॥ १९ ॥

जे भिक्खू सुब्धिगंधे पडिग्गहे लद्धे त्ति कट्टु तेल्लेण वा घएण वा वसाए वा णवणीएण वा मक्खेज्ज वा भिलिंगेज्ज वा मक्खेंटं वा भिलिंगेंटं वा साइज्जइ ॥ २० ॥

जे भिक्खू सुब्धिगंधे पडिग्गहे लद्धेत्तिकट्टु लोद्धेण वा कक्केण वा चुण्णेण वा वण्णेण वा उल्लोलेज्ज वा उव्वलेज्ज वा उल्लोलेंटं वा उव्वलेंटं वा साइज्जइ ॥ २१ ॥

जे भिक्खू सुब्धिगंधे पडिग्गहे लद्धे त्ति कट्टु सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा पधोएज्ज वा उच्छोलेंटं वा पधोएंत्तं वा साइज्जइ ॥ २२ ॥

जे भिक्खू सुब्धिगंधे पडिग्गहे लद्धेत्ति कट्टु बहुदेवसिएण तेल्लेण वा घएण वा वसाए वा णवणीएण वा मक्खेज्ज वा भिलिंगेज्ज वा मक्खेंटं वा भिलिंगेंटं वा साइज्जइ ॥ २३ ॥

जे भिक्खू सुब्धिगंधे पडिग्गहे लद्धेत्ति कट्टु बहुदेवसिएण लोद्धेण वा कक्केण वा चुण्णेण वा वण्णेण वा उल्लोलेज्ज वा उव्वलेज्ज वा उल्लोलेंटं वा उव्वलेंटं वा साइज्जइ ॥ २४ ॥

जे भिक्खू सुब्धिगंधे पडिग्गहे लद्धेत्ति कट्टु बहुदेवसिएण सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा पधोएज्ज वा उच्छोलेंटं वा पधोएंत्तं वा साइज्जइ ॥ २५ ॥

जे भिक्खू दुब्धिगंधे मे पडिग्गहे लद्धेत्तिकट्टु तेल्लेण वा घएण वा वसाए वा णवणीएण वा मक्खेज्ज वा भिलिंगेज्ज वा मक्खेंटं वा भिलिंगेंटं वा साइज्जइ ॥ २६ ॥

जे भिक्खू दुब्धिगंधे मे पडिग्गहे लद्धेत्तिकट्टु लोद्धेण वा कक्केण वा चुण्णेण वा वण्णेण वा उल्लोलेज्ज वा उव्वलेज्ज वा उल्लोलेंटं वा उव्वलेंटं वा साइज्जइ ॥ २७ ॥

जे भिक्खू दुब्धिगंधे मे पडिग्गहे लद्धेत्तिकट्टु सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा पधोएज्ज वा उच्छोलेंतं वा पधोएंतं वा साइज्जइ ॥ २८ ॥

जे भिक्खू दुब्धिगंधे मे पडिग्गहे लद्धेत्तिकट्टु बहुदेवसिएण तेल्लेण वा घएण वा वसाए वा णवणीएण वा मक्खेज्ज वा भिलिंगेज्ज वा मक्खेंतं वा भिलिंगेंतं वा साइज्जइ ॥ २९ ॥

जे भिक्खू दुब्धिगंधे मे पडिग्गहे लद्धेत्तिकट्टु बहुदेवसिएण लोद्धेण वा कक्केण वा चुण्णेण वा वण्णेण वा उल्लोलेज्ज वा उव्वलेज्ज वा उल्लोलेंतं वा उव्वलेंतं वा साइज्जइ ॥ ३० ॥

जे भिक्खू दुब्धिगंधे मे पडिग्गहे लद्धेत्तिकट्टु बहुदेवसिएण सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा पधोएज्ज वा उच्छोलेंतं वा पधोएंतं वा साइज्जइ ॥ ३१ ॥

कठिन शब्दार्थ - णवए - नया, मे - मुझे, लद्ध - लब्ध - प्राप्त हुआ है, त्ति - (इति) ऐसा, कट्टु - करके (सोच कर), बहु(दि)देवसिएण - बहुदैवसिक - रातबासी रखे हुए, सुब्धिगंधे - सुगंध युक्त, दुब्धिगंधे - दुर्गन्ध युक्त।

भावार्थ - १२. जो भिक्षु, 'मुझे नया पात्र नहीं मिला है', यह सोच कर उस पर तेल, घृत, चिकने पदार्थ या मक्खन एक बार या बार-बार मले अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करे।

१३. जो भिक्षु, 'मुझे नया पात्र नहीं मिला है', यह सोच कर उस पर लोध्र, कल्क, चन्दन आदि का चूर्ण या अबीर आदि का बुरादा एक बार या अनेक बार मले अथवा वैसा करने वाले का अनुमोदन करे।

१४. जो भिक्षु, 'मुझे नया पात्र नहीं मिला है', यह सोचकर उसे अचित्त शीतल या उष्ण जल से एक बार या बार-बार धोए अथवा वैसा करने वाले का अनुमोदन करे।

१५. जो भिक्षु, 'मुझे नया पात्र नहीं मिला है', यह सोच कर उस पर रातबासी रखे हुए तेल, घृत, चिकने पदार्थ या मक्खन को एक बार या अनेक बार लगाए - मले अथवा वैसा करने वाले का अनुमोदन करे।

१६. जो भिक्षु, 'मुझे नया पात्र नहीं मिला है', यह सोच कर उस पर रातबासी रखे हुए लोध्र, कल्क, चन्दन आदि के चूर्ण या अबीर आदि के बुरादे को एक बार या बार-बार मले अथवा वैसा करने वाले का अनुमोदन करे।

१७. जो भिक्षु, 'मुझे नया पात्र नहीं मिला है', यह सोच कर उसे रातबासी रखे हुए अचित्त शीतल या उष्ण जल से एक बार या अनेक बार धोए अथवा वैसा करने वाले का अनुमोदन करे।

१८. जो भिक्षु, 'मुझे सुगन्धित पात्र मिला है' यह सोच कर उसे दुर्गन्ध युक्त बनाता है।

१९. जो भिक्षु, 'मुझे दुर्गन्ध युक्त पात्र मिला है' यह सोच कर उसे सुगन्ध युक्त बनाता है।

२०. जो भिक्षु, 'मुझे सुगन्धित पात्र मिला है' यह सोच कर उस पर तेल, घृत, चिकने पदार्थ या मक्खन को एक बार या अनेक बार लगाए अथवा ऐसा करते हुए का अनुमोदन करे।

२१. जो भिक्षु, 'मुझे सुगन्धित पात्र मिला है' यह सोच कर उस पर लोध्र, कल्क, चन्दन आदि का चूर्ण या अबीर आदि का बुरादा एक बार या बार-बार मले अथवा ऐसा करने वाले का अनुमोदन करे।

२२. जो भिक्षु, 'मुझे सुगन्धित पात्र मिला है' यह सोच कर उसे अचित्त शीतल या उष्ण जल से एक बार या अनेक बार धोए अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करे।

२३. जो भिक्षु, 'मुझे सुगन्धित पात्र मिला है' यह सोचकर उस पर रातबासी रखे हुए तेल, घृत, चिकने पदार्थ या मक्खन को एक बार या बार-बार लगाए अथवा वैसा करने वाले का अनुमोदन करे।

२४. जो भिक्षु, 'मुझे सुगन्धित पात्र मिला है' यह सोच कर उस पर रातबासी रखे हुए लोध्र, कल्क, चन्दन आदि के चूर्ण या अबीर आदि के बुरादे को एक बार या अनेक बार मले अथवा ऐसा करते हुए का अनुमोदन करे।

२५. जो भिक्षु, 'मुझे सुगन्धित पात्र मिला है' यह सोच कर उसे रातबासी रखे हुए अचित्त शीतल या उष्ण जल से एक बार या बार-बार धोए अथवा ऐसा करने वाले का अनुमोदन करे।

२६. जो भिक्षु, 'मुझे दुर्गन्ध युक्त पात्र मिला है' यह सोच कर उस पर तेल, घृत, चिकने पदार्थ या मक्खन एक बार या अनेक बार लगाए अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करे।

२७. जो भिक्षु, 'मुझे दुर्गन्ध युक्त पात्र मिला है' यह सोच कर उस पर लोध्र, कल्क,

चंदन आदि का चूर्ण या अबीर आदि का बुरादा एक बार या बार-बार मले अथवा वैसा करने वाले का अनुमोदन करे।

२८. जो भिक्षु, 'मुझे दुर्गन्ध युक्त पात्र मिला है' यह सोच कर उसे अचित्त शीतल या उष्ण जल से एक बार या अनेक बार धोए अथवा ऐसा करते हुए का अनुमोदन करे।

२९. जो भिक्षु, 'मुझे दुर्गन्ध युक्त पात्र मिला है' यह सोच कर उस पर रातबासी रखे हुए तेल, घृत, चिकने पदार्थ या मक्खन को एक बार या बार-बार लगाए अथवा ऐसा करने वाले का अनुमोदन करे।

३०. जो भिक्षु, 'मुझे दुर्गन्ध युक्त पात्र मिला है' यह सोच कर उस पर रातबासी रखे हुए लोध्र, कल्क, चन्दन आदि के चूर्ण या अबीर आदि के बुरादे को एक बार या अनेक बार मले अथवा वैसा करते हुए का अनुमोदन करे।

३१. जो भिक्षु, 'मुझे दुर्गन्ध युक्त पात्र मिला है' यह सोच कर उसे रातबासी रखे हुए अचित्त शीतल या उष्ण जल से एक बार या बार-बार धोए अथवा वैसा करने वाले का अनुमोदन करे।

इस प्रकार उपर्युक्त अविहित कार्य करने वाले भिक्षु को लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - जैसा कि पिछले सूत्रों में वर्णन हुआ है, भिक्षु को पात्रों की सुन्दरता, असुन्दरता, सुहावनेपन, भद्देपन आदि पर जरा भी गौर नहीं करना चाहिए। सुन्दर-असुन्दर जैसे भी पात्र हों, यदि वे प्रयोजन भूत हों, उनसे अपना कार्य भलीभाँति सधता हो तो समत्व पूर्वक उनका उपयोग करना वांछित है। सुन्दर को असुन्दर और असुन्दर को सुन्दर बनाना दोष युक्त है।

इसी प्रकार इन सूत्रों में नवीन पात्र न मिलने पर अपने पात्र को सज्जित करना, सौरभ युक्त - सुगन्धमय पात्र न मिलने पर दुर्गन्धित पात्र की दुर्गन्ध मिटाना, उसे सुरभित बनाना एवं सुगन्धित पात्र मिलने पर आचार्य, उपाध्याय आदि स्वयं न ले लें, अन्य ज्येष्ठ, वरिष्ठ साधु मांग न लें, चोर आदि उसे उठा न लें, चुरा न लें, इस आशंका से उसकी सुगन्ध को मिटाना, उसे दुर्गन्ध युक्त बनाना, इत्यादि वर्णन हुआ है।

ये कार्य पात्र के प्रति आसक्ति युक्त मानसिकता के द्योतक हैं। भिक्षु के मन में अपनी उपधि के प्रति मर्यादानुरूप प्रयुज्यमान उपकरणों के प्रति जरा भी ममत्व, अपनापन या मोह

उत्पन्न न हो, शुद्ध संयम पालन की दृष्टि से यह परम आवश्यक है। ये सूत्र इसी संयमोपवर्धक भाव के उद्बोधक हैं।

निशीथ भाष्य गाथा ४६४२ एवं चूर्णि की व्याख्या को देखने पर यह ज्ञात (स्पष्ट) होता है कि उपरोक्त २० सूत्र (१२ से ३१) के स्थान पर आठ सूत्र ही होने चाहिए। पहले चार सूत्र पुराने पात्र की अपेक्षा से हैं। इनसे भी पहले दो सूत्र जल से धोने के हैं और बाद के दो सूत्र कल्प आदि लगाने के हैं। इस तरह चार सूत्र बाद में दुर्गन्ध युक्त पात्र की अपेक्षा से हैं। कुल आठ सूत्र हैं। इनमें प्रथम सूत्र में “बहुदेसिएण” पद है और दूसरे सूत्र में “बहुदेवसिएण” पद है, यह भी चूर्णि व्याख्या से स्पष्ट हो जाता है। अतः इसी क्रम से आठ सूत्रों का होना उचित ध्यान में आता है।

भाष्य चूर्णिकार ने इतने ही सूत्रों का कथन करते हुए व्याख्या की है। इससे अधिक सूत्रों का होना संभव नहीं लगता है।

अकल्प्य स्थानों में पात्र आतापित-प्रतापित करने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू अणंतरहियाए पुढवीए पडिग्गहं आयावेज्ज वा पयावेज्ज वा आयावेतं वा पयावेतं वा साइज्जइ ॥ ३२ ॥

जे भिक्खू ससिणिद्धाए पुढवीए पडिग्गहं आयावेज्ज वा पयावेज्ज वा आयावेतं वा पयावेतं वा साइज्जइ ॥ ३३ ॥

जे भिक्खू ससरक्खाए पुढवीए पडिग्गहं आयावेज्ज वा पयावेज्ज वा आयावेतं वा पयावेतं वा साइज्जइ ॥ ३४ ॥

जे भिक्खू मट्टियाकडाए पुढवीए पडिग्गहं आयावेज्ज वा पयावेज्ज वा आयावेतं वा पयावेतं वा साइज्जइ ॥ ३५ ॥

जे भिक्खू चित्तमंताए पुढवीए पडिग्गहं आयावेज्ज वा पयावेज्ज वा आयावेतं वा पयावेतं वा साइज्जइ ॥ ३६ ॥

जे भिक्खू चित्तमंताए सिलाए पडिग्गहं आयावेज्ज वा पयावेज्ज वा आयावेतं वा पयावेतं वा साइज्जइ ॥ ३७ ॥

जे भिक्खू चित्तमंताए लेलूए पडिग्गहं आयावेज्ज वा पयावेज्ज वा आयावेतं वा पयावेतं वा साइज्जइ ॥ ३८ ॥

जे भिक्खू कोलावासंसि वा दारुए जीवपइड्डिए सअंडे सपाणे सबीए सहरिए सओस्से सउदए सउत्तिंगपणगदगमट्टियमक्कडासंताणगंसि पडिग्गहं आयावेज्ज वा पयावेज्ज वा आयावेतं वा पयावेतं वा साइज्जइ ॥ ३९ ॥

जे भिक्खू थूणंसि वा गिहेलुयंसि वा उसुयालंसि वा कामजलंसि वा अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि अंतलिक्खजायंसि दुब्बद्धे दुण्णिक्खत्ते अणिकंपे चलाचले पडिग्गहं आयावेज्ज वा पयावेज्ज वा आयावेतं वा पयावेतं वा साइज्जइ ॥ ४० ॥

जे भिक्खू कुलियंसि वा भित्तिसि वा सिलंसि वा लेलुंसि वा अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि अंत(रि)लिक्खजायंसि वा दुब्बद्धे दुण्णिक्खत्ते अणिकंपे चलाचले पडिग्गहं आयावेज्ज वा पयावेज्ज वा आयावेतं वा पयावेतं वा साइज्जइ ॥ ४१ ॥

जे भिक्खू खंधंसि वा फलहंसि वा मंचंसि वा मंडवंसि वा मालंसि वा पासायंसि वा हम्मतलंसि वा अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि अंतलिक्खजायंसि वा दुब्बद्धे दुण्णिक्खत्ते अणिकंपे चलाचले पडिग्गहं आयावेज्ज वा पयावेज्ज वा आयावेतं वा पयावेतं वा साइज्जइ ॥ ४२ ॥

कठिन शब्दार्थ - आयावेज्ज - आतापित करे - सुखाए, पयावेज्ज - प्रतापित करे - बार-बार सुखाए।

भावार्थ - ३२. जो भिक्षु सचित्त पृथ्वी के निकटवर्ती अचित्त पृथ्वी पर पात्र को आतापित-प्रतापित करे या आतापित-प्रतापित करने वाले का अनुमोदन करे।

३३. जो भिक्षु सचित्त जल से आर्द्र पृथ्वी पर पात्र को आतापित-प्रतापित करे अथवा आतापित-प्रतापित करते हुए का अनुमोदन करे।

३४. जो भिक्षु सचित्त रजयुक्त पृथ्वी पर पात्र को आतापित-प्रतापित करे या आतापित-प्रतापित करने वाले का अनुमोदन करे।

३५. जो भिक्षु सचित्त मिट्टी आदि से लिप्त पृथ्वी पर पात्र को आतापित-प्रतापित करे या आतापित-प्रतापित करते हुए का अनुमोदन करे।

३६. जो भिक्षु सचित्त (सूक्ष्म त्रसजीव युक्त) पृथ्वी पर पात्र को आतापित-प्रतापित करे अथवा आतापित-प्रतापित करने वाले का अनुमोदन करे।

३७. जो भिक्षु सचित्त (सूक्ष्म त्रसजीव युक्त) शिला के निकटवर्ती, भलीभाँति नहीं बंधे हुए, सम्यक् स्थापित नहीं किए गए, कंपन युक्त, अस्थिर स्थान पर पात्र को आतापित-प्रतापित करे अथवा आतापित-प्रतापित करते हुए का अनुमोदन करे।

३८. जो भिक्षु सचित्त (सूक्ष्म त्रसजीव युक्त) मिट्टी के ढेले के निकटवर्ती, भलीभाँति नहीं बंधे हुए, सम्यक् स्थापित नहीं किए गए, कंपनयुक्त, अस्थिर स्थान पर पात्र को आतापित-प्रतापित करे या आतापित-प्रतापित करने वाले का अनुमोदन करे।

३९. जो भिक्षु घुणों के आवास, जीव, अण्डे, द्वीन्द्रिय जीव, बीज, अंकुरित बीज, ओस या जल युक्त काष्ठ अथवा कीटविशेष, पनक, उदकमय मिट्टी, कीचड़ युक्त मृत्तिका या मकड़ियों के जाले पर पात्र को आतापित-प्रतापित करे अथवा आतापित-प्रतापित करते हुए का अनुमोदन करे।

४०. जो भिक्षु स्तम्भ, देहली (देहरी), ऊखल, स्नान करने की चौकी (पीठिका) के सन्निकटवर्ती स्थान पर अथवा अन्य भी ऐसे अंतरिक्षजात (आकाशीय) स्थान पर, जो कि भलीभाँति नहीं बंधे हुए, सम्यक् स्थापित नहीं किए गए, कंपनयुक्त, स्थविर स्थान पर पात्र को आतापित-प्रतापित करता है या आतापित-प्रतापित करने वाले का अनुमोदन करता है।

४१. जो भिक्षु तिनकों से निर्मित दीवार, पाषाण मृत्तिका आदि से बनी भित्ति, धान्य आदि पीसने की शिला, मिट्टी के बड़े ढेले अथवा अन्य भी ऐसे अन्तरिक्षवर्ती (खुले) मञ्च आदि स्थान के निकटवर्ती, भलीभाँति नहीं बंधे हुए, सम्यक् स्थापित नहीं किए गए, कंपन युक्त, अस्थिर स्थान पर पात्र को आतापित-प्रतापित करे या आतापित-प्रतापित करते हुए का अनुमोदन करे।

४२. जो भिक्षु स्कन्ध, फलक, मंच, मंडप, माले (मकान का ऊपरी भाग - मंजिल), प्रासाद, जीर्ण-शीर्ण धनिक आवास या अन्य कोई अन्तरिक्षवर्ती (खुले), भलीभाँति नहीं बंधे हुए, सम्यक् स्थापित नहीं किए गए, कंपनयुक्त, अस्थिर स्थान पर पात्र को आतापित-प्रतापित करे अथवा आतापित-प्रतापित करने वाले का अनुमोदन करे।

इस प्रकार उपर्युक्त रूप में आचरण करने वाले भिक्षु को लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - तेरहवें उद्देशक के प्रथम एवं द्वितीय सूत्र में जिस प्रकार सचित्त के

निकटवर्ती अचित्त भूमि के विविध स्थानों पर जीव विराधना आदि दोष आशंकित हैं, उसी प्रकार इन सूत्रों में वैसे ही स्थानों पर अपना पात्र आतापित-प्रतापित करना (सुखाना) प्रायश्चित्त योग्य बतलाया गया है।

इन स्थानों पर या इनके निकटवर्ती स्थानों पर पात्र सुखाने से जीव विराधना तो होती ही है, इसके साथ-साथ पात्र के टूटने-फूटने या नष्ट होने की भी आशंका रहती है। अतः यदि पात्र को धोने के पश्चात् (अचित्त जल से) सुखाना आवश्यक भी हो तो यतनापूर्वक, उचित स्थानों में ही सुखाना चाहिए।

त्रस काय आदि निष्कासनपूर्वक पात्र ग्रहण प्रायश्चित्त

जे भिक्खू पडिग्गहाओ पुढवीकायं णीहरइ णीहरावेइ णीहरियं आहट्टु
देज्जमाणं पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ ॥ ४३ ॥

जे भिक्खू पडिग्गहाओ आउक्कायं णीहरइ णीहरावेइ णीहरियं आहट्टु
देज्जमाणं पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ ॥ ४४ ॥

जे भिक्खू पडिग्गहाओ तेउक्कायं णीहरइ णीहरावेइ णीहरियं आहट्टु
देज्जमाणं पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ ॥ ४५ ॥

जे भिक्खू पडिग्गहाओ कंदाणि वा मूलाणि वा पत्ताणि वा पुप्फाणि
वा फलाणि वा बीयाणि वा हरियाणि वा णीहरइ णीहरावेइ णीहरियं आहट्टु
देज्जमाणं पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ ॥ ४६ ॥

जे भिक्खू पडिग्गहाओ ओसहिबीयाणि णीहरइ णीहरावेइ णीहरियं आहट्टु
देज्जमाणं पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ ॥ ४७ ॥

जे भिक्खू पडिग्गहाओ तसपाणजाइं णीहरइ णीहरावेइ णीहरियं आहट्टु
देज्जमाणं पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ ॥ ४८ ॥

कठिन शब्दार्थ - णीहरइ - निकालता है, णीहरावेइ - (गृहस्थ आदि से) निकलवाता है, देज्जमाणं - दिए जाते हुए, आउक्कायं - अप्काय, तेउक्कायं - तेजस्काय, ओसहिबीयाणि - औषध बीज - शालि आदि अन्न के बीज, तसपाणजाइं - त्रस जीव समूह।

भावार्थ - ४३. जो भिक्षु पात्र से सचित्त पृथ्वीकाय - लवण, गैरिक आदि निकालता है, (गृहस्थ आदि से) निकलवाता है या सामने निकाल कर देते हुए से गृहीत करता है - स्वीकार करता है अथवा गृहीत करने वाले का अनुमोदन करता है।

४४. जो भिक्षु पात्र से सचित्त अप्काय निकालता है, (गृहस्थ आदि से) निकलवाता है या सामने निकाल कर देते हुए से गृहीत करता है अथवा गृहीत करते हुए का अनुमोदन करता है।

४५. जो भिक्षु पात्र से सचित्त अग्निकाय निकालता है, (गृहस्थ आदि से) निकलवाता है या सामने निकाल कर देते हुए से गृहीत करता है अथवा गृहीत करने वाले का अनुमोदन करता है।

४६. जो भिक्षु पात्र से सचित्त कंद, मूल, पत्ते, फूल, फल, बीज या हरितकाय आदि निकालता है, (गृहस्थ आदि से) निकलवाता है या सामने निकाल कर देते हुए से गृहीत करता है अथवा गृहीत करने वाले का अनुमोदन करता है।

४७. जो भिक्षु पात्र से सचित्त शालि आदि धान्य निकालता है, (गृहस्थ आदि से) निकलवाता है या सामने निकाल कर देते हुए से गृहीत करता है अथवा गृहीत करने वाले का अनुमोदन करता है।

४८. जो भिक्षु पात्र से (सचित्त) त्रस प्राणियों को निकालता है (गृहस्थ आदि से) निकलवाता है या सामने निकाल कर देते हुए से गृहीत करता है अथवा गृहीत करने वाले का अनुमोदन करता है।

इस प्रकार उपर्युक्त अविहित कार्य करने वाले भिक्षु को लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - भिक्षु द्वारा प्रयोग में ली जाने वाली सामग्री में पात्र का अपना विशेष स्थान है, क्योंकि भिक्षु अपने ही पात्रों में भिक्षा ग्रहण करता है, उन्हीं में आहार करता है, उनको धो-पौछकर विधिवत् रखता है। किसी भी प्रकार की जीव विराधना न हो, यह ध्यान रखता है। वह गृहस्थ के पात्रों का प्रयोग नहीं करता। जैसा पहले कहा गया है, भिक्षु धातु पात्रों का भी प्रयोग नहीं करता, केवल काष्ठ, तुम्बिका और मृत्तिका के पात्र ही लेता है, उनका उपयोग करता है।

गृहस्थ से पात्र लेने के संदर्भ में जरा भी जीव विराधना, हिंसा न हो, इस दृष्टि से इन सूत्रों में उन विधाओं की चर्चा की गई है, जो प्रायश्चित्त योग्य हैं।

जिस पात्र में सचित्तकाय हो - स्थावर, त्रसादि जीव हो, वैसा पात्र साधु के लिए ग्राह्य

नहीं होता। इन सूत्रों में विविध जीव विषयक जो उल्लेख हुआ है, उनमें से कोई भी जीव हो तो उसे पात्र से निकालना, निकलवाना एवं निकाल कर देते हुए से लेना भिक्षु को नहीं कल्पता, क्योंकि जीव विराधना के कारण इससे अहिंसा महाव्रत दूषित होता है।

यहाँ पात्र से अग्निकाय के जीव निष्कासित करने का जो उल्लेख हुआ है, उसका संबंध केवल मिट्टी के पात्रों के साथ है। क्योंकि काष्ठ एवं तुम्बिका के पात्रों में अग्नि नहीं रखी जाती क्योंकि वे उससे जल जाते हैं।

पात्र कोरने का प्रायश्चित्त

जे भिक्षु पडिग्गहगं कोरेइ कोरावेइ कोरियं आहड्डु देजमाणं पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ ॥ ४९ ॥

कठिन शब्दार्थ - कोरेइ - कुरेद कर चित्रांकन करता है, कोरावेइ - कुरेद कर चित्रांकन करवाता है।

भावार्थ - ४९. जो भिक्षु पात्र पर कुरेद कर चित्रांकन करता है, करवाता है या चित्रांकित कर दिए जाते हुए पात्र को गृहीत करता है अथवा गृहीत करने वाले का अनुमोदन करता है, इसे लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - पात्र पर कोरनी करने का अभिप्राय कुरेद कर उसे विशेष रूप से अंकित, चित्रांकित करना है। ऐसा करने के पीछे पात्र की विभूषा, शोभा या वह सुन्दर दिखे, ऐसा भाव रहता है। भिक्षु के लिए किसी भी प्रकार की बाह्य विभूषा, सज्जा वर्जित है। उसकी विभूषा और शोभा तो उसका शील, चरित्र या संयम है। इन्हीं से वह सुशोभित होता है। बाह्य शोभा या सुन्दरता का उसके जीवन में कोई महत्त्व नहीं है। अत एव उत्कीर्ण - खुदाई द्वारा पात्र को सुन्दर बनाने का उपक्रम यहाँ प्रायश्चित्त योग्य बतलाया गया है।

निशीथ भाष्य में इस संबंध में चर्चा आई है। भाष्यकार ने इसमें झुषिर दोष बतलाया है, क्योंकि पात्र पर कोरनी - खुदाई करने से जो खुरदरापन या ऊँची नीची स्थिति उत्पन्न होती है, उनमें संलग्न सूक्ष्म जीव तथा आहार के चिपके हुए अंश को भलीभाँति शोधित नहीं किया जा सकता। वैसा करते समय सूक्ष्म जीवों की विराधना भी आशंकित है।

यहाँ वह ज्ञातव्य है कि छोटे-छोटे तथ्यों को अलग-अलग सूत्रों में जो विस्तार से वर्णित किया गया है उसका आशय यह है कि भिक्षु के रोजमर्रा के किसी भी काम में जरा भी हिंसा का दुस्प्रसंग न बने।

मार्गादि में पात्र याचना विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू णायगं वा अणायगं वा उवासगं वा अणुवासगं वा गामंतरंसि वा गामपहंतरंसि वा पडिग्गहं ओभासिय ओभासिय जायइ जायंतं वा साइज्जइ ॥ ५० ॥

कठिन शब्दार्थ - गामंतरंसि - ग्रामान्तर में - दो गाँवों के बीच के भाग में, गामपहंतरंसि - ग्रामपथान्त में - गांव के दो रास्तों के मध्य, ओभासिय - ओभासिय - जोर-जोर से भाषित कर - बोल कर या मांग कर, जायइ - याचित करता है - मांगता है।

भावार्थ - ५०. जो भिक्षु ग्रामान्तर या मार्गान्तर में अपने किसी पारिवारिकजन से या किसी अन्य से, उपासक - श्रावक से या श्रावकेतर से जोर-जोर से बोल कर - कह कर - मांग कर पात्र की याचना करता है अथवा याचना करने वाले का अनुमोदन करता है, उसे लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - भिक्षाचर्या में प्रत्येक कार्य देश, काल, भाव के अनुसार करना विहित है। वैसा न करना धार्मिक और लौकिक दोनों ही दृष्टियों से दोषपूर्ण है, अनुचित है।

उदाहरणार्थ - कोई भिक्षु मार्ग में चल रहा हो, दो ग्रामों के मध्यवर्ती किसी स्थान में, मार्गान्तर में कोई स्वजन, अन्यजन, श्रावक या श्रावकेतर व्यक्ति जाता हुआ मिल जाए तो उसे जोर-जोर से पुकार कर, यों रोक कर पात्र की याचना करना दोषपूर्ण है। पात्र भलीभाँति एषणा - गवेषणा कर शुद्ध, निरवद्य विधि पूर्वक लिया जाना चाहिए। यों अकस्मात् पात्र की याचना करने में एषणा विषयक दोष लगता है। जिससे मांगा जाए यदि वह स्वजन या उपासक न हो, जैन भिक्षुओं के प्रति श्रद्धाशील न हो तो भिक्षु द्वारा ऐसा किया जाना उन्हें बड़ा अप्रिय तथा अव्यावहारिक लगता है। उनके मन में रोष भी होता है है। अपने पास होते हुए भी वे पात्र नहीं देते। इस प्रकार धर्म की अवहेलना, अपकीर्ति होती है।

परिषद् में आहूतकर स्वजनादि से पात्र-याचना विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू णायगं वा अणायगं वा उवासगं वा अणुवासगं वा परिसामज्जाओ उट्टुवेत्ता पडिग्गहं ओभासिय ओभासिय जायइ जायंतं वा साइज्जइ ॥ ५१ ॥

कठिन शब्दार्थ - परिसामज्जाओ - परिषद् के मध्य - बीच में से, उट्टुवेत्ता - उठा कर।

भावार्थ - ५१. जो भिक्षु परिषद् के बीच में से उठा कर अपने किसी पारिवारिकजन से, अन्य किसी व्यक्ति से, श्रावक से या श्रावकेतर से उच्च स्वर में बोलता हुआ पात्र की याचना करता है अथवा याचना करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - इस सूत्र में प्रयुक्त 'परिसा - परिषद्' शब्द 'परि' उपसर्ग तथा ध्वादिगण के अन्तर्गत परस्मैपदी 'सद्' धातु और 'विचप्' प्रत्यय के योग से बना है। 'परितः सीदन्ति अस्यामिति परिषद्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जहाँ बहुत से व्यक्ति एकत्रित हों, वार्तालाप, परामर्श आदि करते हों, उसे परिषद् कहा जाता है। सभा, संगोष्ठी आदि के लिए इस शब्द का प्रयोग होता है। साथ ही साथ जहाँ अपने स्थान में या अन्यत्र कहीं अनेक व्यक्ति मिल कर परस्पर वार्तालाप आदि कर रहे हों, उसे भी परिषद् कहा जाता है।

जैसा कि पहले विवेचित है, भिक्षु को पात्रादि की याचना विवेकपूर्वक करनी चाहिए, उसे व्यावहारिक औचित्य का सदैव ध्यान रखना चाहिए।

स्वजन, अन्यजन, उपासक या अनुपासक आदि से, जब उनमें से कोई परिषद्, सभा या संगोष्ठी में स्थित हो, (उसे) वहाँ से उठा कर, बुला कर पात्र की याचना नहीं करनी चाहिए अथवा अपने घर में ही जहाँ वह अपने पारिवारिकजनों या बंधु-बांधवों के साथ वार्तालाप कर रहा हो, वहाँ से बुलाते हुए भी उससे पात्र की याचना नहीं करनी चाहिए।

पारस्परिक वार्तालाप में विघ्न होने से उसके मन में पीड़ा होती है, चिंतन, विमर्श में बाधा पहुँचती है। यदि वह धर्मानुरागी न हो तो उसके मन में रोष भी उत्पन्न होना आशंकित है, पात्र होते हुए भी वह मना कर सकता है।

भिक्षु यदि वैसी स्थिति देखे तो उचित यह होता है कि वह एक ओर खड़ा हो कर, प्रतीक्षा करे तथा जब वार्तालाप या विमर्श-परामर्श समाप्त हो जाए, गृहस्थ उससे विरत हो जाए तब उससे विविध पूर्वक याचना करे।

यदि धर्मानुरागी गृहस्थ भिक्षु को आया देखकर परिषद् में से उठ कर स्वयं उसके पास आ जाए और जिज्ञासा करे तब भिक्षु को उससे याचना करनी चाहिए। इन सबके विपरीत अविवेक पूर्ण याचना करना प्रायश्चित्त योग्य है।

पात्र प्राप्त करने हेतु ठहरने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू पडिग्गहणीसाए उडुबद्धं वसइ वसंतं वा साइज्जइ ॥ ५२ ॥

जे भिक्खू पडिग्गहणीसाए वासावासं वसइ वसंतं वा साइज्जइ। तं सेवमाणे
आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं उग्घाइयं ॥ ५३ ॥

॥ णिसीहउज्झयणे चउद्दसमो उद्देसो समत्तो ॥ १४ ॥

कठिन शब्दार्थ - पडिग्गहणीसाए - पात्र प्राप्त करने की वांछा से, उडुबद्धं - ऋतुबद्ध - मासकल्प की मर्यादा के अनुरूप।

भावार्थ - ५२. जो भिक्षु पात्र प्राप्त करने की वांछा से ऋतुबद्धकाल में - मासकल्प की मर्यादानुसार रहता है या रहने वाले का अनुमोदन करता है।

५३. जो भिक्षु पात्र प्राप्त करने की वांछा से वर्षावास में रहता है अथवा रहने वाले का अनुमोदन करता है।

ऐसा करने वाले भिक्षु को लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

इस प्रकार उपर्युक्त ५३ सूत्रों में किए गए किसी भी प्रायश्चित्त स्थान का, तद्गत दोषों का सेवन करने वाले भिक्षु को उद्घातिक परिहार-तप रूप लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

इस प्रकार निशीथ अध्ययन (निशीथ सूत्र) में चतुर्दश उद्देशक परिसंपन्न होता है।

विवेचन - भिक्षु के लिए वस्त्र, पात्र आदि औपधिक सामग्री केवल संयम के उपकरण भूत देह की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए है। पात्रादि के प्रति उसके मन में जरा भी मोह, आसक्ति या आकर्षण न हो, यह परम आवश्यक है। वैसा होना संयम की उच्च भूमिका से नीचे उतरना है, जो सर्वथा अवांछित है।

मासकल्प और चातुर्मास कल्प के अनुसार भिक्षु की विहारचर्या की मर्यादा है। यदि कोई भिक्षु ऐसी मानसिकता के साथ कि मुझे यहाँ गृहस्थों से उत्तम पात्र प्राप्त होंगे, मासकल्प ठहरता है या चातुर्मास करता है तो वह प्रायश्चित्त का भागी होता है। क्योंकि भिक्षु का प्रवास, यात्रा प्रसंग आदि स्व-पर कल्याण के लिए ही होते हैं। स्वयं साधनारत रहते हुए, जन-जन को धर्मोपदेश देकर संयमपथ की ओर अग्रसर करना भिक्षु का लक्ष्य होता है।

यदि भिक्षु को पात्र की अत्यन्त आवश्यकता हो, वैसी स्थिति में वह प्राप्ति की संभावना की दृष्टि से कुछ समय नहीं ठहर जाय तो उसे दोष नहीं लगता। क्योंकि आवश्यकता और आसक्ति में अन्तर है। आवश्यकता पूरणीय है और आसक्ति सर्वथा परिवर्जनीय तथा परिहेय है।

॥ इति निशीथ सूत्र का चतुर्दश उद्देशक समाप्त ॥

पण्णरसमो उद्देशओ - पंचदश उद्देशक

भिक्षु-आशातना विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्षू भिक्षूणं आगाढं वयइ वयंतं वा साइज्जइ ॥ १ ॥

जे भिक्षू भिक्षूणं फरुसं वयइ वयंतं वा साइज्जइ ॥ २ ॥

जे भिक्षू भिक्षूणं आगाढं फरुसं वयइ वयंतं वा साइज्जइ ॥ ३ ॥

जे भिक्षू भिक्षूणं अण्णयरीए अच्चासायणाए अच्चासाएइ अच्चासाएंत्तं वा साइज्जइ ॥ ४ ॥

कठिन शब्दार्थ - भिक्षूणं - भिक्षुओं को, आगाढं - रोषयुक्त, वयइ - वचन बोलता है, अण्णयरीए - अन्य किसी प्रकार की, अच्चासायणाए - आशातना करता है।

भावार्थ - १. जो भिक्षु भिक्षुओं को रोषयुक्त वचन कहता है या कहने वाले का अनुमोदन करता है।

२. जो भिक्षु भिक्षुओं को कठोर वचन कहता है अथवा कहने वाले का अनुमोदन करता है।

३. जो भिक्षु भिक्षुओं को रोषयुक्त एवं कठोर वचन कहता है या कहते हुए का अनुमोदन करता है।

४. जो भिक्षु भिक्षुओं को अन्य किसी प्रकार से आशातना करता है अथवा आशातना करते हुए का अनुमोदन करता है।

उपर्युक्त अविहित कार्य करने वाले भिक्षु को लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - मानसिक, वाचिक एवं कायिक दृष्टि से भिक्षु के व्यवहार में सहिष्णुता, धृति, अहिंसक वृत्ति तथा समता रहे, यह आवश्यक है। इससे उसकी आध्यात्मिक साधना बलवती होती है। वह किसी के भी प्रति ऐसा व्यवहार न करे, जिससे सम्मुखीन व्यक्ति उद्वेजित या पीड़ित हो। दशम उद्देशक में आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, रत्नाधिक आदि के प्रति आशातनापूर्ण व्यवहार करने का प्रायश्चित्त बतलाया गया है। “विणयमूलो धम्मो” (धर्म विनयमूलक है) इस सिद्धान्त के अनुसार भिक्षु का इन आदरणीय सत्पुरुषों के प्रति तो सदैव विनम्रता का भाव रहना चाहिए। विनय से जीवन में उत्तरोत्तर निर्मलता, पवित्रता का

संचार होता है। गृहस्थों के साथ भी भिक्षु वाणी आदि द्वारा ऐसा व्यवहार न करे जो उनके मन को पीड़ा पहुँचाए।

प्रस्तुत सूत्रों में भिक्षुओं के प्रति कठोर, रोषयुक्त वचन द्वारा या अन्य किसी प्रकार से आशातना करने का प्रायश्चित्त कहा गया है। यह भिक्षु-शब्द-स्वगच्छ एवं परगच्छवर्ती सभी भिक्षुओं के लिए प्रयुक्त हुआ है।

सचित्त आम्र सेवन विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू सचित्तं अंबं भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ५ ॥

जे भिक्खू सचित्तं अंबं विडंसइ विडंसंतं वा साइज्जइ ॥ ६ ॥

जे भिक्खू सचित्तपइट्ठियं अंबं भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ७ ॥

जे भिक्खू सचित्तपइट्ठियं अंबं विडंसइ विडंसंतं वा साइज्जइ ॥ ८ ॥

जे भिक्खू सचित्तं अंबं वा अंबपे(सियं)सिं वा अंबभि(त्तिं)त्तं वा अंबसालगं वा अंबडालगं (अंबडगलं वा) वा अंबचोयगं वा भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ९ ॥

जे भिक्खू सचित्तं अंबं वा अंबपेसिं वा अंबभित्तं वा अंबसालगं वा अंबडालगं वा (अंबडगलं वा) अंबचोयगं वा विडंसइ विडंसंतं वा साइज्जइ ॥ १० ॥

जे भिक्खू सचित्तपइट्ठियं अंबं वा अंबपेसिं वा अंबभित्तं वा अंबसालगं वा अंबडालगं वा (अंबडगलं वा) अंबचोयगं वा भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ११ ॥

जे भिक्खू सचित्तपइट्ठियं अंबं वा अंबपेसिं वा अंबभित्तं वा अंबसालगं वा अंबडालगं वा (अंबडगलं वा) अंबचोयगं वा विडंसइ विडंसंतं वा साइज्जइ ॥ १२ ॥

कठिन शब्दार्थ - अंबं - आम्र - आम्र, भुंजइ - खाता है, विडंसइ - विदशति - चूसता है, सचित्तपइट्ठियं - सचित्त प्रतिष्ठित - सचित्त जल या हरितकाय आदि पर स्थित,

अंबपेसियं - आम की फाँक को, अंबभित्तं - आम का गूदा, अंबसालगं - आम का छिलका, अंबडालगं (अंबडगलं) - आम के टुकड़ों को, अंबचोयगं - आम के रस को।

भावार्थ - ५. जो भिक्षु सचित्त आम का सेवन करता है या सेवन करने वाले का अनुमोदन करता है।

६. जो भिक्षु सचित्त आम को चूसता है अथवा चूसने वाले का अनुमोदन करता है।

७. जो भिक्षु सचित्त प्रतिष्ठित आम का सेवन करता है या सेवन करने वाले का अनुमोदन करता है।

८. जो भिक्षु सचित्त प्रतिष्ठित आम को चूसता है अथवा चूसते हुए का अनुमोदन करता है।

९. जो भिक्षु सचित्त आम को, आम की फाँक को, आम का गूदा, आम का छिलका, आम के टुकड़े या आम के रस का सेवन करता है या सेवन करने वाले का अनुमोदन करता है।

१०. जो भिक्षु सचित्त आम, आम की फाँक, आम का गूदा, आम का छिलका, आम के टुकड़े या आम के रस को चूसता है अथवा चूसने वाले का अनुमोदन करता है।

११. जो भिक्षु सचित्त प्रतिष्ठित आम, आम की फाँक, आम का गूदा, आम का छिलका, आम के टुकड़े या आम के रस का सेवन करता है अथवा सेवन करते हुए का अनुमोदन करता है।

१२. जो भिक्षु सचित्त प्रतिष्ठित आम, आम की फाँक, आम का गूदा, आम का छिलका, आम के टुकड़े या आम के रस को चूसता है अथवा चूसते हुए का अनुमोदन करता है।

इस प्रकार उपर्युक्त रूप में आचरण करने वाले भिक्षु को लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - भिक्षु के लिए किसी भी सचित्त पदार्थ का सेवन वर्जित है। यहाँ सचित्त आम्रफल का विविध रूपों में सेवन प्रायश्चित्त योग्य बतलाया गया है।

प्रथम सूत्रचतुष्टय में अखण्ड आम के खाने या चूसने का प्रायश्चित्त कहा है तथा द्वितीय सूत्रचतुष्टय में उसके विभागों (खंडों) के खाने या चूसने का प्रायश्चित्त कहा है। इस सूत्रचतुष्टय में पुनः 'अंबं वा' पाठ आया है जो चूर्णिकार के सामने भी था, किन्तु आचारांग

श्रु. २ अ. उ० २ में पुन 'अंब' शब्द का प्रयोग नहीं है। अन्य शब्दों के क्रम में भी दोनों आगमों में अन्तर है।

निशीथ सूत्र में - १ अंब, २ अंबपेसिं, ३ अंबभित्तं, ४ अंबसालगं, ५ अंबडगलं, ६ अंबचोयगं

आचारांग सूत्र में - १ अंबभित्तं, २ अंबपेसिं, ३ अंबचोयगं, ४ अंबसालगं, ५ अंबडगलं दोनों आगमों में कुछ शब्दों की व्याख्या भी भिन्न-भिन्न है -

आचारांग में अंबसालगं - आम्र का रस। अंबचोयगं - आम्र की छाल।

निशीथ में - अंबसालगं - आम्र की छाल। अंबचोयगं - आम्र की केसरा।

इत्यादि विकल्पों को देखने से यही लगता है कि आचारांग का पाठ शुद्ध है और उनके अर्थ भी संगत प्रतीत होते हैं। निशीथ में संभव है कि लिपि-प्रमाद से 'अंब' शब्द दूसरी बार आ गया हो।

आम को फलों का राजा कहा गया है। सरसता, मधुरता आदि आस्वाद्य गुणों में इसे सर्वोपरि माना गया है। "सर्वेपदा हरितपदे निमग्नाः" - के अनुसार आम का उल्लेख करने से अन्य सभी सचित्त फलों की वर्जनीयता सिद्ध हो जाती है। आम की फाँके, गोलक, रस आदि को भिन्न-भिन्न रूप में कहने का अभिप्राय यह है कि उसकी सर्वथा, सर्वाङ्गीण परित्याज्यता का स्पष्ट भान रहे। एक ही रूप को कहने से अन्य रूपों के संबंध में संशयापन्नता आशंकित है।

भिक्षु जिह्वालोलुपता के वशगत कदापि न हो। आस्वाद्य वस्तु का सेवन भी करना पड़े तो उसमें अनासक्त रहे। यहाँ आम्र को अखाद्य नहीं बतलाया गया है, वरन् गुठली युक्त, सचित्त आम को अग्राह्य (प्रायश्चित्त योग्य) बतलाया गया है।

अन्यतीर्थिक या गृहस्थ से पादआमर्जनादि कराने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो पाए आमज्जावेज्ज वा पमज्जावेज्ज वा, आमज्जावेतं वा पमज्जावेतं वा साइज्जइ एवं तइय उहेसग गमेणं पोयव्वं जाव जे भिक्खू गामाणुगमं दुइज्जमाणे अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो सीसदुवारियं कारेइ कारंतं वा साइज्जइ ॥ १३-६८ ॥

भावार्थ - जो भिक्षु अन्यतीर्थिक या गृहस्थ से अपने पाँवों का एक बार या अनेक बार आमर्जन करवाता है या करवाने वाले का अनुमोदन करता है। इस प्रकार तीसरे उद्देशक के

(सूत्र १६ से ७१) के समान पूरा आलापक जानना यावत् जो जो भिक्षु अन्यतीर्थिक या गृहस्थ से ग्रामानुग्राम विहार करते हुए अपना मस्तक ढंकवाता है या ढंकवाने वाले का अनुमोदन करता है। (उसे लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

विवेचन - भिक्षु अपने समस्त दैहिक कार्य स्वयं करता है। वैसा करने में असमर्थ होने पर वह अपने सांभोगिक भिक्षुओं से सहयोग लेता है। क्योंकि सांभोगिक भिक्षु आवश्यकता पर एक-दूसरे के सहयोगी होते हैं। इसी से उनका संयममय जीवन निर्बाध, निशंक रूप में, विशुद्ध रूप में चलता रहता है।

भिक्षु अन्यतीर्थिक - तथाकथित साधु, संन्यासी, तापस, श्रमण एवं गृहस्थों से किसी भी प्रकार का सहयोग नहीं लेता। क्योंकि वह परावलम्बन है, जो भिक्षुओं के लिए अग्राह्य, अस्वीकार्य है।

अग्राह्य को गृहीत करना, अपनाना, अस्वीकार्य को स्वीकृत करना दोषपूर्ण है, प्रायश्चित्त योग्य है।

अकल्प्य स्थानों में मल-मूत्रोत्सर्ग-परिष्ठापन विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू आगंतागारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावइकुलेसु वा परियावसहेसु वा उच्चारपासवणं परिट्टवेइ परिट्टवेतं वा साइज्जइ ॥ ६९ ॥

जे भिक्खू उज्जाणंसि वा उज्जाणगिहंसि वा उज्जाणसालंसि वा णिज्जाणंसि वा णिज्जाणगिहंसि वा णिज्जाणसालंसि वा उच्चारपासवणं परिट्टवेइ परिट्टवेतं वा साइज्जइ ॥ ७० ॥

जे भिक्खू अट्टंसि वा अट्टालयंसि वा चरियंसि वा पागारंसि वा दारंसि वा गोपुरंसि वा उच्चारपासवणं परिट्टवेइ परिट्टवेतं वा साइज्जइ ॥ ७१ ॥

जे भिक्खू दगंसि वा दगमगंसि वा दगपहंसि वा दगतीरंसि वा दगठाणंसि वा उच्चारपासवणं परिट्टवेइ परिट्टवेतं वा साइज्जइ ॥ ७२ ॥

जे भिक्खू सुण्णगिहंसि वा सुण्णसालंसि वा भिण्णगिहंसि वा भिण्णसालंसि वा कूडागारंसि वा कोट्टागारंसि वा उच्चारपासवणं परिट्टवेइ परिट्टवेतं वा साइज्जइ ॥ ७३ ॥

जे भिक्खू तणगिहंसि वा तणसालंसि वा तुसगिहंसि वा तुससालंसि वा भुसगिहंसि वा भुससालंसि वा उच्चारपासवणं परिट्ठवेइ परिट्ठवेतं वा साइज्जइ ॥ ७४ ॥

जे भिक्खू जाणगिहंसि वा जाणसालंसि वा जुग्गगिहंसि वा जुग्गसालंसि वा उच्चारपासवणं परिट्ठवेइ परिट्ठवेतं वा साइज्जइ ॥ ७५ ॥

जे भिक्खू पणियसालंसि वा पणियगिहंसि वा परियासालंसि वा परियागिहंसि वा कुवियसालंसि वा कुवियगिहंसि वा उच्चारपासवणं परिट्ठवेइ परिट्ठवेतं वा साइज्जइ ॥ ७६ ॥

जे भिक्खू गोणसालंसि वा गोणगिहंसि वा महाकुलंसि वा महागिहंसि वा उच्चारपासवणं परिट्ठवेइ परिट्ठवेतं वा साइज्जइ ॥ ७७ ॥

भावार्थ - ६९. जो भिक्षु धर्मशालाओं, उपवनगृहों, गाथापतिकुलों एवं परिव्राजकों के आश्रमों - इनमें से किसी में मल-मूत्र त्यागता है, परठता है अथवा वैसा करने वाले का अनुमोदन करता है।

७०. जो भिक्षु उद्यान, उद्यानगृह, उद्यानशाला, निर्याण, निर्याणगृह तथा निर्याणशाला - इनमें से किसी में मल-मूत्र त्यागता है, परठता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

७१. जो भिक्षु अट्ट - कोट, अट्टालिका, चरिका, प्राकार - परकोटा, द्वार और गोपुर - इनमें से किसी में मल-मूत्र त्यागता है, परठता है अथवा ऐसा करने वाले का अनुमोदन करता है।

७२. जो भिक्षु उदक - जल स्रोतादि, जल मार्ग, जल-पथ, जल-तीर एवं जल संग्राह्य स्थान - इनमें से किसी में मल-मूत्र त्यागता है, परठता है या ऐसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

७३. जो भिक्षु शून्यगृह, शून्यशाला, भिन्नगृह, भिन्नशाला, कूटागार तथा कोष्ठागार - इनमें से किसी में मल-मूत्र त्यागता है, परठता है अथवा वैसा करने वाले का अनुमोदन करता है।

७४. जो भिक्षु तृणगृह, तृणशाला, तुषगृह, तुषशाला, भूसागृह और भूसाशाला - इनमें से किसी में मल-मूत्र त्यागता है, परठता है या वैसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

७५. जो भिक्षु यानगृह, यानशाला, युग्यगृह एवं युग्यशाला - शिविका - पालखी आदि रखने के स्थान - इनमें से किसी में मल-मूत्र त्यागता है, परठता है अथवा ऐसा करने वाले का अनुमोदन करता है।

७६. जो भिक्षु पण्यशाला - क्रय-विक्रय स्थान, पण्यगृह, परिव्राजकशाला, परिव्राजकगृह, कुप्यशाला तथा कुप्यगृह - पात्र या भांडादि रखने का स्थान - इनमें से किसी में मल-मूत्र त्यागता है, परठता है या ऐसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

७७. जो भिक्षु गोशाला, गोगृह, महाकुल और महागृह - इनमें से किसी में मल-मूत्र त्यागता है, परठता है अथवा वैसा करने वाले का अनुमोदन करता है।

उपर्युक्त अविहित कार्य करने वाले भिक्षु को लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - भिक्षु की सभी क्रियाएँ ऐसी होती हैं, जिनमें हिंसा आदि दोषों का परिवर्जन तो होता ही है साथ ही साथ में वे ऐसी हों, जिससे किसी व्यक्ति के मन में पीड़ा या चोट न पहुँचे। क्योंकि किसी के मन को आघात पहुँचाना भी भिक्षु के लिए परिहेय है।

जिस प्रकार भिक्षाचर्या आदि की नियमोपनियमबद्ध मर्यादाएँ हैं, उसी प्रकार उच्चार-प्रस्रवण के परित्याग और परिष्ठापन के संबंध में भी भिक्षु को मर्यादानुरूप सावधानी बरतने का विधान है।

उपर्युक्त सूत्रों में जिन स्थानों का उल्लेख हुआ है उनमें से कतिपय व्यक्तिगत हैं तथा कतिपय सार्वजनिक। व्यक्तिगत स्थानों के तो स्वामी होते ही हैं, सार्वजनिक स्थानों के भी समाज द्वारा नियुक्त रक्षक या प्रहरी होते हैं। उनको पूछे बिना उन स्थानों का भिक्षु द्वारा उच्चार-प्रस्रवण के परित्याग, परिष्ठापन में उपयोग किए जाने से तृतीय - अचौर्य महाव्रत में दोष आता है।

जब उन स्थानों के अधिकारियों, रक्षकों या प्रहरियों को उस संबंध में जानकारी होती है तो वे उससे रुष्ट, नाराज होते हैं तथा साधु के इस कार्य को अभद्रता एवं अशिष्टतापूर्ण मानते हैं। इससे साधु संघ की निंदा होती है। यदि उन लोगों में से कोई कोपाविष्ट हो जाए तो उस द्वारा भिक्षु के साथ अशिष्ट व्यवहार किया जाना भी आशंकित है। इन सभी स्थितियों की अपेक्षा से उपर्युक्त स्थानों में उच्चार-प्रस्रवण परित्याग, परिष्ठापन को प्रायश्चित्त योग्य कहा गया है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है, यदि कोई मल-मूत्र परित्याग का सार्वजनिक स्थान सबके लिए

खुला हो, किसी के लिए भी निषेध न हो तो वहाँ भिक्षु यदि शास्त्र-निरूपित विधि-मर्यादा के अनुसार उच्चार-प्रस्रवण का परित्याग या परिष्ठापन करे तो दोष नहीं लगता।

उसी प्रकार यदि किसी व्यक्तिगत स्थान के स्वामी ने भिक्षुओं के लिए उच्चार-प्रस्रवण परित्याग, परिष्ठापन की आज्ञा दे रखी हो तो वहाँ यथाविधि वैसा करना प्रायश्चित्त योग्य नहीं है।

अन्यतीर्थिक या गृहस्थ को आहार देने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू अण्णउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा देइ देंतं वा साइज्जइ ॥ ७८ ॥

भावार्थ - ७८. जो भिक्षु अन्यतीर्थिक या गृहस्थ को अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप चतुर्विध आहार देता है अथवा देते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - भिक्षु महाव्रतधारी होता है। महाव्रतों में मन-वचन-काय तथा कृत-कारित-अनुमोदित रूप में सभी सावद्य कार्यों का परित्याग होता है। दीक्षा लेते समय उच्चारित किया जाने वाला 'सर्व्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि' वाक्य इसी भाष का उद्बोधक है। गृहस्थ का जीवन चाहे वह व्रतधारी भी हो, सर्वथा निर्वद्य नहीं होता। क्योंकि उस द्वारा व्रत ग्रहण आगार या अपवाद के साथ किया जाता है। अतः उसके जीवन में सावद्य कार्यों का भी समावेश रहता है।

साधु सावद्य का किसी भी रूप में परिपोषक नहीं होता, इसलिए उस द्वारा अपने आहार में से गृहस्थ को दिया जाना दोषयुक्त है, प्रायश्चित्त योग्य है, क्योंकि उससे सावद्य का पोषण होता है।

जो गृहस्थ भिक्षु को आहार देता है, उसका लक्ष्य या भाव भिक्षु की संयमाराधना में सहयोग करना होता है। अतः यदि भिक्षु वह आहार किसी गृहस्थ को देता है तो उसमें जिनाज्ञा तथा दातृ आज्ञा न होने से तीसरे महाव्रत में दोष लगता है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि कदाचन देने वाले गृहस्थ या लेने वाले भिक्षु की असावधानी से सचित्त, अकल्प्य आहार-पानी गृहीत हो जाए तो जिससे प्राप्त किया हो, शीघ्र ही उस गृहस्थ को उसे वापस दे दिया जाना चाहिए। आचारांग सूत्र में ऐसा विधान हुआ है❶।

❶ (क) आचारांग सूत्र - २-१-१०

(ख) आचारांग सूत्र - २-६-२

पार्श्वस्थ आदि के साथ आहार के आदान-प्रदान का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू पासत्थस्स असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा देइ देंतं
वा साइज्जइ ॥ ७९ ॥

जे भिक्खू पासत्थस्स असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिच्छइ
पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥ ८० ॥

जे भिक्खू ओसण्णस्स असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा देइ
देंतं वा साइज्जइ ॥ ८१ ॥

जे भिक्खू ओसण्णस्स असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिच्छइ
पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥ ८२ ॥

जे भिक्खू कुसीलस्स असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा देइ देंतं
वा साइज्जइ ॥ ८३ ॥

जे भिक्खू कुसीलस्स असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिच्छइ
पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥ ८४ ॥

जे भिक्खू णितियस्स असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा देइ देंतं
वा साइज्जइ ॥ ८५ ॥

जे भिक्खू णितियस्स असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिच्छइ
पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥ ८६ ॥

जे भिक्खू संसत्तस्स असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा देइ देंतं
वा साइज्जइ ॥ ८७ ॥

जे भिक्खू संसत्तस्स असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिच्छइ
पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥ ८८ ॥

कठिन शब्दार्थ - ओसण्णस्स - अवसन, कुसीलस्स - कुशील - कुत्सित आचार
युक्त, णितियस्स - नित्यक - प्रतिदिन एक ही घर से अशन-पान आदि प्राप्त करने वाला,
संसत्तस्स - संसक्त - आसक्तियुक्त ।

आहार का आदान-प्रदान नहीं कल्पता। क्योंकि उनका जीवन सर्वथा निरवद्य नहीं होने से सावद्य पोषण का दोष आता है।

दूसरे शब्दों में आहार देने से उनके एषणा दोषों का एवं अन्य दूषित प्रवृत्तियों का तथा पार्श्वस्थ आदि से आहार गृहीत करने पर उद्गम आदि दोषयुक्त आहार का सेवन आशंकित होता है।

गृहस्थ को वस्त्र देने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू अण्णउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा देइ देतं वा साइज्जइ ॥ ८९ ॥

भावार्थ - ८९. जो भिक्षु अन्यतीर्थिक या गृहस्थ को वस्त्र, पात्र, कंबल या पादप्रोँछन देता है अथवा देने वाले का अनुमोदन करता है, उसे लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - जिस प्रकार गृहस्थ आदि को अशन-पान देने से भिक्षु उसके सावद्य जीवन का परिपोषक होने के कारण प्रायश्चित्त का भागी होता है, उसी प्रकार वस्त्र देना भी प्रायश्चित्त योग्य है क्योंकि वस्त्र भी देहरक्षा का एक विशेष साधन है। भिक्षु का सदैव यही लक्ष्य रहे कि वह सर्वथा निरवद्य, महाव्रतोपेत जीवन का पालन करे तथा वैसे जीवन का पालन करने वालों से ही इस प्रकार का सहयोग करे।

पार्श्वस्थ आदि से वस्त्र लेने-देने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू पासत्थस्स वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा देइ देतं वा साइज्जइ ॥ ९० ॥

जे भिक्खू पासत्थस्स वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा पडिच्छइ पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥ ९१ ॥

जे भिक्खू ओसण्णस्स वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा देइ देतं वा साइज्जइ ॥ ९२ ॥

जे भिक्खू ओसण्णस्स वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा पडिच्छइ पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥ ९३ ॥

जे भिक्खू कुसीलस्स वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा देइ देतं वा साइज्जइ ॥ ९४ ॥

जे भिक्खू कुसीलस्स वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा पडिच्छइ पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥ ९५ ॥

जे भिक्खू णितियस्स वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा देइ देतं वा साइज्जइ ॥ ९६ ॥

जे भिक्खू णितियस्स वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा पडिच्छइ पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥ ९७ ॥

जे भिक्खू संसत्तस्स वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा देइ देतं वा साइज्जइ ॥ ९८ ॥

जे भिक्खू संसत्तस्स वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा पडिच्छइ पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥ ९९ ॥

भावार्थ - ९०. जो भिक्षु पार्श्वस्थ को वस्त्र, पात्र, कंबल या पादप्रोँछन देता है अथवा देने वाले का अनुमोदन करता है।

९१. जो भिक्षु पार्श्वस्थ से वस्त्र, पात्र, कंबल या पादप्रोँछन प्रतिगृहीत करता है - लेता है अथवा लेने वाले का अनुमोदन करता है।

९२. जो भिक्षु अवसन्न को वस्त्र, पात्र, कंबल या पादप्रोँछन देता है अथवा देने वाले का अनुमोदन करता है।

९३. जो भिक्षु अवसन्न से वस्त्र, पात्र, कंबल या पादप्रोँछन लेता है अथवा लेने वाले का अनुमोदन करता है।

९४. जो भिक्षु कुशीलसेवी को वस्त्र, पात्र, कंबल या पादप्रोँछन देता है अथवा देने वाले का अनुमोदन करता है।

९५. जो भिक्षु कुशीलसेवी से वस्त्र, पात्र, कंबल या पादप्रोँछन लेता है अथवा लेने वाले का अनुमोदन करता है।

९६. जो भिक्षु नित्यपिण्डभोजी को वस्त्र, पात्र, कंबल या पादप्रोँछन देता है अथवा देने वाले का अनुमोदन करता है।

९७. जो भिक्षु नित्यपिण्डभोजी से वस्त्र, पात्र, कंबल या पादप्रोँछन लेता है अथवा लेने वाले का अनुमोदन करता है।

९८. जो भिक्षु संसक्त को वस्त्र, पात्र, कंबल या पादप्रोँछन देता है अथवा देने वाले का अनुमोदन करता है।

९९. जो भिक्षु संसक्त से वस्त्र, पात्र, कंबल या पादप्रोँछन लेता है अथवा लेने वाले का अनुमोदन करता है।

इस प्रकार उपर्युक्त अविहित कार्य करने वाले भिक्षु को लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - जिस प्रकार पिछले सूत्रों में पार्श्वस्थ आदि के साथ आहार लेने-देने के संदर्भ में प्रायश्चित्त का विधान हुआ है, उसी प्रकार इन सूत्रों में वस्त्र, पात्र, कंबल एवं पादप्रोँछन आदि उपधि लेना-देना प्रायश्चित्त योग्य बतलाया गया है। यहाँ भी वे ही दोष हैं, जो वहाँ वर्णित हुए हैं।

गवेषणा के बिना वस्त्र-ग्रहण विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू जायणावत्थं वा णिमंतणावत्थं वा अजाणिय अपुच्छिय अगवेसिय पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ से य वत्थे चउण्हं अणायरे सिया, तंजहा - णिच्चणियंसणिए म(ज्झणिए)ज्जणिए छणूसविए रायदुवारिए ॥ १०० ॥

कठिन शब्दार्थ - जायणावत्थं - याचनवस्त्र - मांगा जाने वाला वस्त्र, णिमंतणावत्थं - निमंत्रणवस्त्र - गृहस्थ द्वारा आमंत्रित कर दिया जाने वाला वस्त्र, अजाणिय - बिना जाने, अपुच्छिय - बिना पूछे, अगवेसिय - बिना गवेषणा किए, चउण्हं - चार प्रकार के, णिच्चणियंसणिए - नित्य प्रयोग में लेने योग्य, मज्जणिए - स्नान में प्रयोज्य, छणूसविए - उत्सव आदि में प्रयोजनीय, रायदुवारिए - राजदरबार में उपयोग में लेने योग्य।

भावार्थ - १००. जो भिक्षु याचना द्वारा या आमंत्रण द्वारा प्राप्त किए जाने वाले वस्त्र को बिना जाने, बिना पूछे, बिना गवेषणा किए लेता है अथवा लेने वाले का अनुमोदन करता है, उसे लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

वह वस्त्र इन (निम्नांकित) चार प्रकार के वस्त्रों में से कोई हो सकता है -

१. नित्यवासनिक - नित्यप्रयोज्य
२. स्नान में प्रयोग किया जाने वाला,
३. उत्सव आदि में प्रयोजनीय एवं
४. राजदरबार आदि में उपयोग में लेने योग्य।

विवेचन - भिक्षु अपने अनिवार्य उपयोग की सामग्री - पात्र, वस्त्र आदि याचित कर लेता है अथवा गृहस्थ द्वारा निवेदित कर दिए जाने पर स्वीकार करता है। बशर्ते वे साधुचर्या के नियमानुसार स्थापित, अभिहत, क्रीत, अनिःसृष्ट, औद्देशिक, पश्चात् कृत आदि दोषों से रहित हों।

इस सूत्र में याचित और आमंत्रित दोनों ही रूप में प्राप्यमान वस्त्र को भलीभाँति पूछताछ, जाँच-पड़ताल या गवेषणा किए बिना लेना प्रायश्चित्त योग्य बतलाया गया है। वैसा किए बिना लेने से ज्ञात-अज्ञात रूप में इन दोषों में से किसी का लगना आशंकित है। क्योंकि विशेष भक्ति के कारण गृहस्थ भावुकतावश सुपात्र दान की उत्कृष्ट इच्छा के कारण जाने-अनजाने ऐसे वस्त्र के लिए भी साधु को आमंत्रित कर सकता है, जिनमें इन दोषों में से किसी दोष के लगने की संभावना हो।

यहाँ गृहस्थ द्वारा दीयमान वस्त्र चार प्रकार के वर्णित हुए हैं। इनमें सर्व सामान्य वस्त्र तो वे हैं, जिन्हें गृहस्थ रोजमर्रा के उपयोग में लेता हो। कुछ ऐसे वस्त्र होते हैं, जिन्हें अल्प समय के लिए (स्नानादि में) उपयोग में लिया जाता है। पारिवारिक, सामाजिक उत्सव या राजसभा आदि में प्रयोजनीय वस्त्र भी यहाँ उल्लिखित किए गए हैं।

ये वस्त्र विशेष प्रकार के या बहुमूल्य होते थे। इन वस्त्रों के वर्णन से देश की तात्कालिक समृद्धि पूर्ण स्थिति का आभास होता है। उस समय अवसर के अनुरूप गृहस्थ वस्त्रों का चयन एवं उपयोग करते थे। यह तभी संभव है जब वित्तीय स्थिति अच्छी हो।

श्रद्धाशील गृहस्थ यह चाहता है कि वह उत्तमोत्तम वस्तु साधु को दे, पुण्यार्जन करे। इसलिए बहुमूल्य वस्त्रों को भी लेने हेतु निमंत्रित करता है। यह श्रद्धामूलक पक्ष है। गवेषणा पूर्वक लेना विवेक पक्ष है। श्रद्धा और विवेक दोनों समन्वित या संगत हों, तभी तद्गर्भित कार्य उपादेय होता है।

वस्त्र के कथन से अन्य भी पात्र आदि उपकरणों के संबंध में गवेषणा करने की आवश्यकता और प्रायश्चित्त समझ लेना चाहिए।

विभूषार्थ देह-सज्जा विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू विभूसापडियाए अप्पणो पाए आमज्जेज्ज वा पमज्जेज्ज वा आमज्जंतं वा पमज्जंतं वा साइज्जइ ॥ १०१ ॥

एवं तइय उद्देशग गमेण णेयव्वं जाव जे भिक्खू विभूसावडियाए गामाणुगामं दूइज्जमाणे अप्पणो सीसदुवारियं करेइ करेत्तं वा साइज्जइ ॥ १०२-१५६ ॥

भावार्थ - १०१. जो भिक्षु विभूषा के लिए अपने पांवों को आमर्जित-प्रमार्जित करे - एक बार या बार-बार मार्जन करे अथवा आमर्जन-प्रमार्जन करने वाले का अनुमोदन करे।

१०२-१५६. इसी प्रकार (पूर्व की भाँति सज्जा विषयक) यावत् ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए अपने सिर (मस्तक) को ढकता है या ढकने वाले का अनुमोदन करता है, उसे लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है। इत्यादि समस्त वर्णन पूर्ववत् ज्ञातव्य है, यहाँ योजनीय है।

विभूषार्थ उपधि धारण-प्रक्षालन प्रायश्चित्त

जे भिक्खू विभूसापडियाए वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा अण्णयरं वा उवगरणजायं धरेइ धरेत्तं वा साइज्जइ ॥ १५७ ॥

जे भिक्खू विभूसापडियाए वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा अण्णयरं वा उवगरणजायं धोवेइ धोवेत्तं वा साइज्जइ। तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारद्वाणं उग्घाइयं ॥ १५८ ॥

॥ णिसीहउज्झयणे पण्णरसमो उद्देशो समत्तो ॥ १५ ॥

भावार्थ - १५७. जो भिक्षु विभूषा के निमित्त से वस्त्र, पात्र, कंबल या पादप्रोँछन या अन्य कोई उपकरण धारण करता है अथवा धारण करने वाले का अनुमोदन करता है।

१५८. जो भिक्षु विभूषा के निमित्त से वस्त्र, पात्र, कंबल एवं पादप्रोँछन या अन्य कोई उपकरण धोता है अथवा धोने वाले का अनुमोदन करता है।

ऐसा करने वाले भिक्षु को लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

इस प्रकार उपर्युक्त १५८ सूत्रों में किए गए किसी भी प्रायश्चित्त स्थान का, तद्गत दोषों का सेवन करने वाले भिक्षु को उद्घातिक परिहार-तप रूप लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

इस तरह निशीथ अध्ययन (निशीथ सूत्र) में पंचदश उद्देशक परिसमाप्त हुआ।

विवेचन - भिक्षु यदि विभूषा के लिए, शरीर आदि की शोभा के लिए अर्थात् अपने को सुन्दर दिखाने के लिए अथवा निष्प्रयोजन किसी उपकरण को धारण करता है तो उसे १५७ वें सूत्र के अनुसार प्रायश्चित्त आता है।

१५८ वें सूत्र में विभूषावृत्ति से अर्थात् सुन्दर दिखने के लिए यदि भिक्षु वस्त्रादि उपकरणों को धोवे या सुसज्जित करे तो उसका प्रायश्चित्त कहा है। इन दोनों सूत्रों से यह भी स्पष्ट है कि भिक्षु बिना विभूषा वृत्ति के किसी प्रायोजन से वस्त्रादि उपकरण रखे या धोवे तो सूत्रोक्त प्रायश्चित्त नहीं आता है अर्थात् भिक्षु संयम के आवश्यक उपकरण रख सकता है और उन्हें आवश्यकतानुसार धो भी सकता है, किन्तु धोने में विभूषा भाव नहीं होना चाहिए।

यदि पूर्ण रूप से भिक्षु को वस्त्र आदि धोना अकल्पनीय होता तो उसका प्रायश्चित्त कथन अलग प्रकार से होता किन्तु सूत्र में विभूषावृत्ति से ही धोने का प्रायश्चित्त कहा है।

आगम के अनेक स्थलों से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्मचर्य के लिए विभूषा वृत्ति सर्वथा अहितकर है, कर्मबंध का कारण है, प्रायश्चित्त के योग्य है। अतः भिक्षु विभूषा के संकल्प का त्याग करे अर्थात् शारीरिक श्रृंगार करने का एवं उपकरणों को सुन्दर दिखाने का प्रयत्न न करे। उपकरणों को संयम की और शरीर की सुरक्षा के लिए ही धारण करे एवं आवश्यक होने पर ही उनका प्रक्षालन करे।

॥ इति निशीथ सूत्र का पंचदश उद्देशक समाप्त ॥



सोलसमो उद्देसओ - षोडश उद्देशक

निषिद्ध शय्या आवास विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू सागारियसेज्जं अणुपविसइ अणुपविसंतं वा साइज्जइ ॥ १ ॥

जे भिक्खू स(सी)उदगं सेज्जं अणुपविसइ अणुपविसंतं वा साइज्जइ ॥ २ ॥

जे भिक्खू सअगणिसेज्जं अणुपविसइ अणुपविसंतं वा साइज्जइ ॥ ३ ॥

कठिन शब्दार्थ - सागारियसेज्जं - सागारिकशय्या - गृहस्थों के शयनादि का स्थान, स(सी)उदगं - सोदकशय्या - सचित्त जल युक्त स्थान, सअगणिसेज्ज - साग्निकशय्या - अग्नियुक्त स्थान।

भावार्थ - १. जो भिक्षु गृहस्थ के शयनादि के स्थान में ठहरता है या ठहरने वाले का अनुमोदन करता है।

२. जो भिक्षु सचित्त जलयुक्त स्थान में ठहरता है अथवा ठहरने वाले का अनुमोदन करता है।

३. जो भिक्षु अग्नियुक्त स्थान में ठहरता है या ठहरने वाले का अनुमोदन करता है।

ऐसा करने वाले भिक्षु को लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - 'शय्या' शब्द सामान्यतः पलंग, बिछौना, शयनपट्ट आदि के अर्थ में आता है। जैन आगमों में इस शब्द का प्रयोग आवास-स्थान - ठहरने की जगह के अर्थ में अधिकांशतः हुआ है। किसी भी स्थान का दैनंदिन कार्यों के विभाजन की दृष्टि से सबसे अधिक सोने में ही उपयोग होता है। उपयोगाधिक्य के कारण ही ठहरने के स्थान को शय्या के रूप में अभिहित किया जाना प्रचलित हुआ हो, ऐसा प्रतीत होता है। साधु के ठहरने के स्थान के स्वामी को इसीलिए शय्यातर कहा जाता है।

इन सूत्रों में से प्रथम सूत्र में शय्या शब्द का प्रयोग सामान्यतः ठहरने के स्थान के लिए न होकर उस स्थान के लिए हुआ है, जहाँ घर के स्त्री-पुरुष, दम्पति आदि शयन करते हों।

द्रव्यशय्या और भावशय्या के रूप में इसके दो भेद बतलाए गए हैं। जहाँ स्त्री-पुरुषों के वस्त्र, आभूषण सुगन्धित द्रव्य, नृत्य, गीत आदि से संबंधित उपकरण रखे हों, वह द्रव्य सागारिक शय्या है। जहाँ स्त्री-पुरुषों का, दम्पति का शयनादि के रूप में आवास हो, वह भाव सागारिक शय्या है। इन दोनों में ही साधु का ठहरना इसलिए निषिद्ध है कि वहाँ

कदाचन् मोहोदयवश, मानसिक दुर्बलतावश साधु के मन में काम वासना का उत्पन्न होना आशंकित है।

जहाँ सचित्त जल से युक्त हौद, कुंड, नल, घट, कलश इत्यादि हों, वहाँ भिक्षु का ठहरना इसलिए वर्जित है कि आने-जाने में अप्काय की हिंसा की आशंका रहती है। साथ ही साथ यह भी संभावना हो सकती है कि कदाचन अत्यधिक तृषा - पिपासा होने पर भिक्षु के मन में कहीं सचित्त जल पीने की इच्छा उत्पन्न न हो जाए।

वैसे स्थान में भिक्षु को ठहरा हुआ देख कर गृहस्थों के मन में भी आशंका हो सकती है, कहीं भिक्षु इस जल का प्रयोग तो न करते हो।

अग्नि युक्त स्थान दो प्रकार के हो सकते हैं - उनमें एक वह है जहां भट्टी, चूल्हा आदि जल रहा हो, दूसरा वह है जो जलते हुए दीपक से युक्त हो। दोनों ही स्थानों में अग्निकाय की विराधना की आशंका बनी रहती है।

जहाँ आग जल रही हो, अत्यन्त शैत्य में - शीतकाल में भिक्षु के मन में कहीं आग तापने का दूषित संकल्प न आ जाए।

जैसे बाढ़ आने से पूर्व उससे बचाव के लिए पाल बांधना, पूल बनाना आवश्यक है, उसी प्रकार जिन दोषों के सेवित होने की आशंका हो, वैसे कारणों को पहले से ही मिटा देना अपेक्षित है। इन सूत्रों में मूलतः यही भाव उद्दिष्ट हैं।

इन सूत्रों में प्रयुक्त 'अणुपविसइ - अनुप्रविशति' क्रियापद 'अणु' तथा 'प्र' उपसर्ग एवं तुदादिगण ने वर्णित परस्मैपदी 'विश्' धातु के योग से बना है। अनुप्रविशति का अर्थ किसी स्थान में बार-बार प्रवेश करना, निकलना, आना-जाना है। यह वही होता है, जहाँ व्यक्ति ठहरा हो, आवास कर रहा हो, इसलिए 'अनुप्रविशति' यहाँ ठहरने या आवास करने के अर्थ में प्रयुक्त है।

सचित्त इक्षु सेवन विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू सचित्तं उच्छं भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ४ ॥

जे भिक्खू सचित्तं उच्छं विडंसइ विडंसंतं वा साइज्जइ ॥ ५ ॥

जे भिक्खू सचित्तपइट्ठियं उच्छं भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ६ ॥

जे भिक्खू सचित्तपइट्ठियं उच्छं विडंसइ विडंसंतं वा साइज्जइ ॥ ७ ॥

जे भिक्खू सचित्तं १ अंतरुच्छुयं वा २ उच्छुखंडियं वा, ३. उच्छुचोयगं वा ४ उच्छुमेरगं वा, ५ उच्छुसालगं वा ६ उच्छुडगलं वा, भुंजइ, भुजंतं वा साइज्जइ ॥ ८ ॥

जे भिक्खू सचित्तं पइट्टियं अंतरुच्छुयं वा जाव उच्छुडगलं वा विडंसइ विडंसंतं वा साइज्जइ ॥९ ॥

जे भिक्खू सचित्तपइट्टियं अंतरुच्छुयं वा जाव उच्छुडगलं वा भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ ॥१० ॥

जे भिक्खू सचित्तपइट्टियं अंतरुच्छुयं वा जाव उच्छुडगलं वा विडंसइ विडंसंतं वा साइज्जइ ॥११ ॥

कठिन शब्दार्थ - उच्छुं - ईख - गन्ना, विडंसइ - विदष्ट करता है - चूसता है, सचित्तपइट्टियं - सचित्त प्रतिष्ठित - सचित्त जल, हरियाली आदि पर रखा हुआ, अंतरुच्छुयं- गन्ने के पर्वों - गांठों का मध्यवर्ती भाग, उच्छुखंडियं - गन्ने के खण्ड - छिलके सहित टुकड़े, उच्छुचोयगं - गन्ने के छिलके, उच्छुमेरगं - गन्ने के छिले हुए टुकड़े, उच्छुसालगं- गन्ने के रससंपृक्त छिलका या रस, उच्छुडगलं (उच्छुडालगं) गन्ने के छोटे-छोटे गोल टुकड़े।

भावार्थ - ४. जो भिक्षु सचित्त गन्ने को खाता है या खाने वाले का अनुमोदन करता है।

५. जो भिक्षु सचित्त गन्ने को चूसता है या चूसने वाले का अनुमोदन करता है।

६. जो भिक्षु सचित्त प्रतिष्ठित गन्ने को खाता है अथवा खाने वाले का अनुमोदन करता है।

७. जो भिक्षु सचित्त प्रतिष्ठित गन्ने को चूसता है अथवा चूसने वाले का अनुमोदन करता है।

८. जो भिक्षु सचित्त गन्ने की फांके - लम्बे-पतले टुकड़े, गन्ने के टुकड़े - गंडेरी, गन्ने के पर्वों का मध्यवर्ती भाग, गन्ने के खण्ड-छिलके सहित टुकड़े, गन्ने के छिलके, गन्ने के छिले हुए टुकड़े, गन्ने के रस संपृक्त छिलके या रस, गन्ने के छोटे-छोटे गोल टुकड़े - इनमें से किसी को भी खाता है या खाने वाले का अनुमोदन करता है।

९. जो भिक्षु सचित्त गन्ने की फाँके - लंबे-पतले टुकड़े, गन्ने के टुकड़े - गंडेरी, गन्ने के पर्वों का मध्यवर्ती भाग, गन्ने के खण्ड - छिलके सहित टुकड़े, गन्ने के छिलके, गन्ने के छिले हुए टुकड़े, गन्ने के रससंपृक्त छिलके या रस, गन्ने के छोटे-छोटे गोल टुकड़े - इनमें से किसी को भी चूसता है अथवा चूसने वाले का अनुमोदन करता है।

१०. जो भिक्षु सचित्त प्रतिष्ठित गन्ने की फाँके - लंबे-पतले टुकड़े, गन्ने के टुकड़े - गंडेरी, गन्ने के पर्वों का मध्यवर्ती भाग गन्ने के खण्ड - छिलके सहित टुकड़े, गन्ने के छिलके, गन्ने के छिले हुए टुकड़े, गन्ने के रससंपृक्त छिलके या रस, गन्ने के छोटे-छोटे गोल टुकड़े - इनमें से किसी को भी खाता है या खाने वाले का अनुमोदन करता है।

११. जो भिक्षु सचित्तप्रतिष्ठित गन्ने की फाँके - लंबे-पतले टुकड़े - गंडेरी, गन्ने के पर्वों का मध्यवर्ती भाग, गन्ने के खण्ड - छिलके सहित टुकड़े, गन्ने के छिलके, गन्ने के छिले हुए टुकड़े, गन्ने के रससंपृक्त छिलके या रस, गन्ने के छोटे-छोटे गोल टुकड़े - इनमें से किसी को भी चूसता है अथवा चूसने वाले का अनुमोदन करता है।

इस प्रकार उपर्युक्त अविहित कार्य करने वाले भिक्षु को लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - पन्द्रहवें उद्देशक में सचित्त आम्र-फल का विविध रूप में सेवन प्रायश्चित्त योग्य बतलाया गया है। वहाँ आम्र के उल्लेख से सभी फल उपलक्षित हैं।

इक्षु फलों के अन्तर्गत नहीं आता, क्योंकि वह स्कन्ध रूप में समग्रतया सेवन करने योग्य - खाने, चूसने आदि योग्य है। उसका स्कन्ध संपूर्णतः मधुर होता है।

प्रारम्भ के चार सूत्रों में सामान्यतः सचित्त इक्षु सेवन प्रायश्चित्त योग्य बतलाया गया है तथा अन्तिम चार सूत्रों में इक्षु के खण्ड, टुकड़े, गोलक आदि विविध विभागों का सेवन प्रायश्चित्त योग्य प्रतिपादित हुआ।

आचारांग सूत्र में इक्षु को बहु-उज्झित-धर्म युक्त बतलाया गया है। उसका सेवन परिवर्जनीय कहा गया है❶। उज्झित का अर्थ त्यक्त या त्याग युक्त है। समग्रतया मधुर और आस्वाद्य होने से वह ऐसा स्वभाव लिए हुए है कि वह तत्क्षण व्यक्ति को आकृष्ट कर लेता है। अत एव वह अत्यन्त उज्झित - त्यक्त करने योग्य है, त्याज्य है।

आचारांग सूत्र में अचित्त इक्षु के ग्रहण का विधान है❷। उसका आशय यह है कि

❶ आचारांग सूत्र - २.१.१०

❷ आचारांग सूत्र - २.७.२

“साधु साध्वी के रोग आदि विशेष कारणों से इक्षु रस, इक्षु के टुकड़े आदि सेवन करने का प्रसंग आने पर इक्षु वन में जाने का विधान किया गया है। यहां पर इक्षुवन का तात्पर्य यह है कि - जहां पर इक्षु का रस, मुरब्बे आदि इक्षु सम्बन्धी अनेक वस्तुओं का निर्माण होता हो। उस कारखाने जैसे स्थान से इक्षु सम्बन्धी अनेक वस्तुएं अचित्त एवं निर्दोष सुलभ हो, वहाँ से साधु विधि से आवश्यकता होने पर वे वस्तुएं ग्राह्य हैं। इक्षु के मुरब्बे में फैंकने का अंश प्रायः नहीं रहता है।

उपर्युक्त सूत्रों (४ से ११ तक) में सचित्त इक्षु एवं उनके सचित्त विभागों को ग्रहण करने का प्रायश्चित्त बताया गया है।”

आरण्यक आदि से आहार ग्रहण विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू आरण्यगाणं वण्णंधाणं अडवीजत्तासंपट्टियाणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ ॥ १२ ॥

जे भिक्खू आरण्यगाणं वण्णंधाणं अडवीजत्ताओ पडिणियत्ताणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ ॥ १३ ॥

कठिन शब्दार्थ - आरण्यगाणं - आरण्यक - वनवासियों का, वण्णंधाणं - वन में गए हुआ का, अडवीजत्तासंपट्टियाणं - अटवी-यात्रा-संप्रस्थित - वन की यात्रा पर प्रस्थान किए हुआ का, अडवीजत्ताओ - वन की यात्रा से, पडिणियत्ताणं - प्रतिनिवृत्त - वापस लौटते हुआ का।

भावार्थ - १२. जो भिक्षु आरण्यकों, वन में गए हुआ तथा वन की यात्रा पर प्रस्थान किए हुआ से अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप आहार प्रतिगृहीत करता है - लेता है या लेते हुए का अनुमोदन करता है।

१३. जो भिक्षु आरण्यकों, वन में गए हुआ एवं वन की यात्रा से वापस लौटते हुआ का अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप आहार प्रतिगृहीत करता है - लेता है या लेते हुए का अनुमोदन करता है।

ऐसा करने वाले भिक्षु को लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - “अटव्यरण्यं विपिनं गहनं काननं वनम्।” - अमरकोश के

अनुसार अटवी, अरण्य, विपिन, गहन, कानन तथा वन - ये शब्द समानार्थक हैं, सामान्यतः वन या जंगल के वाचक हैं, किन्तु तरतमता की दृष्टि से इनमें कुछ अन्तर भी माना जाता है। जो जंगल ग्राम, नगर आदि से बहुत दूर होता है, उसे अरण्य कहा जाता है। जो ग्राम, नगर आदि के निकट होता है, उसे वन कहा जाता है। लम्बा घनघोर जंगल जिसे पार करने में बहुत दिन लगते हों, जहाँ चोर डाकू आदि का भय हो, बीच में कोई बस्ती न हो, उसे अटवी कहा जाता है।

“अरण्ये भवा आरण्यकाः” - जो अरण्य या वन में ही रहते हों, वन ही जिनका स्थायी निवास हों, वे आरण्यक कहे जाते हैं।

वैदिक परंपरा में ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास - ये चार आश्रम माने गए हैं अर्थात् मनुष्य के जीवन को सौ वर्ष का मानते हुए पच्चीस-पच्चीस वर्ष के चार विभागों में उसे बांटा गया है। तदनुसार गृहस्थ आश्रम को पूर्ण कर व्यक्ति अरण्य में चला जाता है। वहाँ धर्माराधना में रत रहता हुआ अपने को संन्यास के योग्य बनाता है, कंद, मूल, फल आदि का भोजन करता है। ऐसे अरण्यवासी साधक वानप्रस्थी या आरण्यक कहे जाते हैं। उनके लिए अध्ययन करने योग्य जो विशेष ग्रन्थ रचित हुए, उन्हें भी 'आरण्यक' कहा जाता है।

इन सूत्रों में आरण्यक आदि जिन चार प्रकार के लोगों से आहार लेना जो प्रायश्चित्त योग्य बतलाया गया है, उसका आशय यह है कि उन द्वारा वनस्पतिकाय की विराधना का क्रम प्रायः चलता ही रहता है। इसके अतिरिक्त जो वन में गए हुए हों, जा रहे हों, वापस लौट रहे हों, उनसे आहार लेना भी इसलिए दोषयुक्त है कि वन में मार्ग आदि भूल जाएं, अनुमान से अधिक दिन लग जाएं, उनके पास विद्यमान आहार आदि कम पड़ जाए या समाप्त हो जाए तो उनके क्षुधापीड़ित होने की आशंका बनी रहती है।

देने वालों की जीवविराधनामूलक प्रवृत्ति का सातत्य और परिस्थितिवश आहारादि की कमी हो जाने से उनके संकट में पड़ने की आशंका को देखते हुए उनसे आहार लेना जो दोषपूर्ण बतलाया गया है, वह वास्तव में बड़ा ही दूरदर्शितापूर्ण है।

चारित्र रत्न के संबंध में विपरीत कथन विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू वसुराइयं अवसुराइयं वयइ वयंतं वा साइज्जइ ॥ १४ ॥

जे भिक्खू अवसुराइयं वसुराइयं वयइ वयंतं वा साइज्जइ ॥ १५ ॥

कठिन शब्दार्थ - वसुराइयं (वसुराइयं) - वसुराजिक - चारित्र रूपी रत्न से सुशोभित।

भावार्थ - १४. जो भिक्षु विशिष्ट चारित्र रत्न युक्त साधु को उससे रहित या न्यून बतलाता है अथवा बतलाते हुए का अनुमोदन करता है।

१५. जो भिक्षु चारित्र रूप रत्न से रहित या न्यून साधु को विशिष्ट चारित्र रत्न युक्त बतलाता है अथवा बतलाते हुए का अनुमोदन करता है।

ऐसा करने वाले भिक्षु को लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - जैन धर्म में सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र को रत्नत्रय कहा गया है। आध्यात्मिक दृष्टि से इनकी असीम मूल्यवत्ता को व्यवहारतः रत्नों से उपमित किया गया है। इनके संबंध में अपलाप करना, विपरीत भाषण करना दोषयुक्त है, प्रायश्चित्त योग्य है।

जिसमें चारित्र गुण का वैशिष्ट्य हो उसे वैसा ही मानना चाहिए, उसे आदर देना चाहिए, उसे कभी हल्का नहीं मानना चाहिए और न वैसा कथन ही करना चाहिए।

जिसमें चारित्र गुण सम्यक् विद्यमान न हो या न्यूनता युक्त हो, उसे विशिष्ट चारित्र गुण संपन्नता की गरिमा नहीं देनी चाहिए, उसे वैसा नहीं कहना चाहिए।

ये दोनों ही प्रकार के कथन या भाषण तथ्य के विपरीत हैं, अत एव अकथनीय हैं।

प्रस्तुत सूत्र में संयम गुणों की अपेक्षा से यह कथन है, अन्य ज्ञानादि सभी गुणों से विषयों में अयथार्थ कथन का प्रायश्चित्त इन सूत्रों से ही समझ लेना चाहिए।

इतरगण संक्रमण विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू वसुराइयगणाओ अवसुराइयं गणं संकमइ संकमंतं वा साइज्जइ ॥ १६ ॥

कठिन शब्दार्थ - संकमइ - संक्रमण (परिवर्तन) करता है।

भावार्थ - १६. जो भिक्षु विशिष्ट चारित्ररत्नरूपगुणयुक्त गण से अल्पचारित्ररत्नरूपगुण युक्त गण में संक्रमण करता है या संक्रमण करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - सम्यग् ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप अप्रतिम आध्यात्मिक वैभव का संवाहक भिक्षु उनकी गरिमा, आभा को सदैव अक्षुण्ण रखता हुआ संयम की आराधना में अभिरत रहे, यह वांछित है। योग्य, त्यागतपोमय जीवन के धनी गणनायक के नेतृत्व में जिस गण में भिक्षु चारित्र का बड़ी ही समीचीनता, कुशलता, सन्निष्ठा के साथ पालन करते हैं, वह उत्तम, विशिष्ट चारित्र रत्नगुणसंपन्न गण होता है। जो उत्कृष्ट चारित्र के परिपालन में कुछ कष्ट

अनुभव करने लगते हैं, वैसे भिक्षु ऐसे गण की तलाश करते हैं, जहाँ संयम पालन पर उतना अधिक जोर नहीं दिया जाता जितना तत्त्वतः दिया जाना चाहिए। यत्किंचित् शैथिल्य भी वहाँ रहता है। शारीरिक, बाह्य सुविधा की दृष्टि से भिक्षु श्रेष्ठ गुणसंपन्न गण को छोड़ कर चला जाता है तो यह उसकी दौर्बल्य युक्त मानसिकता का द्योतक है, दोषयुक्त है। अत एव वह प्रायश्चित्त योग्य है।

जो मानसिक अस्थिरता, संयमपालन में अदृढता के कारण बार-बार गण परिवर्तन करता है, आगमों में उसे 'पापश्रमण' कहा गया है। यह दोष सबल दोषों में परिगणित होता है।

कदाग्रही भिक्षु के साथ आदान-प्रदान विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू वुग्गहवक्कंताणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा देइ देतं वा साइज्जइ ॥ १७ ॥

जे भिक्खू वुग्गहवक्कंताणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिच्छइ पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥ १८ ॥

जे भिक्खू वुग्गहवक्कंताणं वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा देइ देतं वा साइज्जइ ॥ १९ ॥

जे भिक्खू वुग्गहवक्कंताणं वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा पडिच्छइ पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥ २० ॥

जे भिक्खू वुग्गहवक्कंताणं वसहिं देइ देतं वा साइज्जइ ॥ २१ ॥

जे भिक्खू वुग्गहवक्कंताणं वसहिं पडिच्छइ पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥ २२ ॥

जे भिक्खू वुग्गहवक्कंताणं वसहिं अणुपविसइ अणुपविसंतं वा साइज्जइ ॥ २३ ॥

जे भिक्खू वुग्गहवक्कंताणं सज्जायं देइ देतं वा साइज्जइ ॥ २४ ॥

जे भिक्खू वुग्गहवक्कंताणं सज्जायं पडिच्छइ पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥ २५ ॥

कठिन शब्दार्थ - वृग्गहवक्कंताणं - व्युद्ग्रहव्युत्क्रांत - जो क्लेश में पड़ा हुआ है, क्लेश से उद्विग्न चित्त बन गया है, सज्झार्यं - सूत्रार्थ की वाचना (स्वाध्याय)।

भावार्थ - १७. जो भिक्षु क्लेश से उद्विग्न व भ्रान्तचित्त भिक्षु को अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य आदि देता है या देने वाले का अनुमोदन करता है।

१८. जो भिक्षु क्लेश से उद्विग्न व भ्रान्तचित्त भिक्षु से अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य आदि लेता है अथवा लेने वाले का अनुमोदन करता है।

१९. जो भिक्षु क्लेश से उद्विग्न व भ्रान्तचित्त भिक्षु को वस्त्र, पात्र, कंबल और पादप्रोँछन देता है या देने वाले का अनुमोदन करता है।

२०. जो भिक्षु क्लेश से उद्विग्न व भ्रान्तचित्त भिक्षु से वस्त्र, पात्र, कंबल एवं पादप्रोँछन लेता है अथवा लेने वाले का अनुमोदन करता है।

२१. जो भिक्षु क्लेश से उद्विग्न व भ्रान्तचित्त भिक्षु को शय्या देता है या देने वाले का अनुमोदन करता है।

२२. जो भिक्षु क्लेश से उद्विग्न व भ्रान्तचित्त भिक्षु से शय्या लेता है अथवा लेने वाले का अनुमोदन करता है।

२३. जो भिक्षु क्लेश से उद्विग्न व भ्रान्तचित्त भिक्षु के आवास-स्थान - उपाश्रय में प्रवेश करता है या प्रवेश करने वाले का अनुमोदन करता है।

२४. जो भिक्षु क्लेश से उद्विग्न व भ्रान्तचित्त भिक्षु को सूत्रार्थ वाचना - स्वाध्याय देता है अथवा देने वाले का अनुमोदन करता है।

२५. जो भिक्षु क्लेश से उद्विग्न व भ्रान्तचित्त भिक्षु से सूत्रार्थ वाचना - स्वाध्याय लेता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है।

इस प्रकार उपर्युक्त अविहित कार्य करने वाले भिक्षु को लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - इन सूत्रों में प्रयुक्त 'वृग्गह' (व्युद्ग्रह) शब्द 'वि' तथा 'उत्' उपसर्ग एवं 'ग्रह' धातु के योग से बना है। 'विशेषेण ऊर्ध्वं ग्राहयति, नयति - सन्तुलनं विकरोति इति व्युद्ग्रह' - जो व्यक्ति को 'आपे से बाहर' ले जाता है, उसके मानसिक संतुलन को विकृत कर देता है, उसे व्युद्ग्रह कहा जाता है। यह कदाग्रह का वाचक है।

जो दुराग्रही भिक्षु सूत्र से विपरीत कथन या विपरीत आचरण करके कलह करते हैं या

गच्छ का परित्याग कर स्वच्छन्द विचरते हैं, उनके लिये सूत्र में “बुग्गहवक्कंताणं” शब्द का प्रयोग किया गया है। यहाँ ऐसे साधुओं की संगति करने का, उनसे सम्पर्क करने का या उनके साथ आदान-प्रदान आदि व्यवहार करने का प्रायश्चित्त कहा गया है।

कदाग्रही व्यक्ति न अपना श्रेयस् करता है और न दूसरों के लिए ही लाभप्रद होता है। प्रत्येक कार्य में धृति, मनःसंतुलन एवं स्थिरता की आवश्यकता होती है।

भिक्षु तो कलह, कदाग्रह, आक्रोश से सदैव वियुक्त रहे, यह सर्वथा आवश्यक है। ऐसा होने से ही वह अपने लक्ष्य की दिशा में गतिशील रह सकता है। कदाग्रही भिक्षु के साथ अशन, पान, वस्त्र, पात्र आदि सामग्री के लेन-देन को यहाँ प्रायश्चित्त योग्य बतलाया गया है, क्योंकि इससे संपर्क बढ़ता है, जो लोक व्यवहार में अच्छा नहीं लगता तथा तदनु रूप प्रवृत्ति भी विस्तार पा सकती है।

कदाग्रही अथवा क्लेश से उद्विग्न चित्त वाले को सूत्रार्थ वाचना देना भी अनुपयुक्त है। क्योंकि वैसा व्यक्ति विनयादि उत्तम गुणयुक्त नहीं होता। वैसे भिक्षु के साथ रहना भी प्रायश्चित्त योग्य है। ‘संसर्गजा दोषगुणाः भवन्ति’ के अनुसार कदाग्रह जैसे दुर्गुणयुक्त पुरुष का साहचर्य लाभप्रद तो किसी भी रूप में है ही नहीं, उससे हानि की ही आशंका है।

नीतिशास्त्र में बहुत ही सुन्दर कहा है -

दुर्जनः परिहर्तव्यो विद्ययाऽलंकृतोऽपि सन्।

मणिना भूषितः सर्पः किमऽसौ न भयंकरः॥

दुर्जन - कदाग्रह, कलह, वैमनस्यादि दूषित प्रवृत्तियुक्त व्यक्ति यदि विद्वान् भी हो तो वह त्यागने योग्य है। मणिरत्न विभूषित सर्प क्या भयप्रद नहीं होता?

निषिद्ध क्षेत्रों में विहरण विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू विहं अणेगाहगमणिज्जं सइ लाढे विहाराए संथरमाणेसु जणवाएसु विहारपडियाए अभिसंधारेइ अभिसंधारेंतं वा साइज्जइ ॥ २६ ॥

जे भिक्खू विरूवरूवाइं दसुयायतणाइं अणारियाइं मिलक्खुइं पच्चंतियाइं सइ लाढे विहाराए संथरमाणेसु जणवाएसु विहारपडियाए अभिसंधारेइ अभिसंधारेंतं वा साइज्जइ ॥ २७ ॥

कठिन शब्दार्थ - विहं - वीथि - रास्ता, अणेगाहगमणिज्जं - अनेक दिनों में पार किए जाने योग्य - लम्बा रास्ता, सइ लाढे - अन्य राष्ट्र के होते हुए भी, संथरमाणेसु -

जीवनोपयोगी वस्तुओं की सुलभता होते हुए भी, **अभिसंधारेड़** - जाने का सोचता है, **विरूवरूवाड़** - विविध प्रकार के - शक, यवन आदि अनेक प्रकार की वेशभूषा युक्त, **दसुयायतणाड़** - डाकुओं के स्थान, **मिलक्खूड़** - म्लेच्छ, **पच्चंतियाड़** - अनार्य आदि।

भावार्थ - २६. जो भिक्षु आहारादि साधुजीवनोपयोगी आवश्यक वस्तुएँ सुलभतायुक्त प्राप्त होने योग्य स्थानों (देशों) के होते हुए भी अधिक समय लगने वाले, लम्बे मार्गयुक्त जनपदों की ओर विहार करने का मन में चिंतन करता है अथवा ऐसा चिंतन करने वाले का अनुमोदन करता है।

२७. जो भिक्षु आहारादि साधुजीवनोपयोगी आवश्यक वस्तुएँ सुलभतायुक्त प्राप्त होने योग्य स्थानों (देशों) के होते हुए भी उन जनपदों में जिनमें शक, यवन आदि विविध रूपों में डाकू, अनार्य, म्लेच्छ आदि रहते हों, उस ओर विहार करने का मन में संकल्प करता है या ऐसा करने वाले का अनुमोदन करता है।

ऐसा करने वाले भिक्षु को लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - आगमों में भिक्षुओं के आचार, विहार, दिनचर्या इत्यादि पर स्थान-स्थान पर जो विशद विवेचन हुआ है, उसका आशय यह है कि संयम का पालन यथावत् रूप में हो सके। अत एव ऐसी स्थितियों, स्थानों, अवसरों आदि का परिवर्जन किया गया है, जिनमें संयम के सम्यक् निर्वहण में बाधाएँ उपस्थित होना आशंकित हों। भिक्षु जीवन का लक्ष्य स्व-पर-कल्याणपरायणता है। स्वकल्याण का तात्पर्य अपने महाव्रतमय जीवन की अक्षुण्ण आराधना है। परकल्याण का तात्पर्य धर्मोपदेश द्वारा जन-जन को व्रतमूलक, अध्यात्मप्रवण जीवन की ओर प्रेरित करना है। इन दोनों में ही उसका पहला लक्ष्य आत्मश्रेयस् है। उसमें जरा भी बाधा न आने देते हुए जितना लोककल्याण वह साध सके, साधे। संयमानुप्राणित जीवन की कीमत पर वह कोई भी ऐसा कार्य करने का अधिकारी नहीं है। इन सूत्रों में जो वर्णन दिया है, वह इसी भाव का द्योतक है।

भिक्षु संयम निर्वाह की उपयोगिता, साधुजीवनोचित उपकरणों की मूल्यता, मर्यादानुगत विहारचर्या की अनुकूलता इत्यादि की जहाँ प्राप्यता हो, यात्रा प्रवास हेतु वैसे ही स्थानों का चयन करे। वैसे स्थान सुविधापूर्वक प्राप्य हैं, ऐसा होते हुए भी जो उन देशों की ओर प्रयाण करना चाहते हैं, जहाँ पहुँचने में अटवी सदृश घनघोर मार्ग हों अथवा ऐसे देशों में जाना चाहते हों, जहाँ अनार्य, म्लेच्छ तथा विविध प्रवंचनापूर्ण वेशधारी दस्युवृन्द रहते हों, संयम की दृष्टि से दोषपूर्ण है, प्रायश्चित्त योग्य है।

लम्बे रास्तों में अनेक संकट उत्पन्न हो सकते हैं। शुद्ध, एषणीय आहार-पानी आदि दुर्लभ हो सकते हैं। विद्वेषीजनों की ओर से विषम स्थितियाँ उत्पन्न की जा सकती हैं। अनार्य और अज्ञानीजन संयम का उपहास कर सकते हैं। क्रूरता से उपसर्ग उत्पन्न कर सकते हैं। उपसर्ग मारणांतिक भी हो सकते हैं।

निष्कर्ष यह है कि भिक्षु ने जिस लक्ष्य से संयम का मार्ग अपनाया, वह लक्ष्य ऐसे स्थानों में जाने से व्याहत होता है। भिक्षु की यह मूल पूँजी है, जिसकी सर्वथा, सर्वदा परिरक्षा की जानी चाहिए।

यहाँ इतना अवश्य ज्ञातव्य है - जहाँ भिक्षु अवस्थित हो वहाँ दुर्भिक्ष, प्राकृतिक आपदा, राजपरिवर्तन, तदाशंकित विप्लव इत्यादि स्थितियाँ आशंकित हों, तब लम्बे अटवी सदृश मार्ग को पार कर, संयम सुरक्षा वाले स्थानों की ओर प्रयाण करना प्रायश्चित्त योग्य नहीं होता।

आचारांग सूत्र में इस संदर्भ में वर्णन प्राप्त होता है*।

जुगुप्सित कुलों से आहारादि व्यवहार का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू दुगुंछियकुलेसु असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ ॥ २८ ॥

जे भिक्खू दुगुंछियकुलेसु वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ ॥ २९ ॥

जे भिक्खू दुगुंछियकुलेसु वसहिं पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ ॥ ३० ॥

जे भिक्खू दुगुंछियकुलेसु सज्जायं करेइ करेतं वा साइज्जइ ॥ ३१ ॥

जे भिक्खू दुगुंछियकुलेसु सज्जायं उदिसइ उदिसंतं वा साइज्जइ ॥ ३२ ॥

जे भिक्खू दुगुंछियकुलेसु सज्जायं वाएइ वाएतं वा साइज्जइ ॥ ३३ ॥

जे भिक्खू दुगुंछियकुलेसु सज्जायं पडिच्छइ पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥ ३४ ॥

कठिन शब्दार्थ - दुगुंछियकुलेसु - जुगुप्सित - निन्दित कुलों में।

* आचारांगसूत्र, द्वितीय श्रुतस्कंध, अध्ययन-३, उद्देशक-१

भावार्थ - २८. जो भिक्षु जुगुप्सित - निन्दित कुलों से अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य रूप चतुर्विध आहार ग्रहण करता है या ग्रहण करते हुए का अनुमोदन करता है।

२९. जो भिक्षु जुगुप्सित - निन्दित कुलों से वस्त्र, पात्र, कम्बल या पादप्रोच्छन प्रतिगृहीत करता है - लेता है अथवा लेने वाले का अनुमोदन करता है।

३०. जो भिक्षु जुगुप्सित - निन्दित कुलों से शय्या ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

३१. जो भिक्षु जुगुप्सित - निन्दित कुलों में स्वाध्याय करता है अथवा स्वाध्याय करने वाले का अनुमोदन करता है।

३२. जो भिक्षु जुगुप्सित - निन्दित कुलों में स्वाध्याय का समुद्देश करता है - वाचना देता है या देने वाले का अनुमोदन करता है।

(इसी प्रकार सूत्रार्थ वाचना देता है प्रशंसा करता है आदि ज्ञातव्य है।)

३३. जो भिक्षु जुगुप्सित - निन्दित कुलों में स्वाध्याय की वाचना देता है या देने वाले का अनुमोदन करता है।

३४. जो भिक्षु जुगुप्सित - निन्दित कुलों से स्वाध्याय की वाचना लेता है अथवा लेने वाले का अनुमोदन करता है।

(जो भिक्षु जुगुप्सित - निन्दित कुलों में स्वाध्याय का पुनरावर्तन करता है या पुनरावर्तन करने वाले का अनुमोदन करता है।)

इस प्रकार उपर्युक्त रूप से आचरण करने वाले भिक्षु को लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - 'जुगुप्सित' शब्द जुगुप्सा से बना है। भाषाशास्त्रीय दृष्टि से जुगुप्सा शब्द का अर्थ बड़ा महत्त्वपूर्ण है। भाषा देश, काल, व्यवहार, सामाजिक व्यवस्था, रीति-नीति इत्यादि के आधार पर परिवर्तित होती रहती है। तद्गत शब्द, जो एक समय किसी विशेष अर्थ के ज्ञापक होते हैं, आगे चलकर उनका अर्थ सर्वथा परिवर्तित हो जाता है। ऐसा होना कोई आश्चर्य नहीं है। जुगुप्सा शब्द के साथ भी ऐसा ही घटित हुआ है, जिसका भाषाशास्त्रीय दृष्टि से विवेचन करना पाठकों के लिए ज्ञानवर्धक होगा।

'गोप्तुमिच्छा जुगुप्सा' अर्थात् कभी - 'रक्षा करने की इच्छा में' जुगुप्सा का प्रयोग होता था। 'गुप्' धातु और 'तुमुन्' प्रत्यय के योग से 'गोप्तुम्' बनता है, जो इच्छा सूचक है। बदलते हुए समय में जनमानस में इस भाव का उद्रेक हुआ कि जिसकी रक्षा

करनी हो, उसे छुपा कर रखा जाए। तदनुसार जुगुप्सा का अर्थ छिपाना या छिपाव हो गया। काल तो अनवरत गतिशील, परिवर्तन शील है। जनमानस उससे अप्रभावित नहीं रहता। इसी क्रम में लोगों में ऐसी मानसिकता का उद्भव हुआ कि छिपाने योग्य तो वह होता है जो अच्छा न हो, श्रेष्ठ न हो। रक्षणीय को छिपाने की क्या आवश्यकता है? तदनुसार जुगुप्सा का अर्थ घृणास्पदता में परिवर्तित हो गया। यहाँ प्रयुक्त जुगुप्सनीय शब्द उस भाषाकाल का द्योतक है जब उपर्युक्त परिवर्तनों में से गुजरता हुआ इसका अर्थ घृणा में निहित हो गया था।

जैन धर्म तो जातिय उच्चता और नीचता में विश्वास नहीं करता। उत्तराध्ययन (२५ वाँ अध्ययन) में बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा है -

कम्मणा बम्हणो होइ, कम्मणा होइ खत्तिओ।

वइसो कम्मणा होइ सुद्धो हवइ कम्मणा॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कर्म से ही होते हैं। कर्म ही मुख्य हैं, जाति तो गौण है।

यहाँ जुगुप्सनीय कुलों का उल्लेख जातीय उच्चता और नीचता के प्रयोजन से नहीं हुआ है। जिन कुलों में मांस, मदिरा आदि का आमतौर व्यवहार होता है। हिंसक प्रवृत्तियों में विशेषतः संकुल रहते हैं, वे जुगुप्सनीय कुल हैं। वहाँ भिक्षा, स्वाध्याय आदि का निषेध करने का तात्पर्य अशुद्ध वातावरण से बचाना है क्योंकि वातावरण का अपना प्रभाव होता है। साथ ही साथ व्यावहारिक दृष्टि से ऐसा भी है, वहाँ साधुओं को आते-जाते देख कर शौचाचार युक्त उत्तम कुलों में घृणा या दुराव का भाव उत्पन्न होता है।

‘यद्यपि सिद्धं लोकविद्वद्ं नाचरणीयं नाचरणीयम्’ - स्थविर कल्पी साधु समाज में रहते हैं। उन्हें निश्चय और व्यवहार, धर्म तथा लोक दोनों ही दृष्टियों से जागरूक रहना आवश्यक है।

आगमों में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य कुलों को जो अजुगुप्सनीय कहा गया है, वह व्यावहारिक दृष्टिकोण है। वहाँ शूद्रादि का आशय अशौचाचार युक्त म्लेच्छादि अनार्य कुलों से है, जो स्पष्ट रूप में हिंसाजीवी होते हैं।

यहाँ यह भी ज्ञातव्य है, आगमों में स्पृश्य - अस्पृश्य आदि के संदर्भ में कोई भी निषेध सूचक वचन प्राप्त नहीं होता। जो व्यवहार में अछूत माने जाते हैं, उस संदर्भ में आगमों में ऐसा कोई निषेध सूचक वाक्य प्राप्त नहीं होता। जैन धर्म तो सभी जीवों को समान मानता है। किसी को भी जुगुप्सित, अस्पृश्य या घृणित नहीं मानता।

पृथ्वी, शय्या एवं छीके पर आहार रखने का प्रायश्चित्त

जे भिक्षु असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पुढवीए णिक्खवइ
णिक्खवंतं वा साइज्जइ ॥ ३५ ॥

जे भिक्षु असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा संथारए णिक्खवइ
णिक्खवंतं वा साइज्जइ ॥ ३६ ॥

जे भिक्षु असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा वेहासे णिक्खवइ
णिक्खवंतं वा साइज्जइ ॥ ३७ ॥

कठिन शब्दार्थ - णिक्खवइ - रखता है, वेहासे - विहायसि - आकाश में -
अधर में (छीके या खूँटी पर)।

भावार्थ - ३५. जो भिक्षु अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य रूप चतुर्विध आहार भूमि पर
रखता है या रखने वाले का अनुमोदन करता है।

३६. जो भिक्षु अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य रूप चतुर्विध आहार संस्तारक पर रखता है
अथवा रखने वाले का अनुमोदन करता है।

३७. जो भिक्षु अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य रूप चतुर्विध आहार आकाश में - छीके पर
रखता है या रखने वाले का अनुमोदन करता है।

ऐसा करने वाले भिक्षु को लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - सामान्यतः भिक्षु पात्र में आहार ग्रहण करते हैं, उसी में रखते हैं। सुरक्षा,
सुव्यवस्था की दृष्टि से ऐसा होना आवश्यक है, उपयोगी है। आहार संयम के उपकरणभूत
शरीर के निर्वाह का अनन्य हेतु है। अतः उसके संदर्भ में अत्यन्त जागरूकता बरतना आवश्यक
है। वह अस्वच्छ, म्लान एवं आरोग्य की दृष्टि से अशुद्ध न बने, ऐसा ध्यान रखा जाना
आवश्यक है। अत एव ऐसी भूमि पर उसे रखना वर्जित है, जहाँ अनेक छोटे-बड़े जीव
घूमते-फिरते रहते हैं। क्योंकि उनके स्पर्श से भूमि पर अशुचि परमाणु बिखरे रहते हैं, वे स्वयं
भी मल-मूत्र उत्सर्जित करते हैं जिससे आहार अस्वास्थ्यकर हो जाता है। इसी प्रकार शय्या
पर भी आहार को नहीं रखना चाहिए। क्योंकि उस पर उठने-बैठने से देह का पसीना, मैल
आदि लगना संभावित है। अन्य जीवादि के हेतु भी वहाँ आशंकित हैं। आहार के स्निग्धांश
भी लग सकते हैं, जिससे चींटियाँ आदि आ सकती हैं।

खूँटी पर लटकाना या छींके पर रखना भी निषिद्ध है। आहार की गंध से चूहे आदि उसे विकृत कर सकते हैं। यदि वहाँ से गिर जाए तो आहार अशुचि या गंदा हो जाता है। सूक्ष्म जीव भी आहत-प्रतिहत हो सकते हैं।

अहिंसक चर्या, आध्यात्मिक जीवन तथा व्यावहारिक दृष्टिकोण इत्यादि की अपेक्षा से यह विवेचन किया गया है।

‘वेहासे - विहायसि’ पद ‘विहायसु’ शब्द की सप्तमी एक वचन का रूप है, जिसका अर्थ आकाश में है। खूँटी, छींका आदि पर रखे हुए पदार्थ अधर में लटकते रहते हैं। अत एव आधाराधेय संबंध के कारण इनके लिए ‘वेहासे’ शब्द का प्रयोग हुआ है।

यदि असावधानी से, कदाचित् कोई खाद्य पदार्थ भूमि पर गिर जाए तो अशुचि न होने की स्थिति में उसका प्रयोग किया जाना साधु के लिए निषिद्ध नहीं है।

गृहस्थों के मध्य आहार करने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू अण्णउत्थिएहिं वा गारत्थिएहिं वा सद्धिं भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ३८ ॥

जे भिक्खू अण्णउत्थिएहिं वा गारत्थिएहिं वा सद्धिं आवेढिय परिवेढिय भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ३९ ॥

कठिन शब्दार्थ - आवेढिय परिवेढिय - आवेष्टित परिवेष्टित - घिर कर।

भावार्थ - ३८. जो भिक्षु अन्यतीर्थिक या गृहस्थ के साथ अथवा समीप बैठ कर आहार करता है या आहार करते हुए का अनुमोदन करता है।

३९. जो भिक्षु अन्यतीर्थिकों या गृहस्थों के मध्य (चतुर्दिक) घिरा हुआ आहार करता है अथवा आहार करते हुए का अनुमोदन करता है।

ऐसा करने वाले भिक्षु को लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - भिक्षु की दिनचर्या संयमोपवर्धक विधाओं पर आश्रित है। गृहस्थों के साथ उसका इतना ही संबंध है कि आवश्यकतावश वह उनसे शुद्ध आहार प्राप्त करे, वस्त्र, पात्र आदि ग्रहण करे, उनको आध्यात्मिक प्रतिबोध दे, धर्मोपदेश दे। इसके अतिरिक्त गृहस्थों के बीच रहना, उनसे अधिक सम्पर्क जोड़ना आदि निषिद्ध है।

इस सूत्र में गृहस्थों के समीप बैठकर आहार लेना प्रायश्चित्त योग्य कहा गया है। यहाँ

जो 'सद्धि' पद का प्रयोग हुआ है, उसका संस्कृत रूप 'साद्ध' है। 'अद्धेन सहितं साद्धम्' - इस विग्रह के अनुसार 'साद्ध' पद का अभिधेयार्थ एक साथ में खाना है। भिक्षु का गृहस्थ के साथ खाना कल्पनीय नहीं है। अतः लक्षण द्वारा इसका अर्थ गृहस्थों के साथ या उनके बीच बैठकर खाने से हैं।

ऐसा करने में अनेक दोष आशंकित हैं। भिक्षु के प्रति विशेष श्रद्धाशील व्यक्ति, भिक्षु द्वारा न चाहे जाने पर भी (निमंत्रणपूर्वक) पात्र में आहार डाल सकता है। यदि आस-पास के लोग विद्वेषी हो तो वे भिक्षु को खाते देख कर अवहेलना या अनेक प्रकार के विपरीत उपक्रम भी कर सकते हैं।

अत एव भिक्षु के लिए एकान्त, छत युक्त स्थानों में आहार लेने का विधान किया गया है। यदि ऐसा न हो तो चारों ओर पर्दे लगा कर आहार करे। एकान्तभोजिता का इतना महत्त्व है, यदि भिक्षु एकान्तर तप में हो, एकाशन में हो तथा वहाँ गृहस्थ आ जाए तो बीच में उठना भी तपोभंग का हेतु नहीं बनता।

यदि भिक्षु अकेला ही आहार करने वाला हो तो गृहस्थ की तरफ पीठ करके विवेक पूर्वक आहार कर सकता है। तात्पर्य यह है कि गृहस्थ न देखे, ऐसे स्थानों में बैठ कर ही भिक्षुओं को आहार आदि का उपयोग करना चाहिए।

आचार्य, उपाध्याय के प्रति अविनयाचरण का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू आयरियउवज्झायाणं सेजासंथारगं पाएणं संघट्टेत्ता हत्थेणं
अणणुणवेत्ता धा(रे)रयमाणे गच्छइ गच्छंतं वा साइज्जइ ॥ ४० ॥

कठिन शब्दार्थ - संघट्टेत्ता - संघाटित - संस्पृष्ट होने पर, अणणुणवेत्ता - सविनय अनुज्ञापित किए बिना, धार(रे)रयमाणे - (दुष्कृत को) धारण किए हुए (प्रायश्चित्त न करते हुए)।

भावार्थ - ४०. जो भिक्षु आचार्य-उपाध्याय के शय्या-संस्तरक के पैर संस्पृष्ट हो जाने पर (करबद्ध) हाथों से विनय किए बिना - अविनय को धारण किए हुए ही चला जाता है या जाते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - 'विणयमूलो धम्मो' के अनुसार जैन धर्म विनयप्रधान है। आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, रत्नाधिक, गीतार्थ मुनिवृन्द इत्यादि के प्रति विनय, बहुमान, आदर एवं

श्रद्धा का भाव भिक्षु के मन में सदैव बना रहे, यह आवश्यक ही नहीं है वरन् उसके साधनामयजीवन के उत्तरोत्तर विकास के लिए अत्यन्त उपादेय है। 'विनय' की जैन धर्म के अतिरिक्त अन्यान्य धर्मों में भी बहुत उपयोगिता है। बौद्ध धर्म में तो भिक्षुओं के आचार को विनय पद द्वारा ज्ञापित किया जाता है। भिक्षुओं के आचार का ग्रंथ इसीलिए 'विनयपिटक' पद द्वारा अभिहित हुआ है। उसमें भिक्षुओं के बहुविध आचार का दिग्दर्शन है। जैन धर्म में जो स्थान आचारांग का है, वही बौद्ध धर्म में विनयपिटक का है। विनय, वैदिक धर्म में भी गुरु के प्रति, बड़ों के प्रति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना गया है, यहाँ तक कहा है -

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः, गुरुर्देवो महेश्वरः।

गुरुः साक्षात्परब्रह्म, तस्मै श्री गुरुवे नमः ॥

इसी संदर्भ में इन सूत्रों में आचार्य, उपाध्याय आदि गुरुजनों के प्रति प्रमादवश निष्पद्यमान अविनीताचरण को प्रायश्चित्त योग्य बतलाया गया है। जो भिक्षु चलने-फिरने, उठने-बैठने आदि में जागरूक नहीं होता, उस द्वारा प्रमाद जनित त्वरा, शीघ्रता, आकुलता इत्यादि के कारण आचार्य, उपाध्याय के देह, उपधि, पात्र आदि के संघटनात्मक संस्पर्श इत्यादि का होना आशंकित है। यद्यपि ये दिखने में छोटे अवश्य प्रतीत होते हैं, किन्तु वास्तव में मनोगत चांचल्य के द्योतक हैं। ऐसा होने पर 'मिच्छामि दुक्कडं' - मिथ्या मे दुष्कृतम् - ऐसा बोले अर्थात् मेरे द्वारा आचरित मिथ्या हो। मेरे द्वारा जो यह भूल हुई है, यह पुनः न हो। यों विनय पूर्वक अनुज्ञापित कर भिक्षु को आत्म सम्मार्जन करना चाहिए।

यद्यपि आसन आदि पदार्थ वंदनीय नहीं है, तथापि पैर के स्पर्श से हुए अविनय की निवृत्ति के लिए हाथ से स्पर्श कर विनय भाव प्रगट करना चाहिए, यह सूत्र का आशय है।

मर्यादातिरिक्त उपधि विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू पमाणाइरित्तं वा गणणाइरित्तं वा उवहिं धरेइ धरेतं वा साइज्जइ ॥ ४१ ॥

कठिन शब्दार्थ - पमाणाइरित्तं - प्रमाण के अतिरिक्त, गणणाइरित्तं - गणनातिरिक्त-गणना के अतिरिक्त।

भावार्थ - ४१. जो भिक्षु (विहित) प्रमाण या गणना से अतिरिक्त उपधि धारण करता है अथवा धारण करने वाले का अनुमोदन करता है, उसे लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - भिक्षु के पाँच महाव्रतों में अंतिम अपरिग्रह महाव्रत है। उसका संबन्ध साधु जीवन में अपेक्षित, सर्वथा प्रयोजनभूत वस्त्रादि के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार का परिग्रह - साधन, सामग्री आदि न रखना है। ये भी आवश्यकता पूरक के रूप में रखे जाते हैं। इनके प्रति भी आसक्ति (मूर्च्छा परिग्रह) न रखना अपेक्षित है। उसी के परिप्रेक्ष्य में यहाँ भिक्षु के लिए साधुचर्या में सहायक उपधि, वस्त्र इत्यादि को गणना और परिमाण से अधिक रखना प्रायश्चित्त योग्य बतलाया गया है। गणना या परिमाण भी उस दृष्टि से निर्धारित हैं, जिससे अनिवार्य आवश्यकता की पूर्ति से वे अतिरिक्त न हो जाएँ।

बृहत्कल्प सूत्र के तृतीय उद्देशक में विविध उपधि विषयक जो वर्णन हुआ है, वह यहाँ ग्राह्य है। गणना या प्रमाण का विषय विवेक पूर्ण चिंतन के आधार पर निर्धारित किया गया है।

आगमों में साधुओं और साध्वियों के लिए विविध स्थानों पर जो उपधि विषयक वर्णन हुआ है, निष्कर्ष रूप में निम्नांकित है -

साधुओं के लिए बहत्तर हाथ तथा साध्वियों के लिए ९६ हाथ उपधि की सीमा निर्धारित की गई है। इसमें भी परंपरा भेद प्राप्त होता है क्योंकि आगमों में इस संदर्भ में स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नहीं होता।

साधु के लिए

१. दो मुखवस्त्रिका - २१ अंगुल लम्बी, १६ अंगुल चौड़ी अथवा १६ अंगुल प्रमाण (समचौरस)

२. गोच्छग - १ हाथ प्रमाण

३. रजोहरण - १ हाथ प्रमाण

४. तीन चद्दर (कंबल, वस्त्र आदि) - ३५ हाथ

५. दो चोलपट्ट - १५ हाथ

६. एक आसन - ७ हाथ

७. सात पात्र के वस्त्र - १० हाथ

८. एक पादप्रौंछन - १ हाथ

९. एक निशीथिया (निशीथया) - १ हाथ

तीन अखण्ड वस्त्र - ७२ हाथ (लगभग)

साध्वी के लिए

१. चार चदर -	४५ हाथ
२. दो साड़ी (शाटिका) -	२० हाथ
३. उगहपट्टक (कंचुकी) -	१० हाथ
४. शेष मुंहपत्ती आदि पूर्वोक्त	२० हाथ

चार अखण्ड वस्त्र (सब मिलाकर ९६ हाथ लगभग) ९५ हाथ लगभग.

विराधना-आशंकित स्थान पर परिष्ठापन विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू अणंतरहियाए पुढवीए उच्चारपासवणं परिट्टवेइ परिट्टवेतं वा साइज्जइ ॥ ४२ ॥

जे भिक्खू ससिणिद्धाए पुढवीए उच्चारपासवणं परिट्टवेइ परिट्टवेतं वा साइज्जइ ॥ ४३ ॥

जे भिक्खू ससरक्खाए पुढवीए उच्चारपासवणं परिट्टवेइ परिट्टवेतं वा साइज्जइ ॥ ४४ ॥

जे भिक्खू मट्टियाकडाए पुढवीए उच्चारपासवणं परिट्टवेइ परिट्टवेतं वा साइज्जइ ॥ ४५ ॥

जे भिक्खू चित्तमंताए पुढवीए उच्चारपासवणं परिट्टवेइ परिट्टवेतं वा साइज्जइ ॥ ४६ ॥

जे भिक्खू चित्तमंताए सिलाए उच्चारपासवणं परिट्टवेइ परिट्टवेतं वा साइज्जइ ॥ ४७ ॥

जे भिक्खू चित्तमंताए लेलूए उच्चारपासवणं परिट्टवेइ परिट्टवेतं वा साइज्जइ ॥ ४८ ॥

जे भिक्खू कोलावासंसि वा दारुए उच्चारपासवणं परिट्टवेइ परिट्टवेतं वा साइज्जइ ॥ ४९ ॥

जे भिक्खू थूणंसि वा गिहेलुयंसि वा उसुयालंसि वा कामजलंसि वा अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि अंतलिक्खजायंसि, दुब्बद्धे, दुण्णिणक्खित्ते अणिकंपे, चलाचले उच्चार-पासवणं परिट्टवेइ परिट्टवेतं वा साइज्जइ ॥ ५० ॥

जे भिक्खू कुलियंसि वा भित्तिंसि वा सिलंसि वा लेलुंसी वा अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि अंतलिक्खजायंसि, दुब्बद्धे, दुण्णिणक्खित्ते अणिकंपे, चलाचले उच्चारपासवणं परिट्टवेइ परिट्टवेतं वा साइज्जइ ॥ ५१ ॥

जे भिक्खू खंधंसि वा फलहंसि वा मंचंसि वा मंडवंसि वा मालंसि वा पासायंसि वा हम्मियतलंसि वा अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि अंतलिक्खजायंसि, दुब्बद्धे, दुण्णिणक्खित्ते अणिकंपे, चलाचले उच्चारपासवणं परिट्टवेइ परिट्टवेतं वा साइज्जइ ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्टाणं उग्घाइयं ॥५२ ॥

॥ णिसीहऽज्जयणे सोलसमो उद्देशो समत्तो ॥ १६ ॥

भावार्थ - ४२. जो भिक्षु सचित्त पृथ्वी के निकटवर्ती अचित्त स्थान पर उच्चार-प्रस्रवण परठता है या परठते हुए का अनुमोदन करता है।

४३. जो भिक्षु सचित्त जलयुक्त पृथ्वी के भाग में उच्चार-प्रस्रवण परठता है अथवा परठते हुए का अनुमोदन करता है।

४४. जो भिक्षु सचित्त रजयुक्त पृथ्वी के भाग में उच्चार-प्रस्रवण परठता है या परठते हुए का अनुमोदन करता है।

४५. जो भिक्षु सचित्त मिट्टी के लेपयुक्त पृथ्वी के स्थान में उच्चार-प्रस्रवण परठता है अथवा परठते हुए का अनुमोदन करता है।

४६. जो भिक्षु सचित्त (सूक्ष्म त्रस जीवयुक्त) पृथ्वी के स्थान में उच्चार-प्रस्रवण परठता है या परठते हुए का अनुमोदन करता है।

४७. जो भिक्षु सचित्त (सूक्ष्म त्रस जीवयुक्त) शिला पर उच्चार-प्रस्रवण परठता है अथवा परठते हुए का अनुमोदन करता है।

४८. जो भिक्षु सचित्त (सूक्ष्म त्रस जीवयुक्त) मिट्टी के ढेले पर उच्चार-प्रस्रवण परठता है अथवा परठते हुए का अनुमोदन करता है।

४९. जो भिक्षु घुणों के आवास युक्त या जीव युक्त काष्ठ के स्थान पर उच्चार-प्रस्रवण परठता है या परठते हुए का अनुमोदन करता है।

५०. जो भिक्षु सम्यक् स्थापित नहीं किए हुए (अस्थिर) स्तंभ, देहली, ऊखल या पीठ फलक के स्थान पर उच्चार-प्रस्रवण परठता है या परठते हुए का अनुमोदन करता है।

५१. जो भिक्षु भलीभाँति स्थापित नहीं की गई तृणादि निर्मित भित्ति, दीवार, शिलाखण्ड, पत्थर के ढेले इत्यादि अनावृत (अन्तरिक्षवर्ती-खुले) स्थान पर उच्चार-प्रस्रवण परठता है अथवा परठते हुए का अनुमोदन करता है।

५२. जो भिक्षु स्कन्ध, फलक, मंच, मण्डप, घर के उपरितन भाग पर स्थित खुले तल (माले), प्रासाद या अन्य किसी प्रकार के खुले (अनावृत) स्थानों पर उच्चार-प्रस्रवण परठता है अथवा परठते हुए का अनुमोदन करता है।

ऐसा करने वाले भिक्षु को लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

इस प्रकार उपर्युक्त ५२ सूत्रों में किए गए किसी भी प्रायश्चित्त स्थान का, तद्गत दोषों का सेवन करने वाले भिक्षु को उद्घातिक परिहार-तप रूप लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

इस प्रकार निशीथ अध्ययन (निशीथ सूत्र) में षोडश उद्देशक परिसमाप्त हुआ।

विवेचन - भिक्षु आहार-निहार गमनागमन, स्थानोपवेशन, निषीदन प्रभृति प्रत्येक क्रिया में इस रूप में जागरूक रहे कि आत्मविराधना और जीवविराधना - दोनों से ही अपने आपको परिरक्षित रख सके, बचा सके।

इन सूत्रों में उच्चार-प्रस्रवण - परिष्ठापन के संदर्भ में उन स्थानों का परिवर्जन किया गया है, जहाँ हिंसा आशंकित हो। वैसा होने पर आत्मा पापपंकिल होती है तथा अन्य जीव आहत, उपहत होते हैं। यों आत्मविराधना और परविराधना - दोनों ही दृष्टियों से सूत्रोक्त स्थानों में मल-मूत्र परठना प्रायश्चित्त योग्य कहा गया है।

उद्देशक तेरह में आया विवेचन भी यहाँ ग्राह्य है।

॥ इति निशीथ सूत्र का षोडश उद्देशक समाप्त ॥

सत्तरसमो उद्देशओ - सप्तदश उद्देशक

निषिद्ध कार्य कुतूहलवश करने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू कोउहल्लपडियाए अण्णयरं तसपाणजायं तणपासएण वा मुंजपासएण वा कट्टुपासएण वा चम्मपासएण वा वेत्तपासएण वा रज्जुपासएण वा सुत्तपासएण वा बंधइ बंधंतं वा साइज्जइ ॥ १ ॥

जे भिक्खू कोउहल्लपडियाए अण्णयरं तसपाणजायं तणपासएण वा जाव सुत्तपासएण वा बंधेल्लगं मुयइ मुयंतं वा साइज्जइ ॥ २ ॥

जे भिक्खू कोउहल्लपडियाए तणमालियं वा मुंजमालियं वा वेत्तमालियं वा, कट्टुमालियं वा, मयणमालियं वा, भिंडमालियं वा, पिच्छमालियं वा, हडमालियं वा दंतमालियं वा, संखमालियं वा, सिंगमालियं वा, पत्तमालियं वा पुप्फमालियं वा फलमालियं वा बीयमालियं वा हरियमालियं वा करेइ करेत्तं वा साइज्जइ ॥ ३ ॥

जे भिक्खू कोउहल्लपडियाए तणमालियं वा जाव हरियमालियं वा धरेइ धरेत्तं वा साइज्जइ ॥ ४ ॥

जे भिक्खू कोउहल्लपडियाए तणमालियं वा जाव हरियमालियं वा पिणद्धइ पिणद्धंतं वा साइज्जइ ॥ ५ ॥

जे भिक्खू कोउहल्लपडियाए अयलोहाणि वा तंबलोहाणि वा तउयलोहाणि वा सीसलोहाणि वा रुप्पलोहाणि वा सुवण्णलोहाणि वा करेइ करेत्तं वा साइज्जइ ॥ ६ ॥

जे भिक्खू कोउहल्लपडियाए अयलोहाणि वा जाव सुवण्णलोहाणि वा धरेइ धरेत्तं वा साइज्जइ ॥ ७ ॥

जे भिक्खू कोउहल्लपडियाए अयलोहाणि वा जाव सुवण्णलोहाणि वा परिभुंजइ परिभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ८ ॥

जे भिक्खू कोउहल्लपडियाए हाराणि वा अब्द्धहाराणि वा एगावलं वा मुत्तावलं वा कणगावलं वा रयणावलं वा कडगाणि वा तुडियाणि वा केऊराणि वा कुंडलाणि वा पट्टाणि वा मउडाणि वा पलंबसुत्ताणि वा सुवण्णसुत्ताणि वा करेइ करेतं वा साइज्जइ ॥ ९ ॥

जे भिक्खू कोउहल्लपडियाए हाराणि वा जाव सुवण्णसुत्ताणि वा धरेइ धरेतं वा साइज्जइ ॥ १० ॥

जे भिक्खू कोउहल्लपडियाए हाराणि वा जाव सुवण्णसुत्ताणि वा पिणद्धइ पिणद्धंतं वा साइज्जइ ॥ ११ ॥

जे भिक्खू कोउहल्लपडियाए आईणाणि वा सहिणाणि वा, सहिण कल्लाणाणि वा, आयाणि वा, कायाणि वा, खोमियाणि वा, दुगुलाणि वा, तिरीडपट्टाणि वा, मलयाणि वा, पतुण्णाणि वा, अंसुयाणि वा, च्चिणंसुयाणि वा, देसरागाणि वा, अभिलाणि वा, गज्जलाणि वा, फलिहाणि वा, कोयवाणि वा, कंबलाणि वा, पावाराणि वा, उद्दाणि वा, पेसाणि वा, पेसलेसाणि वा, किण्हमिगाईणगाणि वा, नीलमिगाईणगाणि वा, गोरमिगाईणगाणि वा, कणगाणि वा कणगकंताणि वा, कणगपट्टाणि वा, कणगखचियाणि वा, कणगफुसियाणि वा, वग्घाणि वा, विवग्घाणि वा, आभरणचित्ताणि वा करेइ करेतं वा साइज्जइ ॥ १२ ॥

जे भिक्खू कोउहल्लपडियाए आईणाणि वा जाव आभरणविचित्ताणि वा धरेइ धरेतं वा साइज्जइ ॥ १३ ॥

जे भिक्खू कोउहल्लपडियाए आईणाणि वा जाव आभरणविचित्ताणि वा परिभुंजइ परिभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ १४ ॥

कठिन शब्दार्थ - कोउहल्ल पडियाए - कुतूहल वश, भिंडमालियं - शस्त्रनुमा तीक्ष्ण मनकों की माला, खोमियाणि - सामान्य कपास से निष्पन्न सूती वस्त्र, पतुण्णाणि - बारीक बालों से निष्पन्न वस्त्र, अंसुयाणि - दुगुल वृक्ष के आभ्यंतरावयव से निष्पन्न वस्त्र, पावाराणि-कंबल विशेष, वग्घाणि - व्याघ्र (चीते) की खाल से बने वस्त्र, आभरणविचित्ताणि - विविध आभरण युक्त वस्त्र।

भावार्थ - १. जो भिक्षु कुतूहलवश (कुतूहल के संकल्प से) किसी त्रस प्राणी को तृणपाश, मुंजपाश, काष्ठपाश, चर्मपाश, बेंतपाश, रज्जुपाश या सूत्र - डोरी के पाश से बांधता है अथवा बांधने वाले का अनुमोदन करता है।

२. जो भिक्षु कुतूहल प्रतिज्ञा से - कुतूहलवश तृणपाश से यावत् सूत्रपाश से बंधे हुए किसी त्रस प्राणी को बंधन मुक्त करता है - खोलता है या खोलते हुए का अनुमोदन करता है।

३. जो भिक्षु कुतूहल के संकल्प से - तृण की माला, मुंज की माला, बेंत की माला, काष्ठ की माला, मोम की माला, भोंड की माला, पिच्छी की माला, हड्डी की माला, दंत की माला, शंख की माला, सींग की माला, पत्र की माला, पुष्प की माला, फल की माला, बीज की माला, हरित (वनस्पति) की माला बनाता है या बनाने वाले का अनुमोदन करता है।

४. जो भिक्षु कुतूहलवश तृणनिर्मित माला यावत् हरित वनस्पति की माला रखता है अथवा रखने वाले का अनुमोदन करता है।

५. जो भिक्षु कुतूहलवश तृणनिर्मित माला यावत् हरित वनस्पति की माला पहनता है (परिभोग, उपयोग करता है) या पहनने वाले का (परिभोग, उपयोग करने वाले का) अनुमोदन करता है।

६. जो भिक्षु कुतूहलवश लोहे, तांबे, रांगे, सीसे, चाँदी या स्वर्ण के कड़े बनाता है अथवा बनाते हुए का अनुमोदन करता है।

७. जो भिक्षु कुतूहलवश लोहे के कड़े यावत् स्वर्ण के कड़े रखता है या रखने वाले का अनुमोदन करता है।

८. जो भिक्षु कुतूहलवश लोहे के कड़े यावत् स्वर्ण के कड़े का परिभोग-उपभोग करता है (पहनता है) या परिभोग-उपभोग करते हुए (पहनते हुए) का अनुमोदन करता है।

९. जो भिक्षु कुतूहलवश हार, अर्द्धहार, एकावलि, मुक्तावलि, कनकावलि, रत्नावलि, कड़े, भुंज बंध बाजूबंद, कुंडल, कटिबंध (कटिसूत्र), मुकुट, प्रलम्बसूत्र या स्वर्ण कंठ (स्वर्ण सूत्र) आदि बनाता है अथवा बनाने वाले का अनुमोदन करता है।

१०. जो भिक्षु कुतूहलवश हार यावत् स्वर्णसूत्र रखता है या रखने वाले का अनुमोदन करता है।

११. जो भिक्षु कुतूहलवश हार यावत् स्वर्णसूत्र पहनता है या पहनने वाले का अनुमोदन करता है।

१२. जो भिक्षु कुतूहलवश मृगचर्म से बने वस्त्र, सूक्ष्म वस्त्र, सूक्ष्म व सुशोभित वस्त्र, अजा के सूक्ष्मरोम से निष्पन्न वस्त्र, इन्द्रनीलवर्णी कपास से निष्पन्न वस्त्र, सामान्य कपास से निष्पन्न सूती वस्त्र, गौड देश में प्रसिद्ध या दुगुल वृक्ष से निष्पन्न विशिष्ट कपास का वस्त्र, तिरीड वृक्षावयव से निष्पन्न वस्त्र, मलयगिरि चन्दन के पत्रों से निष्पन्न वस्त्र, बारीक बालों-तंतुओं से निष्पन्न वस्त्र, दुगुल वृक्ष के आभ्यंतरावयव से निष्पन्न वस्त्र, चीन देश में निष्पन्न अत्यन्त सूक्ष्म वस्त्र, देश विशेष के रंगे वस्त्र, रोम देश में बने वस्त्र, चलने पर आवाज करने वाले वस्त्र, स्फटिक के समान स्वच्छ वस्त्र, वस्त्रविशेष कोतवो-वरको, कंबल, कंबलविशेष - खरडग पारिगादि पावारगा, सिन्धु देश के मच्छ के चर्म से निष्पन्न वस्त्र, सिन्धु देश के सूक्ष्म चर्म वाले पशु से निष्पन्न वस्त्र, उसी पशु की सूक्ष्म पशामी से निष्पन्न वस्त्र, कृष्णमृग-चर्म, नीलमृग-चर्म, गौरमृग-चर्म, स्वर्णरस से लिप्त साक्षात् स्वर्णमय दिखे ऐसा वस्त्र, जिसके किनारे स्वर्णरसरंजित किये हो ऐसा वस्त्र, स्वर्णरसमय पट्टियों से युक्त वस्त्र, सोने के तार जड़े हुए वस्त्र, सोने के स्तबक या फूल जड़े वस्त्र, व्याघ्रचर्म, चीते का चर्म, एक विशिष्ट प्रकार के आभरण युक्त वस्त्र, अनेक प्रकार के आभरण युक्त वस्त्र बनाता है या बनाने वाले का अनुमोदन करता है।

१३. जो भिक्षु कुतूहलवश चर्म निर्मित वस्त्र यावत् विविध आभरणों से निर्मित वस्त्रों को धारण करता है या धारण करने वाले का अनुमोदन करता है।

१४. जो भिक्षु कुतूहलवश चर्म निर्मित वस्त्र यावत् विविध आभरणों से निर्मित वस्त्रों का परिभोग करता है अथवा परिभोग करने वाले का अनुमोदन करता है।

इस प्रकार उपर्युक्त अविहित कार्य करने वाले भिक्षु को लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - भिक्षु द्वारा संयम के साधनभूत देह के परिरक्षण एवं लज्जा निवारण हेतु वस्त्र प्रयोग का विधान है। मनोरंजन, सज्जा तथा प्रदर्शन हेतु उस द्वारा विविध प्रकार के वस्त्रों का प्रयोग परिवर्जित है, प्रायश्चित्त योग्य है। ऐसा करना संयम के विपरीत कुतूहलजनित मानसिकता का परिचायक है। चैतसिक चांचल्य और अस्थिरता भिक्षु के लिए सर्वथा परिहेय, परिवर्ज्य और निन्द्य है। इस संदर्भ में पहले पर्याप्त विवेचन हो चुका है।

भिक्षु की भूमिका में विद्यमान कोई व्यक्ति कौतुकाश्रित प्रवृत्तियों में संलग्न रहता है तो

भिक्षु वेश को लजाता है। यदि उसने भिक्षु जीवन स्वीकार किया है तो उसे सत्य, स्थिरता, दृढ़ता एवं अविचलता के साथ उसका पालन करना चाहिए। इनका लंघन कर विविध वेश-परिवेश-संरचना में संलग्न भिक्षु प्रायश्चित्त का भागी होता है।

साधु-साध्वी द्वारा परस्पर पाद-आमर्जन विषय प्रायश्चित्त

जे णिग्गंथे णिग्गंथस्स पाए अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा आमज्जावेज्ज वा पमज्जावेज्ज वा आमज्जावेतं वा पमज्जावेतं वा साइज्जइ जाव जे णिग्गंथे णिग्गंथस्स गामाणुगामं दूइज्जमाणस्स अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा सीसदुवारियं कारावेइ, कारावेतं वा साइज्जइ ॥ १५-७० ॥

जे णिग्गंथे णिग्गंथीए पाए अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा आमज्जावेज्ज वा पमज्जावेज्ज वा आमज्जावेतं वा पमज्जावेतं वा साइज्जइ जाव जे णिग्गंथे णिग्गंथीए गामाणुगामं दूइज्जमाणीए अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा सीसदुवारियं कारावेइ, कारावेतं वा साइज्जइ ॥ ७१-१२६ ॥

जा णिग्गंथी णिग्गंथस्स पाए अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा आमज्जावेज्जा वा पमज्जावेज्ज वा आमज्जावेतं वा पमज्जावेतं वा साइज्जइ जाव जा णिग्गंथी णिग्गंथस्स गामाणुगामं दूइज्जमाणस्स अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा सीस दुवारियं कारावेइ कारावेतं वा साइज्जइ ॥ १२७-१८२ ॥

जा णिग्गंथी णिग्गंथीए पाए अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा आमज्जावेज्ज वा पमज्जावेज्ज वा आमज्जावेतं वा पमज्जावेतं वा साइज्जइ जाव जा णिग्गंथी णिग्गंथीए गामाणुगामं दुइज्जमाणीए अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा सीसदुवारियं कारावेइ कारावेतं वा साइज्जइ ॥ १८३-२३८ ॥

भावार्थ - १५-७०. जो निर्ग्रन्थ (साधु) निर्ग्रन्थिनी (साध्वी) के पैरों का अन्यतीर्थिक या गृहस्थ से आमर्जन-प्रमार्जन करवाती है या आमर्जन-प्रमार्जन करवाने वाली का अनुमोदन करता ही। इसी प्रकार यहाँ सम्पूर्ण वर्णन पूर्ववत् ज्ञातव्य है यावत् निर्ग्रन्थ ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए निर्ग्रन्थ के मस्तक को अन्यतीर्थिक या गृहस्थ से ढकवाता है या ऐसा करने वाली का अनुमोदन करता है।

७१-१२६. इसी प्रकार यदि कोई निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थिनी के पैरों का किसी अन्यतीर्थिक या गृहस्थ से आमर्जन-प्रमार्जन करवाता है या करवाने वाले का अनुमोदन करता है यावत् ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए अन्यतीर्थिक या गृहस्थ से मस्तक ढकवाता है अथवा ऐसा करने वाले का अनुमोदन करता है इत्यादि समस्त वर्णन (तृतीय उद्देशक की भाँति) यहाँ पूर्व की भाँति योजनीय है।

इसी प्रकार सूत्र १२७ से १८२ तक निर्ग्रन्थिनी के द्वारा निर्ग्रन्थ का एवं १८३ से २३८ तक निर्ग्रन्थ के द्वारा निर्ग्रन्थिनी का सम्पूर्ण आलापक पूर्ववत् ज्ञापनीय, योजनीय है।

विवेचन - दैहिक सज्जा, शृंगार, शोभा साधुत्व के भूषण नहीं वरन् दूषण हैं। जो भिक्षु या भिक्षुणी स्वयं ऐसा करते हैं या अन्यतीर्थिक अथवा गृहस्थ से करवाते हैं, वह नितांत अशोभनीय है।

त्याग, वैराग्यपूर्वक महाव्रतमय जीवन अपनाने वाले भिक्षु ऐसा करते हों, यह संभावित नहीं लगता, किन्तु मानवीय दुर्बलता तथा परिस्थिति विशेष में चित्त में उभरते कालुष्य एवं कामान्ध के कारण जीन में ऐसा घटित न हो जाय इस हेतु भिक्षु को सतत जागरूक रहने की प्रेरणा देने के लिए इन सूत्रों में वर्णित तथ्य महत्त्वपूर्ण है।

समान आचार युक्त निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थिनी को स्थान न देने का प्रायश्चित्त

जे णिग्गंथे णिग्गंथस्स सरिसगस्स अंते ओवासे अंते ओवासं ण देइ ण देतं वा साइज्जइ ॥ २३९ ॥

जा णिग्गंथी णिग्गंथीए सरिसियाए अंते ओवासं अंते ओवासे ण देइ ण देतं वा साइज्जइ ॥ २४० ॥

कठिन शब्दार्थ - सरिसगस्स - सदृश - समान आचार युक्त, ओवासे - अवकाश-स्थान, अंते - अन्तः - (अपने उपाश्रय के) अन्दर।

भावार्थ - २३९. जो साधु उपाश्रय में अवकाश होते हुए भी समान आचार युक्त साधु को (ठहरने हेतु) स्थान नहीं देता या नहीं देने वाले का अनुमोदन करता है।

२४०. जो साध्वी उपाश्रय में अवकाश होते हुए भी समान आचार युक्त साध्वी को (ठहरने हेतु) स्थान नहीं देती अथवा नहीं देने वाली का अनुमोदन करती है।

ऐसा करने वाले साधु या साध्वी को लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - समान समाचारी एवं कल्पयुक्त साधुओं का जीवन पारस्परिक सहयोग के आधार पर ही भलीभाँति चलता है, वे शुद्ध व्रताचार के पालक होते हैं। दोष युक्त आहार आदि ग्रहण नहीं करते और भी उनके चर्यानुगत कार्य निरवद्य एवं शुद्ध होते हैं। अतः उनको ठहराने में हानि ही क्या है, उन्हें क्यों न ठहराया जाय ?

उदाहरणार्थ कोई साधु उपाश्रय में रुका हो। संयोगवश यदि कोई अन्य साधु, जिसका आचार उसके समान हो, वहाँ आ जाए और ठहरने के लिए स्थान मांगे, वैसी स्थिति में यदि पहले ठहरा हुआ साधु स्थान होते हुए भी उसे ठहरने की स्वीकृति न दे तो वह प्रायश्चित्त का भागी होता है। यही बात साध्वी के संबंध में लागू होती है। उसे चाहिए कि वह समान आचार युक्त साध्वी को, उपाश्रय में यदि अवकाश हो तो (उसे) ठहरने की स्वीकृति दे। वैसा न करना दोष युक्त है।

इस प्रकार की प्रवृत्ति पारस्परिक सहयोग पर आधारित सदृश आचार युक्त गण - साधु-साध्वी संघ की व्यवस्था में हानिप्रद होती है। लोक दृष्टि या व्यवहार में भी स्थान न देना अशोभनीय प्रतीत होता है। वैसा करने वाले साधु या साध्वी के प्रति लोगों में आदर कम होता है।

मालोपहत आहार ग्रहण विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्षू मालोहडं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा देज्जमाणं पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ ॥ २४१ ॥

कठिन शब्दार्थ - मालोहडं - मालोपहत - घर के ऊपर की मंजिल में स्थित प्रकोष्ठ में रखा हुआ।

भावार्थ - २४१. जो भिक्षु घर के ऊपर की मंजिल में विद्यमान प्रकोष्ठ - कमरे में रखे हुए (नीचे) ला कर दिए जाते हुए अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप आहार को लेता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है, उसे लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - घर के मंजिल के ऊपरी कमरे में रखे हुए आहार को सीढियों से या निसरनी आदि द्वारा नीचे लाकर दिया जाना अव्यावहारिक है। क्योंकि भिक्षु को सहज रूप में आहार देना समुचित कहा गया है। ऊपर के माले में स्थित आहार को नीचे ला कर देना अनेक दृष्टियों से अनुपयुक्त है। इससे देने वाले की भिक्षु के प्रति मोहासक्ति प्रतीत होती है।

सीढ़ी आदि द्वारा लाते हुए असावधानीवश नीचे गिर जाना भी आशंकित है, जिसके परिणाम स्वरूप जहाँ व्यक्ति गिरा हो, वहाँ स्थित सूक्ष्म जीवों की हिंसा भी संभावित है। अत एव इसे प्रायश्चित्त योग्य बतलाया गया है।

प्रतिपादन का तात्पर्य यह है कि प्रदाता भिक्षु को जो भी कल्प योग्य वस्तु दे, उसमें वह सहजता का अनुसरण करे। उसमें ऐसा कुछ भी न जोड़े जो पारलौकिक, ऐहिक दोनों दृष्टियों से अयान्य, अनुचित हो।

कोष स्थित आहार ग्रहण विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्षू कोट्टियाउत्तं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा उक्कुज्जिय णिक्कुज्जिय ओहरिय देज्जमाणं पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ ॥ २४२ ॥

कठिन शब्दार्थ - कोट्टियाउत्तं - कोष्ठायुक्त - कोठे में रखा हुआ, उक्कुज्जिय - ऊँचा होकर, णिक्कुज्जिय - नीचे झुक कर, ओहरिय - अवहृत कर - निकाल कर।

भाषार्थ - २४२. जो भिक्षु कोठे में स्थित अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य रूप चतुर्विध आहार को ऊँचा हो कर या नीचे झुक कर निकाल कर देते हुए से लेता है अथवा लेते हुए का अनुप्रेषण करता है, उसे लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - खाद्य पदार्थ रखने हेतु विशेष प्रकार के कोठों का प्रयोग होता रहा है। प्राचीन काल में प्रायः ऐसे कोठे मिट्टी, गोबर आदि से बनाए जाते थे, फिर पत्थर, धातु आदि के भी बनने लगे। कुछ कोठे ऊँचे होते थे, कुछ कोठे नीचे। वहाँ से ले कर आहार देने में विशेष श्रम करना पड़ता है। देने वाले को परेशानी होती है। पैरों के बल ऊँचा हो कर आहार निकालते समय जरा-सी असावधानी होते ही वह जमीन पर गिर सकता है। वैसा होने से उसे स्वयं को पीड़ा होती है। गिरते समय यदि भूमि पर स्थित छोटे जीव दब जाएँ तो उनकी जो विराधना हो सकती है। इत्यादि आशंकाओं को देखते हुए उस प्रकार से देते हुए व्यक्ति से आहार लेना प्रायश्चित्त योग्य बतलाया गया है।

आचारांग सूत्र में भी इस प्रकार दिए जाते हुए आहार का निषेध किया गया है ०।

उद्भिन्न-निर्भिन्न आहार ग्रहण विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खु मट्टिओलित्तं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा उब्भिंदिय णिब्भिंदिय देज्जमाणं पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ ॥ २४३ ॥

कठिन शब्दार्थ - मट्टिओलित्तं - मृत्तिका से लिप्त, उब्भिंदिय - उद्भिन्न कर - बल पूर्वक तोड़कर, णिब्भिंदिय - निर्भिन्न कर - सर्वथा हटाकर।

भावार्थ - २४३. जो भिक्षु मिट्टी के लेप से युक्त पात्र विशेष में रखे अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप आहार को लेप तोड़ कर, हटा कर दिए जाने पर ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है। उसे लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - खाद्य पदार्थों को विशेष रूप से सुरक्षित रखने हेतु, दूषित हवा, पानी आदि के प्रभाव से बचाने हेतु ऐसे पात्रों में रखे जाने की प्रथा रही है, जिनको ऊपर से मृत्तिका के लेप द्वारा बंद किया जाता था अथवा पात्र पर ढक्कन लगाकर पात्र एवं ढक्कन के छेद को मिट्टी द्वारा उपलिप्त कर दिया जाता था। कुछ देर बाद वह लेप इतना पक्का हो जाता था कि उसे तोड़ कर हटाना पड़ता था। इस प्रकार के पात्रों से लेप को बलपूर्वक तोड़ कर उसे सर्वथा हटा कर दिया जाता आहार भिक्षु द्वारा प्रतिगृहीत किया जाना - लिया जाना इस सूत्र में प्रायश्चित्त योग्य बतलाया गया है।

आचारांग सूत्र० एवं दशवैकालिक सूत्र० में भी ढक्कन को हटाकर दिया जाता आहार भिक्षु द्वारा स्वीकार किया जाना दोष युक्त बतलाया गया है।

इस सूत्र में प्रयुक्त 'उब्भिंदिय - उद्भिन्न, णिब्भिंदिय - निर्भिन्न' शब्दों से यह प्रकट होता है कि पात्र पर लगे मृत्तिका लेप को हटाने में बड़ा बल लगाना होता था। वैसा करने में देने वाले को परेशानी होती है। लेप को तोड़ने में, ढक्कन को दूर करने में ज्ञात-अज्ञात रूप में जीव-विराधना भी आशंकित होती है। व्यावहारिक दृष्टि से भी यह उपर्युक्त प्रतीत नहीं होता।

यहाँ पर सभी प्रकार के ढक्कनों के समाविष्ट होने के कारण ही उनके खोलने पर त्रस स्थावर जीवों की विराधना होने का कथन है। केवल मिट्टी से लिप्त में अग्नि आदि सभी त्रस स्थावर जीवों की विराधना संभव नहीं है। अतः 'मट्टिओलित्तं' शब्द होते हुए भी उपलक्षण

से अनेक प्रकार के ढक्कन या लेप आदि से बन्द किये आहार का निषेध और प्रायश्चित्त समझ लेना चाहिए।

साधु को देने के बाद कई ढक्कनों को पुनः लगाने में भी आरम्भ होता है, जिससे पश्चात् कर्म दोष लगता है। अतः ऐसा आहार आदि ग्रहण नहीं करना चाहिए।

यदि सामान्य ढक्कनों को खोलने बन्द करने में कोई विराधना न हो तथा जो सहज ही खोले या बंद किये जा सकते हों, उनको खोल कर दिया जाने वाला आहार ग्रहण करने पर प्रायश्चित्त नहीं आता है।

सचित्त निक्षिप्त आहार ग्रहण विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पुढविपइड्डियं वा पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ ॥ २४४ ॥

जे भिक्खू असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आउपइड्डियं पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ ॥ २४५ ॥

जे भिक्खू असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा तेउपइड्डियं वा पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ ॥ २४६ ॥

जे भिक्खू असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा वणस्सइकायपइड्डियं पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ ॥ २४७ ॥

भावार्थ - २४४. जो भिक्षु (सचित्त) पृथ्वी पर स्थित अशन, पान... आदि चतुर्विध आहार ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

२४५. जो भिक्षु (सचित्त) जल पर स्थित अशन, पान आदि चतुर्विध आहार ग्रहण करता है अथवा ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

२४६. जो भिक्षु (सचित्त) अग्निकाय पर स्थित अशन, पान आदि चतुर्विध आहार ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

२४७. जो भिक्षु (सचित्त) वनस्पतिकाय पर स्थित अशन, पान आदि चतुर्विध आहार ग्रहण करता है अथवा ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

इस प्रकार उपर्युक्त रूप में आचरण करने वाले भिक्षु को लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - भिक्षु की आहारचर्या सर्वथा निरवद्य और जीवविराधना रहित हो, इस तथ्य पर चर्या विषयक वर्णन में बहुत जोर दिया गया है। उसका प्रयत्न रहे कि एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय पर्यन्त किसी भी जीव को उससे पीड़ा - उद्वेजना प्राप्त न हो। एकेन्द्रिय जीवों की तो ऐसी प्रवृत्ति है कि स्पर्श मात्र से वे अत्यन्त पीड़ित हो उठते हैं। अभिव्यक्ति में सक्षम न होने के कारण हम उस पीड़ा का अनुभव नहीं कर सकते किन्तु सर्वज्ञों की दृष्टि में वह साक्षात् ज्ञप्ति योग्य है।

अत एव यहाँ पृथ्वी, जल, अग्नि आदि एकेन्द्रिय जीवों पर निक्षिप्त-रखे हुए आहार को लेना प्रायश्चित्त योग्य बतलाया गया है। निक्षेप से संबद्ध होने के कारण इसे निक्षिप्त दोष से अभिहित किया गया है।

यद्यपि समग्र प्राणी वर्ग की हिंसा का वर्जन प्रथम महाव्रत में आ ही जाता है, किन्तु भिक्षु जीवन में अत्यधिक जागरूकता बनी रहे इसे हेतु भिन्न-भिन्न क्रिया-प्रक्रिया में आशंकित हिंसा से बचे रहने के उद्देश्य से पृथक्-पृथक् वर्जन किया गया है।

आचारांग टीका में निक्षिप्त दोष के निषेध से एषणा के दस ही दोषों का निषेध समझ लेने का कथन किया है। क्योंकि ये सभी दोष आहार ग्रहण करते समय पृथ्वी आदि की विराधना से संबंधित है, इसलिए उन दसों दोषों का प्रायश्चित्त भी इसी सूत्र में समझा जा सकता है।

शीतकृत आहार ग्रहण विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू अच्चुसिणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा सुप्पेण वा विहुयणेण वा तालियंटेण वा पत्तेण वा पत्तभंगेण वा साहाए वा साहाभंगेण वा पिहुणेण वा पिहुणहत्थेण वा चलेण वा चेलकणणेण वा हत्थेण वा मुहेण वा फूमित्ता वीइत्ता आहट्टु देज्जमाणं पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ ॥ २४८ ॥

जे भिक्खू असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा उसिणुसिणं पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ ॥ २४९ ॥

कठिन शब्दार्थ - अच्चुसिणं - अति उष्ण - अत्यन्त गर्म, सुप्पेण - सूप से, विहुयणेण - विधुनेन (व्यजनेन) - पंखे से, तालियंटेण - ताड़पत्र के पंखे से, पत्तभंगेण-

पत्रखंड से, साहाए - शाखा से, साहाभंगेण - शाखा खंड से, पिहुणेण - मोर पंख से, पिहुणहत्थेण - मयूरपिच्छी से, चेलेण - वस्त्र से, चेलकण्णेण - वस्त्र किनारे से, फूमित्ता - फूंक देकर, वीडित्ता - हवा करके, आहडु - आहत्य - लाकर, देज्जमाणं - दिया जाया हुआ, उसिणुसिणं - अत्यन्त उष्ण।

भावार्थ - २४८. जो भिक्षु अति उष्ण अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य रूप चतुर्विध आहार को सूप, पंखा, ताड़पत्र, पत्र, पत्रखण्ड, शाखा, शाखाखण्ड, मोरपंख, मयूरपिच्छी, वस्त्र, वस्त्रखण्ड, हाथ या मुंह की फूंक से ठण्डा कर ला कर देने वाले से ग्रहण करता है अथवा ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

२४९. जो भिक्षु अत्यन्त उष्ण अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप चतुर्विध आहार ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

ऐसा करने वाले भिक्षु को लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विशेष - प्रस्तुत सूत्रों में उष्ण आहार को शीतल कर दिए जाने एवं उष्ण आहार लेने का निषेध किया गया है। शीतल करने का तात्पर्य यह है कि अति उष्ण आहार को उपर्युक्त रूप में ठण्डा करने में अवश्य ही वायुकाय के जीवों की हिंसा होती है। इसके अलावा छोटे जीवों की हिंसा हो सकती है। भिक्षु को आहार देने में कृत्रिमता पूर्ण उपक्रम सर्वथा वर्जित हैं। क्योंकि उसकी चर्या में तो सर्वथा सरलता परिव्याप्त रहती है। यदि एषणीय, निर्दोष आहार प्राप्त न हो तो भिक्षु उसे निर्जरा का हेतु मान लेता है। आहार भिक्षु का साध्य नहीं है, साधनोपयोगी देह को चलाने का हेतु है। सावद्य उपक्रमों द्वारा देह का निर्वाह करना भिक्षु के लिए सर्वथा अर्वाञ्छित है।

अति भक्ति और श्रद्धा जब रागात्मकता ले लेती है तब देने वाला व्यक्ति येन-केन प्रकारेण अपने श्रद्धाभाजन को आहार देने में ही श्रद्धा मानता है। ये दोनों के ही लिए हानिकारक होता है।

वायुकाय की विराधना होने के कारण उष्ण आहार पानी के लेने का यहाँ प्रायश्चित्त कहा गया है, आचारांग सूत्र में वायुकाय की विराधना किये बिना उष्ण आहारादि ग्रहण करने का विधान किया गया है, तथापि अत्यन्त उष्ण आहारादि ग्रहण नहीं करना चाहिए, क्योंकि उसे देने में उसके छींटे से या भाप से दाता या साधु का हाथ आदि जल जाय या उष्णता सहन न हो सकने से हाथ में से बर्तन आदि छूट कर गिर जाय या साधु के पात्र का लेप (रोगानादि) खराब हो जाय अथवा पात्र फूट जाय इत्यादि दोष संभव है। अतः वैसे अत्यन्त

गर्म आहार-पानी साधु को नहीं लेने चाहिए। कुछ समय बाद उष्णता कम होने पर ही वे ग्राह्य हो सकते हैं।

तत्काल धोया पानी (धोवन) लेने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू उस्सेइमं वा संसेइमं वा चाउलोदगं वा वारोदगं वा तिलोदगं वा तुसोदगं वा जवोदगं वा आयामं वा सोवीरं वा अंबकंजियं वा सुद्धवियडं वा अहुणाधोयं अणंबिलं अपरिणयं अवक्कंतजीवं अविद्धत्थं पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ ॥ २५० ॥

कठिन शब्दार्थ - उस्सेइमं - आटे के लिप्त हाथ या बर्तन का धोवण, संसेइमं - उबाले हुए तिल, पत्र-शाक आदि का धोया हुआ जल, चाउलोदगं - चावलों का धोवण, वारोदगं - गुड़ आदि खाद्य पदार्थों के घड़े (बर्तन) का धोया जल, तिलोदगं - तिलों का धोवण, तुसोदगं - भूसी का धोवण या तुष युक्त धान्यों के तुष निकालने से बना धोवण, जवोदगं - जौ का धोवन, आयामं - अवश्रावण - उबाले हुए पदार्थों का पानी, सोवीरं - कांजी का जल, गर्म लोहा, लकड़ी आदि डुबाया हुआ पानी, अंबकंजियं - खट्टे पदार्थों का धोवण या छाछ की आछ, सुद्धवियडं - हरड बहेडा रख आदि पदार्थों से प्रासुक बनाय गया जल अथवा उष्ण पानी, अहुणाधोयं - तत्काल धोया हुआ, अणंबिलं - रस आम्ल नहीं हुआ हो - बदला नहीं हो, अपरिणयं - शस्त्र परिणत न हुआ हो, अवक्कंतजीवं - जीव उत्पन्न नहीं हुए हों, अविद्धत्थं - पूर्ण रूप से अचित्त नहीं हुआ हो।

भावार्थ - २५०. उत्स्वेदित, संस्वेदित, चावलोदक, वारोदक, तिलोदक, तुषोदक, यवोदक, ओसामण, सौवीर, आम्रकांजी एवं शुद्ध उष्ण जल जो कि तत्काल धोने से प्राप्त हो, विपरीत रस युक्त न हुआ हो, शस्त्र परिणत न हो, जीव अपगत न हुए हों, वर्ण-रस आदि विपरीत न हुए हो अर्थात् पूर्ण रूप से अचित्त नहीं हुआ हो तो ऐसे जल को जो भिक्षु ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है, उसे लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - भिक्षु के लिए सर्वथा अचित्त पानी गृहीत करने का नियम है। सचित्त सर्वथा निषिद्ध है। यह अहिंसा व्रत की परिपालना तथा जीवविराधना रहित चर्या का महत्त्वपूर्ण भाग है। खाद्य पदार्थों के साथ जल का बहुत महत्त्व है। उसे लेने में भिक्षु कहीं भी भूल न कर जाय, इस दृष्टि से धोवन रूप अचित्त जल के संदर्भ में वर्णन हुआ है। वे ग्यारह प्रकार के बतलाए गए हैं। ये ऐसे जल हैं, जो क्रिया-प्रक्रिया द्वारा अचित्त हो जाते हैं किन्तु इनके संदर्भ

में एक बात विशेष रूप से कही गई है कि वे तत्काल ग्राह्य नहीं होते। कम से कम आधा घण्टा या मुहूर्त व्यतीत होने पर असंदिग्ध अचित्तता मानी जाती है।

निरवद्य, ऐषणीय, सर्व दोष विनिर्मुक्त आहार-पानी लेते समय जरा भी शंकितावस्था न रहे, यह आवश्यक है। क्योंकि जहाँ शंका और संशय होता है, वहाँ सत्य, तथ्य अस्पष्ट रहता है तथा दोष की संभावना रहती है।

स्वयं को आचार्य गुणोपेत कहने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू अप्पणो आयरित्ताए लक्खणाइं वागरेइ वागरेंतं वा साइज्जइ ॥ २५१ ॥

कठिन शब्दार्थ - आयरित्ताए - आचार्य के, लक्खणाइं - लक्षणों से, वागरेइ - व्याकरोति - विशेष रूप से कहता है - अन्यथा कहता है।

भावार्थ - २५१. जो भिक्षु स्वयं को आचार्य लक्षण संपन्न बतलाता है अथवा बतलाने वाले का अनुमोदन करता है, उसे लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - भिक्षु सदैव आत्मस्थ रहे। अपनी संभावित-असंभावित विशेषताओं का कदापि ख्यापन न करे। उससे आत्मगुणों में हीनता उत्पन्न होती है। अपने आपको व्यक्ति तभी विशिष्ट रूप में व्यक्त करने का प्रयास करता है जब उसके मन में प्रदर्शनात्मक महत्ता का भाव जागता है। किसी भिक्षु को अपने दैहिक लक्षण, स्वरूप इत्यादि को देख कर भान हो कि स्वयं में वे विशेषताएँ विद्यमान हैं, जो आचार्य में होती हैं। अथवा भ्रमवश उसे ऐसी असत् प्रतीति होती हो कि वह आचार्य के लक्षणों से युक्त है या सामुद्रिक शास्त्र आदि के आधार पर अपनी दैहिक रेखा, तिल, चक्र, अंकुश, शंख इत्यादि देखकर उसके मन में भाव आ जाए कि मेरे ये लक्षण तो आचार्य के सदृश हैं तो वह अपने आपको इस रूप में कदापि व्यक्त न करे, न वैसा दावा ही करे वरन् स्वयं को संयमानुप्राणित करता हुआ आत्मस्थ रहे।

यदि कोई ऐसा प्रसंग हो जब स्थविर या गीतार्थ भिक्षु किसी साधु को आचार्य पद पर मनोनयन कर रहे हों, वह यदि अयोग्य हो तो धर्मशासन के हित में स्वयं या अन्य द्वारा एतद्विषयक जानकारी दी जा सकती है किन्तु फिर भी निर्णय हेतु दवाब या दावा नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार अकारण आचार्य लक्षण गुणसंपन्न बतलाना प्रायश्चित्त योग्य बतलाया गया है।

प्रदर्शन एवं ध्वनिनिस्सरण विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू गाएज्ज वा हसेज्ज वा वाएज्ज वा णच्चेज्ज वा अभिणएज्ज वा हयहेसियं वा हत्थिगुलगुलाइयं वा उक्किट्टुसीहणायं वा करेइ करेत्तं वा साइज्जइ ॥ २५२ ॥

कठिन शब्दार्थ - अभिणवेज्ज - अभिनय करे, हयहेसियं - अश्व की भाँति आवाज करे - हिनहिनाए, हत्थिगुलगुलाइयं - हाथी के समान शब्द करे - चिंघाड़े, उक्किट्टुसीहणायं- उत्कृष्ट सिंहनाद - सिंह के समान जोर से आवाज करता है।

भावार्थ - २५२. जो भिक्षु गायन, हंसना, वाद्य बजाना, नाचना, अभिनय करना, हिनहिनाना, चिंघाड़ना या सिंहनाद आदि (दोषपूर्ण) क्रियाएँ करता है अथवा करने वाले का अनुमोदन करता है, उसे लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - भिक्षु सहज रूप में जितेन्द्रिय होता है। उस द्वारा इन्द्रियों का वैसा ही उपयोग-प्रयोग किया जाता है, जिससे आत्मसाधना को बल मिले तथा जन-जन को धर्मानुप्राणित होने की प्रेरणा मिले।

मोहकर्म के उदय से कुतूहलवश विविध रूप में गाकर, अभिनयोपम भाव-भंगिमा प्रदर्शित कर, विभिन्न प्राणियों की ध्वनियों जैसी आवाजें निकालकर - यों प्रदर्शनात्मक उपक्रमों द्वारा लोगों को प्रभावित करने का प्रयास करना उसके उदात्त व्यक्तित्व के विपरीत है। इसमें मानसिक हीन भाव का द्योतन है। अत एव वैसा करना दोषयुक्त है। भिक्षु को तो धीरता, गंभीरता, स्थिरतायुक्त वचनों द्वारा धर्म जागरणा हेतु वाक् प्रयोग करना चाहिए। सर्वत्र उसके व्यक्तित्व की गरिमायुक्त छटा प्रकटित रहे, यह आवश्यक है।

हाँ, इतना अवश्य है, धार्मिक भावों को सुन्दर, सरस रूप में लोगों तक पहुँचाने हेतु सीमित रूप में गान का उपयोग किया जाय तो यह अनुचित नहीं है। किन्तु 'जनरंजक' धर्मनिरपेक्ष गीत हो तथा गायन कला प्रदर्शन का लक्ष्य हो तो प्रायश्चित्त योग्य होता है।

पूर्व वर्णित ऐसी प्रवृत्तियाँ हैं, जिनसे जीव-विराधना आशंकित है, संयम की निर्मलता भी व्याहत होती है। आध्यात्मिक स्तर हल्का बनता है।

यहाँ इतना और ज्ञातव्य है, यदि कोई आपत्तिजनक स्थिति हो तो संयमोपपन्न जीवन के रक्षार्थ उस प्रकार विस्मायक ध्वनियाँ निकालना भी वर्जित नहीं है। किन्तु यह आपद्धर्म का विषय है।

वाघादि ध्वनि के आसक्तिपूर्ण श्रवण का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू भेरिसद्दाणि वा पडहसद्दाणि वा मुरवसद्दाणि वा मुङ्गसद्दाणि वा णंदिसद्दाणि वा झल्लरिसद्दाणि वा वल्लरिसद्दाणि वा डमरु(य)गसद्दाणि वा मड्डुयसद्दाणि वा सदुयसद्दाणि वा पएससद्दाणि वा गोलुडसद्दाणि वा अण्णयराणि वा तहप्पगाराणि वितयाणि सद्दाणि कण्णसोयपडियाए अभिसंधारेइ अभिसंधारेंतं वा साइज्जइ ॥ २५३ ॥

जे भिक्खू वीणासद्दाणि वा विवंचिसद्दाणि वा तुणसद्दाणि वा वब्बीसगसद्दाणि वा वीणाइयसद्दाणि वा तुंबवीणासद्दाणि वा झोडयसद्दाणि वा ढंकुणसद्दाणि वा अण्णयराणि वा तहप्पगाराणि तयाणि सद्दाणि कण्णसोयपडियाए अभिसंधारेइ अभिसंधारेंतं वा साइज्जइ ॥ २५४ ॥

जे भिक्खू तालसद्दाणि वा कंसतालसद्दाणि वा लित्तियसद्दाणि वा गोहियसद्दाणि वा मकरियसद्दाणि वा कच्छभिसद्दाणि वा महइसद्दाणि वा सणालियासद्दाणि वा वालियासद्दाणि वा अण्णयराणि वा तहप्पगाराणि घणाणि सद्दाणि कण्णसोयपडियाए अभिसंधारेइ अभिसंधारेंतं वा साइज्जइ ॥ २५५ ॥

जे भिक्खू संखसद्दाणि वा वंससद्दाणि वा वेणुसद्दाणि वा खरमुहिसद्दाणि वा परिलिसद्दाणि वा वेवासद्दाणि वा अण्णयराणि वा तहप्पगाराणि झुसिराणि सद्दाणि कण्णसोयपडियाए अभिसंधारेइ अभिसंधारेंतं वा साइज्जइ ॥ २५६ ॥

कठिन शब्दार्थ - भेरि - दुन्दुभि, पडह - ढोल, मुरव - मुरज, मुङ्ग - मृदंग, णंदि - समवेत रूप में द्वादश वाद्य ध्वनि, झल्लरि - झालर, मड्डुय - मद्दल - छोटा ढोल, गोलुड - गोलुकी, वितयाणि - वितत वाद्य - चर्मावृत वाद्य (बिना तार वाले), कण्णसोयपडियाए - कानों से सुनने की इच्छा से, अभिसंधारेइ - मनःसंकल्प करता है, विवंचि - विपंचि - विशेष प्रकार की वीणा, तयाणि - तन्तु वाद्य - तार वाले वाद्य, घणाणि - घन वाद्य - परस्पर टकरा कर (अभिघात पूर्वक) बजाए जाने वाले वाद्य, वंससद्दाणि - बांस - बांसुरी आदि के शब्द, झुसिराणि - छिद्र वाले खोखले वाद्य।

भावार्थ - २५३. जो भिक्षु दुंदुभि, ढोल, मुरज, मृदंग, नन्दी, झालर, वल्लरि, डमरु,

छोटा ढोल, सदुय, प्रदेश या गोलुकी या अन्य इसी प्रकार के किसी वितत वाद्य (पीटकर बजाए जाने वाले वाद्य) के शब्दों को कानों से सुनने हेतु मन में संकल्प करता है (सुनने हेतु जाने की इच्छा करता है) अथवा ऐसा चिन्तन करने वाले का अनुमोदन करता है।

२५४. जो भिक्षु वीणा, विपंचि, तूण, वव्वीसग या वीणा आदि के सदृश अन्य तन्तु वाद्य, तुम्बवीणा, झोटक, ढंकुण या अन्य किसी प्रकार के तार वाद्य (झंकृत कर बजाए जाने वाले वाद्य) के शब्दों को कानों से सुनने की प्रतिज्ञा से (कानों से सुनने की इच्छा से) मन में चिन्तन कर उस ओर प्रवृत्त होता है अथवा प्रवृत्ति करने वाले का अनुमोदन करता है।

२५५. जो भिक्षु ताल, कंसताल (कांस्य से बना वादित्र), लत्तिक, गोहिक, मकरिक (मगरमच्छ की आकृति का वाद्य विशेष), कच्छपी (कच्छप की आकृति के वाद्य विशेष), महतिका, सणालिका या वालिका आदि अन्य प्रकार के घन वाद्यों के शब्दों को कानों से सुनने की इच्छा लिए मन में संकल्प पूर्वक इस ओर प्रवृत्त होता है अथवा प्रवृत्त होने वाले का अनुमोदन करता है।

२५६. जो भिक्षु शंख, बांसुरी, वेणु, खरमुही, परिलिस या वेवा आदि अन्य प्रकार के झुसिर वाद्यों को कानों से सुनने हेतु मन में संकल्प करता है (सुनने हेतु जाने की इच्छा करता है) अथवा ऐसा चिन्तन करने वाले का अनुमोदन करता है।

इस प्रकार उपर्युक्त विमोहित चिन्तन करने वाले भिक्षु को लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विशेषण - भिक्षु अपनी इन्द्रियों का प्रयोग संयम की साधना में बल और प्रश्रय प्राप्त करने हेतु करता है। वह इन्द्रियों के भोग्य विषयों से सर्वथा दूर रहता है, उनमें जरा भी आसक्त नहीं होता। सुष, श्रव्यादि विषय उपस्थित तो होते हैं किन्तु उनमें रागात्मक भाव से वह नहीं सुनता, उनके प्रति उदासीन या अवस्थ भाव रखता है।

इन सूत्रों में विविध वाद्य ध्वनियों का आसक्त भाव से श्रवण करना प्रायश्चित्त योग्य बतलाया गया है। तात्पर्य यह है कि गृहस्थों द्वारा प्रयुज्यमान वाद्यादि अपने-अपने ढंग से अवसरानुकूल बजते रहते हैं, जिनकी ध्वनि भिक्षु के कानों में तो पड़ती ही रहती है, किन्तु वह उनमें रसानुभूति नहीं करता। रसानुभूति रागप्रसूत होती है। वह उन तथाकथित मधुर ध्वनियों से जरा भी विमोहित नहीं होता, आत्मस्थ रहता है। विमोहित होना प्रायश्चित्त का हेतु है।

शब्द-प्रवण-आसक्ति विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू वप्पाणि वा फलिहाणि वा उप्पलाणि वा पल्लाणि वा उज्झराणि वा णिज्झराणि वा वावीणि वा पोक्खराणि वा दीहियाणि वा सराणि वा सरपंतियाणि वा सरसरपंतियाणि वा कण्णसोयपडियाए अभिसंधारेइ अभिसंधारेंतं वा साइज्जइ ॥ २५७ ॥

जे भिक्खू कच्छाणि वा गहणाणि वा णूमाणि वा वणाणि वा वणविदुग्गाणि वा पव्वयाणि वा पव्वयविदुग्गाणि वा कण्णसोयपडियाए अभिसंधारेइ अभिसंधारेंतं वा साइज्जइ ॥ २५८ ॥

जे भिक्खू गामाणि वा णगराणि वा खेडाणि वा कब्बडाणि वा मडंबाणि वा दोणमुहाणि वा पट्टणाणि वा आगराणि वा संवाहाणि वा सण्णिवेसाणि वा कण्णसोयपडियाए अभिसंधारेइ अभिसंधारेंतं वा साइज्जइ ॥ २५९ ॥

जे भिक्खू गाममहाणि वा जाव सण्णिवेसमहाणि वा कण्णसोयपडियाए अभिसंधारेइ अभिसंधारेंतं वा साइज्जइ ॥ २६० ॥

जे भिक्खू गामवहाणि वा णगरवहाणि वा खेडवहाणि वा कब्बडवहाणि वा जाव सण्णिवेसवहाणि वा कण्णसोयपडियाए अभिसंधारेइ अभिसंधारेंतं वा साइज्जइ ॥ २६१ ॥

जे भिक्खू गामपहाणि वा जाव सण्णिवेसपहाणि वा कण्णसोयपडियाए अभिसंधारेइ अभिसंधारेंतं वा साइज्जइ ॥ २६२ ॥

जे भिक्खू गामदाहाणि वा जाव सण्णिवेसदाहाणि वा कण्णसोयपडियाए अभिसंधारेइ अभिसंधारेंतं वा साइज्जइ ॥ २६३ ॥

जे भिक्खू आसकरणाणि वा हत्थिकरणाणि वा उट्टकरणाणि वा गोणकरणाणि वा महिसकरणाणि वा सूयरकरणाणि वा कण्णसोयपडियाए अभिसंधारेइ अभिसंधारेंतं वा साइज्जइ ॥ २६४ ॥

जे भिक्खू आसजुद्धाणि वा हत्थिजुद्धाणि वा उट्टजुद्धाणि वा गोणजुद्धाणि

वा महिसजुद्धाणि वा सूयरजुद्धाणि वा कण्णसोयपडियाए अभिसंधारेइ अभिसंधारेतं वा साइज्जइ ॥ २६५ ॥

जे भिक्खू गाउज्जूहियट्टाणाणि वा हेयजुहियट्टाणाणि वा गयजुहिय-ट्टाणाणि वा कण्णसोयपडियाए अभिसंधारेइ अभिसंधारेतं वा साइज्जइ ॥ २६६ ॥

जे भिक्खू अभिसेयट्टाणाणि वा अक्खाइयट्टाणाणि वा माणुम्माणप्पमाणि-यट्टाणाणि वा महया हयणट्टगीयवाइयतंतीतल-तालतुडियपडुप्पवाइयट्टाणाणि वा कण्णसोयपडियाए अभिसंधारेइ अभिसंधारेतं वा साइज्जइ ॥ २६७ ॥

जे भिक्खू डिंबाणि वा डमराणि वा खाराणि वा वेराणि वा महाजुद्धाणि वा महासंगामाणि वा कलहाणि वा बोलाणि वा कण्णसोयपडियाए अभिसंधारेइ अभिसंधारेतं वा साइज्जइ ॥ २६८ ॥

जे भिक्खू विरूवरूवेसु महुस्सवेसु इत्थीणि वा पुरिसाणि वा थेराणि वा मज्झिमाणि वा डहराणि वा अणलंकियाणि वा सुअलंकियाणि वा गायंताणि वा वायंताणि वा णच्चंताणि वा हसंताणि वा रमंताणि वा मोहंताणि वा विउलं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा परिभायंताणि वा परिभुंजंताणि वा कण्णसोयपडियाए अभिसंधारेइ अभिसंधारेतं वा साइज्जइ ॥ २६९ ॥

जे भिक्खू इहलोइएसु वा सहेसु परलोइएसु वा सहेसु दिट्ठेसु वा सहेसु अदिट्ठेसु वा सहेसु सुएसु वा सहेसु असुएसु वा सहेसु विण्णाएसु वा सहेसु सज्जइ रज्जइ गिज्जइ अज्जोववज्जइ सज्जंतं रज्जंतं गिज्जंतं अज्जोववज्जंतं वा साइज्जइ । तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्टाणं उग्घाइयं ॥ २७० ॥

॥ णिसीहउज्जयणे सत्तरसमो उद्देशो समत्तो ॥ १७ ॥

भावार्थ - २५७. जो भिक्षु खेत, खाई, नीलकमलयुक्त जलाशय, छोटे तालाब, जलप्रपात, निर्झर, बावड़ी, कमलयुक्त छोटे तालाब, चतुष्कोणयुक्त बावड़ी, सरोवर, सरोवरों की पंक्ति, प्रणालिका संबद्ध सरोवरों की पंक्तियों के विषय में (प्रशंसा-निंदा मूलक) शब्द श्रवण की इच्छा से मनःसंकल्प करता है या ऐसा निश्चय करते हुए का अनुमोदन करता है।

२५८. जो भिक्षु जल बहुल प्रदेश, सघन वृक्ष युक्त वन, गुप्तवन प्रदेश, वन, विविधवृक्षमय

वन, पर्वत या पर्वत समूहों के विषय में (प्रशंसा-निंदा मूलक) शब्द श्रवण की इच्छा से मनःसंकल्प करता है अथवा ऐसा निश्चय करते हुए का अनुमोदन करता है।

२५९. जो भिक्षु ग्राम, नगर, खेट, कर्बट, मडंब, द्रोणमुख, पत्तन, खान (स्वर्ण आदि की), संवाह, सन्निवेश इत्यादि के विषय में (प्रशंसा-निंदा मूलक) शब्द श्रवण की इच्छा से मनःसंकल्प करता है अथवा ऐसा निश्चय करते हुए का अनुमोदन करता है।

२६०. जो भिक्षु ग्रामोत्सव यावत् सन्निवेश के उत्सव के विषय में (प्रशंसा-निंदा मूलक) शब्द श्रवण की इच्छा से मनःसंकल्प करता है या ऐसा निश्चय करने वाले का अनुमोदन करता है।

२६१. जो भिक्षु ग्राम, नगर, खेट या कर्बट यावत् सन्निवेश में हुए वध (घात) के विषय में (प्रशंसा-निंदा मूलक) शब्द श्रवण की इच्छा से मनःसंकल्प करता है अथवा ऐसा निश्चय करने वाले का अनुमोदन करता है।

२६२. जो भिक्षु ग्राम्यपथों यावत् सन्निवेश पथों के विषय में (प्रशंसा-निंदा मूलक) शब्द श्रवण की इच्छा से मनःसंकल्प करता है या ऐसा निश्चय करते हुए का अनुमोदन करता है।

२६३. जो भिक्षु अग्नि से जलते हुए ग्राम यावत् सन्निवेश के विषय में (प्रशंसा-निंदा मूलक) शब्द श्रवण की इच्छा से मनःसंकल्प करता है या ऐसा निश्चय करने वाले का अनुमोदन करता है।

२६४. जो भिक्षु अश्व, हाथी, ऊँट, वृषभ, महिष, सूअर आदि को क्रीड़ा हेतु शिक्षित करने के विषय में (प्रशंसा-निंदा मूलक) शब्द श्रवण की इच्छा से मनःसंकल्प करता है अथवा ऐसा निश्चय करते हुए का अनुमोदन करता है।

२६५. जो भिक्षु अश्व, हाथी, ऊँट, वृषभ, महिष, सूअर आदि के युद्ध के विषय में (प्रशंसा-निंदा मूलक) शब्द श्रवण की इच्छा से मनःसंकल्प करता है या ऐसा निश्चय करने वाले का अनुमोदन करता है।

२६६. जो भिक्षु गाय, अश्व, हाथी आदि के समूह स्थानों के विषय में (प्रशंसा-निंदा मूलक) शब्द श्रवण की इच्छा से मनःसंकल्प करता है अथवा ऐसा निश्चय करते हुए का अनुमोदन करता है।

२६७. जो भिक्षु राज्याधिपेक के स्थान, कथास्थान, मान-उन्मान-प्रमाण के स्थान या कुशलतापूर्वक जोर से बजाए जाते हुए वाद्य-तंत्री-तल-ताल-त्रुटित तथा तदनुरूप नृत्य, गायन

आदि के विषय में (प्रशंसा-निंदा मूलक) शब्द श्रवण की इच्छा से मनःसंकल्प करता है या ऐसा निश्चय करने वाले का अनुमोदन करता है।

२६८. जो भिक्षु राष्ट्रविप्लव, बाह्य-आभ्यन्तर उपद्रव, पारस्परिक अन्तर्कलह, वंशपरंपरागत वैर, घोर युद्ध, महासंग्राम, कलह या निम्नवचन प्रयोग के विषय में (प्रशंसा-निंदा मूलक) शब्द श्रवण की इच्छा से मनःसंकल्प करता है अथवा ऐसा निश्चय करने वाले का अनुमोदन करता है।

२६९. जो भिक्षु अनेक प्रकार के महोत्सवों में, जिनमें स्त्री, पुरुष, वृद्ध, अधेड़, बच्चे सामान्य वस्त्राभूषणों या विशेष अलंकार सज्जित होकर गाते हुए, बजाते हुए, नाचते हुए, हंसते हुए, क्रीड़ा करते हुए, मोहित करते हुए या विपुल अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप चतुर्विध आहार परस्पर बांट कर खाते हुए हों, के विषय में (प्रशंसा-निंदा मूलक) शब्द श्रवण की इच्छा से मनःसंकल्प करता है या ऐसा निश्चय करते हुए का अनुमोदन करता है।

२७०. जो भिक्षु ऐहिक, पारलौकिक, दृष्ट या अदृष्ट, सुने-अनसुने, ज्ञात-अज्ञात शब्दों को सुनने की इच्छा रखता है, उनमें लोलुप बनता है या अत्यन्त आसक्त होता है अथवा इन्हें सुनने की इच्छा करने वाले, लोलुप होने वाले या अत्यन्त आसक्त होने वाले का अनुमोदन करता है।

ऐसा करने वाले भिक्षु को लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

इस प्रकार पूर्वोक्त २५३ से २७० तक के सूत्रों में किए गए किसी भी प्रायश्चित्त स्थान का, तद्गत दोषों का सेवन करने वाले भिक्षु को उद्घातिक परिहार तप रूप लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

इस प्रकार विविध अध्ययन (निशीथ सूत्र) में सप्तदश उद्देशक परिष्कार प्राप्त हुआ।

विवेचन - इन सूत्रों में विविध विषयों के संदर्भ में कानों से सुनने की आसक्ति का प्रायश्चित्त बतलाया गया है। बारहवें उद्देशक में चक्षु दर्शन की आसक्ति के संदर्भ में किया गया विवेचन यहाँ भी योजनीय है। अन्तर केवल इतना सा है, वहाँ प्रत्यक्ष दर्शन हेतु जाने का निषेध है तथा यहाँ उन-उन भौतिक विषयों के संदर्भ में राग एवं कुतूहलवश सुनने का प्रतिषेध किया गया है।

॥ इति निशीथ सूत्र का सप्तदश उद्देशक समाप्त ॥

अट्टारसमो उद्देशओ - अष्टादश उद्देशक

नौका विहार विषयक प्रायश्चित्त

- जे भिक्खू अणट्टाए णावं दुरूहइ दुरूहंतं वा साइज्जइ ॥ १ ॥
- जे भिक्खू णावं किणइ किणावेइ कीयं आहट्टु देज्जमाणं दुरूहइ दुरूहंतं वा साइज्जइ ॥ २ ॥
- जे भिक्खू णावं पामिच्चइ पामिच्चावेइ पामिच्चं आहट्टु देज्जमाणं दुरूहइ दुरूहंतं वा साइज्जइ ॥ ३ ॥
- जे भिक्खू णावं परियट्टेइ परियट्टावेइ परियट्टं आहट्टु देज्जमाणं दुरूहइ दुरूहंतं वा साइज्जइ ॥ ४ ॥
- जे भिक्खू णावं अच्छेज्जं अणिसिट्ठं अभिहडं आहट्टु देज्जमाणं दुरूहइ दुरूहंतं वा साइज्जइ ॥ ५ ॥
- जे भिक्खू थलाओ णावं जले ओकसावेइ ओकसावेतं वा साइज्जइ ॥ ६ ॥
- जे भिक्खू जलाओ णावं थले उक्कसावेइ उक्कसावेतं वा साइज्जइ ॥ ७ ॥
- जे भिक्खू पुण्णं णावं उस्सिंचइ उस्सिंचंतं वा साइज्जइ ॥ ८ ॥
- जे भिक्खू सण्णं णावं उप्पिलावेइ उप्पिलावेतं वा साइज्जइ ॥ ९ ॥
- जे भिक्खू पडिणावियं कट्टु णावाए दुरूहइ दुरूहंतं वा साइज्जइ ॥ १० ॥
- जे भिक्खू उह्गामिणिं वा णावं अहोगामिणिं वा णावं दुरूहइ दुरूहंतं वा साइज्जइ ॥ ११ ॥
- जे भिक्खू जोयणवेलागामिणिं वा अद्धजोयणवेलागामिणिं वा णावं दुरूहइ दुरूहंतं वा साइज्जइ ॥ १२ ॥
- जे भिक्खू णावं आकसइ आकसावेइ आकसावेतं वा साइज्जइ ॥ १३ ॥
- जे भिक्खू णावं खेवावेइ खेवावेतं वा साइज्जइ ॥ १४ ॥
- जे भिक्खू णावं रज्जुणा वा कट्टेण वा कड्डइ कड्डंतं वा साइज्जइ ॥ १५ ॥

जे भिक्खू णावं अलित्तएण वा दंडेण वा पप्फिडएण वा वंसेण वा बलेण वा वाहेइ वाहेतं वा साइज्जइ ॥ १६ ॥

जे भिक्खू णावाओ उदगं भायणेण वा पडिग्गहणेण वा मत्तेण वा णावाउस्सिंचणेण वा उस्सिंचइ उस्सिंचंतं वा साइज्जइ ॥ १७ ॥

जे भिक्खू णावं उत्तिंगेण उदगं आसवमाणं उवरुवरि कज्जलावेमाणं पेहाए हत्थेण वा पाएण वा आसत्थपत्तेण वा कुसपत्तेण वा मट्टियाए वा चेलकण्णेण वा पडिपिहेइ पडिपिहेतं वा साइज्जइ ॥ १८ ॥

जे भिक्खू णावाओ णावागयस्स असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ ॥ १९ ॥

जे भिक्खू णावाओ जलगयस्स असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ ॥ २० ॥

जे भिक्खू णावाओ पंकगयस्स असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ ॥ २१ ॥

जे भिक्खू णावाओ थलगयस्स असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ ॥ २२ ॥

जे भिक्खू जलगओ णावागयस्स असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ ॥ २३ ॥

जे भिक्खू जलगओ जलगयस्स असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ ॥ २४ ॥

जे भिक्खू जलगओ पंकगयस्स असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ ॥ २५ ॥

जे भिक्खू जलगओ थलगयस्स असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ ॥ २६ ॥

जे भिक्खू पंकगओ णावागयस्स असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ ॥ २७ ॥

जे भिक्खू पंकगओ जलगयस्स असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं
वा पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ ॥ २८ ॥

जे भिक्खू पंकगओ पंकगयस्स असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं
वा पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ ॥ २९ ॥

जे भिक्खू पंकगओ थलगयस्स असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं
वा पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ ॥ ३० ॥

जे भिक्खू थलगओ णावागयस्स असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं
वा पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ ॥ ३१ ॥

जे भिक्खू थलगओ जलगयस्स असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं
वा पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ ॥ ३२ ॥

जे भिक्खू थलगओ पंकगयस्स असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं
वा पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ ॥ ३३ ॥

जे भिक्खू थलगओ थलगयस्स असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं
वा पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ ॥ ३४ ॥

कठिन शब्दार्थ - अणट्टाए - बिना कारण के, किणइ - खरीदता है, किणावेइ -
खरीदवाता है, कीयं - खरीदी हुई, पामिच्चइ - प्राप्त्य - उधार लाई हुई, ओकसावेइ -
अवकर्षयति - उतरवाता है, पुण्णं - पूर्ण - जलभृत, उरिस्संचइ - जल रहित करता है,
सण्णं - कीचड़ में फंसी हुई, ठधिलावेइ - उत्प्लावयति - बाहर निकलवाता है, पडिणाधियं-
प्रतिनाधिक, उड्डुगामिणिं - ऊर्ध्वगामिनी - जल प्रवाह के विरुद्ध गतिशील, अहोगामिणिं -
अधोगामिनी - प्रवाह के अनुसार गतिशील, जोयणवेलागामिणिं - एक योजन तक जाने
वाली, अद्धजोयणवेलागामिणिं - अर्द्धयोजन परिमित जाने वाली, आकसइ - खींचता है,
अकसावेइ - खिंचवाता है, खेवावेइ - पतवार द्वारा अन्य से (नाव का पानी में) चालन
करवाता है (खिवाता है), कड्डइ - कर्षति - खींचता है (निकालता है), अलित्तएण -
अरित्रेण - चप्पू, पण्णिकडएण - नौका चलाने का उपकरण विशेष (पतवार सदृश), वंसेण-
बांस से, बल्लेण - बल्ले से (चौड़ा काष्ठ पट्ट), वाहेइ - चलवाता है, उत्तिंगेणं - छिद्र से,
उबत्तव्वारिं - वेगपूर्वक, कज्जलावेमाणं - डूबती हुई, पेहाए - देख कर, आसत्थपत्तेण -

पीपल के पत्ते से, कुसपत्तेण - डाभ के पत्ते से, मट्टियाए - मिट्टी से, पडिपिहेइ - प्रतिपिदघाति - छिद्र को रोकता है, णावाओ - नाव में, णावागयस्स - नौकास्थित।

भावार्थ - १. जो भिक्षु बिना कारण के नौका पर बैठता है या बैठने वाले का अनुमोदन करता है।

२. जो भिक्षु नौका को खरीदता है, खरीदवाता है या खरीद कर दी जाती हुई नौका पर चढता है अथवा चढने वाले का अनुमोदन करता है।

३. जो भिक्षु नौका उधार लेता है, उधार लेने के लिए प्रेरित करता है या उधार ले कर दी जाती हुई नौका पर सवार होता है अथवा सवार होते हुए का अनुमोदन करता है।

४. जो भिक्षु नौका की अदला-बदली (परिवर्तन) करता है, करवाता है या परिवर्तित कर दी हुई नाव पर चढता है अथवा चढने वाले का अनुमोदन करता है।

५. जो भिक्षु छीनकर ली हुई (आच्छिन्न), अनेकों के आधिपत्य वाली (बिना स्वामी की आज्ञा के लायी हुई - अनिसृष्ट) तथा बिना याचना के घर से ला कर दी गई (अभिहत) नौका पर सवार होता है या सवार होते हुए का अनुमोदन करता है।

६. जो भिक्षु थल से नौका को जल में अवतरित करता है अथवा अवतरित करते हुए का अनुमोदन करता है।

७. जो भिक्षु जल से नौका को थल पर स्थापित करवाता है (जल से बाहर निकलवाता है) या ऐसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

८. जो भिक्षु जल से भरी हुई नौका को (अंजलि आदि से) खाली करता है या ऐसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

९. जो भिक्षु कीचड़ से सनी हुई या फंसी हुई नौका को बाहर निकालता है अथवा निकालते हुए का अनुमोदन करता है।

१०. जो भिक्षु प्रतिनाविक (अन्य नाविक को नियुक्त) कर नौका में सवार होता है या ऐसा कर सवार होने वाले का अनुमोदन करता है।

११. जो भिक्षु ऊर्ध्वगामिनी नौका या अधोगामिनी नौका पर सवार होता है अथवा ऐसा करने वाले का अनुमोदन करता है।

१२. जो भिक्षु एक योजन परिमित या अर्द्धयोजन परिमित तक जाने वाली नौका पर सवार होता है अथवा ऐसा करने वाले का अनुमोदन करता है।

१३. जो भिक्षु नौका को खींचता है, खिंचवाता है या ऐसा करने वाले का अनुमोदन करता है।

१४. जो भिक्षु नौका को (किसी अन्य से) खिवाता है अथवा खिवाते हुए का अनुमोदन करता है।

१५. जो भिक्षु नाव को रस्सी से या काष्ठ से (पानी में से) निकालता है (खींचता है) अथवा निकालते हुए का अनुमोदन करता है।

१६. जो भिक्षु नौका को चप्पू, दण्ड, पफ्फिडक (नौका चलाने में प्रयुक्त होने वाला उपकरण विशेष), बांस या बल्ले से चालित करवाता है (करता है) अथवा ऐसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

१७. जो भिक्षु नौका से जल निकालने के पात्र, स्वयं के पात्र, लघु पात्र (मात्रक) अथवा नौका में से जल बाहर उलीचने के पात्र (उसिंचनक) से नौका स्थित जल बाहर निकालता है या ऐसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

१८. जो भिक्षु नौका के छिद्र में से आते हुए पानी से डूबती हुई नौका को देख कर हाथ, पैर, पीपल के पत्ते, डाभ, मृत्तिका या वस्त्र खण्ड से उस छिद्र को अवरुद्ध करता है अथवा ऐसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

१९. जो भिक्षु स्वयं नौका में (सवार) रहते हुए नौका स्थित गृहस्थ से अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप चतुर्विध आहार ग्रहण करता है या ग्रहण करते हुए का अनुमोदन करता है।

२०. जो भिक्षु स्वयं नौका में (सवार) रहते हुए जल में स्थित गृहस्थ से अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप चतुर्विध आहार ग्रहण करता है अथवा ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

२१. जो भिक्षु स्वयं नौका में (सवार) रहते हुए कीचड़ में स्थित गृहस्थ से अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप चतुर्विध आहार ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

२२. जो भिक्षु नौका में (सवार) रहते हुए स्थल पर खड़े गृहस्थ से अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप चतुर्विध आहार ग्रहण करता है अथवा ग्रहण करते हुए का अनुमोदन करता है।

२३. जो भिक्षु स्वयं जल में रहते हुए नौका स्थित गृहस्थ से अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप चतुर्विध आहार ग्रहण करता है या ग्रहण करते हुए का अनुमोदन करता है।

२४. जो भिक्षु स्वयं जल में रहते हुए जल में स्थित गृहस्थ से अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप चतुर्विध आहार ग्रहण करता है अथवा ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

२५. जो भिक्षु स्वयं जल में रहते हुए कीचड़ में स्थित गृहस्थ से अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप चतुर्विध आहार ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

२६. जो भिक्षु स्वयं जल में रहते हुए स्थल पर खड़े गृहस्थ से अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप चतुर्विध आहार ग्रहण करता है अथवा ग्रहण करते हुए का अनुमोदन करता है।

२७. जो भिक्षु स्वयं कीचड़ में रहते हुए नौका स्थित गृहस्थ से अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप चतुर्विध आहार ग्रहण करता है या ग्रहण करते हुए का अनुमोदन करता है।

२८. जो भिक्षु स्वयं कीचड़ में रहते हुए जल में स्थित गृहस्थ से अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप चतुर्विध आहार ग्रहण करता है अथवा ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

२९. जो भिक्षु स्वयं कीचड़ में रहते हुए कीचड़ में स्थित गृहस्थ से अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप चतुर्विध आहार ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

३०. जो भिक्षु स्वयं कीचड़ में रहते हुए स्थल पर खड़े गृहस्थ से अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप चतुर्विध आहार ग्रहण करता है अथवा ग्रहण करते हुए का अनुमोदन करता है।

३१. जो भिक्षु स्वयं स्थल पर रहते हुए नौका स्थित गृहस्थ से अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप चतुर्विध आहार ग्रहण करता है या ग्रहण करते हुए का अनुमोदन करता है।

३२. जो भिक्षु स्वयं स्थल पर रहते हुए जल में स्थित गृहस्थ से अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप चतुर्विध आहार ग्रहण करता है अथवा ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

३३. जो भिक्षु स्वयं स्थल पर रहते हुए कीचड़ में स्थित गृहस्थ से अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप चतुर्विध आहार ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

३४. जो भिक्षु स्वयं स्थल पर रहते हुए स्थल पर खड़े गृहस्थ से अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप चतुर्विध आहार ग्रहण करता है अथवा ग्रहण करते हुए का अनुमोदन करता है।

इस प्रकार उपर्युक्त अविहित कार्य करने वाले भिक्षु को लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - एक मुमुक्षु व्यक्ति जब भिक्षु जीवन में दीक्षित होता है तब वह समग्र सावद्य योगों का परित्याग कर देता है तथा प्राणातिपात-विरमण - अहिंसा आदि पाँच महाव्रतों को अपनाता है। प्राणातिपात-विरमण के अन्तर्गत वह पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजस्काय,

वायुकाय, वनस्पतिकाय एवं त्रसकाय - इन षट्कायिक जीवों की विराधना का, हिंसा का प्रत्याख्यान कर देता है। वह अपनी दैनंदिन चर्या में इस बात का सदैव ध्यान रखता है कि उस द्वारा जहाँ तक उसका वश चले किन्हीं जीवों की विराधना न हो। इसी कारण भिक्षु पादविहारी होता है। वह भूमि पर यतनापूर्वक चलता है, किसी वाहन का प्रयोग नहीं करता।

इसी संदर्भ में यहाँ नौका प्रयोग के विविध प्रसंगों का वर्णन है, जो प्रायश्चित्त योग्य है।

अपकाय की अत्यधिक हिंसा को देखते हुए भिक्षु के लिए नौका द्वारा विहार करना, जाना निषिद्ध है, किन्तु किन्हीं विशेष परिस्थितियों के कारण अपवाद के रूप में नौका प्रयोग का विशेष नियमों, मर्यादाओं या सीमाओं के साथ विधान किया गया है। वे नियम, मर्यादाएँ या सीमाएँ ऐसी हैं, जिनके कारण भिक्षु अपकाय आदि की हिंसा से अधिकाधिक बचा रह सके।

भिक्षु प्रवचन प्रभावना या धर्मप्रसार की दृष्टि से कहीं जाने हेतु नौका का प्रयोग नहीं कर सकता, क्योंकि सबसे पहले उसे आत्म-कल्याण साधना आवश्यक है। नौका प्रयोग में होने वाली अपकाय की विपुल हिंसा से उसका आत्म लक्ष्य व्याहत होता है। किन्तु कतिपय अनिवार्य परिस्थितियों के कारण सूत्रोक्त सिद्धान्तों का अनुसरण करते हुए उसके लिए नौका प्रयोग का विधान है।

नौका विहार का प्रमुख कारण तो कल्पमर्यादा का परिपालन है साथ ही कोई संघीय भिक्षु अन्यत्र रुग्ण हो, उसके वैयावृत्य की समीचीन व्यवस्था न हो, स्थल मार्ग द्वारा वहाँ यथासमय पहुँचना अतीव कठिन हो तो नौका प्रयोग विहित है। इसी प्रकार भिक्षु जहाँ विचरण करता हो, दुर्भिक्ष आदि के कारण भिक्षा दुष्प्राप्य हो, स्थल के मार्ग से ऐसे क्षेत्र में पहुँचना अशक्य हो, जहाँ भिक्षा प्राप्त हो सके तब नौका प्रयोग विहित माना गया है। स्थल मार्ग अत्यन्त जीवाकुल हो, बहुत लम्बा हो जिससे बीच में शुद्ध, ऐषणीय आहार-पानी प्राप्त न हो सके, जिसमें चोरों, दस्युओं, अनार्यजनों एवं दुर्दान्त, हिंसक जीवों का भय हो, जो राजा द्वारा निषिद्ध हो, वैसी स्थिति में नौका विहार का आपवादिक विधान है।

भिक्षु सर्वथा अपरिग्रही, स्वावलम्बी और आत्मनिर्भर होता है। वह किसी पर किसी भी रूप भार नहीं बनता। कोई स्वेच्छा से त्याग-भावना पूर्वक शास्त्रीय मर्यादानुकूल निरवद्य रूप में उसकी आहार-पानी, वस्त्र, पात्र तथा चर्यानुगत आवश्यकताओं की पूर्ति में सहयोगी होता है तभी वह भिक्षा आदि के रूप में उसका सहयोग स्वीकार करता है।

नौका प्रयोग में भी यह सिद्धान्त सर्वथा लागू होता है। यदि नाविक स्वेच्छा से आध्यात्मिक सेवा के भाव से भिक्षु को नौका प्रयोग की सानुरोध स्वीकृति देता है तभी भिक्षु उसमें बैठ सकता है, जा सकता है।

भिक्षु तो सर्वथा अपरिग्रही होता है। अतः उस द्वारा नौका खरीदा जाना, किराए पर लिया जाना संभव ही कहाँ है? फिर भी यदि वह अपने किसी श्रद्धालु अनुयायी द्वारा ऐसा करवाए तो वह भी दोषयुक्त है।

यह स्पष्ट है कि नौका विहार अप्कायिक जीवों की घोर हिंसा को हेतु है, अतः नौका परिचालन, संरक्षण आदि में भिक्षु किसी भी प्रकार का भाग नहीं लेता, न किसी अन्य को अपनी ओर से भाग लेने की प्रेरणा ही देता है। वह तो सर्वथ निःस्पृह एवं आत्मस्थ रहता है। जैसी कि इस प्रसंग में वर्णित हुआ है, यदि नौका में छेद हो जाए, पानी भरने लगे, उसे उलीच-उलीच कर फेंकना पड़े तो भी भिक्षु उसमें सहयोगी नहीं होता, क्योंकि इसमें अप्काय का विपुल विधात स्पष्ट है। यदि अपने महाव्रतानुगत संयममय जीवन की रक्षा में भिक्षु के प्राण भी चले जाएँ तो उसके लिए कोई चिन्ता की बात नहीं है।

जैसा कि आचारांग सूत्र में प्रतिपादित हुआ है, भिक्षु जब नौका पर सवार होने के लिए नदी के तट पर पहुँचे तब वह अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य रूप चतुर्विंत आहार का त्याग करके सागारी संधारा स्वीकार कर ले, वह अपने साथ जरा भी आहारादि न रखे, अपने वस्त्र-पात्रादि को एक साथ बांध ले।

ऐसी स्थिति में नौका में स्थित लोगों से आहार-पानी आदि लेने का विकल्प ही नहीं रहता। अत एव इन सूत्रों में तद्विषयक परिवर्जन की बात कही गयी है और वैसा करना प्रायश्चित्त योग्य बतलाया गया है।

उपर्युक्त सूत्र में "जोयण एवं अद्धजोयण" ये दो शब्द दिए गए हैं, इसका तात्पर्य यह है कि सामान्य रूप से तो अर्ध योजन से अधिक चलने वाली नावा में भी नहीं जाना चाहिए, किन्तु अत्यन्त विकट स्थिति में कभी अनिवार्य रूप से जाने का प्रसंग आ जाए तो भिक्षु एक योजन चलने वाली नावा में जा सकता है, किन्तु एक योजन से अधिक जाने वाली नावा का तो उसे पूर्णतया वर्जन करना चाहिए।

नौका विहार में भी अप्काय की हिंसा से अधिकाधिक बचा जा सके, भिक्षु का ऐसा

प्रयत्न रहे। अत एव आते हुए तेज जल प्रवाह की ओर जाती नौका का निषेध किया गया है, क्योंकि तीव्र वेग के कारण वहाँ अप्कायिक जीवों की अत्यधिक विराधना होती है, विघात होता है।

आचारांग, बृहत्कल्प तथा दशाश्रुतस्कंध इत्यादि सूत्रों में विशेष प्रयोजन, परिस्थिति आदि के कारण नौका विहार का आपवादिक रूप में विधान हुआ है, जो पठनीय है।

नियम विरुद्ध वस्त्र ग्रहण विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्षू वत्थं किणइ किणावेइ कीयं आहट्टु देज्जमाणं पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ ॥ ३५ ॥

(इओ आरब्भ चउहसमुहेसस्स सयलाणिवि सुत्ताणि पडिग्गहठाणे वत्थमुवजुंजिय वत्तव्वाणि जाव) जे भिक्षू वत्थणीसाए वासावासं वसइ वसंतं वा साइज्जइ, णवरं कोरणं णत्थि। तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्टाणं उग्घाइयं ॥ ३६-८८ ॥

॥ णिसीहउज्जयणे अट्टारसमो उहेसो समत्तो ॥

कठिन शब्दार्थ - इओ - इस प्रकार, आरब्भ - प्रारंभ से, सयलाणिवि - सकलानि अपि - सभी, ठाणे - स्थान में, वत्थमुवजुंजिय - वस्त्र उपयोग में लेना चाहिए (वस्त्र शब्द प्रयुक्त करना चाहिए), णवरं - विशेष बात यह है, कोरणं - उत्कीर्णन विषयक, णत्थि - नास्ति - नहीं है।

भावार्थ - ३५. जो भिक्षु वस्त्र खरीदता है, खरीदवाता है अथवा खरीद कर दिए जाते हुए को ग्रहण करता है या ऐसा करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

३६-८८. (इस प्रकार चतुर्दश उद्देशक के आरंभ से ले कर सभी सूत्र (सूत्र क्रमांक ४९ को छोड़ कर) यहाँ जानने चाहिए परन्तु यहाँ पात्र के स्थान पर वस्त्र शब्द उपयोग में लेना चाहिए) यावत् जो भिक्षु वस्त्र की इच्छा से (प्रतिबद्ध हो कर) स्थान विशेष में वर्षावास करता है या करते हुए का अनुमोदन करता है। यहाँ इतना अन्तर है (पात्र पर) कोरनी (उत्कीर्तन) विषयक सूत्र (क्रमांक ४९) यहाँ नहीं मानना चाहिए। (योजित नहीं करना चाहिए क्योंकि वस्त्र पर उत्कीर्णन नहीं होता, वह तो पात्र पर ही संभव है)।

इस प्रकार उपर्युक्त ८८ सूत्रों में किए गए किसी भी प्रायश्चित्त स्थान का, तद्गत दोषों का सेवन करने वाले भिक्षु को उद्घातक परिहार-तप रूप लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

इस प्रकार निशीथ अध्ययन (निशीथ सूत्र) में अष्टादश उद्देशक परिसमाप्त हुआ।

विवेचन - चतुर्दश उद्देशक में पात्र के संदर्भ में जो वर्णन हुआ है, यहाँ वैसा ही वर्णन वस्त्र के संबंध में आया है। जिस प्रकार पात्र का क्रम आदि निषिद्ध है, वैसा करना प्रायश्चित्त योग्य है, वही बात वस्त्र पर लागू होती है।

पात्र एवं वस्त्र विषयक जो प्रायश्चित्त योग्य वर्णन आया है, वह भिक्षु को संयम के अक्षुण्ण पालन में जागरूक बनाए रखने हेतु है। पात्र एवं वस्त्र आदि प्राप्त करना केवल उस शरीर की अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु है, जो संयम का साधनभूत है। वहाँ तो एक मात्र प्रमुखता व्रताराधनामय जीवन के सम्यक् संवहन की है। इसलिए पात्र, वस्त्र आदि की प्राप्ति में भिक्षु वैसा कोई उद्यम नहीं करता जो उसकी साधना सम्मत चर्या के विपरीत हो। भिक्षु सर्वथा अपरिग्रही होता है अतः वस्त्र के क्रय करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता, फिर जो यहाँ वस्त्र क्रय की बात कही है, उसका आशय यह है कि जब किसी भिक्षु के मन में वस्त्र के प्रति आसक्ति हो जाए तो वह अपने प्रभाव का दुरुपयोग कर किसी अन्ध-श्रद्धालु से मूल्य चुकवा कर वस्त्र ले सकता है, जो सर्वथा अनुचित है, शास्त्र विरुद्ध है, दोष युक्त है।

भिक्षु भी इस माया मोहमय संसार में रहता है, यद्यपि उसकी मनोभूमिका उससे अतीत होती है पर यदि कदाचन उससे यत्किंचित प्रभावित होकर उसके मन में वस्त्र आदि के प्रति कुछ आसक्ति हो जाए तो इस प्रकार के दूषित उपक्रम आशंकित हैं। अत एव यहाँ एतद्विषयक प्रायश्चित्त का विधान किया गया है।

॥ इति निशीथ सूत्र का अष्टादश उद्देशक समाप्त ॥



एगूणवीसइमो उद्देसओ - एकोनविंश उद्देशक

प्रपाणक ग्रहण विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू वियडं किणइ किणावेइ कीयं आहट्टु दिज्जमाणं पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ ॥ १ ॥

जे भिक्खू वियडं पामिच्चइ पामिच्चावेइ पामिच्चं आहट्टु दिज्जमाणं पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ ॥ २ ॥

जे भिक्खू वियडं परियट्टेइ परियट्टावेइ परियट्टियं आहट्टु दिज्जमाणं पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ ॥ ३ ॥

जे भिक्खू वियडं अच्छिज्जं अणिसिट्ठं अभिहडं आहट्टु दिज्जमाणं पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ ॥ ४ ॥

जे भिक्खू गिलाणस्स अट्टाए परं तिण्हं वियडदत्तीणं पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ ॥ ५ ॥

जे भिक्खू वियडं गहाय गामाणुगामं दूइज्जइ दूइज्जंतं वा साइज्जइ ॥ ६ ॥

जे भिक्खू वियडं गालेइ गालावेइ गालियं आहट्टु दिज्जमाणं पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेतं वा साइज्जइ ॥ ७ ॥

कठिन शब्दार्थ - वियडं - विकृत - प्रपाणक आदि, गिलाणस्स - ग्लान - रोगी, अट्टाए - अर्थाय - प्रयोजन हेतु, वियडदत्तीणं - प्रपाणक की मात्रा, परं - अधिक, गालेइ - गलाता है।

भावार्थ - १. जो भिक्षु प्रपाणक (आसव आदि आरोग्यप्रद पेय पदार्थ) खरीदता है, खरीदवाता है या खरीद कर दिए जाते हुए को ग्रहण करता है अथवा ऐसा करने वाले का अनुमोदन करता है।

२. जो भिक्षु प्रपाणक आदि पेय पदार्थ उधार लेता है, उधार लेने के लिए प्रेरित करता है अथवा उधार ला कर देते हुए से गृहीत करता है या ऐसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

३. जो भिक्षु प्रपाणक आदि पेय पदार्थ परस्पर बदलता है, बदलवाता है या बदल कर दिए जाते हुए को प्रतिगृहीत करता है अथवा ऐसा करने वाले का अनुमोदन करता है।

४. जो भिक्षु छीन कर लिए हुए, अनेक स्वामियों के आधिपत्य युक्त (उनकी आज्ञा के बिना) लिए हुए या बिना याचना ला कर दिए जाते हुए प्रपाणक (आसव आदि औषध) को ग्रहण करता है अथवा ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।

५. जो भिक्षु ग्लान (रोगी भिक्षु) के लिए तीन दत्ती से अधिक प्रपाणक (विशेष आरोग्यप्रद पेय पदार्थ) ग्रहण करता है या ऐसा करते हुए का अनुमोदन करता है।

६. जो भिक्षु प्रपाणक को गृहीत कर एक गाँव से दूसरे गाँव विहार करता है अथवा विहार करते हुए का अनुमोदन करता है।

७. जो भिक्षु (स्वयं) प्रपाणक पदार्थ को गलाता - तैयार करता है, गलवाता है या गला कर दिए जाते हुए का अनुमोदन करता है।

इस प्रकार उपर्युक्त दोष सेवन करने वाले भिक्षु को लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - इन सूत्रों में प्रयुक्त (अर्धमागधी प्राकृत के) 'वियड' शब्द के संस्कृत में विकृत, विवृत तथा विकट आदि अनेक रूप होते हैं। यहाँ 'वियड' शब्द विकृत सूचक है। 'विपरीत कृतम् - विकृतम्' किसी पदार्थ में अन्य पदार्थ मिला कर विशिष्ट प्रक्रिया या प्रयोग द्वारा उसका स्वरूप परिवर्तित कर दिया जाता है, उसे विकृत कहा जाता है।

भाषा शास्त्रीय दृष्टि से प्राचीन काल में विकार का प्रयोग परिवर्तन के अर्थ में होता था। अपने मूल, व्यक्त स्वरूप से भिन्न रूप और भिन्न प्रभाव प्राप्त वस्तु को विकृत - विकारयुक्त-परिवर्तन युक्त कहा जाता था।

भाषा कालक्रम से सामाजिक मान्यताओं तथा मानसिकताओं के आधार पर परिवर्तन के अनेक स्तरों में से गुजरती है। वैसी स्थिति में आगे चल कर विकार (परिवर्तन) या विकृति में दूषितता का योग जुड़ गया, जिससे बिगाड़ के अर्थ में उसका प्रयोग होने लगा।

यहाँ 'वियड - विकृत' शब्द आरोग्यप्रद प्रपाणक के अर्थ में है। विशिष्ट, तरल, पेय औषधियों को प्रपाणक कहा जाता है। उनमें आसव, अरिष्ट, फांट, क्वाथ तथा अर्क आदि का समावेश है। इतर जड़ी बूटियों के योग और आयुर्वेदिक प्रक्रिया द्वारा इनका मूल रूप परिवर्तित हो जाता है, ये अचित्त हो जाते हैं। इनमें से आसव, अरिष्ट आदि में यत्किंचित्त

मादकता भी होती है। किन्तु रुग्णावस्था में इनका सीमित प्रयोग अविहित नहीं है। इसीलिए यहाँ तीन दत्ति से अधिक लेने का परिवर्जन है।

“ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र के पांचवें अध्ययन में - शैलक राजर्षि के वर्णन में ‘मञ्जपाणग’ शब्द से - द्राक्षासव द्राक्षारिष्ट आदि औषधियों के सेवन का उल्लेख हुआ है। अतः ‘विडय’ शब्द से इस प्रकार की औषधियाँ तथा केसर, कस्तूरी, अम्बर, अफीम आदि बहुमूल्य एवं मादक पदार्थों को समझना चाहिए। रोग आदि कारणों से उपर्युक्त पदार्थों को साधु मर्यादा के अनुसार ग्रहण करना शास्त्र निषिद्ध नहीं है। प्रसिद्ध मदिराओं (देशी या अंग्रेजी शराबों) के ग्रहण का तो निषेध ही समझना चाहिए। क्योंकि आगमों में अनेक स्थलों पर उनका निषेध किया गया है एवं उन्हें ‘नरक गति’ का हेतु बताया गया है।”

यहाँ प्रपाणक के क्रय आदि का जो वर्णन हुआ है, उसका अभिप्राय उसी प्रकार का है, जैसा पात्र एवं वस्त्र के क्रय आदि का है।

विडय - विकृत के रूप में प्रपाणक का यहाँ विशेष रूप से इसलिए वर्णन हुआ है कि सामान्यतः आसव आदि का भिक्षु द्वारा प्रयोग नहीं किया जाता। अत एव अपरिहार्य आवश्यकता के बिना भिक्षु प्रपाणक रूप औषधि प्राप्त करने की दिशा में उद्यत न रहे, यह वांछनीय है।

क्रय आदि का विशेष रूप से उल्लेख आसक्ति वर्जन की दिशा में प्रेरणा प्रदान करने हेतु है।

चतुर्विध संध्याओं में स्वाध्याय संबंधी प्रायश्चित्त

जे भिक्खू चउहिं संझाहिं सञ्जायं करेइ करेत्तं वा साइज्जइ, तंजहा-
पुव्वाए संझाए पच्छिमाए संझाए अवरणहे अङ्गरत्ते ॥ ८ ॥

कठिन शब्दार्थ - चउहिं - चारों ही, संझाहिं - संध्याओं में, सञ्जायं - स्वाध्याय - सूत्र पठन-पाठन आदि कार्य, अवरणहे - अपराह, अङ्गरत्ते - अर्द्धरात्रि में।

भावार्थ - ८. जो भिक्षु चारों ही संध्याओं में स्वाध्याय करता है या स्वाध्याय करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

ये संध्याएँ - पूर्व संध्या, पश्चिम संध्या, अपराह तथा अर्द्धरात्रि के रूप में चार प्रकार की कही गई हैं।

विवेचन - इस सूत्र में चारों संध्याओं में स्वाध्याय करना प्रायश्चित्त योग्य बतलाया गया है।

सूरज उगने के समय पूर्व दिशा में जो लालिमा रहती है तब तक का समय पूर्व संध्या कही जाता है। वह लालिमा सूर्योदय से पूर्व कुछ अधिक समय तक और सूर्योदय के पश्चात् कुछ कम समय तक रहती है। दोनों का सम्मिलित काल लगभग एक मुहूर्त का होता है।

सूरज छिपने के समय भी छिपने से कुछ पूर्व तथा छिपने के पश्चात् पश्चिम दिशा में लालिमा रहती है। वह छिपने से पूर्व कम समय तक एवं छिपने के बाद कुछ अधिक समय तक रहती है। दोनों का सम्मिलित काल लगभग एक मुहूर्त का होता है। उसे पश्चिम संध्या कहा जाता है।

दिन के मध्य का समय अपराह्न है। जितने मुहूर्त का दिन हो, इसके बीच का मुहूर्त अपराह्न संध्या कहा जाता है। सामान्यतः यह बारह और एक बजे के मध्य होती है। दिन की हानि-वृद्धि के अनुसार कभी-कभी वह पहले या पीछे भी हो जाती है।

रात्रि का मध्य काल अर्द्धरात्रि संध्या कहा गया है। जितने मुहूर्त की रात्रि होती है, उसके बीच का मुहूर्त अर्द्धरात्रि संध्या होता है।

पूर्व संध्या और पश्चिम संध्या का समय भिक्षु के लिए प्रतिक्रमण तथा प्रतिलेखन करने का है। उसमें स्वाध्याय करने से इन आवश्यक क्रियाओं में बाधा उत्पन्न होती है।

मध्याह्न और मध्य रात्रि का समय अशुभ माना गया है। लौकिक शास्त्रों का भी उसमें वाचन-पठन नहीं किया जाता। अतः आगमों का स्वाध्याय करना तो अनुपयुक्त है ही।

ऐसी मान्यता है कि ये चारों संध्याएँ व्यन्तर देवों - भूत - प्रेतादिकों के भ्रमण का समय है। अतः किसी प्रकार का प्रमाद होने पर उन द्वारा उपसर्ग किया जाना आशंकित है।

अविहित काल में कालिक श्रुत मर्यादा उल्लंघन विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू कालियसुयस्स परं तिण्हं पुच्छाणं पुच्छइ पुच्छंतं वा साइज्जइ ॥९॥

जे भिक्खू दिट्ठिवायस्स परं सत्तण्हं पुच्छाणं पुच्छइ पुच्छंतं वा साइज्जइ ॥१०॥

कठिन शब्दार्थ - पुच्छाणं - पृच्छाओं को, पुच्छइ - पूछता है, सत्तण्हं - सात।

भावार्थ - ९. जो भिक्षु कालिकश्रुत की तीन से अधिक पृच्छाएँ (अकाल में) पूछता है या पूछते हुए का अनुमोदन करता है।

१०. जो भिक्षु दृष्टिवाद की सात से अधिक पृच्छाएँ (अकाल में) पूछता है अथवा पूछते हुए का अनुमोदन करता है।

ऐसा करने वाले भिक्षु को लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - कालिकश्रुत के लिए दिन तथा रात का पहला और दोनों का ही आखिरी पहर स्वाध्याय काल है। दूसरा एवं तीसरा पहर उत्काल माना गया है। उत्काल में कालिक श्रुत का अध्ययन अविहित है। किन्तु नव अध्ययन के कंठाग्रीकरण इत्यादि की अपेक्षा से प्रस्तुत प्रसंग में कतिपय आपवादिक मर्यादाओं का उल्लेख हुआ है। उनमें आचारांग आदि कालिकश्रुत के लिए तीन पृच्छाओं का और दृष्टिवाद के लिए सात पृच्छाओं का विधान है।

दृष्टिवाद में अत्यन्त सूक्ष्म, सूक्ष्मतर विषयों का भेद, प्रभेद, अंग आदि के रूप में विस्तृत वर्णन है। इसलिए वहाँ सात पृच्छाओं का विधान हुआ है, जिससे जिज्ञासित विषयों का समाधान प्राप्त करने में सुविधा रहे।

पृच्छा का तात्पर्य पूछना अर्थात् प्रश्नोत्तर या जिज्ञासा - समाधान है। निशीथ भाष्य में पृच्छा का स्वरूप बतलाते हुए कहा है:-

“तीन श्लोकों से पृच्छा होती है, तीन पृच्छाओं में नौ श्लोक होते हैं। ये प्रत्येक कालिक सूत्र के लिए है। दृष्टिवाद में सात पृच्छाओं के अन्तर्गत इक्कीस श्लोक होते हैं।”

भाष्य में निर्दिष्ट सीमा तक प्रश्नोत्तर करना संगत है। उससे अधिक पृच्छाएँ या प्रश्नोत्तर करना प्रायश्चित्त योग्य हैं।

महामहोत्सवों के प्रसंग पर स्वाध्याय विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू चउसु महामहेसु सज्जायं करेइ करेत्तं वा साइज्जइ, तंजहा-
१ इंदमहे २ खंदमहे ३ जक्खमहे ४ भूयमहे ॥ ११ ॥

जे भिक्खू चउसु महापाडिवएसु सज्जायं करेइ करेत्तं वा साइज्जइ, तंजहा -
आसोयपाडिवए, कत्तियपाडिवए, सुगिम्हयपाडिवए, आसादीपाडिवए ॥ १२ ॥

कठिन शब्दार्थ - सुगिम्हय - सुग्रीष्मिक - चैत्र शुक्ला पूर्णिमा के बाद आने वाली प्रतिपदा - वैशाख कृष्णा प्रतिपदा।

भावार्थ - ११. जो भिक्षु इन्द्रमहोत्सव, स्कंदमहोत्सव, यक्षमहोत्सव एवं भूतमहोत्सव - इन चार महामहोत्सवों (विशाल उत्सवों) में स्वाध्याय करता है या स्वाध्याय करने वाले का अनुमोदन करता है।

● तिहिं सिलोगेहिं एणा पुच्छा, तिहिं पुच्छाहिं णव सिलोगा भवति एयं कालिकसुयस्य एगतरं।
दिट्ठिवाए सत्तसु पुच्छासु एगवीसं सिलोगा भवति। - भाष्य गाथा - ६०६१

१२. जो भिक्षु - १. आश्विनी प्रतिपदा (कार्तिक कृष्णा प्रतिपदा) २. कार्तिक प्रतिपदा (मार्गशीर्ष कृष्णा प्रतिपदा) ३. सुग्रीष्मिक प्रतिपदा (वैशाख कृष्णा प्रतिपदा) ४. आषाढी प्रतिपदा (श्रावण कृष्णा प्रतिपदा) - इन चार महाप्रतिपदाओं में स्वाध्याय करता है अथवा स्वाध्याय करने वाले का अनुमोदन करता है।

ऐसा करने वाले भिक्षु को लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - लोक में भौतिक अभीप्साओं की पूर्ति हेतु अनेक देवों को उद्दिष्ट कर बड़े-बड़े उत्सव मनाए जाते रहे हैं। देवों का अर्चन, पूजन, नैवेद्य, समर्पण, उनके आगे वाद्य वादन, नृत्य, गायन आदि किए जाते हैं। दिनभर खाने-पीने का क्रम चलता है। ऐसी स्थिति में वहाँ स्वाध्याय करना कदापि संगत नहीं है। स्वाध्याय तो उत्तम, प्रशस्त, स्वस्थ वातावरण में ही भलीभाँति होता है। कोलाहलमय वातावरण में स्वाध्याय करने से स्खलना भी हो सकती है। ऐसा माना जाता है कि ऐसे अवसरों पर अनेक देवों का संचरण-विचरण होता रहता है। वे देव भिन्न-भिन्न स्वभाव युक्त तथा उनमें से कतिपय कौतुकप्रिय भी होते हैं। कुतूहलवश या स्वाध्याय में स्खलन होने पर वे उपद्रव भी कर सकते हैं।

अनेक स्थानों से अनेक लोग महोत्सव में सम्मिलित होने हेतु आते रहते हैं, अनेक वापस लौटते रहते हैं यों बड़ा ही भीड़भरा, अशान्त वातावरण होता है, जो स्वाध्याय के लिए अनुपयुक्त है।

लोक में इन्द्र वर्षा का देव माना जाता है। उपयुक्त समय में यथेष्ट वर्षा के लिए इन्द्र पूजा के रूप में बड़े-बड़े महोत्सव मनाए जाते रहे हैं। स्कंध-शिव के पुत्र माने जाते हैं, उन्हें देवों का सेनापति कहा जाता है। वे विपुल शक्तिशाली कहे गए हैं। उन्हें कार्तिकेय या स्वामी कार्तिकेय भी कहा जाता है। इष्ट लाभार्थ उन्हें प्रसन्न करने हेतु भी महोत्सव मनाए जाते रहे हैं। अन्य यक्षों और भूतों को उद्दिष्ट करके भी महोत्सव आयोजित होते रहे हैं।

ये चार महोत्सव क्रमशः - आश्विनी पूर्णिमा, कार्तिक पूर्णिमा, चैत्री पूर्णिमा और आषाढी पूर्णिमा को समझने चाहिए।

आज भी अनेक लौकिक पर्वों पर देवोत्सव या मेले आयोजित होते हैं।

जिन चार महाप्रतिपदाओं का उल्लेख हुआ है, वे इन चारों ही प्रकार के देवों से संबद्ध हैं। इनमें प्रथम आश्विन प्रतिपदा है - अर्थात् आश्विन मास के पश्चात् आने वाली पहली प्रतिपदा - यानी कार्तिक कृष्णा प्रतिपदा है। दूसरी कार्तिक प्रतिपदा है - अर्थात् कार्तिक मास के पश्चात् आने वाली पहली प्रतिपदा यानी मार्गशीर्ष कृष्णा प्रतिपदा है। तीसरी सुग्रीष्म

प्रतिपदा है। ग्रीष्म का अर्थ गर्मी या गर्मी का मौसम है। ग्रीष्म के पूर्व लगा हुआ 'सु' उपसर्ग सुष्ठु - सुन्दर या सुहावने का द्योतक है। वैशाख मास में सुहावनी गर्मी होती है जो ज्येष्ठ और आषाढ में तीव्र हो जाती है। अत एव सुग्रीष्म प्रतिपदा का तात्पर्य वैशाख कृष्णा प्रतिपदा है। चौथी आषाढी प्रतिपदा है - इस प्रकार क्रम से चार प्रतिपदाएं हैं, यथा - १. आश्विन प्रतिपदा (कार्तिक कृष्णा प्रतिपदा), २. कार्तिक प्रतिपदा (मार्गशीर्ष कृष्णा प्रतिपदा), ३. सुग्रीष्म प्रतिपदा (वैशाख कृष्णा प्रतिपदा), ४. आषाढी प्रतिपदा (श्रावण कृष्णा प्रतिपदा)।

ठाणांग सूत्र के चौथे ठाणे में चार प्रतिपदाओं को स्वाध्याय करने का निषेध किया गया है। वहाँ उनके नाम इस क्रम से कहे हैं - "आसाढपाडिवए इंदमहपाडिवए कतियपाडिवए सुगिम्हयपाडिवए।"

निशीथ भाष्य की गाथा ६०६५ में भी ऐसा ही क्रम कहा गया है यथा -

"१ आसाढी २ इंदमहो ३ कार्तिक ४ सुगिम्हओ य बोद्धव्वो।

एते महा महा खलु एतेसिं चैव पाडिवया॥ "

ठाणांग सूत्र और निशीथ भाष्य की इस गाथा में कहा गया क्रम समान है। इनमें इन्द्र महोत्सव का दूसरा स्थान है जो आषाढ के बाद क्रम से प्राप्त आसोज की पूनम एवं एकम का होना स्पष्ट है।

स्कंध कार्तिकेय देव का महोत्सव कार्तिक कृष्णा प्रतिपदा को ही मनाया जाना अधिक संभावित है। कार्तिक और कार्तिकेय शब्द परस्पर संबद्ध हैं। आगे के यक्ष तथा भूत महोत्सव क्रमशः मार्गशीर्ष कृष्णा प्रतिपदा एवं वैशाख कृष्णा प्रतिपदा को मनाए जाते रहे हैं, यह संभन्न है।

ये लोक महोत्सव हैं जो लौकिक मान्यताओं के अनुसार भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न समय में भी मनाए जाते रहे हैं। इसलिए इनका जहाँ आगमों में उल्लेख हुआ है वहाँ सबमें मनाए जाने के समय की एकरूपता नहीं है, क्योंकि ये महोत्सव धार्मिक सिद्धान्तों पर आधारित नहीं हैं।

विहित काल में स्वाध्याय न करने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू पोरिसिं सज्झायं उवाइणावेइ उवाइणावेतं वा साइज्जइ ॥ १३ ॥

जे भिक्खू चाउकालं सज्झायं ण करेइ ण करेतं वा साइज्जइ ॥ १४ ॥

कठिन शब्दार्थ - पौरसिं - पौरुषी में, उवाङ्गावेड - अतिक्रायति - उल्लंघन करता है (स्वाध्याय नहीं करता है), चाउकालं - चारों (स्वाध्याय) काल में।

भावार्थ - १३. जो भिक्षु पोरसी काल (स्वाध्याय काल) में स्वाध्याय नहीं करता या नहीं करने वाले का अनुमोदन करता है।

१४. जो भिक्षु चारों (स्वाध्याय) काल में स्वाध्याय नहीं करता अथवा नहीं करने वाले का अनुमोदन करता है।

ऐसा करने वाले भिक्षु को लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - भिक्षु के जीवन में स्वाध्याय का अत्यंत महत्त्व है। स्वाध्याय निर्जरा के बारह भेदों में दसवाँ भेद है*। स्वाध्याय का तात्पर्य पठित आगमों की आवृत्ति करना तथा अभ्यास करना है। इससे विपुल रूप में निर्जरा होती है। इसलिए यह उत्तम तप है।

मानसिक एकाग्रता की दृष्टि से स्वाध्याय बहुत ही लाभप्रद है। वह धर्मध्यान का अनन्य हेतु है। जब साधक स्वाध्याय में अभिरत हो जाता है तब वह जागतिक विषयों को भूल जाता है और आत्मस्थ हो जाता है। 'एवस्य - आत्मनः, अध्यायः - स्वाध्यायः' - स्वाध्याय शब्द की यह व्युत्पत्ति इसी भाव की द्योतक है। स्वाध्याय से श्रुतज्ञान सुस्थिर, विकसित एवं समृद्ध होता है। त्याग, वैराग्य, संयम, आत्मोपासना तथा साधना में अभिरुचि बढ़ती है। इससे साधक मन और इन्द्रियों को निगृहीत - नियंत्रित करने में सफल होता है।

आगमानुसार दिवस की प्रथम एवं अन्तिम पौरुषी तथा इसी प्रकार रात्रि की प्रथम और अन्तिम पौरुषी - ये चार, कालिकश्रुत की अपेक्षा से स्वाध्याय काल माने गए हैं। इन चारों में भिक्षु स्वाध्याय करे, यह वांछित है। स्वाध्याय में उपयोग न कर कथा, विकथा, निरर्थक वार्तालाप आदि में इन्हें व्यतीत करना इनका दुरुपयोग है, दोषयुक्त है। ये ज्ञान का अतिचार है।

इन चारों ही कालों में स्वाध्याय न करना प्रायश्चित्त योग्य बतलाया गया है। अत एव वैयावृत्यादि विषयक आवश्यक कार्यों के अतिरिक्त भिक्षु इन कालों का सर्वदा स्वाध्याय में ही उपयोग करे।

* १. अनशन, २. ऊनोदरी, ३. भिक्षाचरी, ४. रसपरित्याग, ५. कायक्लेश, ६. प्रतिसंलीनता, ७. प्रायश्चित्त, ८. विनय, ९. वैयावृत्य, १०. स्वाध्याय, ११. ध्यान, १२. व्युत्सर्ग।

अविहित काल में स्वाध्याय का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू असज्जाइए सज्जायं करेइ करंतं वा साइज्जइ ॥ १५ ॥

कठिन शब्दार्थ - असज्जाइए - अस्वाध्याय काल में।

भावार्थ - १५. जो भिक्षु अस्वाध्याय काल में स्वाध्याय करता है अथवा करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - आगमों में कुछ ऐसे प्रसंगों का विशेष रूप से उल्लेख है। इससे स्वाध्याय के लिए दिन में और रात में जो विधान किया गया है, वह बाधित नहीं होता। क्योंकि वह सामान्य दृष्टि से विवेचन है, यह विशेष विवेचन है। अतः उसका अनुसरण करना आवश्यक है। सामान्य की अपेक्षा विशेष का अधिक महत्त्व माना गया है।

स्थानांग सूत्र के चतुर्थ अध्ययन में चार प्रतिपदाओं और चार संध्याओं को अस्वाध्याय काल कहा गया है। इसी सूत्र में अध्ययन-१० में दस आकाशीय तथा दस औदारिक अस्वाध्यायों का वर्णन है। प्रस्तुत (निशीथ) सूत्र के इसी उद्देशक में चार महामहोत्सवों, चार प्रतिपदाओं एवं चार संध्याओं में करना प्रायश्चित्त योग्य बतलाया गया है। इन सबका संकलन करने से कुल बत्तीस अस्वाध्याय काल होते हैं। वे ऐसे काल हैं, जो वातावरण आदि की दृष्टि से अशान्त, अशुद्ध और अस्वस्थ माने गए हैं। स्वाध्याय के लिए विशुद्ध, मानसिकता, स्थिरता, श्रद्धा तो आवश्यक है ही, शुद्धि तथा शान्ति की दृष्टि से वातावरण की अनुकूलता की भी उपयोगिता है।

इन ३२ अस्वाध्याय का विस्तार से वर्णन - व्यवहार भाष्य, निशीथ चूर्ण तथा स्थानांग टीका में किया गया है। जैन सिद्धान्त बोल संग्रह भाग ६ के ३२वें बोल में तथा जैन सिद्धान्त भूषण (प्रथम भाग) में भी इनका वर्णन जिज्ञासुओं को वे स्थल द्रष्टव्य है।

वैयक्तिक अस्वाध्याय काल में स्वाध्याय का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू अप्पणो असज्जाइए सज्जायं करेइ करंतं वा साइज्जइ ॥ १६ ॥

कठिन शब्दार्थ - अप्पणो - आत्मनः - स्वयं के (शरीर विषयक)।

भावार्थ - १६. जो भिक्षु अपने (शरीर संबंधी) अस्वाध्याय काल में स्वाध्याय करता है, या करने वाले का अनुमोदन करता है, उसे लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - वैयक्तिक अस्वाध्याय का तात्पर्य व्यक्ति के - भिक्षु या भिक्षुणी के अपने देह की रक्त, मवाद आदि जनित अशुद्धि के कारण स्वाध्याय वर्जना है।

शरीर में कोई व्रण या घाव हो जाए, उससे रक्त या मवाद निकलता रहे, उस अवस्था में स्वाध्याय करना निषिद्ध है। यह भिक्षु और भिक्षुणी दोनों से संबद्ध है। भिक्षुणी के लिए मासिक ऋतुधर्म में भी स्वाध्याय करना परिवर्जित है। उसके लिए तीन दिनों का निषेध किया गया है।

घाव, अर्श - मसा एवं भगन्दर आदि से निकलते हुए रक्त या मवाद को साफ कर, स्वच्छ कर अपने स्थान से सौ हाथ की दूरी पर परठने का विधान किया गया है।

शुद्धिकरण के बाद भी यदि रक्त या मवाद निकलता रहे तो उसमें एक से ले कर तीन तक वस्त्र की पट्टियाँ बांध कर स्वाध्याय करने का विधान है। यदि रक्त या मवाद तीसरी पट्टी तक पहुंच जाए तो पुनः शुद्धि करना आवश्यक है।

व्यवहार सूत्र* में ऋतुधर्म में भी वाचना देने-लेने का विधान हुआ है। उस संबंध में भाष्य* में स्पष्ट किया गया है कि रक्त आदि की शुद्धि करके आवश्यकतानुरूप रक्तस्त्राव के स्थान में एक से सात तक वस्त्रपट्ट लगा कर वाचना का आदान-प्रदान किया जा सकता है।

क्रमविरुद्ध आगम वाचना देने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू हेट्टिल्लइं समोसरणाइं अवाएत्ता उवरिल्लइं समोसरणाइं वाएइ वाएंतं वा साइज्जइ ॥ १७ ॥

जे भिक्खू णव बंभचेराइं अवाएत्ता उवरिं सुयं वाएइ वाएंतं वा साइज्जइ ॥ १८ ॥

कठिन शब्दार्थ - हेट्टिल्लइं - अधस्तनानि - नीवस्थानीय - प्रारंभिक, समोसरणाइं - सूत्र एवं अर्थ को, अवाएत्ता - वाचना नहीं दे कर, उवरिल्लइं - उत्तरकालिक - पश्चात् वाचना देने योग्य, णव बंभचेराइं - नव ब्रह्मचर्य - आचारंग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कंधगत शस्त्र परिज्ञा से उपधानश्रुत पर्यन्त नौ अध्ययन, उवरिं सुयं - ऊपरि श्रुत - पश्चात् अध्यापनीय (छेदादि)।

भावार्थ - १७. जो भिक्षु प्रारंभिक सूत्रार्थ की वाचना दिए बिना पश्चात् वाचना दिए जाने योग्य सूत्रों की (पहले) वाचना देता है अथवा देने वाले का अनुमोदन करता है।

* व्यवहार सूत्र, उद्देशक-७, सूत्र-१७

* व्यवहार भाष्य, गाथा - ३९०-३९४

१८. जो भिक्षु नवब्रह्मचर्य संज्ञक अध्ययन की वाचना दिए बिना पश्चात् अध्यापनीय (छेदादि) सूत्रों की (पूर्व) में वाचना देता है या देने वाले का अनुमोदन करता है।

ऐसा करने वाले भिक्षु को लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - उपर्युक्त सूत्रों में से प्रथम में **हेट्टिल्ल** - अधस्तन, **उवरिल्ल** - उपरितन एवं **समोसरण** - समवसरण शब्द का विशेष रूप से प्रयोग हुआ है।

समोसरण - समवसरण शब्द 'सम' एवं 'अव' उपसर्ग तथा भ्वादिगण और जुहोत्यादिगण में पठित परस्मैपदी 'सृ' धातु के योग से बना है। उसका अर्थ भलीभाँति सुव्यवस्था पूर्वक चारों ओर विस्तार के साथ अवस्थित होना है, जैसा धर्मोपदेश श्रवण के समय होता है। भगवान् महावीर स्वामी जहाँ धर्मदेशना देते थे उसका समवसरण के रूप में वर्णन हुआ है। भगवान् के पदार्पण के लिए 'समोसरण - समवसृतः' पद का प्रयोग हुआ है।

समवसरण में दी जाने वाली धर्मदेशना में ज्ञान, दर्शन, चरित्र, जीव-अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा एवं मोक्ष आदि तत्त्वों का उपदेश होता है। अतः उन आगमों को भी समवसरण कहा जाता है, जिनमें इन विषयों का वर्णन होता है। आधुराधेय भाव के कारण यह अर्थ यहाँ घटित होता है।

हेट्टिल्ल का अर्थ अधस्तन - निम्नवर्ती, नीव रूप - मूल पृष्ठभूमि रूप है। **उवरिल्ल** का अर्थ उनसे भिन्न अन्य आगम है, जो उनके आधार पर विकसित और विस्तृत हुए हैं।

जिस प्रकार कोई भी बड़ा प्रासाद या भवन तभी सुदृढ़ होता है जिसका अधस्तन भाग या नीव अत्यंत दृढ़ तथा मजबूत हो। अत एव स्थापत्य में नीव की दृढ़ता और प्रबलता पर बहुत जोर दिया गया है। नीव अत्यंत दृढ़ हो तो उस पर चाहे कितनी ही मंजिलों का निर्माण हो, कोई खतरा नहीं होता। नीव यदि दुर्बल या कमजोर होती है तो ऊपर की मंजिलें निरापद नहीं होती। इसीलिए नव ब्रह्मचर्य अध्ययन की वाचना को हेट्टिल्ल या नीव रूप माना गया है। इन आगमों की वाचना लेने, आत्मसात करने से भिक्षु संयम में अत्यंत स्थिर हो जाता है, उसकी आध्यात्मिक आस्था सुदृढ़ और सर्वथा अविचल बन जाती है। उसकी मनोवृत्ति सदैव वैराग्यमयी रहती है। सांसारिक वांछा, कामना, वासना से वह सर्वथा दूर रहता है। इसीलिए पश्चात् अध्येय, अध्ययनीय - छेद सूत्र उवरिल्ल - उपरितन समवसरण में परिगणित हुए हैं। अर्थात् नवब्रह्मचर्य अध्ययन के पश्चात् ही उनकी वाचना का आदान-प्रदान किया जाना

चाहिए। किसी भी अप्रत्याशित, दूषित, असंयममय, भौतिक अनुरागमय स्थिति से तभी बचा जा सकता है, जब अन्तःकरण में संयम, ब्रह्मचर्य एवं वैराग्य का स्रोत अविरल गति से प्रवहमान हो। क्योंकि छेदसूत्रों में ऐसे आशंकित विषयों की चर्चा है, जिनमें यदि भिक्षु की मानसिकता जुड़ जाए तो घोर पतन हो सकता है। वह चर्चा इसलिए है कि भिक्षु वैसी स्थिति से सदैव अपने को बचाए रखे, पृथक् रखे। यह तभी संभव है, जब वह नव ब्रह्मचर्य अध्ययन जैसे विशुद्ध चारित्र पोषक आगमों को स्वायत्त कर चुका हो।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि वाचना का क्रम पूर्व और पश्चात् के अनुरूप यथावत् रहे। उदाहरणार्थ आचारांग की वाचना पहले तथा सूत्रकृतांग की वाचना बाद में दी जाती है। इसी प्रकार प्रथम श्रुतस्कंध, प्रथम अध्ययन, प्रथम उद्देशक की वाचना पहले एवं उससे आगे द्वितीय आदि की क्रमशः बाद में वाचना देने का विधान है। वाचना में व्यतिक्रम अवाञ्छित है।

अपात्र को वाचना देने एवं पात्र को न देने का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू अपत्तं वाएइ वाएंतं वा साइज्जइ ॥ १९ ॥

जे भिक्खू पत्तं ण वाएइ ण वाएंतं वा साइज्जइ ॥ २० ॥

जे भिक्खू अब्बत्तं वाएइ वाएंतं वा साइज्जइ ॥ २१ ॥

जे भिक्खू वत्तं ण वाएइ ण वाएंतं वा साइज्जइ ॥ २२ ॥

कठिन शब्दार्थ - अपत्तं - अपात्र - अयोग्य, पत्तं - पात्र, अब्बत्तं - अव्यक्त (षोडश वर्ष की आयु प्राप्त नहीं करने तक अथवा कुक्षिप्रदेश में रोम नहीं आने तक)।

भावार्थ - १९. जो भिक्षु अपात्र को वाचना देता है या देने वाले का अनुमोदन करता है।

२०. जो भिक्षु पात्र को वाचना नहीं देता अथवा नहीं देने वाले का अनुमोदन करता है।

२१. जो भिक्षु अव्यक्त को वाचना देता है या देने वाले का अनुमोदन करता है।

२२. जो भिक्षु व्यक्त को वाचना नहीं देता अथवा नहीं देने वाले का अनुमोदन करता है।

इस प्रकार उपर्युक्त रूप में दोष सेवन करने वाले भिक्षु को लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - इन सूत्रों में आगम वाचना के लिए योग्य तथा अयोग्य भिक्षु के संबंध में चर्चा हुई है। पात्र को वाचना न देना और अपात्र को वाचना देना दोषयुक्त है। *पतनात्

जायते इति पात्रम्' जो अपने में डाली हुई वस्तु को गिरने से बचाता है या अपने में सुरक्षित रखता है, उसे पात्र कहा जाता है। जो पात्र या बर्तन अखण्डित, परिपूर्ण एवं सम्यक् अवस्थित होता है, उसमें कोई भी वस्तु रखी जाए वह नीचे नहीं गिरती, सुरक्षित रहती है, उसी प्रकार जो भिक्षु दी गई वाचना को आत्मसात करता है, स्वायत्त करता है, मन में स्थिर करता है, वह वाचना के लिए पात्र है। जो मानसिक चंचलता, अस्थिरता, असावधानता तथा प्रमाद आदि के कारण प्रदत्त वाचना को सुस्थिर नहीं रख पाता, उसे अपात्र कहा गया है।

बृहत्कल्प सूत्र के चौथे उद्देशक में वाचना लेने योग्य भिक्षु के तीन गुणों की चर्चा है। वह विनीत हो, विगय त्यागी हो, - रसादि लोलुप न हो या संयताचारी हो तथा कषाय-क्लेश आदि को शीघ्र ही उपशान्त करने में सक्षम हो। जिसमें ये गुण होते हैं, वहीं वस्तुतः वाचना देने योग्य है।

ऋग्वेद भाष्य भूमिका में इस संबंध में बड़ा ही सुन्दर उल्लेख हुआ है -

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम, गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि।

असूयकायाऽनृजवेऽयताय, न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्॥

अर्थात् विद्या ब्राह्मण - ज्ञानी पुरुष के पास आई और बोली -मेरी रक्षा करना, मैं तुम्हारी निधि हूँ। ऐसे व्यक्ति को मत देना जो ईर्ष्यालु हो, अनृजव -कुटिल या अविनीत हो तथा असंयत हो। यदि ऐसा करोगे तो मैं शक्तिशालिनी बनूंगी।

वाचना देने में योग्य-अयोग्य के संदर्भ में यहाँ पात्रता के साथ-साथ व्यक्त और अव्यक्त का भी उल्लेख हुआ है। ये दोनों शब्द आयुष्य परिपक्वता की दृष्टि से हैं। अर्थात् वाचना लेने वाला बहुत छोटी आयु का न हो। वह सवयस्क हो। दैहिक दृष्टि से विकसित हो। क्योंकि दैहिक विकास के साथ मानसिक विकास का भी संबंध है।

इसका अभिप्राय यह है कि वाचना लेने वाला वय की दृष्टि से और विनयादि गुणों की दृष्टि से योग्य हो। इन दोनों प्रकार की विशेषताओं से युक्त भिक्षु वाचना को भलीभाँति स्वायत्त करता है, सार्थक बनाता है।

वाचना प्रदान में पक्षपात का प्रायश्चित्त

जे भिक्खू दोण्हं सरिसगाणं एक्कं सं(सि)चिक्खावेइ एक्कं ण
संचिक्खावेइ एक्कं वाएइ एक्कं ण वाएइ तं करंतं वा साइज्जइ ॥ २३ ॥

कठिन शब्दार्थ - दोणहं - दो, सरिसगाणं - सदृश - एक समान प्रतिभा वाले, संचिक्खावेइ - सम्यक् शिक्षा देता है, एक्कै - एक को।

भावार्थ - २३. जो भिक्षु समान प्रतिभा वाले दो शिष्यों में से एक को सम्यक् शिक्षा प्रदान करता है एक को नहीं करता, एक को वाचना देता है, दूसरो को नहीं देता अथवा ऐसा करने वाले का अनुमोदन करता है, उसे लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - वाचना प्रदाता गुरु का अपने सभी शिष्यों के प्रति समानता का भाव रहे, यह उनके पथ की गरिमा के अनुरूप है। आचार्य, उपाध्याय आदि गुरुजन किसी के प्रति पक्षपात का भाव न रखे इस संबंध में इस सूत्र में विवेचन हुआ है।

सामान्यतः वाचना प्रदायक गुरु ऐसा नहीं करते, किन्तु आखिर वे भी हैं तो मानव ही। कदाचन आगे-पीछे के कटु-मृदु संबंधों के आधार पर उनके मन में भी ऐसा भाव आना आशंकित है। वे ऐसे अनुचित, असमीचीन भाव से अभिभूत न हों, अपने उच्च, महिमामय पद के अनुरूप पवित्र तथा निरवलेप मानसिकता बनाए रखें। ऐसा न होना दोषयुक्त, प्रायश्चित्त योग्य है।

अदत्त वाचना ग्रहण संबंधी प्रायश्चित्त

जे भिक्खू आयरियउवज्झाएहिं अविदिण्णं गिरं आइयइ आइयंतं वा साइज्जइ ॥ २४ ॥

कठिन शब्दार्थ - अविदिण्णं - बिना दी गई, गिरं - शास्त्र वाणी, आइयइ - आददाति - ग्रहण करता है।

भावार्थ - २४. जो भिक्षु आचार्य एवं उपाध्याय के (वाचना) दिए बिना ही शास्त्रवाणी (वाचना) ग्रहण करता है (स्वयं भी अध्ययन करता है) या ऐसा करते हुए का अनुमोदन करता है, उसे लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - धार्मिक जगत् में आगम वाचना शास्त्रानुशीलन तथा विद्याध्ययन मूलक उपक्रमों में गुरुमुख से ज्ञान प्राप्त करने का विशेष महत्त्व रहा है। क्योंकि आगमों में, शास्त्र में अनेक ऐसे सूक्ष्म गूढ एवं रहस्यपूर्ण विषय होते हैं जिन्हें गीतार्थ, गहन अध्ययनशील, अनुभूति प्रवण आचार्य, उपाध्याय आदि गुरुजन ही भलीभाँति जानते हैं। उनसे वाचना प्राप्त करने और अध्ययन करने से अध्येताओं को जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह सर्वथा संशय रहित एवं ठोस

होता है। किसी अध्येता द्वारा गुरुमुख से वाचना लिए बिना स्वयं ही आगमों का वाचन, अध्ययन किया जाना इस सूत्र में प्रायश्चित्त योग्य बतलाया गया है। क्योंकि जैसा विशद, स्पष्ट तथा असंदिग्ध ज्ञान गुरुमुख से वाचना लेने से, पढ़ने से अधिगत होता है, वैसा स्वयं वाचन करने से, स्वयं पठन करने से उपलब्ध नहीं होता। अस्पष्ट एवं अविशद ज्ञान यथेष्ट लाभप्रद नहीं होता।

जैन परंपरा में आचार्य और उपाध्याय भिक्षुओं को वाचना देते हैं। उपाध्याय मूल पाठ की वाचना देते हैं तथा आचार्य अर्थ वाचना देते हैं। आगमों के अध्ययन में शुद्ध पाठ एवं उनके यथार्थ आशय का बोध परम आवश्यक है। क्योंकि आगम शब्द प्रधान भी हैं और अर्थ प्रधान भी हैं।

गुरुजन के लिए वाचना न देने की स्थिति प्रायः तब आती है जब शिष्य योग्य न हो, विनीत न हो, अध्यवसायी, समयज्ञ तथा यथोचित विकास प्राप्त न हो। ऐसी स्थिति में वाचना प्राप्त करने वाले शिष्यों को चाहिए कि वे अपनी अयोग्यतामूलक कमियों को दूर करें। श्रद्धा, विनय, सेवा और समादर से गुरुजन को संतुष्ट करें।

इस सूत्र में 'गिरट' शब्द आगमों के अर्थ में आया है। गिरट का अर्थ वाणी है, जो यहाँ जिनवाणी के अर्थ में प्रयुक्त है। आगम जिनवाणी का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसलिए यहाँ अर्थ - संगति में कोई विप्रतिपत्ति नहीं है।

यहाँ एक समस्या उत्पन्न होती है। यदि आचार्य, उपाध्याय आदि वाचना देने वाले प्राप्त न हों तो शिष्य द्वारा क्या किया जाए? वर्तमान काल में भी कुछ इस प्रकार की स्थितियाँ विद्यमान हैं। कतिपय गच्छों में आचार्य एवं उपाध्याय नहीं हैं। शिष्य वहाँ क्या करें? किससे वाचना ले? क्या आगमों का अध्ययन ही न किया जाए? आगमों के अध्ययन के बिना भिक्षु जीवन की पूर्णता किस प्रकार मानी जाए? आगमों का अध्ययन तो प्रत्येक भिक्षु के लिए परम आवश्यक है।

ऐसी स्थिति में यह संगत प्रतीत होता है, वर्तमानकाल में विद्वज्जनों द्वारा शब्दार्थ, भावार्थ एवं विवेचन, विश्लेषण सहित जो आगमों का संपादन - प्रकाशन हुआ है, जिज्ञासु, अध्ययनशील भिक्षु द्वारा गुरुजन की आज्ञा से उन्हें पढ़ा जाना दोष नहीं। क्योंकि उनकी भावना विशुद्ध रूप में जिनवाणी का, आगमों का बोध प्राप्त करने की होती है, जिससे वे ग्रन्थों के सहयोग से अपनी प्रतिभा, मेधा एवं उद्यम द्वारा प्राप्त करते हैं।

गृहस्थ से वाचना आदान-प्रदान विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू अण्णउत्थियं वा गारत्थियं वा वाएइ वाएंत्तं वा साइज्जइ ॥ २५ ॥

जे भिक्खू अण्णउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा पडिच्छइ पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥ २६ ॥

भावार्थ - २५. जो भिक्षु अन्यतीर्थिक या गृहस्थ को वाचना देता है या देने वाले का अनुमोदन करता है।

२६. जो भिक्षु अन्यतीर्थिक या गृहस्थ से वाचना लेता है अथवा लेने वाले का अनुमोदन करता है।

ऐसा करने वाले भिक्षु को लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - ज्ञान की दृष्टि से आगम धर्म के मूल आधार हैं। उसी का अवलंबन ले कर संसार-त्यागी श्रमणवृन्द आत्मोपासना, अध्यात्मसाधना एवं संयमाराधना में संलग्न रहते हैं आगम वीतराग, सर्वज्ञ, जिनेश्वर देव की वाणी का सार लिए हुए हैं इसलिए उनके वाचन अध्ययन एवं अनुशीलन में, प्रवृत्ति, पद्धति इत्यादि में पवित्रता, विशुद्धता रहे, यह आवश्यक है। आगमों का वाचन, आगमों का ज्ञान योग्य पात्रों को दिया जाए, योग्य अधिकारियों से लिया जाए, इस पर सदैव ध्यान रखा जाना चाहिए। इसी अपेक्षा से यहाँ अन्यतीर्थिक और गृहस्थ को वाचना देना अथवा उससे वाचना लेना प्रायश्चित्त योग्य बतलाया गया है।

ये दोनों आगमों के शाब्दिक ज्ञान के धारक होते हुए भी मिथ्यात्व के कारण आगमों के यथार्थ अधिकारी और उनके पात्र नहीं कहे जा सकते। इनसे वाचना लेने से जिनधर्म की अवहेलना होती है। लोग ऐसा समझने एवं कहने लगते हैं कि इनके धर्म में कोई आगम ज्ञानी नहीं है। वाचना देते समय वे अन्यतीर्थिक तथा गृहस्थ मिथ्यात्व का पोषण भी कर सकते हैं, विपरीत ज्ञापन भी कर सकते हैं। उनको वाचना देने से वे विवादास्पद स्थितियाँ उत्पन्न कर सकते हैं। अनुचित, आक्षेपपूर्वक जिनधर्म के प्रति दुर्भावना पैदा कर सकते हैं।

उपर्युक्त सूत्रों में जो अन्य तीर्थी और गृहस्थों को वाचना देने आदि का निषेध किया गया है यहाँ पर अन्य तीर्थी में - 'अन्य मत के साधु' और गृहस्थ में 'अन्यमती साधु के अनुयायी गृहस्थ' लिए जाते हैं, श्रावक-श्राविका नहीं। क्योंकि ज्ञातासूत्र के दावद्रव (११वें) अध्ययन में साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका के वचनों को सहन करना द्वीप की वायु के समान

एवं अन्यतीर्थी गृहस्थों के बचनों को सहन करना समुद्र की वायु के समान बताया है। यहाँ पर गृहस्थों से श्रावक-श्राविकाओं को स्पष्टतः अलग बताया है। इसी आधार से वाचना देने के सूत्र में भी गृहस्थों से श्रावक-श्राविकाओं को अलग समझा जाता है।

भिक्षु जिनधर्म के परिपालक विज्ञ भिक्षुओं से ही वाचना ले, यह वांछित है। साथ ही साथ यह भी ज्ञातव्य है कि जिनधर्मानुयायी, बोधियुक्त, आगमवेत्ता श्रमणोपासकों या श्रावकों से भी वाचना ली जा सकती है।

पार्श्वस्थ सह वाचना आदान-प्रदान विषयक प्रायश्चित्त

जे भिक्खू पासत्थं वाएइ वाएंतं वा साइज्जइ ॥ २७ ॥

जे भिक्खू पासत्थं पडिच्छइ पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥ २८ ॥

जे भिक्खू ओसण्णं वाएइ वाएंतं वा साइज्जइ ॥ २९ ॥

जे भिक्खू ओसण्णं पडिच्छइ पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥ ३० ॥

जे भिक्खू कुसीलं वाएइ वाएंतं वा साइज्जइ ॥ ३१ ॥

जे भिक्खू कुसीलं पडिच्छइ पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥ ३२ ॥

जे भिक्खू णितियं वाएइ वाएंतं वा साइज्जइ ॥ ३३ ॥

जे भिक्खू णितियं पडिच्छइ पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥ ३४ ॥

जे भिक्खू संसत्तं वाएइ वाएंतं वा साइज्जइ ॥ ३५ ॥

जे भिक्खू संसत्तं पडिच्छइ पडिच्छंतं वा साइज्जइ । तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्टाणं उग्घाइयं ॥ ३६ ॥

॥ णिसीहज्जयणे एगूणवीसइमो उद्देशो समत्तो ॥ १९ ॥

भावार्थ - २७. जो भिक्षु पार्श्वस्थ को वाचना देता है या देने वाले का अनुमोदन करता है।

२८. जो भिक्षु पार्श्वस्थ से वाचना लेता है अथवा लेने वाले का अनुमोदन करता है।

२९. जो भिक्षु अवसन्न को वाचना देता है या देने वाले का अनुमोदन करता है।

३०. जो भिक्षु अवसन्न से वाचना लेता है अथवा लेने वाले का अनुमोदन करता है।

३१. जो भिक्षु कुशील को वाचना देता है या देने वाले का अनुमोदन करता है।
 ३२. जो भिक्षु कुशील से वाचना लेता है अथवा लेने वाले का अनुमोदन करता है।
 ३३. जो भिक्षु नित्यक को वाचना देता है या देने वाले का अनुमोदन करता है।
 ३४. जो भिक्षु नित्यक से वाचना लेता है अथवा लेने वाले का अनुमोदन करता है।
 ३५. जो भिक्षु संसक्त को वाचना देता है या देने वाले का अनुमोदन करता है।
 ३६. जो भिक्षु संसक्त से वाचना लेता है अथवा लेने वाले का अनुमोदन करता है।
 ऐसा करने वाले भिक्षु को लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

इस प्रकार उपर्युक्त ३६ सूत्रों में किए गए किसी भी प्रायश्चित्त स्थान का, तद्गत दोषों का सेवन करने वाले भिक्षु को उद्घातिक परिहार-तप रूप लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

इस प्रकार निशीथ अध्ययन (निशीथ सूत्र) में एकोनविंश उद्देशक परिसमाप्त हुआ।

विवेचन - इन सूत्रों में संयम के अपरिपालक, भिक्षु वेश युक्त तथा भिक्षु होते हुए भी अवसाद युक्त, कुत्सित - दूषित आचार सेवी, नित्यपिण्डभोजी, लौकिक आसक्ति युक्त जनों को वाचना देना, उनसे वाचना लेना प्रायश्चित्त योग्य बतलाया है। क्योंकि जो केवल वेश धारण करते हैं, संयम एवं व्रतमय आचार का पालन नहीं करते, जो श्रमण होते हुए भी ज्ञान, दर्शन और चारित्रमूलक त्याग तितिक्षामय विशुद्ध आचार युक्त धर्म के अनुसरण में अवसाद युक्त - उत्साह रहित होते हैं, जिनके क्रियाकलाप दूषित, सावद्यपूर्ण होते हैं, जो नित्यपिण्डभोजिता जैसे दोष का सेवन करते हैं, जिनमें भौतिक आसक्ति तथा लोकैषणा जैसी संयम परिपंथी मानसिकता विद्यमान रहती है उनके मन में ज्ञान के प्रति वास्तविक अभिरुचि नहीं होती। वे सैद्धान्तिक गूढ़ तत्त्वों को आत्मसात करने में असमर्थ रहते हैं। वे मानसिक चंचलता एवं अस्थिरतायुक्त होते हैं। इन अवगुणों के कारण वे वाचना देने और लेने की दृष्टि से पात्र, योग्य या अधिकारी नहीं होते। उनको वाचना देना निरर्थक है तथा उनसे वाचना ले कर उन्हें महत्त्व देना सर्वथा अनुपयुक्त एवं असंगत है। क्योंकि उनकी तत्त्वग्राहिणी, सत्-असत्-विवेकिनी प्रज्ञा कुण्ठित और मूर्च्छित रहती है। अत एव उनसे प्राप्त वाचना किसी भी दृष्टि से सार्थक नहीं होती।

॥ इति निशीथ सूत्र का एकोनविंश उद्देशक समाप्त ॥

वीसइमो उद्देसओ - विंश उद्देशक

मायारहित एवं मायारहित दोष प्रत्यालोचक हेतु प्रायश्चित्त विधान

जे भिक्खू मासियं परिहारद्वणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचिय आलोएमाणस्स मासियं, पलिउंचिय आलोएमाणस्स दोमासियं ॥ १ ॥

जे भिक्खू दोमासियं परिहारद्वणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचिय आलोएमाणस्स दोमासियं, पलिउंचिय आलोएमाणस्स तेमासियं ॥ २ ॥

जे भिक्खू तेमासियं परिहारद्वणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचिय आलोएमाणस्स तेमासियं, पलिउंचिय आलोएमाणस्स चउमासियं ॥ ३ ॥

जे भिक्खू चाउम्मासियं परिहारद्वणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा अपलिउंचिय आलोएमाणस्स चउमासियं, पलिउंचिय आलोएमाणस्स पंचमासियं ॥ ४ ॥

जे भिक्खू पंचमासियं परिहारद्वणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचिय आलोएमाणस्स पंचमासियं, पलिउंचिय आलोएमाणस्स छम्मासियं ॥ ५ ॥

तेण परं पलिउंचिए वा अपलिउंचिए वा ते चेव छम्मासा ॥ ६ ॥

जे भिक्खू बहुसोवि मासियं परिहारद्वणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचिय आलोएमाणस्स मासियं, पलिउंचिय आलोएमाणस्स दोमासियं ॥ ७ ॥

जे भिक्खू बहुसोवि दोमासियं परिहारद्वणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचिय आलोएमाणस्स दोमासियं, पलिउंचिय आलोएमाणस्स तेमासियं ॥ ८ ॥

जे भिक्खू बहुसोवि तेमासियं परिहारद्वणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचिय आलोएमाणस्स तेमासियं पलिउंचिय आलोएमाणस्स चउमासियं ॥ ९ ॥

जे भिक्खू बहुसोवि चाउम्मासियं परिहारट्टाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचिय आलोएमाणस्स चउमासियं, पलिउंचिय आलोएमाणस्स पंचमासियं ॥ १० ॥

जे भिक्खू बहुसोवि पंचमासियं परिहारट्टाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचिय आलोएमाणस्स पंचमासियं, पलिउंचिए आलोएमाणस्स छम्मासियं ॥ ११ ॥

तेण परं पलिउंचिए वा अपलिउंचिए वा ते चेव छम्मासा ॥ १२ ॥

जे भिक्खू मासियं वा दोमासियं वा तेमासियं वा चाउम्मासियं वा पंचमासियं वा एएसिं परिहारट्टाणाणं अण्णयरं परिहारट्टाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचिय आलोएमाणस्स मासियं वा दोमासियं वा तेमासियं वा चाउम्मासियं वा पंचमासियं वा, पलिउंचिय आलोएमाणस्स दोमासियं वा तेमासियं वा चाउम्मासियं वा पंचमासियं वा छम्मासियं वा । तेण परं पलिउंचिए वा अपलिउंचिए वा ते चेव छम्मासा ॥ १३ ॥

जे भिक्खू बहुसोवि मासियं वा बहुसोवि दोमासियं वा बहुसोवि तेमासियं वा बहुसोवि चाउम्मासियं वा बहुसोवि पंचमासियं वा एएसिं परिहारट्टाणाणं अण्णयरं परिहारट्टाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचिय (बहुसोवि) आलोएमाणस्स मासियं वा दोमासियं वा तेमासियं वा चाउम्मासियं वा पंचमासियं वा, पलिउंचिय (बहुसोवि) आलोएमाणस्स दोमासियं वा तेमासियं वा चाउम्मासियं वा पंचमासियं वा छम्मासियं वा ॥ १४ ॥

जे भिक्खू चाउम्मासियं वा साइरेगचाउम्मासियं वा पंचमासियं वा साइरेगपंचमासियं वा एएसिं परिहारट्टाणाणं अण्णयरं परिहारट्टाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचिय आलोएमाणस्स चाउम्मासियं वा साइरेगं वा पंचमासियं वा साइरेगं वा, पलिउंचिय आलोएमाणस्स पंचमासियं वा

साइरेगं वा छम्मासियं वा। तेण परं पलिउंचिए वा अपलिउंचिए वा ते चेव छम्मासा ॥ १५ ॥

जे भिक्खू बहुसोवि चाउम्मासियं वा बहुसोवि साइरेगचाउम्मासियं वा बहुसोवि पंचमासियं वा बहुसोवि साइरेगपंचमासियं वा एएसिं परिहारद्वाणाणं अण्णयरं परिहारद्वाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचिय आलोएमाणस्स बहुसोवि चाउम्मासियं वा बहुसोवि साइरेगं वा बहुसोवि पंचमासियं वा बहुसोवि साइरेगं वा, पलिउंचिय आलोएमाणस्स बहुसोवि पंचमासियं वा बहुसोवि साइरेगं वा बहुसोवि छम्मासियं वा। तेण परं पलिउंचिए वा अपलिउंचिए वा ते चेव छम्मासा ॥ १६ ॥

कठिन शब्दार्थ - पडिसेवित्ता - प्रतिसेवन कर, आलोएज्जा - आलोचना करे - गुरु के समक्ष अपने पापस्थानों का प्रकाशन करे, अपलिउंचिय - अपरिकुच्य - मायारहित होकर, पलिउंचिय - मायायुक्त (कपट पूर्वक) होकर, आलोएमाणस्स - आलोचना करने वाले को, बहुसोवि - अनेक बार, साइरेग - सातिरेक - कुछ अधिक।

भावार्थ - १. किसी भिक्षु द्वारा मासिक परिहारस्थान का प्रतिसेवन कर मायारहित आलोचना करने पर एक मास का तथा मायासहित आलोचना करने पर दो मास का प्रायश्चित्त आता है।

२. किसी भिक्षु द्वारा द्विमासिक परिहारस्थान का प्रतिसेवन कर मायारहित आलोचना करने पर दो मास का और मायासहित आलोचना करने पर तीन मास का प्रायश्चित्त आता है।

३. किसी भिक्षु द्वारा त्रैमासिक परिहारस्थान का प्रतिसेवन कर मायारहित आलोचना करने पर तीन मास का एवं मायासहित आलोचना करने पर चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

४. किसी भिक्षु द्वारा चातुर्मासिक परिहारस्थान का प्रतिसेवन कर मायारहित आलोचना करने पर चार मास का तथा मायासहित आलोचना करने पर पाँच मास का प्रायश्चित्त आता है।

५. किसी भिक्षु द्वारा पंचमासिक परिहारस्थान का प्रतिसेवन कर मायारहित आलोचना करने पर पाँच मास का और मायासहित आलोचना करने पर षण्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

६. इसके पश्चात् मायासहित या मायारहित - किसी भी प्रकार से आलोचना करने पर वही षण्मासिक (छह मास का) प्रायश्चित्त आता है।

७. किसी भिक्षु द्वारा अनेक बार मासिक परिहारस्थान का प्रतिसेवन कर मायारहित आलोचना करने पर एक मास का एवं मायासहित आलोचना करने पर दो मास का प्रायश्चित्त आता है।

८. किसी भिक्षु द्वारा अनेक बार द्विमासिक परिहारस्थान का प्रतिसेवन कर मायारहित आलोचना करने पर दो मास का तथा मायासहित आलोचना करने पर त्रिमासिक प्रायश्चित्त आता है।

९. किसी भिक्षु द्वारा अनेक बार त्रिमासिक परिहारस्थान का प्रतिसेवन कर मायारहित आलोचना करने पर तीन मास का और मायासहित आलोचना करने पर चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

१०. किसी भिक्षु द्वारा अनेक बार चातुर्मासिक परिहारस्थान का प्रतिसेवन कर मायारहित आलोचना करने पर चार मास का एवं मायासहित आलोचना करने पर पंचमासिक प्रायश्चित्त आता है।

११. किसी भिक्षु द्वारा अनेक बार पंचमासिक परिहारस्थान का प्रतिसेवन कर मायारहित आलोचना कर पाँच मास का तथा मायासहित आलोचना करने पर षण्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

१२. इसके पश्चात् मायासहित या मायारहित - किसी भी प्रकार से आलोचना करने पर वही षण्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

१३. किसी भिक्षु द्वारा मासिक, द्विमासिक, त्रिमासिक, चातुर्मासिक और पंचमासिक - इन परिहार स्थानों में से किसी का (एक बार) प्रतिसेवन कर मायारहित आलोचना करने पर (क्रमशः) मासिक, द्विमासिक, त्रिमासिक, चातुर्मासिक एवं पंचमासिक तथा मायासहित आलोचना करने पर (क्रमशः) द्विमासिक, त्रिमासिक, चातुर्मासिक, पंचमासिक और षण्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

इसके उपरान्त मायासहित या मायारहित - किसी भी प्रकार से आलोचना करने पर वही षण्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

१४. किसी भिक्षु द्वारा अनेक बार मासिक, द्विमासिक, त्रिमासिक, चातुर्मासिक एवं पंचमासिक - इन परिहार स्थानों में से किसी का प्रतिसेवन कर (अनेक बार) मायारहित आलोचना करने पर (क्रमशः) मासिक, द्विमासिक, त्रिमासिक, चातुर्मासिक और पंचमासिक तथा (अनेक बार) मायासहित आलोचना करने पर (क्रमशः) द्विमासिक, त्रिमासिक, चातुर्मासिक, पंचमासिक एवं षण्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

१५. किसी भिक्षु द्वारा चातुर्मासिक या कुछ अधिक चातुर्मासिक अथवा पंचमासिक या कुछ अधिक पंचमासिक - इन परिहारस्थानों में से किसी परिहार स्थान का (एक बार) प्रतिसेवन कर मायारहित आलोचना करने पर (आसेवित परिहारस्थान के अनुसार क्रमशः) चातुर्मासिक या इससे कुछ अधिक तथा पंचमासिक या इससे कुछ अधिक एवं मायासहित आलोचना करने पर (क्रमशः) पंचमासिक या इससे कुछ अधिक और षण्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

इसके पश्चात् मायासहित या मायारहित - किसी भी प्रकार से आलोचना करने पर वही षण्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

१६. किसी भिक्षु द्वारा चातुर्मासिक या कुछ अधिक चातुर्मासिक अथवा पंचमासिक या कुछ अधिक पंचमासिक - इन परिहारस्थानों में से किसी परिहारस्थान का अनेक बार प्रतिसेवन कर मायारहित आलोचना करने पर (आसेवित परिहारस्थान के अनुसार क्रमशः) अनेक बार चातुर्मासिक या इससे कुछ अधिक एवं पंचमासिक या इससे कुछ अधिक तथा मायासहित आलोचना करने पर (क्रमशः) अनेक बार पंचमासिक या इससे कुछ अधिक और षण्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

इसके उपरान्त मायासहित या मायारहित - किसी भी प्रकार से आलोचना करने पर वही षण्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - इन सूत्रों में अपने द्वारा ज्ञात-अज्ञात रूप में सेवित दोषों की आलोचना करने के संदर्भ में निष्कपटता और सकपटता विषयक वर्णन हुआ है।

आलोचना शब्द 'आ' उपसर्ग, भ्वादिगण में पठित आत्मनेपदी तथा चुरादिगण में पठित उभयपदी 'लोच्' धातु एवं 'ल्युट्' प्रत्यय के योग से निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ (दोषों का) सम्यक् रूप में, विशदतापूर्वक वीक्षण करना, सर्वेक्षण करना या निरीक्षण करना, गुरु के समक्ष अपनी त्रुटि या भूल को स्वीकार करना है।

इन सूत्रों में पलिउंचिअ - प्रतिकुंचन तथा अपलिउंचिअ - अप्रतिकुंचन शब्दों का आलोचना के साथ प्रयोग हुआ है। प्रतिकुंचन का अर्थ कपट, माया, छल या प्रवंचना है।

दोषों की आलोचना करते समय यहाँ दो प्रकार की मानसिकता का वर्णन है। आलोचना करने वाले की अन्तर्भावना जब विशुद्ध होती है तो वह निश्छल, निर्मल एवं मायारहित भावपूर्वक आलोचना करता है।

आलोचना करने वाले की अन्तर्भावना जब शुद्ध नहीं होती, उसमें कुछ न कुछ विकार बना रहता है तब वह आलोचना के साथ भी माया या प्रवंचना को जोड़ देता है। अर्थात् छलपूर्ण चतुराई के साथ वैसा करता है, जो उचित नहीं है।

इसी दृष्टि से इन सूत्रों में मायारहित आलोचना करने से कम प्रायश्चित्त तथा मायासहित आलोचना करने से अधिक प्रायश्चित्त होना अभिहित हुआ है।

भिक्षु मायायुक्त आचरण या प्रवृत्ति से सदैव अपने आपको बचाए रखे, उसका आचार सदैव माया, छल एवं कपट से विरहित हो, इन सूत्रों से यह प्रतिध्वनित होता है।

प्रस्थापना में दोष प्रतिसेवन : प्रायश्चित्त आरोपण

जे भिक्खू चाउम्मासियं वा साइरेगचाउम्मासियं वा पंचमासियं वा साइरेगपंचमासियं वा एएसिं परिहारट्टाणाणं अण्णयरं परिहारट्टाणां पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचिय आलोएमाणे ठवणिज्जं ठवइत्ता करणिज्जं वेयावडियं, ठविएवि पडिसेवित्ता सेवि कसिणे तत्थेव आरुहेयव्वे सिया, पुव्विं पडिसेवियं पुव्विं आलोइयं, पुव्विं पडिसेवियं पच्छा आलोइयं, पच्छा पडिसेवियं पुव्विं आलोइयं, पच्छा पडिसेवियं पच्छा आलोइयं, अपलिउंचिए अपलिउंचियं, अपलिउंचिए पलिउंचियं, पलिउंचिए अपलिउंचियं, पलिउंचिए पलिउंचियं आलोएमाणस्स सव्वमेयं सकयं साहणिय जे एयाए पट्टवणाए पट्टविए णिव्विसमाणे पडिसेवेइ सेवि कसिणे तत्थेव आरुहेयव्वे सिया ॥ १७ ॥

जे भिक्खू चाउम्मासियं वा साइरेगचाउम्मासियं वा (जहा हेट्टा बहुसोवि) जाव आरुहेयव्वे सिया एयं पलिउंचिए ॥ १८ ॥

जे भिक्खू चाउम्मासियं वा साइरेगचाउम्मासियं वा पंचमासियं वा साइरेगपंचमासियं वा एएसिं परिहारद्वाणाणं अण्णयरं परिहारद्वाणं पडिसेवित्ता आलोएजा, अपलिउंचिय आलोएमाणे (जहा हेट्टा) जाव पलिउंचिए अपलिउंचियं, पलिउंचिए पलिउंचियं आलोएमाणस्स सव्वमेयं सकथं साहणिय जे एयाए पट्टवणाए पट्टविए णिव्विसमाणे पडिसेवेइ सेवि कसिणे तत्थेव आरुहेयव्वे सिया ॥ १९ ॥

जे भिक्खू बहुसोवि चाउम्मासियं वा (जहा हेट्टा णवरं पलिउंचिए) जाव आरुहेयव्वे सिया एयं पलिउंचिए ॥ २० ॥

कठिन शब्दार्थ - ठवणिज्जं - स्थापनीयं - स्थापित करना चाहिए, ठवइत्ता - स्थापयित्वा - स्थापित कर, कसिणे - कृत्स्न - संपूर्ण, आरुहेयव्वे - आरोपित करना चाहिए - सम्मिलित करना चाहिए, पुव्विं - पहले, सकथं - स्वकृतं - उसके द्वारा आचरित (किए गए), साहणिय - संहत्य - एकत्र कर, पट्टविए - प्रस्थापित कर, णिव्विसमाणे - तप में निरत रहते हुए।

भावार्थ - १७. किसी भिक्षु द्वारा चातुर्मासिक या कुछ अधिक चातुर्मासिक, पंचमासिक या कुछ अधिक पंचमासिक - इन परिहारस्थानों में से किसी परिहारस्थान का (एक बार) प्रतिसेवन कर मायारहित आलोचना करने पर (आसेवित प्रतिसेवना के अनुसार प्रायश्चित्त रूप) परिहार तप में स्थापित कर उसकी (आवश्यक) वैयावृत्य करनी चाहिए।

यदि वह परिहार तप में स्थित रहते हुए भी कोई (दोष) प्रतिसेवना करे तो इसका प्रायश्चित्त भी पूर्व प्रदत्त प्रायश्चित्त में जोड़ देना चाहिए, यदि -

१. पूर्व में प्रतिसेवित दोष की पूर्व में आलोचना की हो,
२. पूर्व में प्रतिसेवित दोष की पश्चात् आलोचना की हो,
३. पश्चात् प्रतिसेवित दोष की पहले आलोचना की हो,
४. पश्चात् प्रतिसेवित दोष की बाद में (पीछे) आलोचना की हो।

तथा -

१. मायारहित आलोचना का संकल्प कर मायारहित आलोचना की गई हो,
२. मायारहित आलोचना का संकल्प कर मायारहित आलोचना की गई हो,

३. मायासहित आलोचना का संकल्प कर मायारहित आलोचना की गई हो,

४. मायासहित आलोचना का संकल्प कर मायासहित आलोचना की गई है।

इस प्रकार उपरोक्त में से किसी प्रकार (के भंग) से आलोचना करने पर उसके सभी स्वकृत (स्वयं द्वारा किए गए) अपराध के प्रायश्चित्त को पूर्वप्रदत्त प्रायश्चित्त में सम्मिलित कर देना चाहिए।

जो भिक्षु इस प्रकार से (प्रायश्चित्त रूप) परिहार तप में स्थित रहते हुए पुनः किसी प्रकार की प्रतिसेवना करे तो उसका संपूर्ण प्रायश्चित्त भी उसी प्रकार (पूर्व की भाँति) पूर्व प्रदत्त प्रायश्चित्त में जोड़ देना चाहिए।

१८. कोई भिक्षु चातुर्मासिक या कुछ अधिक चातुर्मासिक अथवा (जिस प्रकार पूर्व में अनेक बार) किसी दोष का प्रतिसेवन करे यावत् पूर्वप्रदत्त दोषों में इस प्रायश्चित्त को भी आरोपित कर देना चाहिए - जोड़ देना चाहिए। इस प्रकार मायासहित आलोचना करने पर (भी) उसे परिहार तप रूप प्रायश्चित्त में स्थापित कर वैयावृत्य करनी चाहिए (इत्यादि वर्णन यहाँ पूर्व सूत्र की भाँति ग्राह्य है।)

१९. कोई भिक्षु चातुर्मासिक या कुछ अधिक चातुर्मासिक पंचमासिक या कुछ अधिक पंचमासिक - इन परिहार स्थानों में से किसी परिहार स्थान का प्रतिसेवन कर मायारहित होकर परिहार स्थान की आलोचना करे (इत्यादि पूर्ववत् वर्णन यहाँ यथावत् है) यावत् मायासहित आलोचना का संकल्प कर मायारहित आलोचना करे या मायासहित आलोचना का संकल्प कर मायासहित आलोचना करने पर उसका प्रायश्चित्त पूर्व प्रदत्त प्रायश्चित्त में सम्मिलित कर देना चाहिए।

२०. किसी भिक्षु द्वारा अनेक बार चातुर्मासिक या कुछ अधिक चातुर्मासिक परिहार स्थान की आलोचना करने पर (इत्यादि वर्णन यहाँ पूर्ववत् योजनीय है, अन्तर इतना सा है, यहाँ मायासहित आलोचना करने की ओर संकेत है) यावत् सभी दोष पूर्वकृत प्रायश्चित्त में शामिल कर दिए जाते हैं एवं मायासहित आलोचना करने आदि का प्रसंग पूर्ववत् ही है।

विवेचन - इन सूत्रों में प्रायश्चित्त विषयक व्यवस्था का क्रमबद्ध विश्लेषण है। सूत्रों के भावार्थ से वह स्पष्ट है। प्रायश्चित्त संवहन या धारण के संदर्भ में यहाँ स्थापन और प्रस्थापन शब्दों का प्रयोग हुआ है। 'स्थाप्यते - गृह्यतेऽनेन इति स्थापनम्।' स्थापन या

स्थापना का अर्थ सर्वप्रथम - पहलेपहल प्रायश्चित्त वहन करना है। *प्रकर्षेण स्थाप्यतेऽनेन इति प्रस्थापनम्* - प्रकृष्ट रूप में अर्थात् सर्वप्रथम गृहीत या धारित - वहन किए जाते प्रायश्चित्त काल में दोष लगने पर प्रायश्चित्त दिया जाना प्रस्थापन या प्रस्थापना कहा जाता है। प्रस्थापन काल में यदि दोष लग जाते हों तो उनके प्रायश्चित्त को भी पूर्वतन प्रायश्चित्त में योजित करने का यहाँ प्रतिपादन हुआ है।

द्वैमासिक प्रायश्चित्त : स्थापन-आरोपण

छम्मासियं परिहारद्वणं पट्टुविए अणगारे अंतरा दोमासियं परिहारद्वणं पडिसेवित्ता आलोएजा, अहावरा वीसइराइया आरोवणा आइमज्जावसाणे सअट्टुं सहेउं सकारणं अहीणमइरित्तं, तेण परं सवीसइराइया दो मासा ॥ २१ ॥

पंचमासियं परिहारद्वणं (जहा हेट्टा) जाव दो मासा ॥ २२ ॥

चाउम्मासियं परिहारद्वणं (जहा हेट्टा) जाव दो मासा ॥ २३ ॥

तेमासियं परिहारद्वणं (जहा हेट्टा) जाव दो मासा ॥ २४ ॥

दोमासियं परिहारद्वणं (जहा हेट्टा) जाव दो मासा ॥ २५ ॥

मासियं परिहारद्वणं (जहा हेट्टा) जाव दो मासा ॥ २६ ॥

कठिन शब्दार्थ - अहावहा - अथापरा - इसके पश्चात्, आइमज्जावसाणे - आदिमध्यावसाने - प्रारंभ, मध्य या अन्त में, सअट्टुं - प्रयोजन सहित, सहेउं - (सामान्य) कारण सहित, सकारणं - विशेष कारण सहित, अहीणमइरित्तं - न कम न अधिक, सवीसराइया - बीस रात्रि का।

भावार्थ - २१. छह मासिक प्रायश्चित्त वहन किए जाने वाले अनगर द्वारा (प्रायश्चित्त वहन काल के) प्रारंभ, मध्य या अंत में प्रयोजन हेतु या (विशेष) कारणपूर्वक दो मास प्रायश्चित्त योग्य दोष का सेवन कर आलोचना करने पर न कम न अधिक बीस रात्रि की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है।

इसके पश्चात् पुनः दोष आसेवित करने पर दो मास और बीस रात्रि का प्रायश्चित्त आता है।

२२. पंचमासिक प्रायश्चित्त वहन किए जाने वाले अनगार द्वारा (इत्यादि वर्णन यहाँ पूर्व की भाँति ज्ञातव्य है) यावत् पुनः दोष आसेवित करने पर दो मास और बीस रात्रि का प्रायश्चित्त आता है।

२३. चातुर्मासिक प्रायश्चित्त वहन किए जाने वाले अनगार द्वारा (इत्यादि वर्णन यहाँ पूर्व की भाँति ज्ञातव्य है) यावत् पुनः दोष आसेवित करने पर दो मास तथा बीस रात्रि का प्रायश्चित्त आता है।

२४. त्रिमासिक प्रायश्चित्त वहन किए जाने वाले अनगार द्वारा (इत्यादि वर्णन यहाँ पूर्व की भाँति ज्ञातव्य है) यावत् पुनः दोष आसेवित करने पर दो मास एवं बीस रात्रि का प्रायश्चित्त आता है।

२५. द्विमासिक प्रायश्चित्त वहन किए जाने वाले अनगार द्वारा (इत्यादि वर्णन यहाँ पूर्व की भाँति ज्ञातव्य है) यावत् पुनः दोष आसेवित करने पर दो मास और बीस रात्रि का प्रायश्चित्त आता है।

२६. एक मासिक प्रायश्चित्त वहन किए जाने वाले अनगार द्वारा (इत्यादि वर्णन यहाँ पूर्व की भाँति ज्ञातव्य है) यावत् पुनः दोष आसेवित करने पर दो मास तथा बीस रात्रि का प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - कोई भी साधक, भिक्षु अपने व्रत, चर्या आदि के प्रति जब असावधान होता है, प्रमादयुक्त होता है तब वह अपनी मर्यादाओं तथा नियमों का भलीभाँति पालन नहीं कर पाता, उनमें दोष लगा लेता है। प्रमाद का होना साधनामय जीवन में बहुत बड़ी कमी है। कहा है “सव्वओ पमत्तस्स भयं सव्वओ अप्पमत्तस्स णत्थि भयं” प्रमादयुक्त साधक के लिए सर्वत्र भय ही भय है। जो प्रमादयुक्त नहीं होता उसके लिए कहीं भी भय नहीं है।

प्रमाद न हो या अल्पतम हो, किन्तु यदि परिपक्वता और अनुभव की कमी हो तो भी भूल हो सकती है, दोष लग सकता है। वहाँ साधक का दोष लगाने का इरादा नहीं होता या बहुत कम होता है। पहलेपहल दोष लगने में प्रायः ऐसी स्थिति होती है। यह स्थिति एक सीमा तक क्षम्य है। इसलिए भिक्षु द्वारा सर्वप्रथम दोष लगाए जाने पर उस पर अनुग्रह करते हुए कुछ कम प्रायश्चित्त दिए जाने का यहाँ विधान हुआ है। उसे सानुग्रह प्रायश्चित्त कहा जाता है।

अनुग्रह का अर्थ प्रसाद, कृपा, उपकार, आभार आदि हैं, जिनका क्षम्यता से संबंध है। जो भिक्षु एक से अधिक बार दोष लगाता है, उसे क्षम्य नहीं माना जाता। अत एव उसका प्रायश्चित्त अनुग्रहपूर्वक कम नहीं किया जाता। इसे निरनुग्रह प्रायश्चित्त कहा जाता है। इनको समवेत कर यहाँ प्रायश्चित्त विधाओं का जो वर्णन हुआ है, वह भिक्षु को प्रमाद रहित रहते हुए अपनी निरवद्य चर्या का सम्यक् रीति से अनुसरण करते रहने की, परिपालन करते रहने की प्रेरणा प्रदान करता है।

द्वैमासिक प्रायश्चित्त : प्रस्थापन : आरोपण : वृद्धि

सवीसइराइयं दोमासियं परिहारद्वाणं पट्टविए अणगारे (जहा हेड्डा) जाव अहीणमइरित्तं, तेण परं सदसराया तिण्णिमासा ॥ २७ ॥

सदसरायतेमसियं परिहारद्वाणं (जहा हेड्डा) जाव तेण परं चत्तारि मासा ॥ २८ ॥

चाउम्मासियं परिहारद्वाणं (जहा हेड्डा) जाव तेण परं सवीसइराया चत्तारि मासा ॥ २९ ॥

सवीसइरायचाउम्मासियं परिहारद्वाणं (जहा हेड्डा) जाव तेण परं सदसराया पंच मासा ॥ ३० ॥

सदसरायपंचमासियं परिहारद्वाणं (जहा हेड्डा) जाव तेण परं छम्मासा ॥ ३१ ॥

भावार्थ - २७. दो मास और बीस रात्रि का प्रायश्चित्त वहन किए जाने वाले अनगार द्वारा (इत्यादि वर्णन पूर्व सूत्रों की भाँति ही यहाँ ग्राह्य है) यावत् आलोचना करने पर न कम न अधिक बीस रात्रि की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है, जिसे संयुक्त करने पर (पूर्व प्रायश्चित्त में जोड़ने पर) तीन मास एवं दस रात्रि की प्रस्थापना होती है।

२८. तीन मास तथा दस रात्रि का प्रायश्चित्त, वहन किए जाने वाले अनगार द्वारा (इत्यादि वर्णन पूर्व सूत्रों की भाँति ही यहाँ ग्राह्य है) यावत् आलोचना करने पर न कम न अधिक बीस रात्रि की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है, जिसे संयुक्त करने पर (पूर्व प्रायश्चित्त में जोड़ने पर) चार मास की प्रस्थापना होती है।

२९. चातुर्मासिक प्रायश्चित्त वहन करने वाले अनगार द्वारा (इत्यादि वर्णन पूर्व सूत्रों की भाँति ही यहाँ ग्राह्य है) यावत् आलोचना करने पर न कम न अधिक बीस रात्रि की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है, जिसे संयुक्त करने पर (पूर्व प्रायश्चित्त में जोड़ने पर) चार मास और बीस रात्रि की प्रस्थापना होती है।

३०. चार मास और बीस रात्रि का प्रायश्चित्त वहन करने वाले अनगार द्वारा (इत्यादि वर्णन पूर्व सूत्रों की भाँति ही यहाँ ग्राह्य है) यावत् आलोचना करने पर न कम न अधिक बीस रात्रि की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है, जिसे संयुक्त करने पर (पूर्व प्रायश्चित्त में जोड़ने पर) पाँच मास और दस रात्रि की प्रस्थापना होती है।

३१. पाँच मास एवं दस रात्रि का प्रायश्चित्त वहन किए जाने वाले अनगार द्वारा (इत्यादि वर्णन पूर्व सूत्रों की भाँति ही यहाँ ग्राह्य है) यावत् आलोचना करने पर न कम न अधिक बीस रात्रि की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है, जिसे संयुक्त करने पर (पूर्व प्रायश्चित्त में जोड़ने पर) छह मास की प्रस्थापना होती है।

विवेचन - प्रायश्चित्त के संवहन में, निर्वहण में भिक्षु सुव्यवस्थित रूप में, विधिवत् संलग्न रहे ताकि दोष का अपाकरण, उन्मूलन हो सके। इस अपेक्षा से यहाँ प्रायश्चित्त संवाहक विधाओं का वर्णन हुआ है। उसे गहराई से समझकर भिक्षु तदनु रूप मानसिकता के साथ प्रायश्चित्त का संवहन करे। वैसा न करने वाले का प्रायश्चित्त और बढ़ जाता है।

एकमासिक प्रायश्चित्त : स्थापन-आरोपण

छम्मासियं परिहारट्टाणं पट्टुविए अणगारे अंतरा मासियं परिहारट्टाणं पडिसेवित्ता आलोएजा, अहावरा पक्खिया आरोवणा आइमज्जावसाणे सअट्टं सहेउं सकारणं अहीणमइरित्तं, तेण परं दिवट्ठो मासो ॥ ३२ ॥

पंचमासियं परिहारट्टाणं (जहा हेट्टा) जाव दिवट्ठो मासो ॥ ३३ ॥

चाउम्मासियं परिहारट्टाणं (जहा हेट्टा) जाव दिवट्ठो मासो ॥ ३४ ॥

तेमासियं परिहारट्टाणं (जहा हेट्टा) जाव दिवट्ठो मासो ॥ ३५ ॥

दोमासियं परिहारट्टाणं (जहा हेट्टा) जाव दिवट्ठो मासो ॥ ३६ ॥

मासियं परिहारद्वाणं (जहा हेद्वा) जाव दिवद्दो मासो ॥ ३७ ॥

कठिन शब्दार्थ - पक्खिया - एक पक्ष की, दिवद्दो - द्वयर्ध - डेढ (मास) ।

भावार्थ - ३२. छह मासिक प्रायश्चित्त वहन किए जाने वाले अनगार द्वारा (प्रायश्चित्त वहन काल के) प्रारम्भ, मध्य या अन्त में प्रयोजन हेतु या (विशेष) कारणपूर्वक एक मास प्रायश्चित्त योग्य दोष का सेवन कर आलोचना करने पर न कम न अधिक एक पक्ष की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है ।

इसके पश्चात् पुनः दोष आसेवित करने पर डेढ मास का प्रायश्चित्त आता है ।

३३. पंचमासिक प्रायश्चित्त वहन किए जाने वाले अनगार द्वारा (इत्यादि वर्णन पूर्व की भाँति यहाँ ग्राह्य है) यावत् पुनः दोष आसेवित करने पर डेढ मास का प्रायश्चित्त आता है ।

३४. चातुर्मासिक प्रायश्चित्त वहन किए जाने वाले अनगार द्वारा (इत्यादि वर्णन पूर्व की भाँति यहाँ ग्राह्य है) यावत् पुनः दोष आसेवित करने पर डेढ मास का प्रायश्चित्त आता है ।

३५. त्रिमासिक प्रायश्चित्त वहन किए जाने वाले अनगार द्वारा (इत्यादि वर्णन पूर्व की भाँति यहाँ ग्राह्य है) यावत् पुनः दोष आसेवित करने पर डेढ मास का प्रायश्चित्त आता है ।

३६. द्विमासिक प्रायश्चित्त वहन किए जाने वाले अनगार द्वारा (इत्यादि वर्णन पूर्व की भाँति यहाँ ग्राह्य है) यावत् पुनः दोष आसेवित करने पर डेढ मास का प्रायश्चित्त आता है ।

३७. एक मासिक प्रायश्चित्त वहन किए जाने वाले अनगार द्वारा (इत्यादि वर्णन पूर्व की भाँति यहाँ ग्राह्य है) यावत् पुनः दोष आसेवित करने पर डेढ मास का प्रायश्चित्त आता है ।

विवेचन - इन सूत्रों में प्रायश्चित्त - स्थापन - आरोपण के संबंध में जो भिन्न-भिन्न रूप में विवेचन हुआ है, वह केवल प्रायश्चित्त विषयक समय की भिन्नता के अतिरिक्त पूर्ववर्ती सूत्र सं० २१-२६ के लगभग समान है। इन सूत्रों में प्रायश्चित्त के स्थापन एवं आरोपण के संबंध में जो पृथक्-पृथक् विशद् विश्लेषण हुआ है, उससे बोधव्य तथ्य स्पष्ट हैं। उन्हें आत्मसात करते हुए भिक्षु प्रायश्चित्त विषयक स्थापन-आरोपण में समुद्यत एवं सक्रिय रहे, ऐसा इन सूत्रों का हार्द है।

एक मासिक प्रायश्चित्त : प्रस्थापन : आरोपण : वृद्धि

दिवद्दुमासियं परिहारद्वाणं पट्टुविए अणगारे अंतरा मासियं परिहारद्वाणं

पडिसेवित्ता आलोएजा, अहावरा पक्खिया आरोवणा आइमज्जावसाणे सअट्टं सहेउं सकारणं अहीणमइरित्तं, तेण परं दो मासा ॥ ३८ ॥

दोमासियं परिहारट्ठाणं (जहा हेट्ठा) णवरं अट्ठाइज्जा मासा ॥ ३९ ॥

अट्ठाइज्जमासियं परिहारट्ठाणं (जहा हेट्ठा) णवरं तिण्णिण मासा ॥ ४० ॥

तेमासियं परिहारट्ठाणं (जहा हेट्ठा) णवरं अद्धुट्ठा मासा ॥ ४१ ॥

अद्धुट्ठमासियं परिहारट्ठाणं (जहा हेट्ठा) णवरं चत्तारि मासा ॥ ४२ ॥

चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं (जहा हेट्ठा) णवरं अट्ठपंचमा मासा ॥ ४३ ॥

अट्ठपंचमासियं परिहारट्ठाणं (जहा हेट्ठा) णवरं पंच मासा ॥ ४४ ॥

पंचमासियं परिहारट्ठाणं (जहा हेट्ठा) णवरं अद्धछट्ठामासा ॥ ४५ ॥

अद्धछट्ठमासियं परिहारट्ठाणं (जहा हेट्ठा) णवरं छम्मासा ॥ ४६ ॥

कठिन शब्दार्थ - अट्ठाइज्जा मासा - सार्धं तृतीय मास - ढाई मास, अद्धुट्ठा - साढे-तीन मास ।

भावार्थ - ३८. डेढ़ मास का प्रायश्चित्त वहन किए जाने वाले अनगर द्वारा (प्रायश्चित्त वहन काल के) प्रारम्भ, मध्य का अन्त में प्रयोजन हेतु या (विशेष) कारण पूर्वक एक मास प्रायश्चित्त योग्य दोष का सेवन कर आलोचना करने पर न कम न अधिक एक पक्ष की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है ।

इसके पश्चात् पुनः दोष आसेवित करने पर दो मास का प्रायश्चित्त आता है ।

३९. दो मास का प्रायश्चित्त सेवन करने वाले अनगर द्वारा आलोचना करने पर (इत्यादि वर्णन पूर्व सूत्र की भाँति यहाँ जानना चाहिए) अर्थात् एक पक्ष की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है । अन्तर इतना-सा है, पुनः दोष आसेवित करने पर ढाई मास का प्रायश्चित्त आता है ।

४०. ढाई मास का प्रायश्चित्त वहन करने वाले अनगर द्वारा आलोचना करने पर (इत्यादि वर्णन पूर्व सूत्र की भाँति यहाँ जानना चाहिए) अर्थात् एक पक्ष की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है । अन्तर इतना-सा है, पुनः दोष आसेवित करने पर तीन मास का प्रायश्चित्त आता है ।

४१. त्रिमासिक प्रायश्चित्त वहन करने वाले अनगार द्वारा आलोचना करने पर (इत्यादि वर्णन पूर्व सूत्र की भाँति यहाँ जानना चाहिए) अर्थात् एक पक्ष की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है। अन्तर इतना-सा है, पुनः दोष आसेवित करने पर साढे तीन मास का प्रायश्चित्त आता है।

४२. साढे तीन मास का प्रायश्चित्त वहन करने वाले अनगार द्वारा आलोचना करने पर (इत्यादि वर्णन पूर्व सूत्र की भाँति यहाँ जानना चाहिए) अर्थात् एक पक्ष की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है। अन्तर इतना-सा है, पुनः दोष आसेवित करने पर चार मास का प्रायश्चित्त आता है।

४३. चार मास प्रायश्चित्त वहन करने वाले अनगार द्वारा आलोचना करने पर (इत्यादि वर्णन पूर्व सूत्र की भाँति यहाँ जानना चाहिए) अर्थात् एक पक्ष की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है। अन्तर इतना-सा है, पुनः दोष आसेवित करने पर साढे चार मास का प्रायश्चित्त आता है।

४४. साढे चार मास प्रायश्चित्त वहन करने वाले अनगार द्वारा आलोचना करने पर (इत्यादि वर्णन पूर्व सूत्र की भाँति यहाँ जानना चाहिए) अर्थात् एक पक्ष की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है। अन्तर इतना-सा है, पुनः दोष आसेवित करने पर पाँच मास का प्रायश्चित्त आता है।

४५. पाँच मास प्रायश्चित्त वहन करने वाले अनगार द्वारा आलोचना करने पर (इत्यादि वर्णन पूर्व सूत्र की भाँति यहाँ जानना चाहिए) अर्थात् एक पक्ष की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है। अन्तर इतना-सा है, पुनः दोष आसेवित करने पर साढे पाँच मास का प्रायश्चित्त आता है।

४६. साढे पाँच मास प्रायश्चित्त वहन करने वाले अनगार द्वारा आलोचना करने पर (इत्यादि वर्णन पूर्व सूत्र की भाँति यहाँ जानना चाहिए) अर्थात् एक पक्ष की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है। अन्तर इतना-सा है, पुनः दोष आसेवित करने पर छह मास का प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - इन सूत्रों में प्रायश्चित्त विषयक प्रस्थापन, आरोपण एवं वृद्धि का वर्णन हुआ है। समय की न्यूनाधिकता के अतिरिक्त वर्णन क्रम लगभग सूत्र सं० २७-३१ के सदृश है।

भिक्षु समय विषयक भिन्नता का ध्यान रखता हुआ प्रायश्चित्त संवहन में तदनुरूप करणीयता को क्रियान्वित करे, जिससे दोषों के अपाकरण में, निराकरण में वह सफल हो सके।

मासिक-द्वैमासिक प्रायश्चित्त : प्रस्थापन : आरोपण : वृद्धि

दोमासियं परिहारद्वुणं पट्टुविए अणगारे अंतरा मासियं परिहारद्वुणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अहावरा पक्खिया आरोवणा आइमज्झावसाणे सअट्ठं सहेउं सकारणं अहीणमइरित्तं, तेण परं अट्ठाइज्जा मासा ॥ ४७ ॥

अट्ठाइज्जमासियं परिहारद्वुणं पट्टुविए अणगारे अंतरा दोमासियं परिहारद्वुणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अहावरा वीसिया आरोवणा आइमज्झावसाणे सअट्ठं सहेउं सकारणं अहीणमइरित्तं, तेण परं सपंचराइया तिण्णिण मासा ॥ ४८ ॥

सपंचरायतेमासियं परिहारद्वुणं पट्टुविए अणगारे अंतरा मासियं परिहारद्वुणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अहावरा पक्खिया आरोवणा आइमज्झावसाणे सअट्ठं सहेउं सकारणं अहीणमइरित्तं, तेण परं सवीसइराइया तिण्णिण मासा ॥ ४९ ॥

सवीसइरायतेमासियं परिहारद्वुणं पट्टुविए अणगारे अंतरा दोमासियं परिहारद्वुणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अहावरा वीसइराइया आरोवणा आइमज्झावसाणे सअट्ठं सहेउं सकारणं अहीणमइरित्तं, तेण परं सदसराया चत्तारि मासा ॥ ५० ॥

सदसरायचाउम्मासियं परिहारद्वुणं पट्टुविए अणगारे अंतरा मासियं परिहारद्वुणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अहावरा पक्खिया आरोवणा आइमज्झावसाणे सअट्ठं सहेउं सकारणं अहीणमइरित्तं, तेण परं पंचूणा पंच मासा ॥ ५१ ॥

पंचूणपंचमासियं परिहारद्वुणं पट्टुविए अणगारे अंतरा दोमासियं परिहारद्वुणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अहावरा वीसइराइया आरोवणा आइमज्झावसाणे सअट्ठं सहेउं सकारणं अहीणमइरित्तं, तेण परं अब्धच्छट्ठा मासा ॥ ५२ ॥

अद्भुच्छुमासियं परिहारद्वानं पट्टविए अणगारे अंतरा मासियं परिहारद्वानं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अहावरा पक्खिया आरोवणा आइमज्जावसाणे सअट्टं सहेउं सकारणं अहीणमइरित्तं, तेण परं छम्मासा ॥ ५३ ॥

॥ णिसीहज्जयणे वीसइमो उद्देशो समत्तो ॥ २० ॥

॥ णिसीहसुत्तं समत्तं ॥

कठिन शब्दार्थ - पंचूणा - पाँच न्यून- पाँच कम।

भावार्थ - ४७. दो मास प्रायश्चित्त सेवन करने वाले भिक्षु द्वारा (प्रायश्चित्त वहन काल के) प्रारंभ, मध्य अथवा अन्त में प्रयोजन योग्य दोष का सेवन कर आलोचना करने पर न कम न अधिक एक पक्ष की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है।

इसके पश्चात् पुनः दोष आसेवित करने पर (संयुक्त रूप से) ढाई मास की प्रस्थापना होती है।

४८. ढाई मास का प्रायश्चित्त सेवन करने वाले भिक्षु द्वारा (प्रायश्चित्त वहन काल के) प्रारम्भ, मध्य अथवा अन्त में प्रयोजन, हेतु या विशेष कारण पूर्वक द्विमासिक प्रायश्चित्त योग्य दोष का सेवन कर आलोचना करने पर न कम न अधिक बीस रात्रि की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है (जैसा पूर्व सूत्र में वर्णित हुआ है)।

इसके पश्चात् पुनः दोष आसेवित करने पर (संयुक्त रूप से) तीन मास पाँच रात्रि की प्रस्थापना होती है।

४९. तीन मास और पाँच रात्रि का प्रायश्चित्त सेवन करने वाले भिक्षु द्वारा (प्रायश्चित्त वहन काल के) प्रारम्भ, मध्य या अन्त में प्रयोजन, हेतु अथवा विशेष कारणपूर्वक एक मासिक प्रायश्चित्त योग्य दोष का सेवन कर आलोचना करने पर न कम न अधिक एक पक्ष की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है। (जैसा पूर्व सूत्र में वर्णित हुआ है), इसके पश्चात् पुनः दोष आसेवित करने पर (संयुक्त रूप से) तीन मास और बीस रात्रि की प्रस्थापना होती है।

५०. तीन मास एवं बीस रात्रि का प्रायश्चित्त सेवन करने वाले भिक्षु द्वारा (प्रायश्चित्त

वहन काल के) प्रारम्भ, मध्य अथवा अन्त में प्रयोजन, हेतु या विशेष कारणपूर्वक द्विमासिक प्रायश्चित्त योग्य दोष का सेवन कर आलोचना करने पर न कम न अधिक बीस रात्रि की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है। (जैसा पूर्व सूत्र में वर्णित हुआ है), इसके पश्चात् पुनः दोष आसेवित करने पर (संयुक्त रूप से) चार मास और दस रात्रि की प्रस्थापना होती है।

५१. चार मास एवं दस रात्रि का प्रायश्चित्त सेवन करने वाले भिक्षु द्वारा (प्रायश्चित्त वहन काल के) प्रारम्भ, मध्य अथवा अन्त में प्रयोजन, हेतु या विशेष कारणपूर्वक एक मासिक प्रायश्चित्त योग्य दोष का सेवन कर आलोचना करने पर न कम न अधिक एक पक्ष की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है। (जैसा पूर्व सूत्र में वर्णित हुआ है), इसके पश्चात् पुनः दोष आसेवित करने पर (संयुक्त रूप से) पाँच मास में पाँच रात्रि कम की प्रस्थापना होती है।

५२. पाँच मास में पाँच रात्रि कम का प्रायश्चित्त सेवन करने वाले भिक्षु द्वारा (प्रायश्चित्त वहन काल के) प्रारम्भ, मध्य अथवा अन्त में प्रयोजन, हेतु या विशेष कारणपूर्वक द्विमासिक प्रायश्चित्त योग्य दोष का सेवन कर आलोचना करने पर न कम न अधिक बीस रात्रि की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है। (जैसा पूर्व सूत्र में वर्णित हुआ है), इसके पश्चात् पुनः दोष आसेवित करने पर (संयुक्त रूप से) साढे पाँच मास की प्रस्थापना होती है।

५३. साढे पाँच मास का प्रायश्चित्त सेवन करने वाले भिक्षु द्वारा (प्रायश्चित्त वहन काल के) प्रारम्भ, मध्य अथवा अन्त में प्रयोजन, हेतु या विशेष कारणपूर्वक एक मासिक प्रायश्चित्त योग्य दोष का सेवन कर आलोचना करने पर न कम न अधिक एक पक्ष की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है। (जैसा पूर्व सूत्र में वर्णित हुआ है), इसके पश्चात् पुनः दोष आसेवित करने पर (संयुक्त रूप से) छह मास की प्रस्थापना होती है।

इस प्रकार निशीथ अध्ययन (निशीथ सूत्र) में विंश (उद्देशक परिसमाप्त हुआ।

विवेचन - इन सूत्रों का विवेचन भी पूर्व सूत्रों के सदृश है। केवल इतना अन्तर है, यहाँ एक मासिक और द्विमासिक प्रायश्चित्त स्थानों का प्रस्थापन, आरोपण एवं वृद्धिक्रम संयुक्त रूप में कहा गया है।

एक मासिक तथा द्वैमासिक के सदृश ही अन्य अनेक मास विषयक प्रायश्चित्त प्रस्थापन, आरोपण एवं वृद्धिक्रम योजनीय है। जिसको सर्वप्रथम छहमासी प्रायश्चित्त का आरोपण

करवा दिया गया है उसे फिर उसमें मिला कर प्रायश्चित्त नहीं दिया जाता है। किन्तु बीच में दोष लगने पर उसका प्रायश्चित्त अलग दे दिया जाता है, जिसकी आरोपणा छह महीने पूरे होते ही उसके आगे १५ दिन २० दिन आदि रूप में प्रारंभ करवा दी जाती है। किन्तु उसमें मिला कर साढे छह महीने आदि रूप नहीं की जाती। यदि एक महीने, दोमहीने आदि के प्रायश्चित्त को वहन कर रहा हो और बीच में दोष लगा दे तब तो पाक्षिक आरोपण आदि रूप से बढ़ाते हुए यावत् छह महीने तक उसके साथ जोड कर भी देते हैं। अतः जो छहमासी प्रायश्चित्त वहन कर रहा है और दो महीने वहन करने के बाद उसने दो महीने के प्रायश्चित्त स्थान का सेवन किया तो उसका प्रायश्चित्त अलग दिया जायेगा, यदि उसने कपटरहित आलोचना की है तो २० दिन का प्रायश्चित्त दिया जाएगा और कपटसहित आलोचना की है तो दो महीने और २० दिन का प्रायश्चित्त दिया जायेगा। जिसे छह महीने के पूर्ण होते ही चालू करवा दिया जाता है, किन्तु छह महीने के और २० दिन या आठ महीने और २० दिन का इस प्रकार से नहीं दिया जाता है।

॥ इति निशीथ सूत्र का विंश (बीसवाँ) उद्देशक समाप्त ॥

॥ इति निशीथ सूत्र समाप्त ॥



